श्रीमद् कुन्द कुन्ददेव कृत नियमसार

नियम देशना

भाग-१

देशनाकार

श्रमणाचार्य विशुद्धसागर जी

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य विरचित

नियमसार

पर

नियम देशना

भाग - 1

(गाथा 1 से 76 तक)

(प्रवचनांश विदिशा वर्ष 2004)

देशनाकार
आचार्य विशुद्धसागरजी

प्रकाशक

पिय धम्मो

श्रमण संस्कृति सेवा समिति
सर्वोऽस्तु शासन जयवन्त हो...

दृढ़ धम्मो

श्रमण संस्कृति सेवा समिति

नियम देशना (भाग - 1)

❖ मूलकृति	:	श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसार
❖ प्रस्तुत कृति	:	नियम देशना (भाग - 1)
❖ देशनाकार	:	आचार्य विशुद्धसागरजी
❖ संकलन	:	मुनि विश्ववीरसागरजी
❖ सम्पादक	:	डॉ. श्रेयांस कुमार जैन
		डॉ. शीतलचंद जैन
		डॉ. वृषभ प्रसाद जैन
		श्री विद्यानंदजी, विदिशा
❖ प्रस्तुति सहयोग	:	इंजी. दिनेश जैन, भिलाई
		इंजी. जिनेन्द्र जैन, भोपाल
❖ संस्करण	:	द्वितीय/सन् 2014/3300 प्रतियाँ
❖ प्राप्ति स्थान	:	श्री आजाद कुमार जैन, इन्दौर (मो.0 94253-21151
		श्री नेमीचंद बड़कुल, इन्दौर (मो. 094250-53171)
		श्री मनीष जैन मोना, इन्दौर (मो. 098262-10189)
		नमोस्तु शासन संघ, मुंबई (मो. 09324356035)
		मनोज झांझरी, जयपुर (मो. 09829063426)
❖ मूल्य	:	150 रू. (पुर्नप्रकाशन हेतु)

: मुद्रक :

जैन राजेश कानूगो - डीसेन्ट ग्राफिक्स

सुभाष चौक कार पार्किंग, राजबाड़ा, इंदौर (म.प्र.) फोन : 98260-14047

शुभाशीष

श्रमण संस्कृति में श्रमणों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है जिन्होंने बड़े मनोयोग से जिनेन्द्र वाणी को अक्षुण्य बनाये रखा है।

श्रमणाचार्य की परम्परा में प. पू. श्रमणाचार्य श्री कुंद कुंद देव ने आगम, सिद्धान्त और अध्यात्म का अमृत रस प्रदान किया है। कहीं उनकी स्वतंत्र अध्यात्म शैली रही है, तो कहीं आगम शैली रही है, तो कहीं सिद्धान्त शैली रही है फिर भी सभी में उनकी अध्यात्म विधा भी प्रधान रही हैं पर सभी में अपूर्व ही सामंजस्य रहा है।

आज उन्हीं की कृति 'नियमसार' पर श्रमणाचार्य श्री विशुद्धसागर जी द्वारा उपदिष्ट प्रवचनों को 'नियम देशना' के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है, यह प्रसन्नता की बात है। मेरा उन्हें व उनके इस कार्य के लिए शुभाशीष।

नमः

2/2/2/2539

जयपुर

प्राक् - प्रमेय

श्रुत की आराधना ही अभक्षण-ज्ञानोपयोग है, जो सातिशय-पुण्य तीर्थंकर-प्रकृति के आस्रव में एक महत्वपूर्ण आधारशिला रखता है। वैसे तो भारतीय तत्व-मनीषा में सभी दर्शनों ने श्रुतका अपने-अपने ज्ञान के अनुसार कथन किया है, परन्तु जैन दर्शन अपनी सर्वोत्तम आध्यात्म-विधा के लिए विश्वगुरुता को प्राप्त है। सच तो यह है कि जिनागम एक ऐसा दर्पण है जिसमें भूत, भविष्यत्, वर्तमान तथा ऊर्ध्व, मध्य, अधोलोक के सारे पदार्थ प्रत्यक्ष स्पष्ट दिखाई देते हैं। अखिल विश्व के प्राणीमात्र को तत्वों का सच्चा ज्ञान कराती जिनवाणी जयवंत हो।

आचार्य श्री कुंद कुंद देव का प्रमुख ग्रंथ श्री 'नियमसार' जी आध्यात्म से सराबोर कराता हुआ, शाश्वत सत्यं-शिवं-सुन्दरं सुखधाम के दर्शन कराता है। इस नियमसार ग्रंथ में मुख्य रूप से श्रमणों के आचार का वर्णन किया गया है। आचार्य श्री ने प्राकृत भाषामय 187 गाथाओं के माध्यम से मोक्षाभिलाषी साधकों के लिए पाथेय-प्रदान किया है। समयसार ग्रंथ को पढ़ने के पहले यदि नियमसार का अध्ययन किया जाये, तो समयसार को बड़ी आसानी से समझा जा सकता है। मुनिश्रेष्ठ पद्मप्रभमलधारी देव ने इन गाथाओं पर अलंकारों से अलंकृत 'तात्पर्य वृत्ति' नाम की 11 कलशों से युक्त संस्कृत टीका लिखकर मुमुक्षु जीवों पर लोकोत्तर उपकार किया है। आध्यात्मिक, भवभीरू, आगमवेत्ता, महान् संयम-साधक, रत्नत्रय रूपी इन दोनों चैतन्य-तीर्थों को मेरा त्रययोग, त्रयभक्ति सहित अनन्तशः नमोऽस्तु! वंदना!

इतिहास-प्रसिद्ध धर्मनगरी-भेलसा (विदिशा) में ग्रीष्मकाल की तपती दोपहरी में त्रय-श्रमणों (मुनि विशुद्धसागर जी, मुनि विश्व वीरसागर व मुनि विजय सागर जी) का मंगल प्रवेश होने पर मुमुक्षु श्रावकों के विनम्र आग्रह पर ग्रंथराज नियमसार की वाचना वीर निर्वाण संवत् 20 ईस्वी सन् 2004 के 25 फरवरी के पावन दिवस से प्रारम्भ हुई, जो शीतकाल के मध्य तक (लगभग नौ महिने) अविरल चलती रही। श्रमण परम्परा के समुज्जवल नक्षत्र, रत्नत्रय की साक्षात् मूर्ति, श्रमणाचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज ने प्राचीन जैन बड़ा मंदिर (किले अंदर)

विदिशा में धर्मवत्सल विद्वानों और संयमी श्रावकों को अपनी अमृतमयी वाणी जो टीकात्मक प्रवचन दिये, वे अपने-आप में अनुपम, अनूठे हैं। उन प्रवचनों को मैंने संकलित कर ''नियमदेशना'' के रूप में सुधि-पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का उपक्रम किया है। इसे ग्रंथरूप प्रदान करने के पीछे मात्र यही मनोभावना है कि सुधिजनों को जीवन निर्माण के विचारमोती प्राप्त हों और भव्यजन अपने विवेक से उपादेय विचारों को श्रद्धापूर्वक ग्रहण करन अपना जीवन सफल बनायें।

आचार्य श्री कुंद कुंद देव ने नियमसार में आध्यात्मिक-दृष्टि से आत्मस्वरूप का विवेचन किया है तथा मुनिवर पद्मप्रभलधारी देव ने इसको 12 अधिकारों में निबद्ध किया है। प्रथम के चार अधिकारों (जीव अधिकार, अजीव अधिकार, शुद्धभाव अधिकार, व्यवहार चारित्र अधिकार) में व्यवहार-रत्नत्रय के स्वरूप का विस्तृत दिग्दर्शन कराया है और इन्हीं चार-अधिकारों के अन्तर्गत हुये प्रवचनों को 'नियम देशना' भाग-1 में संकलित किया गया है।

प्रथम जीवाधिकार में कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले तीर्थंकर महावीर को नमस्कार कर छह द्रव्यों से सम्यक्त्वके विषयभूत जीव तत्त्व का निरूपण किया है। इस अधिकार में 1 से 19 तक गाथाएँ हैं।

द्वितीय अजीवाधिकार में अजीव तत्त्व का विवेचन करते हुये पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन द्रव्यों के स्वरूप का तथा उनके भेद प्रभेदका विस्तृत निरूपण किया गया है। इस अधिकार में क्र. 20 से 37 तक गाथाएँ हैं।

तृतीय शुद्धभावाधिकार में सम्यग्ज्ञान का वर्णन किया गया है। इसमें शुद्ध नय की अपेक्षा से जीव को शुद्ध, सिद्ध सदृश बतलाते हुये गाथा 46 में महत्वपूर्ण विवेचन किया गया है। यह गाथा आचार्य कुंद कुंद देव प्रणीत अन्य ग्रंथों समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, षट्प्राभृत आदि में भी आई है। इस अधिकार में क्र. 38 से 55 तक गाथाएँ हैं।

चतुर्थ व्यवहार चारित्र अधिकार में व्यवहार नयाश्रित चारित्र के अन्तर्गत पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति का विस्तृत निरूपण किया गया है। अनंतर पाँच गाथाओं में पाँच परमेष्ठी के लक्षणों का विवेचन किया गया। इस अधिकार में क्र. 56 से 76 तक गाथाएँ हैं।

तीर्थंकर भगवंत के श्रीमुख से प्रवाहित श्रीवाणीरूप गंगा को गणधररूपी कुंड ने धारण किया, जिसे आचार्यों ने निबद्ध किया। निरंतर ज्ञानाराधना एवं संयमसाधना में लीन आचार्य भगवंतों की अनुकम्पा से इस विषमकाल में पतितपावनी जिनवाणी की शीतलधारा प्राप्त हो रही, यह हमारा भाग्योदय है। ऐसे ही श्री कुंद कुंद देव की आचार्य परम्परा में दैदीप्यमान रत्न श्रमण शिरोमणि गणाचार्य श्री विरागसागर जी महाराज, जिनकी धर्मतरु छाया का सम्बल पाकर यह जीवन पुष्प खिला, उनकी अनुकम्पा से यह रत्नत्रय ज्योति प्रज्जलित हुई और 'नियमदेशना' का संग्रहण/सम्पादन कार्य करने में समर्थ्य हो सके। आचार्य श्री के चरणकमल में कोटिशः नमोऽस्तु।

नियमदेशना भाग-1 के प्रकाशन संकलन में पंडित विद्यानंद जी विदिशा, इंजी. दिनेश जैन भिलाई, श्री नरेन्द्र जैन ज्वैलर्स विदिशा एवं श्री नीरज जैन छीपीटोला आगरा ने सराहनीय सहयोग प्रदान किया उनके लिए आशीर्वाद है। वे सभी आगे भी इसी तरह जिनवाणी के प्रचार/प्रसार में सहयोग करते रहें ताकि आचार्यों की लुप्त होती वाणी धरोहर के रूप में सुरक्षित बनी रहे।

इस ग्रंथ के सम्पादन एवं प्रूफ देखने में यद्यपि सावधानी बरती गई है, फिर भी अशुद्धियों का रह जाना असंभव नहीं है, सुधिजन उन्हें सूचित करते हुए सुधारकर ही ग्रहण करें। सब सुखी रहें, सबका कल्याण हो, इस मंगल भावना के साथ ।

इति अलम् शुभम् भूयात् **श्रमण मुनि विश्ववीरसागर**

वर्षायोग, आगरा

धन्यतेरस (कार्तिक कृष्ण-13)

वीर निर्वाण संवत् 2038

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने ''नियमसार'' ग्रन्थ में ''मार्ग और मार्ग का फल'', इसका विस्तार से वर्णन किया है। मोक्ष का मार्ग रत्नत्रय है और निर्वाण उसका फल है। आचार्यभगवन् ने ''नियमसार'' नाम की सार्थकता का वर्णन करते हुए कहा है कि नियम से तात्पर्य है–जो नियम से करने योग्य है। नियम से तात्पर्य सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र है, यही सार है।

नियमसार में 187 गाथायें और 12 अधिकार हैं। आचार्यभगवन् ने सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र को सार कहा है। इससे विपरीत जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र है, वह असार है। कुछ विद्वानों के मत में **'विपरीत'** से तात्पर्य भेदरत्नत्रय से है, क्योंकि व्यवहार सविकल्प होता है। ग्रन्थ में मुख्यरूप से निश्चयरत्नत्रय का वर्णन किया गया है। व्यवहार विकल्परूप होता है और निश्चय निर्विकल्प होता है। यह उचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि ग्रन्थ के प्रथम चार अध्यायों में व्यवहार का कथन आचार्यभगवन् ने स्वयं किया है एवं पाँचवें से ग्यारहवें अध्याय तक निश्चय का वर्णन किया है। अर्थात् ग्यारह अध्यायों में मार्ग का वर्णन एवं बारहवें अध्याय में मार्ग का फल अर्थात् निर्वाण का वर्णन किया है। इसका तात्पर्य है कि आचार्यभगवन् को व्यवहार और निश्चय दोनों का वर्णन करना अभीष्ट था। अतः विपरीत से तात्पर्य मिथ्यात्व उचित प्रतीत होता है।

आचार्यभगवन् ने अपने सभी ग्रन्थों में मात्र निश्चय का ही कथन नहीं किया है, बल्कि 'रयणसार' में श्रमण और श्रावक दोनों की चर्या का भी कथन किया है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने **'समयसार'** और 'नियमसार' में आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मस्वरूप का विवेचन किया है। इसमें निश्चयनय और व्यवहारनय से दोनों ही भेद दृष्टिगत होते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुस्वभाव का ज्ञान करने के लिये दोनों नयों का आलम्बन लेता है, परन्तु इस काल में भी वह अशुद्धनय के आलम्बन को हेय ही मानता है। अतः

जब वस्तुस्वरूप के यथार्थ का ज्ञान हो जाता है, तो अशुद्ध के आलम्बन को छोड़ देता है। अतः यह कहा जा सकता है कि व्यवहार रत्नत्रय निश्चय रत्नत्रय का साधन है।

इस ग्रन्थ की 'तात्पर्यवृत्ति' के नाम से आचार्य श्री पद्मप्रभमलधारि देव के द्वारा संस्कृत टीका की गई है। टीकाकार के द्वारा श्री सिद्धसेन, श्री अकलंक देव, श्री पूज्यपाद स्वामी, श्री वीरनंदि, श्री चन्द्रकीर्ति, श्रीमाधवसेनाचार्य आदि को नमस्कार किया है। परन्तु उनके दीक्षागुरु और शिक्षागुरु कौन हैं? यह स्पष्ट नहीं है। आचार्यभगवन् के द्वारा विभिन्न प्रकार के छंद यथा आर्या, मंदाक्रान्ता, मालिनी, शालिनी आदि का प्रयोग करके संस्कृत टीका की मधुरता, सरसता को ऊँचाइयों के नये आयाम दिये हैं। आचार्यश्री की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

आचार्य श्री विशुद्धसागर महाराज जी ने 'नियमसार' ग्रन्थराज पर वर्ष 2004 में विदिशा में जो मंगल प्रवचन किये, उनका संकलन 'नियमदेशना' के रूप में संग्रहीत है। आचार्यश्री ने मुख्य विषय के साथ–साथ श्रावकों के मन में उठने वाली जिज्ञासाओं का भी समाधान किया है। एकान्तिक प्रवचनों के माध्यम से उत्पन्न होने वाले भ्रमों का निवारण भी आचार्यश्री ने किया है।

दृष्टव्य हैं 'नियम देशना' से कुछ स्वर्ण–सूत्र

- मौन बहुत बड़ी साधना है, क्योंकि प्राणीसंयम का पालन कर लिया और वाणीसंयम का पालन नहीं किया, तो ध्यान रखो तुम्हारा प्राणीसंयम भी पल नहीं सकता।
- धर्म के लिये धन की आवश्यकता नहीं होती है।
- मन से मौन, वचन से मौन, शरीर से मौन और वासनाओं से मौन ले ले प्राणी, तो सारा विश्व शांतिमय हो जाये।
- सत्ता भी सत्य से मिलती है।
- वाक्पटुता आप्तपने की पहचान नहीं है, निर्दोषता ही आप्तपने की पहचान है।
- अध्यात्म का जीवन जीना भिन्न है और अध्यात्म की बातें करना भिन्न है।

- एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का उपादानरूप कर्ता नहीं होता, पर साधनरूप कर्ता होता है।
- संयम की रक्षा जिनवाणी के स्वाध्याय से ही संभव है।
- जिसने शुभोपयोग, अशुभोपयोग को नहीं समझा, उसे शुद्धोपयोग तो पचने वालानहीं है।
- कषाय आत्मा में है, क्षमा आत्मा में है। एकसाथ दो धर्म। एक उदय में, एक सत्ता में।
- द्रव्य को कूटस्थ नहीं कहना। उसका परिणमन सर्वांग में है।

आचार्य गुरुवर के चरणों में समर्पित कुछ भावनायें–

जिनकी ओजस्वी वाणी सुनकर, मन प्रफुल्लित हो जाता है।
पाप प्रवृतियों से हटकर मानव, निजस्वभाव में आ जाता है।।
मानवता के परमपुंज तुम, त्यागमय जीवन अपनाया।
अपने उपदेशों के द्वारा कितनों को सन्मार्ग दिखाया।।
आगम के सच्चे अनुयायी आप, पाया आत्म–अमृत महान।
जग में आपका गौरव विशाल, आत्मनिधि के हो निधान।।
नतमस्तक होकर शुद्ध हृदय से, करते आपका अभिनंदन।
मिले शुभाशीष हे गुरुवर! है शत–शत वंदन।।

यह दुरूह कार्य आचार्यश्री की महती कृपा के कारण ही हो पाया है। 'नियम–देशना' आचार्यश्री के प्रवचनांशों का संग्रह है। प्रमाद के कारण त्रुटियों रहना संभव है। सुधीजन इसको सुधार कर पढ़ेंगे एवं सूचित करेंगे, जिससे आगामी संस्करण में सुधार हो सके। इसके पुस्तकीकरण में जिन महानुभावों ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षरूप से सहयोग दिया है, उन्होंने माँ जिनभारती की अमूल्य सेवा की है, उन सबके लिये साधुवाद । मुझे इसी तरह जिनवाणी माँ की सेवा का अवसर मिलता रहे, इसी कामना के साथ–

गुरुचरणानुरागी
इंजी. दिनेश जैन, भिलाई
मो. 9303806982

संपादकीय

डॉ. श्रेयांस कुमार जैन
अध्यक्ष – अखिल भारतीय दि. जैन शास्त्रि परिषद्

आचार्य कुन्दकुन्द देव ने नियमसार ग्रन्थ की रचना केवली, श्रुतकेवली के द्वारा कथित विषय वस्तु के आधार पर की है जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा भी है –

णमिऊण जिणं वीरं अणंत वरणाण दंसण सहावं ।

वोच्छामि णियमसारं केवलि सुदकेवली भणिदं ।।

अनन्तवर ज्ञानदर्शन स्वभाव वाले जिनवीर को नमस्कार करके केवली, श्रुतकेवली के द्वारा कहे गये नियमसार ग्रन्थ को कहूँगा।

यहां आचार्य कुन्दकुन्द ने पूर्ण विनय प्रगट करके केवली श्रुतकेवली प्रणीत तत्व की प्ररूपणा का संकल्प लिया हैं, वह एक श्रेष्ठ व्यक्तित्व का द्योतक है। आचार्य महाराज नियमसार का व्याख्यान करना चाहते हैं। नियम से तात्पर्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र से है। इन्हीं रत्नत्रय के सार महत्व का प्रतिपादन किया जायेगा जो केवली श्रुतकेवली द्वारा कथित है। आचार्य श्री विशुद्धसागरजी महाराजजीने इस नियमदेशना में केवली श्रुतकेवली के भाव को स्पष्ट करते हुये समझाया है- जो सम्पूर्ण रुप से प्रत्यक्ष केवल ज्ञान को धारण करनेवाले होते हैं वह केवली हैं। ग्यारह अंग और चौदह पूर्व अर्थात् सम्पूर्ण द्रव्य श्रुत को धारण करने वाले श्रुतकेवली कहलाते हैं। इस केवली श्रुतकेवलियों के द्वारा कथित समस्त भव्य जीव समुदाय के लिये हितकर नियमसार नामके परमागम को मैं कहूंगा। इस प्रकार विशिष्ट इष्ट देवता के स्तवन के उपरान्त श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने प्रतिज्ञा की है।

आचार्य प्रवर ने अपने ग्रन्थ की प्रमाणिकता के लिये श्रुतकेवली और केवली भगवन्त को नमस्कार किया है। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ने अपने चिन्तनमात्र को आगम नहीं स्वीकार किया किन्तु जिनश्रुत केवली की वाणी को ही आगम स्वीकृत किया है। अर्थात् जिनेंद्र की वाणी से प्रगट हुआ तत्त्वबोध और उसके आधारपर ही उसे प्रमाणिक माना है। तत्त्वार्थ के प्रतिपादन हेतु शौरसेनी भाषा का आश्रय लिया। इनकी अनेक रचनाओं में समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय को समाज ने विशेष महत्त्व प्रदान किया फिर भी वर्ण्य विषय और प्रौढ़ताको को देखकर नियमसारका महत्व परमागम के समान है और महत्ता भी प्राभृतत्रयी जैसी है।

अध्यात्म विन्दुओं को समझने के लिए यह ग्रन्थ विशेष उपयोगी है। मोक्षमार्ग में नियम से करणीय ज्ञानदर्शनचारित्र की आराधना पर ग्रन्थ में विशेष बल दिया गया हैं। इनसे विपरीत आचरण को हेय बतलाया गया है। जैसा कि आचार्य श्री विशुद्धसागर महाराजजीने नियमदेशना में कहा है कि यहाँ पर शुद्धरत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहा है। मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र उन्मार्ग हैं, कुमार्ग है, भव को बढाने वाले हैं। भवनाश का हेतु तो शुद्ध रत्नत्रय धर्म ही है। यहाँ शुद्ध रत्नत्रय को मोक्षमार्ग कह रहे हैं और मुक्ति उसका फल है। वीतराग सर्वज्ञदेवके शासन में पूर्वाचार्यों ने इस प्रकरण में दो प्रकार का कथन किया है। परम निरपेक्ष रूप से निज परमार्थ तत्त्व का

सम्यकश्रद्धान, उसी परमार्थ तत्त्व का सम्यक् परिज्ञान, उसी परमार्थ तत्त्व का सम्यक् अनुष्ठान रूप शुद्धरत्नत्रयात्मक मोक्ष का उपाय है और शुद्ध रत्नत्रय का फल आत्मस्वरूप की उपलब्धि है।

नियमदेशना अनूठी है क्योंकि इसके माध्यमसे देशनाकार ने लोक के प्रत्येक प्राणी को संस्कार, सदाचार और विशुद्ध चारित्र की प्रेरणा दी है। धर्म और धर्मात्मा के महत्व को पदे पदे स्पष्ट किया है। रत्नत्रय का स्वरुप और उसके फल को विस्तार से समझाया है। इस देशना में आचार्य विशुद्धसागरजी की कोशिश रही है कि येन केन प्रकारेण संसार की गहन वीधयों में भटके हुए प्राणियों को सत्मार्ग पर लगाया जाय। विशेष रूप से धनांध लोगों को धन की मूर्च्छा से हटाकर धर्म के दिव्य प्रकाश से प्रकाशित किया जाय। वे कहते हैं कि आचरण निर्मल होगा तो हे ज्ञानी। विभूति अपने आप सामने खड़ी हो जायेगी। इसलिये धर्म धन का नहीं धर्म भावना का है। अच्छा सोचने के लिए कौन सा खर्च चाहिए पड़ेगा। एक व्यक्ति किसी के प्रति अच्छा विचार करता है तो उसे अच्छा ही फल मिलता है। इस प्रकार इस नियमदेशना में उत्तम कार्यों की ही प्रेरणा दी है।

विषय स्पष्टता की दृष्टि से नियमदेशना अप्रतिम है। जैसे कोई व्यक्ति कहता है कि धन संपत्ति या वस्तुओं का संग्रह है और कर रहा हूं फिर भी मेरी उसमें मूर्च्छा नहीं है अतः मैं दोषी नहीं हूँ। उसे समझाते हुए कहा है कि भो ज्ञानी। जहाँ जहाँ परिग्रह होगा वहाँ नियम से मूर्च्छा होगी परन्तु जहाँ पर द्रव्य नहीं है, वहाँ मूर्च्छा हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती हैं। परन्तु यदि आपने परद्रव्य को स्वीकार किया है तब द्रव्य सम्बन्धी मूर्च्छा आपको नियमसे होगी। मूर्च्छा द्रव्य के प्रति ही होती हैं। जब परद्रव्य नहीं है तो मूर्च्छा किसकी ? इसलिये परद्रव्य छोड़ना चाहिए। परद्रव्य के अभाव में मूर्च्छा नहीं हो सकती हैं क्योंकि मूर्च्छा का महत्वही ममत्व है और ममत्व तो परपदार्थ में ही होता है। इस प्रकार से समझाकर साधु के स्वरुप को प्रतिपादित किया है। जो वर्तमान में प्रासंगिक भी है क्योंकि वर्तमान में साधुसंघोंमें भी परिग्रह चल रहा है। एकल विहारी बनकर मोटरगाडी रखना और उसमें पूरी गृहस्थी साथ लेकर चलना प्रचलन सा होता जा रहा है।

नियमसार पर प्रस्तुत नियमदेशना में देवमूढ़ता को बताते हुए आज के मनुष्यों की बुद्धि पर तरस खाते हुए आचार्य श्री विशुद्धसागरजी महाराज कहते हैं कि भो ज्ञानी। आज प्राणी मूसल, घिनौची, कुआँ, चक्की, पत्थर, नदी, तालाब, बावडी, सरोवर, खेत, खलिहान यहाँ तक घूरे (कूडा घर) की भी आरती उतारते हैं, आराधना कर लेते हैं। परमात्मा के नाम पर देवमूढता में जीनेवाले जीवों की संख्या कोटिकोटि है। सामान्य लोक में प्रसिद्ध पुरुषोंको ही लोग परमात्मा के रूप में देखते हैं। यह प्रज्ञा की न्यूनता की चरम सीमा है। लोक में पूजे जानेवाले परमात्मा के नाम से परमार्थ के कारण भूत तो है ही नहीं परन्तु संसार के सुख के कारण भी नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव भय से स्नेह से रण आदि से परमार्थगुणों से शून्य व्यक्ति की कभी आराधना नहीं करता। सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारण ही जिनसूत्र और उसके धारक होते हैं। जैसा कि कहा गया है।

सम्मस्स णिमित्तं जिणसूत्र तस्स जाणऊ पुरिसा।

अंतर हेऊ मणिदा दंसणमोहस्स खय पहुदी ।। नियमसार ।।53।।

अर्थात् जिनसूत्र और उसके जानने वाले पुरुष सम्यक्त्व के निमित्त है और दर्शन मोहनीय का क्षय, उपशम आदि अंतरंग हेतु कहे गये हैं।

इस ग्रन्थ में निश्चयतप, व्यवहार तप आवश्यक में निश्चय आवश्यक, व्यवहार आवश्यक, निश्चय भक्ति, व्यवहार भक्ति, द्वैत भक्ति, अद्वैत भक्ति का व्याख्यान महत्वपूर्ण है। ग्रन्थ द्वादश अधिकारों में 187 गाथाओं में निबद्ध है। ग्रन्थगत अधिकारों के नाम इस प्रकार हैं। 1 जीवाधिकार, 2 अजीवाधिकार, 3, शुद्धभावाधिकार, 4 व्यवहारचारित्राधिकार, 5, परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार, 6 निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार, 7 परमलोचनाधिकार, 8, शुद्धनिश्चयप्रायश्चिताधिकार, 9 परमसमाधि अधिकार, 10, परम भक्ति अधिकार, 11 निश्चय परमावश्यकाधिकार, 12 शुद्धोपयोगाधिकार। इन अधिकारों में ध्यान, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण आदि छह आवश्यकों का विस्तार से वर्णन हैं। जिसका क्रमबार संक्षिप्त निरूपण इस प्रकार है।

1) जीवाधिकार –

19 गाथाओं में निबद्ध यह अधिकार ज्ञेय विशेष जीव के स्वरूप पर सम्यक् प्रकाश डालता है। मंगलाचरण में भगवान महावीर को प्रणाम कर गाथा उत्तरार्ध्द या प्रतिज्ञा सूत्र में नियमसार को केवली-श्रुतकेवली प्रणीत कहा है। समयसार प्राभृत को आ. कुन्दकुन्द ने श्रुतकेवली प्रणीत निरुपित किया है। इसका रहस्य खोज का विषय है। नियमसार के विषय को उठाते हुए आ. प्रवर ने मार्ग और मार्ग के फल के रूप में रत्नत्रय और मोक्ष को निरुपित किया है। साथ ही मोक्ष के उपाय नियम से कर्तव्यरूप रत्नत्रय को नियम शब्द से व्याख्यायित किया है। इसके अनन्तर व्यवहार सम्यक्दर्शन का स्वरूप उसके विषयभूत आप्त/परमात्मा आगम एवं गुरु का वर्णन है। तत्वार्थों का नाम निर्देश करने के पश्चात् जीव का लक्षण उपयोग, स्वभावज्ञान, स्वभाव दर्शन, विभाव ज्ञान, विभाव दर्शन, स्वभाव पर्यायोंका विवरण तथा जीव की मनुष्यादि विभाव पर्यायों. आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्वका वर्णन किया है। अन्त में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों से जीव का सविशेष उल्लेख है।

2) अजीवाधिकार –

नामानुसार ही अधिकार में 18 गाथा सूत्रों के द्वारा द्रव्य के भेदों-पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल का विवेचन है। पुद्गल द्रव्य के भेद, स्कन्ध के छः भेद, कारण और कार्य परमाणु का लक्षण स्वभाव-विभाव पर्यायों का सम्यक् निरुपण है। इसके अनन्तर धर्म, अधर्म, आकाश, द्रव्यों की परिभाषा, व्यवहार एवं निश्चय काल का स्वरूप, धर्मादि चार द्रव्यों की शुद्ध लक्षण रूपता का उल्लेख है। अस्तिकाय का लक्षण, द्रव्यों की प्रदेश संख्या, तथा द्रव्यों के मूर्तिक-अमूर्तिक, चेतन-अचेतन विभाग निरुपित है।

3) शुद्धभावाधिकार –

(सम्यग्ज्ञानाधिकार) इस अधिकार में भी 18 गाथायें हैं। इसमें आ. कुन्दकुन्द ने शुद्धभाव का मूल कारण हेयोपादेय तत्वों का वर्णन करने के पश्चात् निर्विकल्प आत्मतत्त्व का स्वरूप छ गाथाओं में विस्तार से किया है। जीव का शुद्ध स्वरूप, परद्रव्य की हेयता, स्वद्रव्य की उपादेयता, सम्यक् दर्शन-ज्ञान के लक्षण तथा उनकी

उत्पत्ति के कारणों का उल्लेख किया है। गाथा संख्या ५२ दृष्टव्य है।

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।

अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी। 52।

4) व्यवहार चारित्राधिकार –

21 गाथाओं में निबद्ध यह अधिकार श्रमण के व्यवहार चारित्र का कथन करता है। इसमें पाँच महाव्रतों, पाँच समितियों एवं तीन गुप्तियोंका स्वरूप विशद रूप से विवेचित किया गया है। गुप्तियों का वर्णन निश्चय नय की दृष्टि से, परमेष्ठियों का स्वरूप सम्यक् रीत्या वर्णित है अन्त में व्यवहार चारित्र का समारोप एवं उससे साध्य निश्चय चारित्र कथन करने की प्रतिज्ञा है।

5) परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार –

इस अधिकार में 18 गाथायें हैं। शुद्धनयाश्रित, स्वावलम्बित निश्चय प्रतिक्रमण का इसमें वर्णन है। यहाँ यह उल्लेख है कि आत्मध्यानस्थ मुनि को परमार्थ प्रतिक्रमण होता है। निषेध परक दृष्टि को प्रधान कर साधु को स्वयं को निरंतर नर-नारकादि विभाव पर्यायों से रहित स्वीकार करना चाहिए। निश्चय प्रतिक्रमण ध्यान स्वरूप होने से शब्द जाल से परे हैं। व्यवहार प्रतिक्रमण का स्वरूप जिनवाणी से जानकर उसका पालन भी साधनरूप से अवश्य करणीय है, उसी के निश्चय प्रतिक्रमण की पात्रता आती है।

6) निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार –

12 गाथाओं में ग्रंथित यह अध्याय प्रत्याख्यान के पात्र, आत्म ध्यान की विधि, ज्ञानी जी की भावना (एकत्व आदि रूप), आत्मगत दोषों से मुक्ति का उपाय, निश्चय प्रत्याख्यान नियामक अधिकारी श्रमण आदि विषयों का सागोपांग वर्णन करता है।

7) परमालोचना अधिकार –

छः गाथाओं के द्वारा इस अधिकार में एलाचार्य ने यह स्पष्ट किया है कि आत्मध निश्चय परमालोचना है, यह महामुनियों के ही संभव है। इसमें आलोचना के चार रुप-आलुंछन, अविकृतिकरण तथा भावशुद्धि का स्वरूप वर्णित किया गया है।

8) शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्ताधिकार –

इस अध्याय का विस्तार मात्र ९ गाथाओं मे के द्वारा इसमे निर्टिष्ट किया गया है कि ध्यानी महामुनि ही निश्चय प्रायश्चित का पात्र है। निश्चय प्रायश्चित स्वरूप कषायों पर विजय प्राप्ति का उपाय, पात्रता, तपश्चरण से ही कर्मक्षय- कारणत्व का निरुपण प्रस्तुत अधिकार में है। साथ ही तप और प्रायश्चित की एकार्थता का कारण एवं ध्यान की सर्वस्वता का निरुपण है। कायोत्सर्ग का अधिकरण भी इसमें वर्णित है।

9) परम समाधि अधिकार –

इसमें 12 गाथाओं में महामुनि की ध्यान स्वरूप परम समाधिरुपता का निरूपण है। इसमें अनेक सूत्रों द्वारा स्थायी समाधि का वर्णन किया है। पूर्ण समता. ध्यान तथा स्थाई सामायिक एकार्थवाची रूप में वर्णित है। इसमें गाथा नं. 125 से 133 तक अनुष्टुप छन्द हैं।

10) परम भक्ति अधिकार –

6 गाथा सूत्रों में आ. कुन्दकुन्द ने इस अधिकार में यह स्पष्ट किया है कि भक्ति के बिना श्रावक या श्रमण किसी को भी सिद्धि नहीं है। निश्चय भक्ति मुनि को ही होती है। इसमें योग भक्ति और योग का लक्षण प्रकट किया है।

11) निश्चय परमावश्यक अधिकार –

इस अधिकार के अन्तर्गत 18 गाथायें विशिष्ट पद्धति से आवश्यक पर प्रकाश डालती हैं। आवश्यक शब्द की निरुक्ति, आवश्यक का पात्र कौन नहीं, आत्मवशता का पात्र, शुद्ध निश्चय आवश्यक प्राप्ति का उपाय आवश्यक करने को प्रेरणा आदि विषय इसमें समाविष्ट हैं। बहिरात्मा, अन्तरात्मा के लक्षण, प्रतिक्रमणादि क्रियाओं की सार्थकता, विवाद की वर्जनीयता, सहज तत्त्वाराधना की विधि आदि का भी इसमें प्रकटीकरण किया गया है। यह भी स्पष्ट किया है कि समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग का यथार्थ पालन करने वाला ही यथार्थ श्रमण है।

12) शुद्धोपयोगाधिकार –

29 गाथाओं से समन्वित इस अधिकार में शुद्धोपयोग का लक्षण, उससे साध्यरूप निर्वाणपद का वर्णन किया गया है। इसमें दार्शनिक पद्धति के दर्शन होते हैं। प्रथम गाथा बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। दृष्टव्य है –

.जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।

.केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।।159।।

केवलज्ञानी परमात्मा व्यवहार नय से सर्वज्ञ और सर्वदृष्टा हैं एवं निश्चयनय से वे अपनी आत्मा को ही जानते व देखते हैं। यहाँ यह प्रकट होता है कि सर्वज्ञता ही आत्मज्ञता है और आत्मज्ञता ही सर्वज्ञता है। यथार्थतः केवली आत्मा से तन्मय होकर जानते हैं। तन्मयता ही निश्चयनय का विषय है। उसी प्रकार यथार्थतः केवली समस्त विश्व को अतन्मय होकर जानते हैं। अतन्मयता अध्यात्म शैली में व्यवहार नय का विषय है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि जब केवली अपनी आत्मा को देखते जानते हैं उस समय उनकी आत्मा में समस्त विश्व प्रतिबिम्बित होता है या उनका ज्ञान विश्वाकार परिणत होता है।

इस अधिकार में केवलज्ञान केवलदर्शन की युगपतता, ज्ञानदर्शन के स्वरूप की दार्शनिक समीक्षा, प्रत्यक्ष परोक्षज्ञानों का स्वरूप, ज्ञानदर्शन के स्वपर प्रकाशक पने की सिद्धि, केवलज्ञानी के बन्धाभाव, कर्मक्षयसे मोक्षप्राप्ति, शुद्धोपयोग युक्त कारण परमतत्त्व, निर्वाणस्थान, सिद्धि व सिद्धका स्वरूप, निर्वाण और सिद्ध की एकता एवं मुक्तजीव के लोकाकाश तक ही गमन का कारण आदि का

विवेचन है, अंतिम पांच गाथाओं में उपसंहार प्रस्तुत किया गया है । ग्रन्थकार ने लघुता प्रदर्शन एवं धर्मद्वेषी जनों से सावधान रहने का संकेतकर ग्रन्थ को सम्पूर्ण किया है ।

उक्त विवेचन के संदर्भ में आचार्य श्री विशुद्धसागर महाराजजी ने स्पष्ट किया है कि आचार्य भगवान् ने सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र को सार कहा हैं । इससे विपरीत जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है वे असार हैं । कुछ विद्धानों के मत में विपरीत से तात्पर्य भेदरत्नत्रय से है क्योंकि व्यवहार सविकल्पक होता हैं ।

व्यवहार निश्चयपरक व्याख्यानपूर्वक अपूर्व प्रस्तुति सम्पन्न नियमसार के रचनाकार आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी का कालत्रयी व्यक्तित्व रहा है । उनके समय की धार्मिक और सामाजिक स्थिति को समझने के लिए उनके काल सम्बन्धी जानकारी आवश्यक है ।

आचार्य कुन्दकुन्द के काल निर्धारण सम्बन्धी अनेक उल्लेखोंको दृष्टि में रखकर डॉ. ज्योति प्रसाद जैन ने सारांश रूप में लिखा है – ''साहित्यिक एवं शिलालेखीय अनुश्रुतियोंमें कुन्दकुन्द का उल्लेख सदैव उमास्वामी और समन्तमद्र के पूर्व हुआ है । उमास्वामी प्रणीत तत्वार्थसूत्र के सुप्रसिद्ध टीकाकार देवनन्दि पूज्यपाद (लगभग 500 ई.) समन्तभद्र का तो नामोल्लेख करते ही हैं और उनके उद्धरण भी देते हैं । कुन्दकुन्द के ग्रन्थोंसे भी उद्धरण देते हैं । आचार्य कुन्दकुन्द के परवर्ती जैनाचार्यों एवं ग्रन्थकारों की निर्णीत तिथियाँ यह प्रायः सुनिश्चित कर देती है कि स्वयं कुन्दकुन्द स्वामी प्रथमशती ईसा के मध्यसे पूर्व ही हुए होंगे । प्रो. ए. चक्रवर्ती ने कुन्दकुन्दाचार्य का समय ईसा की प्रथम शती निर्धारित किया है । डॉ. ए.एन. उपाध्ये ने विभिन्न मतों तथा प्राप्त सघन श्रोतों की विशद समीक्षा करके प्रायःउसी समय का समर्थन किया है ।

आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु कौन थे ? इस विषय में इतिहासकारोंने उल्लेख नहीं किया है, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने बोधपाहुड में स्वयं को भद्रबाहु का शिष्य कहा है । और अगली गाथा में उन्होंने भद्रबाहु को अपना गमक गुरु बताया है । लगता है कि भद्रबाहु को गमक गुरु इसलिये कहा कि वे अंतिम श्रुत केवली थे, उन्हे ग्यारह अंग और चौदहपूर्व का ज्ञान था । उन्हें भगवान की वाणी का, पूर्णरूप उनके द्वारा बताये हुए मार्ग ज्ञान था, जिसे आचार्य कुन्दकुन्द ने पूरी तरह ग्रहण किया और अपने ग्रन्थोंमें उसी मार्ग का प्रतिपादन किया ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है । यह प्रसिद्धि है कि आचार्य कुन्दकुन्द देव के द्वारा 84 पाहुडों का सृजन किया गया था । उनमें से समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, रयणसार, बारसाणुपेक्खा, दंसणपाहुड, चारितपाहुड, सुत्रपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्खपाहुड, लिंगपाहुड, सीलपाहुड, सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्र भक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति, निर्वाण भक्ति, पंचगुरु भक्ति, थोस्सामि धुदि ये कृतियाँ वर्तमान में उपलब्ध हैं । इनका स्वाध्याय करके श्रावक और श्रमण आत्महित साध रहे हैं । इतिहास कारोंने यह उल्लेख किया है कि षट्खंडागम के प्रथम तीन खंडोंपर परिकर्म नामकी टीका लिखी थी । यह टीका आज समुपलब्ध नहीं है । मूलाचार एवं तिरुक्कुरल ग्रन्थोंको कोई विद्धान आचार्य कुन्दकुन्द देव की कृतियां मानते हैं । किन्तु ये कृतियां इनकी है, इस विषय में प्रामाणिक तथ्य नहीं मिलते हैं ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने तीर्थंकर की वाणी को मुख्यता दी है, उन्होंने 'केवलि पण्णतो घम्मो सरणं पव्वज्जामि'' अर्थात् केवली प्रणीत धर्म की शरण को स्वीकार करता हूं। यदि ग्रन्थ में केवलीप्रणीत धर्म वर्णित है तो वह वंदनीय है। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है- श्रुत की अर्चना, पूजा-वंदना और नमस्कार करने से सब दुःखों और कर्मों का क्षय होता है तथा बोधिलाभ, सुगतिगमन, समाधिमरण और जिनगुण संपत्ति भी प्राप्त होती है। अतः मैं अरिहन्त के द्वारा कहे गए, गणधर के द्वारा गूथें गए महासागर प्रमाण श्रुतज्ञान को सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ। समयसार में वे लिखते हैं - समयपाहुड, को पढकर जो उसके अर्थ में स्थित होगा, वह उत्तम सुख अर्थात मोक्ष सुख प्राप्त करेगा। यहाँ तक ही नहीं, उन्होंने भक्ति से ज्ञान प्राप्त होने की बात भी लिखी है। जैन सिद्धान्त में 5 प्रकार के ज्ञान माने गये हैं मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान। ज्ञान की भक्ति से ही ज्ञान प्राप्त होते हैं अन्यथा नहीं। आचार्य कुन्दकुन्द का यह भी कथन है कि विनय के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की महत्ता मानते हुए आचार्यश्री विशुद्धसागरजीने कहा है कि आचार्य प्रवरने अपने ग्रन्थों में अध्यात्म की प्रधानता से प्रतिपादन किया है। जो शुद्ध रत्नत्रय है वही मोक्ष का उपाय है और स्वात्माका ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है, अन्य नहीं है। यथार्थ में स्वात्मा का ज्ञान ही निश्चय ज्ञान है। परज्ञेयों का जहाँ किंचित मात्र भी प्रवेश नहीं है ऐसा स्वात्मज्ञान ही ज्ञान है। अन्य पर दृष्टि नहीं है , अन्य दृष्टि नहीं है। स्वात्मा का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। जो अन्य पर दृष्टि है, वह भी परमार्थ भूत से सम्यक् नहीं है। निश्चय से स्वात्मा का ज्ञान, स्वात्मा पर श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है, वही है सम्यग्ज्ञान। स्वात्मा में रमण ही शील है अन्य कोई शील शील नहीं है। इस प्रकार से स्वात्मरूप में स्थिरता ही सम्यग्चारित्र है। यह रत्नत्रय ही मोक्ष प्राप्ति का मुख्य साधन है। इसीकी आराधना कल्याण कारी है।

रत्नत्रय की मुख्यता से प्रतिपादन कसनेवाले आचार्यकुन्दकुन्द के ग्रन्थों में केवली कवलाहार, सचेलकता, स्त्रीमुक्ति आदि श्वेताम्बर मान्यताओं का निरसन है तथा इनके ग्रन्थों में दार्शनिक रूप की जो विवेचना है वह अन्य ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होती है। सप्तभंगी का रूप भी आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में अधिक विकासमान है। उत्तरवर्ती दार्शनिक धाराओ ने आचार्य कुन्दकुन्द की दार्शनिक धारा को स्वीकार किया है। यह बात अक्षरशः सत्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द अध्यात्म दृष्टियों के प्रमुख व्याख्याकार थे। उनकी आत्मानुभूति परक वाणी ने अध्यात्म के नए क्षितिज का उद्घाटन किया और आगमिक तत्वों को तर्कसुसंगत परिधान पहनाया। आचार्यश्री विशुद्धसागरजी ने आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी की वाणी में अगाध श्रद्धा के फलस्वरुप समयसार के साथ साथ नियमसार पर देशना की प्रस्तुति कर लोक में रहकर भी लोकोत्तर कार्य किया क्योंकि यह ग्रन्थ अपने मोक्ष मार्गीय विषय प्रतिपादन करने वाला विशिष्ट ग्रन्थ है। श्रमण चर्चा के लिये परिज्ञान कराने वाला श्रेष्ठ ग्रन्थ रत्न है।

नियम देशना

मनीषियों ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी रचित नियमसार ग्रंथ का प्रारंभ श्री पद्मप्रभमलधारि देव द्वारा रचित 'तात्पर्यवृत्ति' संस्कृतटीका से प्रारंभ हो रहा है। मुनिश्री ने मंगलाचरण के रूप में सात श्लोकों, कलशों को लिखा है। इसमें सर्वप्रथम गुणों के आधार पर जिनेन्द्रभगवान् की वंदना की है, चाहे उनको जिस नाम से स्मरण किया जाय। इसके पश्चात पूर्वाचार्यों को नमस्कार किया है। नमस्कार करने के अनन्तर टीका के उद्देश्य को अंकित करते हुए अपनी अल्पज्ञता को प्रदर्शित किया है। अंत में विषय का विवरण दिया है।

त्वयि सति परमात्मन्माट्टशान्मोदृमुग्धान्, कथमतनुवशत्वान्बुद्धकेशान्यजेऽहम्।
सुगतमगधरं वा वागधीशं शिवं वा, जित भवमभिवन्दे भासुरं श्रीजिनं वा।। कलश1।।

वाचं वाचंयमीन्द्राणां वक्त्रवारिजवाहनाम्।
वन्दे नयद्वयायत्तवाच्यसर्वस्वपद्धतिम् ।। कलश 2।।

सिद्धान्तोद्धश्रीधवं सिद्धसेनं तर्काब्जार्कं भट्टपूर्वाकलंकम्।
शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वन्दे तद्विद्याढयं वीरनन्दि व्रतीन्द्रम् ।। कलश 3।।

अपवर्गाय भव्यानां शुद्धये स्वात्मनः पुनः।
वक्ष्ये नियमसारस्य वृत्तिं तात्पर्यसंज्ञिकाम् ।। कलश 4।।

गुणधरगणधररचितं श्रुतधरसन्तानतस्तु सुव्यक्तम्।
परमागमार्थसार्थं वक्तुममुं के वयं मन्दाः ।। कलश 5।।

अस्मार्क मानसान्युच्चैः प्रेरितानि पुनः पनः।
परमागमसारस्य रुच्या मासलयाऽधुना ।। कलश 6।।

पंचास्तिकायषड्द्रव्यसप्ततत्वनवार्थकाः।
प्रोक्ताः सूत्रकृता पूर्वं प्रत्याख्यानादिसतक्रियाः ।। कलश 7।।

भो ज्ञानी! दिगम्बर–जैन परम्परा में तीर्थंकर वर्द्धमान्स्वामी के उपरान्त गणधर गौतम स्वामी का बड़ा महात्म्य है। आचार्य परम्परा में आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध पर लेखन करनेवाले महान आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी हुए जिन्होंने 84 पाहुड ग्रन्थों को लिख करके भारतीय तत्त्वमनीषा को अनर्घवान् भेंट प्रदान की है। संस्कृति की रक्षा साहित्य एवं पुरातत्त्व पर आलम्बित है। जहाँ साहित्य व पुरातत्त्व का अभाव है, उस दर्शन का अन्त नियत है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी बहुश्रुतवान, प्रज्ञावन्त श्रमण हुए हैं, जिन्होंने सांख्य की नित्यता, बुद्ध की अनित्यता का खंडन करते हुए वस्तु की नित्य–अनित्य व्यवस्था को द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक दृष्टि से विशद् व्याख्यापित किया है। आज सम्पूर्ण विश्व आचार्यप्रवर के अध्यात्म–अवदान पर गौरवान्वित व श्रद्धान्वित है। 84 पाहुड ग्रन्थों में 'नियमसार' एक विशिष्ट ग्रन्थ है, जिसमें मार्ग और मार्ग के फल का सुन्दर वर्णन किया है। इस ग्रन्थ पर आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव ने पुष्कल टीका लिखकरके नियमसार पर कलशरोहण किया है। टीकाकार ने अपनी टीका का प्रमेय अमृतचन्द्रस्वामी की टीका जैसा किया है। जैसे कि आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने गद्य, पद्य–उभयरूप से टीका की है, उसी प्रकार से आचार्य पद्भप्रभमलधारि देव ने गद्य–पद्यात्मक टीका की है, जो कि नियमसार जी ग्रन्थ के हार्द को स्पष्ट कर रही है। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव का साहित्यवैशिष्ट्य पंक्ति–पंक्ति में झलकता है। आप सिद्धान्त, तर्कशास्त्र छन्दशास्त्र के ज्ञाता एवं अलंकारविद्या के निष्णात विद्वान् थे। जहाँ कुन्दकुन्द की गाथायें तत्त्व–प्ररूपणा करती हैं, वहाँ पर आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव की टीका सहज, विस्तृत और सहजभाषा में आत्मबोध कराती है।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव प्रथम कलश में कह रहे हैं, कि हे परमात्मान्! आपके रहते हुए मैं ब्रह्मा, विष्णु, महेश को कैसे पूज सकता हूँ? क्योंकि वे मोह से मुग्ध हैं और काम के वशीभूत हैं अर्थात् नहीं पूज सकता हूँ। जिन्होंने संसार भव का विनाश कर दिया है और काम को जीत लिया है, मैं उनकी वंदना करता हूँ। वे चाहे सुगत हों, गिरिधर हों, ब्रह्मा हों, शिव हों अथवा शोभायमान श्री जिनेन्द्रभगवान् हों। जो जन्म–मरण के दुःखों से छूट चुके हैं, वे चाहे जिस नाम के धारी हों, जिस किसी भी नाम से उनको पुकारा जाये, मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ अर्थात् जो सर्वज्ञ, वीतरागी, हितोपदेशी हैं, उनको मेरा नमस्कार है, वंदन है।

टीकाकार द्वितीयकलश में वाग्वादिनी–सरस्वती–जिनवाणी को नमस्कार करते हुए कह रहे हैं कि मुनियों में प्रधान जिनेन्द्रभगवान् का मुखकमल जिसका वाहन है। जो सरस्वती जिनेन्द्रभगवान् के मुखकमल से प्रवाहित हुई है, प्रगट हुई है और जो दोनों (व्यवहार और निश्चय)नयों के आश्रयभूत–पदार्थ का सम्पूर्ण कथन करती है, ऐसी स्याद्वादमयी जिनवाणी की वंदना करता हूँ।

तृतीयकलश में टीकाकार पूर्वाचार्यों के प्रति बहुमान प्रकट करते हुए श्री सिद्धसेन आचार्य को नमस्कार कर रहे हैं। कैसे हैं वे सिद्धसेन आचार्य? जो सिद्धान्तरूपी लक्ष्मी के पति हैं अर्थात् सिद्धान्तशास्त्र में निष्णात हैं। इसके पश्चात् भट्ट–अकलंक देव के गुणों

का स्मरण करते हुए कह रहे हैं कि वे तर्क, न्याय–रूपी कमल को विकसित करने में सूर्य के समान हैं, उन्हें भी नमस्कार है। वे आचार्य पूज्यपाद का गुणानुवाद करते हुए कह रहे हैं कि शब्दशास्त्ररूपी समुद्र का वर्द्धन करने वाले आचार्य वंदनीय हैं। अन्त में आचार्य वीरनंदि स्वामी जो 'आचारसार' ग्रन्थ के रचियता हैं, व्रतियों में प्रधान हैं, सर्वगुणों से युक्त हैं, उनको नमस्कार करते हैं।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव चतुर्थकलश में नियमसार जी ग्रन्थ की टीका लिखने का उद्देश्य बताते हुये कह रहे हैं कि जिससे भव्यजीवों को मोक्ष की प्राप्ति हो तथा मेरी स्वयं की आत्मा की भी शुद्धि हो, इसलिये मैं 'तात्पर्यवृत्ति' नामक टीका लिख रहा हूँ।

पाँचवें कलश में टीकाकार अपनी लघुता प्रकट कर रहे हैं। जो परमागम, गुणों को धारण करनेवाले गणधर देवों से रचित है, श्रुतकेवली आदि श्रुत में पारंगत मुनियों की अविच्छिन्न परम्परा से अच्छी तरह से व्यक्त किया गया है, उस परमागम के अर्थ को हमारे जैसे मंद–बुद्धिवाले लोग कहने के लिए समर्थ नहीं हो सकते हैं। फिर भी इससमय हमारा मन परमागम की पुष्ट, दृढ़रुचि से बार–बार अत्यन्त प्रेरित हो रहा है। परमागम के प्रति हमारी श्रद्धा बढ़ती जा रही है। इसी वर्द्धमान श्रद्धा के कारण प्रेरित होकर इस ग्रन्थ की टीका कर रहा हूँ, । ऐसा टीकाकार ने छठवें कलश में कथन किया है।

अंतिम सातवें कलश में सूत्रकार ग्रन्थ के विषय का कथन कर रहे हैं। इसमें पहले पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व और नौ पदार्थ का वर्णन है। इसके बाद प्रत्याख्यान आदि सातक्रियाओं का उल्लेख है। ये सातक्रियायें मुनियों के नियमरत्नत्रय स्वरूप के अंतर्गत प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित, परम आवश्यक, समाधि आदि क्रियाओं का विस्तार से कथन है।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव के कलशों के उपरान्त आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी नियमसार जी ग्रन्थराज का सूत्र मंगलाचरण के रूप में कहकर ग्रन्थ का प्रारंभ कर रहे हैं।

उत्थानिका : मंगलाचरण, मार्ग और मार्ग का फल।

णमिऊण जिणं वीरं, अणंतवरणाणदंसणसहावं।
वोच्छामि णियमसारं, केवलिसुदकेवलीभणिदं।।1।।
मग्गो मग्गफलं ति य, दुविहं जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो मोक्खउवायो, तस्स फलं होइ णिव्वाणं।।2।।

संस्कृत छाया : नत्वा जिनं वीरं अनन्तवरज्ञानदर्शनस्वभावम्।
वक्ष्यामि नियमसारं, केवलिश्रुतकेवलिभणितम् ।।1।।
मार्गो मार्गफलमिति च द्विविधं जिनशासने समाख्यातम्।
मार्गो मोक्षोपायः तस्य फलं भवति निर्वाणम्।।2।।

अन्वयार्थ : (अनंतवरज्ञानदर्शनस्वभावं) अनंतस्वरूप, श्रेष्ठ ज्ञान और दर्शन स्वभाव वाले (वीरं जिनं नत्वा) श्री वीर जिनेन्द्र को नमस्कार करके (केवलिश्रुतकेवलिभणितं) केवली भगवान् तथा श्रुतकेवली भगवान् के द्वारा कथित ऐसे (नियमसारं वक्ष्यामि) नियमसार को मैं कहूँगा।

(जिनशासने) जिनेन्द्र भगवान् के शासन में (मार्ग मार्गफलं च इति द्विविधं समाख्यातं) मार्ग और मार्ग का फल, इसप्रकार से दो प्रकार का कथन किया गया है, (मोक्षोपायः मार्गः) मोक्ष का उपाय मार्ग है और (तस्स फलं निर्वाणं भवति) उस मार्ग का फल निर्वाण है।

मनीषियो! किसी भी कार्य के प्रारंभ में मंगलाचरण का होना अनिवार्य है। श्रमण परम्परा में ग्रन्थकर्ता छह बातों का ध्यान रखता है–मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता। मंगलाचरण निर्विध्न कार्य की समाप्ति के लिये, पुण्य की प्राप्ति के लिये, नास्तिकता के परिहार के लिये, शिष्टाचार आदि के पालन के लिये किया जाता है। इसी वृत्ति को ले करके भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी मंगलाचरण में श्रेष्ठज्ञान, श्रेष्ठदर्शन धारण करने वाले ''जिणं वीरं'' भगवान् वीर जिनेन्द्र को नमस्कार करते हैं। नमस्कार करके केवली , श्रुतकेवली भगवान् के द्वारा कथित ऐसे नियमसार ग्रन्थ को मैं कहूँगा। यहाँ जो ''जिनं नत्वा'' शब्द है, वह अपने असाधारण धर्म से युक्त है। वंदना जो है, बंध के नाश के लिये है, बंध के लिये नहीं है। जिनशासन में किसी भी पुरुष की वंदना नहीं है, गुणों की वंदना है। वे गुण 'जिन' विशेषण से युक्त पुरुष में यदि हैं, तो वो वंदनीय हैं और जो जिनत्व को प्राप्त नहीं हैं, वह श्रीजिन नमोऽस्तुशासन में वंदनीय नहीं हैं।

'जिन' नाम मात्र से वंदना नहीं होती। 'जिन' नाम मात्र नामनिक्षेप है। नामनिक्षेप में पूज्यता, अपूज्यता का व्यवहार नहीं होता। जो भावनिक्षेप से युक्त है, वही यथार्थ में यहाँ पर ग्राह्य है। नामनिक्षेप–भूत वस्तु जबतक नहीं होती, तबतक स्थापनानिक्षेप भी घटित नहीं होता। स्थापनानिक्षेप तभी संभव है, जब भावभूत वस्तु होती है। अभाव का कभी उपचार नहीं होता है। उपचार भी मुख्यार्थ के होने पर ही होता है परन्तु उपचार मुख्यार्थ

नहीं होता और मुख्यार्थ उपचार नहीं होता। उपचार भी मुख्यार्थ के होने पर ही होता है। इसलिये कुन्दकुन्द स्वामी यहाँ पर उपचार के 'जिन' को नमस्कार नहीं कर रहे हैं। यहाँ पर तो वास्तव में अनन्तज्ञान–दर्शनस्वभावी, सिद्धार्थ तनय वर्द्धमान, वीरजिनेन्द्र महावीर स्वामी की वंदना की है। वे वीर कैसे? वीर यानि पराक्रम से युक्त। जो वीरता को प्राप्त है, शूरता को प्राप्त हैं; वे ही कर्मशत्रु पर विजय प्राप्त करते हैं । वे वीर जिनेन्द्र कहलाते हैं। हे वीर भगवान्! श्री वर्द्धमान, सन्मतिनाथ! महति महावीर नामों से सनाथ हैं। परमेश्वर, महादेव, देवाधिदेव अंतिम तीर्थेश्वर हैं। जो तीनलोक के चराचर, चेतन–अचेतनस्वरूप, द्रव्य और पर्यायों से कथित, समय (द्रव्यसमूह) को जानने में समर्थ, सकल विमल केवलज्ञान तथा केवलदर्शन से युक्त हैं, उन वीरप्रभु को नमस्कार करके कहता हूँ। क्या कहता हूँ? नियमसार को कहता हूँ। यहाँ नियम से तात्पर्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र समझना। नियमसार इस पद से शुद्ध–रत्नत्रय का स्वरूप कहा गया है। वह कैसा है? केवली, श्रुतकेवली के द्वारा कथित है।

जो संपूर्ण रूप से प्रत्यक्ष केवलज्ञान को धारण करनेवाले होते हैं, वह केवली हैं। ग्यारह अंग और चौदह पूर्व अर्थात् सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत को धारण करनेवाले श्रुतकेवली कहलाते हैं। इन केवली, श्रुतकेवलियों के द्वारा कथित, समस्त भव्यजीव समुदाय के लिय हितकर, 'नियमसार' नाम के परमागम को मैं कहूँगा। इस प्रकार विशिष्ट इष्टदेवता के स्तवन के उपरान्त सूत्रकार पूर्वाचार्य श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव गुरुवर ने प्रतिज्ञा की है। यहाँ पर ग्रन्थकर्ता की विशेषता उल्लेखनीय है।

आचार्यप्रवर ने अपने ग्रन्थ की प्रमाणिकता के लिये श्रुतकेवली और केवली भगवन्त को नमस्कार किया है। साथ में यह ध्वनित होता है, कि वे स्वचिन्तन मात्र को आगम नहीं स्वीकारते, अपितु जिनश्रुतकेवली भगवन्त की वाणी को ही आगम स्वीकारते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिनेन्द्र की वाणी से प्रकट हुआ तत्त्वबोध, उसके अनुसार जो चिंतवन कर रहे हैं, उसे ही वह प्रमाणित मानते हैं। स्ववचन और परवचन को वो प्रवचन नहीं स्वीकारते। जिनवचन को ही प्रवचन मानते हैं। वे वचन चाहे स्वयं के द्वारा कहे हों, चाहे पर के द्वारा कहे हों, वह तो प्रमाणित हैं। परन्तु जिनवचन से शून्य स्व और पर के वचन किंचितमात्र भी 'जिनवचन' संज्ञा को प्राप्त नहीं होते हैं और जो पूर्वापर विरोध से युक्त हैं, दुराग्रह से युक्त हैं, जिनवचन से बाधित हैं, ऐसे मृषावचन जिनशासन में 'प्रवचन' संज्ञा को प्राप्त नहीं होते है।

जिनशासन में वे ही वचन प्रमाणित वचन है, जो आप्त कथित हैं, अनुलंघनीय हैं, जिनका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। वे उन्मार्ग का खंडन करने वाले हैं, सत्यार्थमार्ग का मंडन करनेवाले हैं। जहाँ पर जिनवचनों में अहिंसा, परमब्रह्म गूंजता है, ऐसा वचन ही हितकारी प्रवचन है। इसप्रकार विशिष्ट इष्टदेवता के स्तवन के अनंतर सूत्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने प्रतिज्ञा की है।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव मंगलाचरण गाथा के अर्थ का उपसंहार करते हुये स्वयं महावीर भगवान् की स्तुति करते हुए कलश कह रहे हैं–

जयति जगति वीरः शुद्धमावास्तमारः, त्रिभुवनजनपूज्यः पूर्णबोधैकराज्यः।
नतदिविजसमाजः प्रास्तजन्मद्रुबीजः, समवसृतिनिवासः केवलश्रीनिवासः।। कलश 8।।

भो ज्ञानी! जिन्होंने कामदेव पर विजय प्राप्त कर ली है। कैसे? शुद्धभावों के द्वारा, इंद्रिय विकारों से रहित होकर उनके गुणों का ज्ञान करते हुए कह रहे हैं कि वे तीनलोक में पूज्य हैं। जिन्होंने सम्पूर्णज्ञान अर्थात् केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया है। कैसा है केवलज्ञान? वह ज्ञान अतीन्द्रिय है अर्थात् इंद्रियों के आलम्बन से मुक्त है। ऐसे वीरप्रभु को चारों निकायों के देव भी नमस्कार करते हैं। जिसमें केवललक्ष्मी विराजित हैं, ऐसे समवसरण में वे निवास करते हैं। समवसरण अर्थात् ऐसी धर्मसभा जिसमें देव, मनुष्य और संज्ञीपंचेन्द्रिय तिर्यंच सबके लिये स्थान है, शरण है। ऐसे वीरप्रभु जयवन्त हों।

प्रतिज्ञा के अनन्तर आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी द्वितीय सूत्र का अवतरण करते हैं। श्री जिनेन्द्रदेव के शासन को मार्ग और मार्ग का फल, इसतरह दो प्रकार से कथन किया है। जो मोक्ष का उपाय है, वह तो मार्ग है और जो निर्वाण है, वह मार्ग का फल है।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव ने अपनी टीका में इस गाथा के विस्तार को बहुत ही साहित्यिकदृष्टि से निरूपित किया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है। मात्र सम्यक्त्व मोक्षमार्ग नहीं, मात्र ज्ञान मोक्षमार्ग नहीं और मात्र चारित्र भी मोक्षमार्ग नहीं है।

यदि एक–एक मोक्षमार्ग हो गया, तो तीन मोक्षमार्ग हो जायेंगे। तीन प्रकार से मोक्ष मिलना प्रारंभ हो जायेगा, जो कि ग्रन्थकर्ता को किंचित भी इष्ट नहीं है। आचार्य उमास्वामी ने भी 'तत्त्वार्थसूत्र' में **''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः''** लिखा है। इन तीनों की एकता मोक्षमार्ग है। जो मात्र सम्यग्दर्शन की आराधना से मोक्षमार्ग चाहते हैं, ये मिथ्यादृष्टि लोग हैं। जो ज्ञान मात्र से भगवत्ता को पाना चाहते हैं, वे भी मिथ्यादृष्टि

हैं। जो चारित्र मात्र से मोक्ष जाना चाहते हैं, वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। एक–एक मोक्षमार्ग नहीं है। इन तीनों का एकीकरण ही मोक्षमार्ग है अर्थात् तीनों की अभिन्नता ही मोक्षमार्ग है।

भो ज्ञानी! यहाँ पर शुद्ध रत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहा है। मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्र उन्मार्ग है, कुमार्ग है, भव को बढ़ानेवाला है। भवनाश का हेतु तो शुद्ध रत्नत्रय धर्म ही है। यहाँ शुद्ध रत्नत्रय को मोक्षमार्ग कह रहे हैं। पुनर्भव से रहित ऐसी मुक्तिरूपी स्त्री के विशाल ललाटप्रदेश में लीला से रचित अलंकारस्वरूप तिलकपना ही मोक्षमार्ग का फल है अर्थात् मुक्तिश्री के ललाट के तिलक स्वरूप होना, उसका पति होना, मुक्ति को प्राप्त करना ही मार्ग का फल है परन्तु वीतराग–सर्वज्ञदेव के शासन में पूर्वाचार्यों ने इस प्रकरण में दो प्रकार का कथन किया है। परम निरपेक्षरूप से निज–परमार्थतत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, उसी परमार्थतत्त्व का सम्यक् परिज्ञान, उसी परमार्थतत्त्व का सम्यक् अनुष्ठानरूप शुद्ध रत्नत्रयात्मक मोक्ष का उपाय है और शुद्धरत्नत्रय का फल आत्मस्वरूप की उपलब्धि है।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारि देव संसारी जीवों की भिन्न–भिन्न रुचि को बतलाते हुये कलश द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं। जो जिनेन्द्र के मार्ग को प्राप्त करके अपनी आत्मा में रत हो जाता है, वही मोक्ष को प्राप्त करता है।

क्वचिद्व्रजति कामिनीरतिसमुत्थसौख्यं जनः, क्वचिद्द्रविणरक्षणे मतिमिमाँ च चक्रे पुनः।
क्वचिज्जिनवरस्य मार्गमुपलभ्य यः पण्डितो निजात्मनि रतो भवेद्व्रजति मुक्तिमेतां हि सः
।। कलश 9।।

भो ज्ञानी! यह संसारीजीव कभी तो कामिनी की रति से उत्पन्न सुख को प्राप्त करता है,कभी धन की रक्षा में अपनी बुद्धि को करता है। परन्तु पंडित, बुद्धिमान पुरुष कभी जिनेन्द्रभगवान् के मार्ग को प्राप्त करके अपनी आत्मा के स्वरूप में रत हो जाता है, तो निश्चित ही मुक्ति–अवस्था को प्राप्त कर लेता है। अहो! अज्ञ और विज्ञ की कितनी सुन्दर पहचान बताई यहाँ पर। अज्ञ प्राणी धन और स्त्री में जीवन पूर्ण कर लेता है। धिक्कार हो ऐसे जीव को, जो कि निज आत्मतत्त्व से अनभिज्ञ है। एक वो सुधी पुरुष है, जो अपनी आत्मा को भगवान् जिनेन्द्र के मार्ग पर लगाये हुये है। भो ज्ञानी! जो कनक व कामिनी में ही रत रहता है, वह अपने संसार की वृद्धि करता रहता है। मुक्तिरमा उसके लिये आकाश–कुसुमवत् है। जो जिनेन्द्रभगवान् के बताये हुये मार्ग पर चलता है, वो एकदिन मुक्तिरमा का वरण कर लेता है।

भो ज्ञानी! तीर्थंकर भगवान् महावीरस्वामी के सामने प्रश्न आया कि भगवन्! धर्म की परिभाषा क्या हो सकती है? भगवान् महावीरस्वामी ने कहा–जो स्वयं में परिभाषित है, उसकी लोक में कोई परिभाषा नहीं है। विश्व में ऐसा कोई जीव नहीं है, जो धर्म को न मानता हो । एक सिंह भी धर्म को मानता है, एक मनुष्य भी धर्म को मानता है। भैया! तीर्थंकर भगवान् महावीरस्वामी ने कोई धर्म का उद्भव नहीं किया है, धर्म की देशना की है। महापुरुष धर्म के कर्ता नहीं होते, धर्म महापुरुषों का कर्ता होता है। अनुपम सूत्र है **''धम्मो दया विसुद्धो''** धर्म वही है, जो दया से विशुद्ध है, जो करुणा से भरा है, प्रेम से युक्त है, वात्सल्य से समन्वित है।

वैशाली गणतंत्र, जो विश्व का प्रथम गणतंत्र था, में कुण्डग्राम में वर्द्धमान जन्मे। एकबार नगर की सजावट को देखकर वर्द्धमान ने माँ से पूछा–माँ! ये क्या हो रहा है? माँ मुस्कराकर कहने लगी–बेटा! आज तुम्हारी शादी के लिये सगाई की तैयारी की जा रही है। एक माँ अपने बेटे को जन्म देने के बाद से ही अपने आँगन में अपने नाती को खेलते देखने की भावना पहले से भाने लगती है। वही दृष्टि माँ त्रिशला की थी।

बड़ी मधुरभाषा में कहने लगे वर्द्धमान कुमार, शायद आपकी ये इच्छा पूरी नहीं हो सकेगी। माँ की छाती पर वज्र टूट गया। 'मेरे लाल! क्या कह रहे हो?' माँ! जिस विश्व को मैं दिव्यदृष्टि से देखना चाहता हूँ, शादी के बंधन में बँधकर अपनी इस लघु–उम्र में पूर्ति नहीं कर सकूँगा । ये राग का बन्धन विश्व में सबसे बड़ा बन्धन है। शादी के बन्धन में बंध गया, तो हे माँ! मैं सिद्धशिला पर नहीं पहुँच सकूँगा। इसलिये मैं आपकी भावना को पूरा नहीं कर सकूँगा, क्षमा करें।

'माँ! एक जीव का घात करने वाला पापी होता है। एकबार में नौ–कोटि जीवों का घात करने वाला महापापी की श्रेणी में गिना जायेगा।' सोचो, अभी अहिंसा की बात नहीं कर रहे हैं। अभी तो भगवान् महावीर की दीक्षा की बात कर रहे हैं। माँ त्रिशला रोते–रोते उस स्थल तक पहुँच गई, जहाँ दीक्षा के संस्कार हो रहे थे। ममता की माँ स्वयं रोती है और बेटे को भी रुलाती है। खुश होना चाहते हो, तो समता की माँ की गोद में चले जाना।

माँ रो रही थी और बेटा मुस्करा रहा था, क्यों? माँ नहीं रो रही थी, माँ की ममता रो रही थी। यदि बेटे के वियोग में माँ रोती है, तो तुम्हारा बेटा अमेरिका पढ़ने जाता है फिर क्यों नहीं रोती हो? क्या वियोग नहीं था वहाँ? वहाँ राग बँधा हुआ था, यहाँ राग छूटने वाला था। ये संसार की दशा है। संयम के मार्ग पर जाने लगे तो पता नहीं कितने उपदेशक मिल जाते हैं और संयम के मार्ग पर बढ़ाने वाले पता नहीं कितने सहयोगी मिल जाते हैं।

वर्द्धमान ने जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। 12 वर्ष तक घोर तपस्या की। दीक्षा लेने के बाद जबतक कैवल्य की प्राप्ति नहीं होती, तबतक मुनिमुद्रा में तीर्थंकर मुनि ने उपदेष नहीं दिया, क्यों? वो कह रहे थे कि जबतक मैंने सत्य को स्वयं नहीं समझा है, जबतक सत्य को मैने प्राप्त नहीं किया है, तबतक सत्य की बात मैं क्या करूँ? और जब सत्य का साक्षात्कार हो जाता है, तो फिर तीर्थंकर बोलते नहीं हैं, सर्वांग से वाणी खिरती है। ध्यान रखना, योगी मौन होते हैं, योगी मूक नहीं होते हैं। मूक तो पशु होता है। मौन वाणी से नहीं होते हैं, मन से होते हैं।

मनीषियो! मौन बहुत बड़ी साधना है, क्योंकि प्राणीसंयम का पालन कर लिया और वाणीसंयम का पालन नहीं किया, तो ध्यान रखो, तुम्हारा प्राणीसंयम भी नहीं पल सकता । महाभारत होने का कारण था वाणी असंयम। घर में भी युद्ध होते हैं तो वाणी असंयम से ही होते हैं।

जैसे ही महावीर को कैवल्य हुआ, तो जन्मजात–विरोधी जीव भी वैरभाव को छोड़कर एकसाथ बैठने लगे। पर भगवान् महावीरस्वामी ने यह कभी नहीं कहा कि मेरी पूजा करो, अलग से बैठकर धर्म करो। धर्म को लोगों ने समझा नहीं और आडम्बरी बना दिया है। मेरा प्रश्न है आपसे, कि धर्म के लिये धन की क्या आवश्यकता है? यदि धर्म के लिये धन की आवश्यकता होती, तो जंगल में रहनेवाले मुनियों के धर्म ही नहीं होता। कुछ लोग धर्म से इसलिये दूर होते जा रहे हैं, कि उनको लगता है कि ये भगवान् महावीर का शासन तो धनिकों के पास में होगा। ये भूल जाओ। ऐसा कहना चाहिये कि महावीर के शासन में जिओगे, तो धन अपने आप बरसेगा।

महावीर स्वामी ने कहा था कि आचरण निर्मल होगा, तो हे ज्ञानी! विभूति अपने आप सामने खड़ी हो जायेगी। इसलिये धर्म 'धन' का नहीं, धर्म 'भावना' का है। अच्छा सोचने के लिये कौन–सा खर्च चाहिये पड़ेगा? एक व्यक्ति तड़प रहा था, उसकी तड़पन को देखकर आपने मन में सोच लिया, 'भगवन्! इसके कष्ट दूर हो जायें।' इसमें तुम्हारा क्या चला गया? ज्ञानीपुरुष/धर्मात्मापुरुष अपने दुःख को नहीं देखता है, दूसरे के दुःख को देखकर दुःखित हो जाता है और भोगी/कामी जीव अपने सुख को देखकर सुखी नहीं होता है, अपने दुःख को देखकर दुःखी नहीं होता है, पड़ोसी के सुख को देखकर परमदुःखी होता है। ऐसा क्यों है? अब सोचिये, क्या आप सुखी हो पाओगे?

भो ज्ञानी! विचार करना, वर्द्धमान के समवसरण में दो जाति–विरोधी जीव एकसाथ बैठे हों, उस क्षेत्र की वर्गणाओं का कितना प्रभाव होगा? उस पुण्यात्मा के पुण्य का

कितना प्रभाव होगा? भगवान् जब समवसरण में विराजमान थे, सौधर्मइंद्र निवेदन करने लगा, प्रभो! इस संपूर्ण विश्व में शांति कैसे होगी? गौतमस्वामी पहुँच चुके थे और महाराज श्रेणिक भी प्रश्न कर रहे थे, प्रभु! विश्व में शांति कैसे होगी? मौन हैं। ये ध्यान रखना, जो मौन से उपदेश हो सकता है, वो वचनों से कभी नहीं होता। सारा विश्व मौन हो जाये, तो सारे विश्व में शांति छा जाये। मन से मौन, वचन से मौन, शरीर से मौन, वासनाओं से मौन ले ले प्राणी, तो सारा विश्व शांतिमय हो जाये क्योंकि जितना तनाव तुम्हारे शरीर में नहीं है, उससे अधिक तनाव तुम्हारे मन में है। स्याद्वाद्–वाणी से कहने लगे गौतम, 'विवाद और अशांति की जड़ एकान्त है। एकान्तवाद सिर्फ विवाद और अशांति का कारण बनता है।'

भो ज्ञानी! तीर्थंकर महावीर ने दो धर्मों की चर्चा की है–मुनिधर्म, गृहस्थ धर्म। हो सके तो आप सब मुनि बन जाना और नहीं बन सकते हो, तो कम–से– कम परिग्रह का परिमाण कर लेना। सामान्य मनुष्य भी यदि परिग्रह का परिमाण कर ले, तो गरीबी की रेखा समाप्त हो जायेगी। जिसका परिमाण है कि मैं इतने से ज्यादा नहीं रखूँगा, आयेगा तो करेगा क्या? यदि आप शांति चाहते हो, तो शांति का सूत्र एक ही है–परिग्रह का परिमाण कर लो। यदि नहीं करते हो, तो शांति तुमको मिलनेवाली नहीं है।

जैसे ही प्रश्न उठा कि विसंवाद कैसे समाप्त हो, तो वाणी में खिरा–'स्याद्वाद।' ये 'स्याद्वाद' संशयवाद नहीं है। प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म हैं। अनेकान्त 'धर्म' है, स्याद्वाद 'शैली' है। भो ज्ञानी! ऐसा कभी नहीं होता है कि पिता पाप करे और बेटा भोगे। पिता ने पाप किया है, तो पिता को ही भोगना पड़ेगा। जैसा कर्म करेगा, वैसा फल मिलेगा। जीवन में कोई किसी का कर्ता नहीं है, ये महावीरस्वामी की परम्परा का कर्मसिद्धान्त है। स्वयं का कर्ता जीव स्वयं है और जब कर्ता होगा, तो भोक्ता भी स्वयं होगा।

बुंदेलखंड के लोग कहते हैं कि कुत्ता जब बैठता है, तो पूँछ हिला करके बैठता है। बात को समझना। जिस फर्श पर आप बैठे हो, उसके नीचे कौन बैठा था और आप आकर बैठ गये। भगवान् महावीरस्वामी कहते हैं कि हमारी अहिंसा को समझो। विवेकपूर्वक जो चर्या होगी, वो अहिंसामय होगी और जहाँ प्रमाद होगा, वहाँ नियम से हिंसा होगी। 'तत्त्वार्थ–सूत्र' में उमास्वामी आचार्य ने कहा है :

''प्रमत्तयोगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा।''

भो ज्ञानी! समझना। किसी का वध करने को दुनियाँ कहती है हिंसा, लेकिन तीर्थंकर कहते हैं, कि किसी को बदनाम करना भी हिंसा है। किसी का वध करना तो हिंसा है ही,

बदनाम करना महानहिंसा है, क्योंकि आपने उसके प्राणों का विघात किया है, उसके परिणामों का विघात किया है, उसकी निर्मलता का विघात किया है। जैनदर्शन में दो प्रकार की हिंसा का कथन किया है। किसी के प्राणों का वियोग करा देना, इसका नाम द्रव्यहिंसा है और किसी को मारने के परिणाम कर लेना, इसका नाम भावहिंसा है।

माताओ! विचार करना, कि एक सियारनी जब जंगल से शिकार करके आती है, तो उसके नख लाल होते हैं, मुख लाल होता है। कोई माँ अपने ओठों पर लिपिस्टक लगाये हो, नखों पर पालिश लगाये हो, तो कहना–प्रभु! आपके चरणों में सियारनी बनकर आई हूँ, मेरा स्वरूप तो देख लो।

मनीषियो! अहिंसा की बात बड़ी सूक्ष्मदृष्टि है। जिनवाणी कह रही है, व्यर्थ में किसी का विघात मत करो। सत्ता भी सत्य से मिलती है। जिसदिन आचरण असत्य हो जायेगा, उसदिन रावण जैसी सत्ता भी समाप्त हो जायेगी। इसलिये वाणीसंयम का ध्यान रखना। बोल सको तो मधुर बोलना और बोलना न आता हो, तो मौन रहना परन्तु कटुक, कठोर शब्द का प्रयोग मत करना। जीवन में बाण से अधिक घातक यदि कोई है, तो वाणी है। ललितपुर जिले के मड़ावरा गाँव के मंदिर में वाणी पर एक बहुत बड़ी कथा लिखी हुई है। अक्षरों में नहीं, चित्र बने हैं पाषाण पर। एक सिंह जंगल में जा रहा था और जाते–जाते उसके पैर में काँटा चुभ गया। लकड़हारा जो जंगल में घूम रहा था, उसने देखा कि सिंह बिलख रहा है, तड़प रहा है। उसको करुणा आ गई। उसने कहा–वनराज! अभयदान दो, तो मैं काँटे को निकाल देता हूँ। करुणा की भाषा को पशु भी समझता है, ये ध्यान रखना अपने जीवन में। उसने काँटा निकाल दिया। सिंह वनराज था, भले आप तिर्यंच कहो, पशु कहो। वह विचारता है कि इसने मेरा उपकार किया है। बोला–'मैं आपके उपकार को कैसे चुका सकता हूँ? ये लकड़ी का बोझा मेरी पीठ पर रख दो, मैं आपको घर तक छोड़ देता हूँ।' परन्तु मानव अपनी मानवता को खो गया। उसने दुगना बोझा बांधा और सिंह की पीठ पर रख दिया । और कुछ ही दिनों में लकड़हारा बहुत पैसेवाला बन गया। लोगों ने कहा–क्यों भैया! आजकल तुम्हारी हवेली बन गई। लकड़हारे ने कहा–हाँ, एक गधा जंगल में मिल गया था, उसकी कृपा से सबकुछ हो गया। सिंह ने सुना, तो उसके शरीर में खून नहीं बचा, सूख गया। परन्तु मन में क्या सोचता है? संसार में उपकारी के उपकार को भूल जानेवाला सबसे बड़ा पापी होता है। इसने मेरे काँटे को निकाला था, इसलिये मैं इसको खाऊँगा नहीं । घूँट पी गया शब्दों के कटुक जहर को और जंगल में वापस पहुँच गया। वाणी का जहर, वाणी का घाव कभी भरता नहीं है।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **'सार' शब्द द्वारा स्वभाव रत्नत्रय का स्वरूप का कथन।**

णियमेण य जं कज्जं, तं णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीयपरिहरत्थं, भणिदं खलु सारमिदि वयणं।। 3।।

संस्कृत छाया : **नियमेन च यत्कार्यं स नियमो ज्ञानदर्शनचारित्रम्।**
विपरीतपरिहारार्थं भणितं खलु सारमिति वचनम्।। 3।।

अन्वयार्थ : (नियमेन च यत्कार्यं) जो नियम से करने योग्य है (स नियम :) वह ''नियम'' कहलाता है (ज्ञानदर्शनचारित्रं) और वह ज्ञानदर्शनचारित्र है (विपरीत परिहारार्थ) विपरीत का परिहार करने के लिये (खलु सारं इति वचनं भणितं) वास्तव में ''सार'' ऐसा वचन कहा गया है ।

उत्थानिका : **भेद रत्नत्रय और उनके लक्षण का कथन।**

णियमं मोक्खउवायो, तस्स फलं हवति रममणिव्वाणम्।
एदेसिं तिण्हं पि य, पत्तेयपरूवणा होइ।। 4।।

संस्कृत छाया : **नियमो मोक्षोपायस्तस्य फलं भवति परमनिर्वाणम्।**
एतेषां त्रयाणामपि च प्रत्येकप्ररूपणा भवति।।4।।

अन्वयार्थ : (नियमः मोक्षोपायः) पूर्वोक्त रत्नत्रयस्वरूप नियम मोक्ष का उपाय है (तस्य फलं परम निर्वाणं भवति) उसका फल परम निर्वाण है (अपि च एतेषां त्रयाणां प्रत्येक प्ररूपणा भवति) पुनश्च इन तीनों में से प्रत्येक की प्ररूपणा होती है।

उत्थानिका : **व्यवहार सम्यक्त्व के स्वरूप का कथन।**

अत्तागमतच्चाणं, सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं।
ववगयअसेसदोसो, सयलगुणप्पा हवे अत्तो।। 5।।

संस्कृत छाया : **आप्तागमतत्त्वानां श्रद्धानाद्भवति सम्यक्त्वम्।**
व्यपगताशेषदोषः सकलगुणात्मा भवेदाप्तः।। 5।।

अन्वयार्थ : (आप्तागमतत्त्वानां श्रद्धानात्) आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से (सम्यक्त्वं भवति) सम्यक्त्व होता है (व्यपगताशेष दोषः) समस्त दोषों से रहित (सकलगुणात्मा आप्तः भवेत्) और सकल गुणों से सहित आप्त होता है।

भो मनीषियो! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्दस्वामी ग्रन्थराज नियमसार जी में 'नियम' शब्द के सारपने के प्रतिपादन द्वारा स्वभावरत्नत्रय का स्वरूप कहते हैं। तीसरी गाथा में कह रहे हैं कि जो नियम से करने योग्य है, वही नियम कहलाता है। अकरणीय कार्य कोई भी नियम नहीं है। अज्ञानीप्राणी अपने हर लोकव्यवहार को 'नियम' शब्द से घोषित करते हैं। यह लोक का नियम कोई परमार्थभूत नियम नहीं है, संसारवृद्धि का कारण है। नियम से यहाँ तात्पर्य सांसारिक–कर्त्तव्य नहीं है, सांसारिक–कर्त्तव्य पराधीन है, विषयसुखभूत है। विषयसुख कषायभूत है। कषाय बन्धभूत है और बन्ध संसारभूत है।

भो ज्ञानी! जो संसार का साधन है, वह 'नियम' संज्ञा को प्राप्त नहीं होता है। नमोऽस्तुशासन में तो वही नियम उपादेयभूत है, जो संसारातीत/भवातीत करने में समर्थ है। करने योग्य कार्य जो है, वह तो मात्र ज्ञान–दर्शन–चारित्र रूप है। उसमें विपरीतता (मिथ्यापन) का परिहार करने के लिये **''सार''** वचन कहा है। नियमसार से तात्पर्य है जो मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत है, वही दर्शनज्ञानचारित्र नियमभूत है, सारभूत है। मिथ्यादृष्टियों का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण न नियम है, न सार है । अभव्यजीव द्रव्य से जिनागम में वर्णित रत्नत्रयधर्म का पालन करते हुए भी नियमसारभूत नहीं है। सम्यक्त्व के अभाव में कोई नियम सारभूत नहीं होता है।

भो ज्ञानी! लौकिकदृष्टि से धारण किये गये नियम, भोगाकांक्षारूप द्रव्य से युक्त नियम तो न नियम है और न सार है। ख्याति, लाभ, पूजा की दृष्टि से व्यवहाररत्नत्रय को धारण करता है, तो उसका रत्नत्रयधर्म न नियम है, न सार है। क्योंकि व्यवहाररत्नत्रय के पालन में नियमसार में अनैकांतिक दोष आता है, इसलिये मात्र व्यवहाररत्नत्रय नियमसार नहीं है। इसमें अनेकांतिक दोष क्यों? क्योंकि व्यवहार रत्नत्रय का निर्दोष पालन तो अभव्य–मिथ्यादृष्टिजीव भी कर लेता है, पर उसका व्यवहाररत्नत्रय नियमसारभूत फलित नहीं होता। उसका रत्नत्रय तो 'रत्नत्रय' संज्ञा को भी प्राप्त नहीं है। वह जो भी कर रहा है **''धम्मं भोअ णिमित्तं''**। उसका धर्म करना तो भोग के निमित्त है कर्मक्षय का निमित्त नहीं है। सम्यग्दृष्टि के द्वारा धारण कियागया व्यवहाररत्नत्रय ख्याति, पूजा, लाभ से रहित होकरके परमार्थ पर लक्ष्य रखता है। यथार्थ में तो निश्चयरत्नत्रय ही नियमसार है। उसकी प्राप्ति का माध्यम होने के कारण व्यवहाररत्नत्रय भी नियमसार के सार का हेतु होने से नियमसार है।

मनीषियो! सहज परमपारिणामिक भाव से स्थित, स्वाभाविक अनन्तचतुष्टयात्मक शुद्धज्ञानचेतनारूप जो परिणाम है, भूतार्थ दृष्टि से वह नियम कहलाता है। जो नियम से अर्थात् निश्चय से कर्त्तव्य है, प्रयोजन है, वह नियम कहलाता है। दर्शन–ज्ञान–चारित्र

ऐसे जो प्रयोजनभूत माने गये हैं, इसलिये ये तीनों 'नियम' शब्द से लिये गये हैं। यह पूर्वोक्त कथन का तात्पर्य है। उन तीनों में परद्रव्य का आलम्बन छोड़कर, समस्त योगशक्ति को अन्तर्मुखी करने से जो निज–परमार्थ तत्त्व का ज्ञान होता है, वह सम्यग्ज्ञान है। भगवान् परमात्मा के अतीन्द्रियसुख की अभिलाषा रखनेवाले जीव के शुद्ध–अंतरंगतत्त्व के आनंद की उत्पत्तिस्थानभूत, अपने शुद्धनिश्चय–ज्ञानदर्शनरूप कारणपरमात्मा की जो निश्चय स्थिति है, लीनता है, वह सम्यक्चारित्र है। इसप्रकार सम्यग्ज्ञान आदि निर्वाण का कारण है, अन्यरूप नहीं । इस बात को सूचित करने के लिये 'नियम' शब्द के साथ **'सार'** शब्द को कहा गया है। इस बात को टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव ने स्वीकार किया है।

भो ज्ञानी! यहाँ पर ऐसा तात्पर्य समझना कि जो निर्वाण के साधनभूत निश्चय–व्यवहाररत्नत्रय है, उसको सारभूत समझना। 'सार' शब्द से मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्र का तो निराकरण भी हो जाता है। व्यवहाररत्नत्रय को सर्वथा हेय नहीं कहा, क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने स्वयं आगे व्यवहाररत्नत्रय को मोक्ष का कारण स्वीकार किया है। इसलिये 'विपरीत' शब्द से तात्पर्य मिथ्यादर्शन आदि को ग्रहण करना।

इति विपरीतविमुक्तं रत्नत्रयमनुत्तमं प्रपद्याहम्।
अपुनर्भवभामिन्यां समुद्भवमनङ्गशं यामि ।। कलश 10।।

आचार्य पद्मप्रभमलधारि देव निश्चयरत्नत्रय और उसके फल की कामना करते हुये कहते हैं, मैं विपरीतस्वरूप से रहित अनुपम, सर्वश्रेष्ठ रत्नत्रय को प्राप्त करके मुक्तिरूपी स्त्री से उत्पन्न, अशरीरीसुख को प्राप्त करता हूँ। अशरीरी से तात्पर्य आत्मिक सुख है, अतीन्द्रिय सुख है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्दस्वामी गाथा संख्या चार में रत्नत्रय में भेद करने वाले लक्षण को कहते हैं। रत्नत्रयस्वरूप नियम मोक्ष का उपाय है और उसका फल परमनिर्वाण है। इसप्रकार से आगे इन्हीं तीनों की प्ररूपणा होगी।

भो ज्ञानी! समस्त कर्मों के नाश से प्राप्त हुये अतीन्द्रियसुख का साक्षात लाभ ही मोक्ष है। अभेदरत्नत्रय परिणति का होना ही उस मोक्ष का उपाय है। अतः इस प्रकार सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र का प्ररूपण है। कहने का तात्पर्य यह है कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र का लक्षण आगे के सूत्रों में कहा गया है, यह जानना चाहिये। अन्य लौकिक किसी भी क्रियाकलाप को जिनशासन में मोक्ष का उपाय स्वीकार नहीं किया गया है।

इसप्रकार से चौथी गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने यहाँ पर मोक्षमार्ग और मार्ग का फल यानि मोक्ष, परम निर्वाण इसकी व्याख्या करते हुए संकेत कर दिया है कि इन तीनों की प्ररूपणा इस ग्रन्थ में करेंगे। विभिन्न हेतुओं से, विभिन्न तर्कों के साथ उभयात्मकदृष्टि से, निश्चय–व्यवहारदृष्टि से आचार्यभगवन् रत्नत्रयधर्म की प्ररूपणा करनेवाले हैं, जो कि अत्यन्त विशद् और पुष्कल व्याख्या है। इसी बात को टीकाकार पद्मप्रभमलधारि देव ग्यारहवें कलश में कह रहे हैं।

मोक्षोपायो भवति यमिनां शुद्धरत्नत्रयात्मा, ह्यात्माज्ञानं न पुनरपरं दृष्टिरन्याऽपि नैव।
शीलं तावन्न भवति परं मोक्षुभिः प्रोक्तमेतद्–बुद्धवा जन्तुर्न पुनरुदरं याति मातुःस भव्यः
।। कलश 11।।

भो ज्ञानी! जो शुद्ध रत्नत्रय है, वही मोक्ष का उपाय है और स्वात्मा का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है, अन्य नहीं है। यथार्थ में स्वात्मा का ज्ञान ही निश्चय ज्ञान है। परज्ञेयों का जहाँ किंचित मात्र भी प्रवेश नहीं है, ऐसा स्वात्मज्ञान ही ज्ञान है। अन्य पर दृष्टि नहीं है, अन्य दृष्टि नहीं है। स्वात्मा का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। जो अन्य पर दृष्टि है, वह भी परमार्थभूत से सम्यक् नहीं है। निश्चय से स्वात्मा का ज्ञान, स्वात्मा पर श्रद्धान है वही सम्यग्दर्शन है, वही सम्यग्ज्ञान है और स्वात्मा में रमण ही शील है, अन्य कोई शील 'शील' नहीं है। इसप्रकार से स्वात्मरूप में स्थिरता ही सम्यक्चारित्र है, अन्य नहीं।

भो ज्ञानी! मोक्षमार्गी पुरुषों में ऐसा जो जानता है, मानता है, स्वीकारता है वही भव्यजीव है। इसप्रकार से मोक्षमार्गी पुरुषों के द्वारा कहे हुये सत्य को जो भव्यजीव समझ लेता है, फिर वह जीव किसी माता के उदर में कभी जन्म नहीं लेता । बस, जीवन में एक दृष्टि आ जाये कि भगवन्! औरकुछ नहीं चाहिये। जगत में किसी भी माता के उदर में पुनः जन्म न लेना पड़े। इससे तात्पर्य यह भी नहीं समझ लेना कि ऐसा निदान करके सम्मूर्च्छन पर्याय को प्राप्त हो जाये अथवा उपपाद जन्म हो जाये या वनस्पति आदि में बीजभूत जन्म हो जाये। इन जन्मों की दृष्टि से दृष्टि नहीं है। यहाँ पर तो माँ के उदर में जन्म न लेने से तात्पर्य जन्म–मरण से रहित हो जाये, ऐसी दृष्टि समझना।

पुनः आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी अब व्यवहारसम्यग्दर्शन के स्वरूप का कथन पाँचवी गाथा में करते हैं। यथार्थ में व्यवहारसम्यक्त्व है क्या? अज्ञानी लोगों की आज भीड़ लगी हुई है। अपने–आपको सम्यग्दृष्टि ही नहीं कह रहे हैं वरन् शुद्धात्मा मान रहे हैं। सम्यग्दृष्टि तो कह नहीं पा रहे हैं, शुद्धात्मा कैसे हो सकते हैं? आश्चर्य तो इस बात का है

कि ऐसा मिथ्यात्व फैला रखा है कि वर्तमान में बड़ों–से–बड़ा विद्वान् अपने–आपको कहता है–मैं तो मिथ्यादृष्टि हूँ और ऐसे लोग चतुर्थगुणस्थान की सिद्धि में पूरी पर्याय को नष्ट कर रहे हैं। चतुर्थगुणस्थान को ये मान रहे हैं कि जैसे यह ही चौदहवाँ गुणस्थान हो। परन्तु जबतक भेदाभेद रत्नत्रय नहीं होगा तबतक शुद्धात्मा में लीनता नहीं होगी और स्वरूपाचरण नहीं होगा, यानि कि शुद्धोपयोग नहीं होगा। परन्तु जो शुद्धोपयोग के अभाव में अपने–आपको मोक्षमार्गी मान रहे हैं, व्यवहार सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र के अभाव में मोक्ष मान रहे हैं, वे जीव बहिरात्मा हैं, अज्ञानी हैं, मिथ्यादृष्टि हैं। यहाँपर कुन्दकुन्दस्वामी की दृष्टि में भी, इस बात को लोग समझ नहीं पाये कि वास्तव में सम्यग्दर्शन है क्या? यदि कुन्दकुन्दस्वामी को व्यवहारसम्यक्त्व उपादेयभूत नहीं होता, तो व्यवहारसम्यक्त्व की प्ररूपणा करते क्यों?

आचार्य भगवन् कुन्दकुन्दस्वामी इसी गाथा में आगे कह रहे हैं, कि आप्त, आगम और तत्त्व, इन पर जो श्रद्धान है, इसका नाम सम्यक्त्व है। सच्चे वीतरागी आप्त (अठारह दोषों से रहित परमात्मा) और आप्त के द्वारा कथित आगम और जिनवाणी से प्रणीत तत्त्व है, इनपर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। जिनके समस्त दोष नष्ट हो गये हैं, वो आप्त हैं। आप्त से तात्पर्य नामधारी आप्त नहीं समझ लेना। लोक में अनेक प्रकार के आप्त होते हैं। अपने इष्ट–संबंधी को भी आप्त कहा जाता है। कामादिक विकारों से युक्त, दोषों से परिपूर्ण, ऐसे कुमार्ग के निरूपणकर्ता को भी लोग आप्त कहते हैं। श्री जिनेन्द्र के शासन में 'आप्त' संज्ञा मात्र को स्वीकार नहीं किया। 'आप्त' गुणभूत होना चाहिये। जो हितोपदेशी है, सर्वज्ञ है, रागदिक दोषों से रिक्त है, अठारह दोषों से शून्य है, ऐसा निर्दोष परमात्मा ही 'आप्त' संज्ञा को प्राप्त होता है। श्री जिनशासन में किसी भी रथ्या पुरुष को 'आप्त' संज्ञा नहीं दी जा सकती है। वचनालाप करने मात्र से आप्तपना नहीं आता। अपने को तीर्थंकर कहने मात्र से आप्तपना नहीं आता। जो लोक में अपने–आपको तीर्थंकर मानते हैं, उनके वचन भी परस्पर विरोध को प्राप्त होते हैं। वाक्पटुता आप्तपने की पहचान नहीं है। निर्दोषता ही आप्तपने की पहचान है। ऐसे निर्दोष आप्त के वचन ही 'आगम' संज्ञा को प्राप्त हैं। शंकादि दोषों से युक्त पुरुष, मूढ़ताओं से भरा पुरुष, कषायों से अनुरंजित पुरुष, स्त्री आदि परिग्रह से युक्त पुरुष, अस्त्रशस्त्र से युक्त पुरुष, दीनहीन के वेष में पुरुष, सवस्त्र पुरुष, सग्रन्थ पुरुष नमोस्तुशासन में आप्तपने को प्राप्त नहीं होता। आप्त पुरुष तो शंकादि दोषों से रहित होता है। शंकादि से समस्त राग, द्वेष, मोह आदि को ग्रहण करना,

ऐसा टीकाकार का अभिप्राय है। वो निर्दोष आप्त है, जो युक्ति और शास्त्र से अविरोधी हो। उस आप्त के मुखारविन्द से विनर्गत, समस्त वस्तुओं के विस्तार के समर्थन करने में निपुण जो उभय वचनों का समुदाय है, वह आगम कहलाता है। बहिस्तत्व, अंतस्तत्त्व, परमार्थतत्त्व के भेद से तत्त्व तीन प्रकार का है, अथवा जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष के भेद से तत्त्व के सात भेद होते हैं। इसप्रकार आप्त, आगम, तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान करना व्यवहारसम्यक्त्व है। प्रत्येक तत्त्वज्ञानी को निज में आप्त, आगम, तत्त्व पर श्रद्धान की प्रतीति तो करना ही चाहिये। यदि ये प्रतीति नहीं है, तो व्यवहारसम्यक्त्व भी नहीं है। जिसके पास व्यवहारसम्यक्त्व नहीं है, उसके पास निश्चयसम्यक्त्व की कल्पना करना खरगोश के सींग के तुल्य है, बन्ध्या के सुत के समान है।

हे मुमुक्षुओ! स्व के व्यवहारसम्यक्त्व का तो लक्ष्य रखना चाहिये, यदि निश्चयसम्यक्त्व चाहिये है तो। सम्यक्त्वविहीन द्वारा की गई साधना स्वर्ग का साधन तो हो सकती है, परन्तु मोक्ष का साधन नहीं है। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना पड़ेगा कि साधना भेषमात्र है, कि वास्तव में साधना है? यदि भेषमात्र है, साधना शून्य है, तो उनके लिये वह भेष मोक्षमार्ग का साधन नहीं है। वह तो मायाचार के कारण तिर्यंच पर्याय में ले जाने का सुन्दर कारण है। किंचित भद्र परिणाम नहीं हैं, तो जीव को हाथी, बैल, सांप, नांदिया, घोड़ा, श्वान आदि तिर्यंच पर्याय की प्राप्ति होती है। पक्षियों में तोता, मयूर, नीलकंठ आदि पर्याय को प्राप्त करता है।

आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि शाश्वत चैतन्य आत्मा का ध्यान करना है, तो राग–द्वेष की भूमिका का शमन करना होगा। जबतक राग–द्वेष का उद्भव रहेगा, राग–द्वेश की जरा–सी भी गन्ध रहेगी, तो शुद्धात्मा का ध्यान संभव नहीं है। कोई सोचे, कि मैं राग–द्वेष को उखाड़कर फेंक देता हूँ, तो भो ज्ञानी! राग–द्वेष को उखाड़कर फेंका नहीं जाता, उसका उपशमन किया जाता है। यदि आप कहें कि राग को छोड़ना चाहता हूँ, तो वो भी एक राग है। 'छोड़ने' शब्द में राग लगा हुआ है। जो कहता है कि राग छोडूँ, राग छोडूँ, वो कभी राग को नहीं छोड़ सकता है। पर जो वीतराग की प्राप्ति का पुरुषार्थ करता है, उसका राग बहुत कुछ अवश्य छूट जाता है।

'भगवन्! मैं चाहता हूँ कि मेरे अंतरंग से विषयवासना समाप्त हो जाये,' ऐसी माला फेरने बैठ जाओ, पर विषयवासना तब समाप्त होगी, जब विषयवासना की प्रवृति को तू छोड़ देगा। तू क्रिया को छोड़ना नहीं चाहता, वासना को छोड़ना चाहता है। बिना क्रिया

को छोड़े वासना छूटनेवाली नहीं है। जिस बर्तन में दही रखा है, उस बर्तन से तू खटाई छुड़ाना चाहता है। अरे! पहले खटाई की सामग्री को तो निकाल लो। इसके उपरान्त माँजोगे, तब खटाई समाप्त होगी। ऐसे ही पहले भोगवृत्ति को छोड़ो, तो भोगवासना छूटने के अवसर हैं। जिसने भोगवृत्ति नहीं छोड़ी, उसकी भोगवासना भी नहीं छूटेगी। पूरा जीवन नष्ट कर देगा कह करके ।

हे ज्ञानियो! ध्यान रखना, राग–द्वेष को छोड़ना है, तो कहने से नहीं छूटेगा। राग–द्वेष को करना बन्द कर दो, राग–द्वेष छूट जायेगा। जिन निमित्तों से कषाय होती है, उन निमित्तों को छोड़ दो। कर्म अपनी सीमा में है, कर्म की अपनी सत्ता है। भो ज्ञानी! कोई धूपबत्ती थी, उसकी मर्यादा थी समय की। अपनी मर्यादा के अंतर्गत अपनी सुगन्ध छोड़ेगी। यदि उसकी समय की मर्यादा पूरी हो चुकी है, तो राख भर हो जायेगी, सुगन्ध नहीं आयेगी। वीतरागवाणी कहती है कि कर्म की मर्यादा होती है स्थितिबन्ध, प्रत्येक कर्म की स्थिति होती है, स्थितिबन्ध के साथ आपने कोई नवीन कर्म नहीं किया और स्थिति अपनी सत्ता में रखी हुई थी, विपाक नहीं आया और उसके पहले आपने तीव्र पुण्यकर्म कर दिया, तो उसकी स्थिति अपने–आपमें विलीन हो गई। आपने नवीनकर्म का बंध किया, उसकी तीव्रता में वो नवीन कर्म संक्रमित हो गया। फल जो अशुभद्रव्य का था, वो भी शुभद्रव्य के रूप में फलित होने लगा।

भो ज्ञानी! कभी–कभी देखने को मिलता है कि तीव्र पुण्यात्माजीव की बहुत सारी विभूति एकक्षण में विलीन हो गई । कभी ये भी देखते हैं कि बहुत पापीजीव का पाप का द्रव्य था, एकक्षण में विभूति में बदल गया। इसमें भी सिद्धान्त है। कमरे में अनाज भरा हो और आग लग जाये, तो राख का ढ़ेर बनेगा कि नहीं? जो भोजनयोग्य सामग्री थी, वो राख के रूप में फलित दिख रही है। जिस घर में राख पड़ी थी उसमें बहुत–सा गुड़ भर दिया। गुड़ के पिघलने पर राख उसमें मिल गई, ठंड में गुड़ जम गया। राख गुड़ के भाव पर बिक गई । सिद्धान्त है कि जिसके शुभ–कर्मांश अधिक होते हैं, तो अशुद्ध–कर्मांश भी शुभकर्मांश में संक्रमित हो जाते हैं। अशुभपाप भी शुभरूप फलित होने लगता है। जब पाप–आस्रव ज्यादा कर लेते हो, तो आप कहते हो कि मैंने जो पहले पुण्य किया था, वह कहाँ गया? भो ज्ञानी! आपको मालूम नहीं वो भी अग्नि के साथ राख हो गया, वो भी पाप में संक्रमित हो गया। इसलिये सुख–दुःख का दाता कोई नहीं है। निज ही सुख का घात करता है, वो ही दुःख का कर्ता है।

भो ज्ञानी! ध्यान से सुनना, यदि आप कहें कि मैं निमित्तों को छोड़ दूँगा तो शायद शांति मिल जायेगी। एक जीव के घर में विसंवाद हुआ, घर छोड़कर मंदिर आ गया। तुमने अच्छा किया, सामने का झगड़ा समाप्त हुआ, लेकिन आप यह न सोचें कि शांति मिल जायेगी। जो झगड़ा कल आपके घर में हुआ था, आप मंदिर में सामायिक करने बैठे तो पूरा चिंतवन सामने आ गया। मैंने ऐसा किया, तो ऐसा हो गया। यहाँ चिन्तवन प्रारंभ हो गया । शरीर से आप मंदिर में हो, पर मन से घर में हैं और मन में द्वन्द्व छिड़ा हुआ है और कर्म–आस्रव चालू है।

भो ज्ञानी! यदि चिन्तवन ऐसा बने कि मैंने तो कुछ नहीं किया है, उन्होंने ही ऐसा किया है, तो अपने–आपको निर्दोष घोषित करते–करते कषाय की तीव्रता में चले जाओगे। यदि स्वयं को दोषी घोषित करना प्रारंभ कर दो, तो स्वयं के दोष भी घट जायेंगे और दूसरे से द्वेष भी नहीं होगा। ध्यान रखो, किसी के सामने दूसरे की आलोचना करोगे तो सामनेवाला क्या सोचेगा? इसका समय परनिन्दा में जा रहा है, निज का कल्याण क्या करेगा?

भो ज्ञानी! दुनियाँ कहती है कि राग–द्वेष छोड़ो, पर ये कोई नहीं कहता है, राग–द्वेष छूटेगा कैसे? 'राग–द्वेष छोड़ो' शब्द भी राग–द्वेष को जन्म दे रहा है। जिसकी कषायें भड़क रही हों, आप उसमें प्रवचन करने पहुँच गये, तो उसको राग –द्वेष छुड़ाने की बात मत करो। उस जीव को कुछ ऐसा विषय दे दो. कि वह उसमें उलझ जाये। किसी का किसी से वियोग हो गया, व्यक्ति उसको भूलकर अपने काम में लग गया। अब आप उसके द्वार पर पहुँचे, उसको याद दिला दी। आप तो उसको सांत्वना दिलाने गये थे, लेकिन आपने उसको दुःख की याद दिला दी। किसी का किसी से झगड़ा हो गया, वो सोच रहा था कि मैंने अच्छा नहीं किया। आप पहुंचे और कहा कि उसने अच्छा नहीं किया। भैया! राग–द्वेष कम हुआ कि आपने बढ़ा दिया? भो ज्ञानी! कषाय की दो स्थितियाँ हैं–उपषम और क्षय। क्षय में एकदम नष्ट हो जाता है, उपशम में धीरे–धीरे दब जाता है। कोई चाहे कि इस काल में. मेरी कषाय का नाश हो जाये, तो होनेवाला नहीं है। यदि महामुनि भी बन जाये, तो कषाय नष्ट नहीं होगी। इसलिये ऐसी चर्या करो कि राख बढ़ती जाये, तो स्वयं दबकर अग्नि के समान बुझ जायेगी।

भो ज्ञानी! मोक्षमार्ग कहता है कि निमित्तों को मत भगाइये, अपने उपादान को सुधारिये। निमित्त कभी नष्ट नहीं हुये हैं, न होंगे। उपादान को निर्मल करो। जो पदार्थ जहाँ था, वहीं है। आपने पदार्थ को कहाँ छोड़ा? अपनी दृष्टि को छोड़ दिया, इसका नाम मुनिमार्ग है, यही मोक्षमार्ग है।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **अठारह दोषों के स्वरूप का वर्णन, तीर्थंकर परमदेव के स्वरूप का आख्यान, परमागम स्वरूप का कथन।**

छुहतण्हभीरुरोसो, रागो मोहो चिन्ता जरा रुजामिच्चू।
सेदं खेद मदो रइ, विम्हिय णिद्दा जणुव्वेगो।।6।।

संस्कृत छाया : **क्षुधा तृष्णा भयं रोषो रागो मोहश्चिन्ता जरा रुजा मृत्युः।**
स्वेदः खेदो मदो रतिः विस्मयनिद्रे जन्मोद्वेगौ।।6।।

अन्वयार्थ : (क्षुधातृष्णाभयं रोषो रागो मोहः चिन्ता जरा रुजा मृत्युः) क्षुधा, तृषा, भय, रोष, राग, मोह, चिन्ता, वृद्धावस्था, रोग, मृत्यु (स्वेदः खेदो मदो रतिः विस्मयनिद्रे जन्मोद्वेगो) पसीना, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और अरति (ये अठारह दोष) हैं।

णिस्सेसदोसरहिओ, केवलणाणाइपरमविभवजुदो।
सो परमप्पा उच्चइ, तव्विवरीओ ण परमप्पा।।7।।

संस्कृत छाया : **निःशेषदोषरहितः केवलज्ञानादिपरमविभवयुतः।**
स परमात्मोच्यते तद्विपरीतो न परमात्मा।।7।।

अन्वयार्थ : (निःशेषदोषरहितः) जो उपर्युक्त संपूर्ण दोषों से रहित और (केवलज्ञानादि परम विभवयुतः) केवलज्ञान आदि परम वैभव से सहित है (सः) वह (परमात्मा उच्यते) परमात्मा कहलाते हैं। (तद्विपरीतः) उससे विपरीत (परमात्मा न) परमात्मा नहीं है।

तस्स मुहग्गदवयणं, पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं, तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था।।8।।

संस्कृत छाया : **तस्य मुखोद्गतवचनं पूर्व्वापरदोषविरहितं शुद्धम्।**
आगममिति परिकथितं तेन तु कथिता भवन्ति तत्त्वार्थाः।।8।।

अन्वयार्थ : (तस्य मुखोद्गतवचनं) उन आप्त के मुख से निकले हुए जो वचन हैं (पूर्वापरदोषविरहितं शुद्धं) जो पूर्वापर दोषों से रहित हैं, शुद्ध हैं (आगमं इति परिकथितं) उसे ही 'आगम' इस प्रकार कहा है (तेन तु कथिताः तत्त्वार्थाः) और उस आगम के द्वारा कहे गये अर्थ तत्त्वार्थ कहलाते है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी निर्दोष आप्त, आगम, तत्त्व की प्ररूपणा करते हुये छठवीं गाथा में अब अठारह दोषों का वर्णन करते हैं। क्षुधा, तृषा, भय, रोष, राग, मोह, चिन्ता, वृद्धावस्था, रोग, मृत्यु, पसीना, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और अरति ये अठारह दोष हैं। इनसे रहित जो है, वही निर्दोष परमात्मा है। पहला दोष क्षुधा है। आत्मा को तीव्र कलुषित करनेवाली कोई बाधा है, वह है क्षुधा। भूख से पीड़ित हुआ पुरुष विवेकविहीन हो जाता है। उसकी स्थिति अत्यन्त दयनीय हो जाती है। हेय–उपादेय के विवेक से शून्य हो जाता है। करनी–अकरनी के मूल को भूल जाता है। भक्ष्य–अभक्ष्य का विवेक भी उससे दूर हो जाता है। भूखापुरुष भिखारियों से भी भीख माँगने लगता है। कुलीनता, पाण्डित्य को विस्मृत कर देता है। अहोरात्र भूख–भूख चिल्लाता है। ऐसे असाता–वेदनीयकर्म के निमित्त से तीव्रक्लेश और बन्ध करानेवाली ये क्षुधा है। अरिहन्त जैसा महापुरुष क्या ऐसे क्लेश को प्राप्त हो सकता है? भोजन में दीनता देखी जाती है। तीर्थंकर–केवली यदि सामान्यपुरुषों जैसा कवलाहार करेंगे, तो सामान्य लोग– जैसे दिखेंगे। अतः अरिहन्त–केवली क्षुधा दोष से रहित हैं।

भो ज्ञानी! दूसरा दोष है तृषा। तृषा से तात्पर्य है पिपासा, प्यास। प्यासापुरुष सर्वांग में संतप्त होता है और पानी की खोज में आत्मविशुद्धि को खो देता है। अनंतज्ञान के धारी केवली जिनके मोह की सत्ता के अभाव से असाता वेदनीयकर्म अपना प्रभाव नहीं दिखा पाता। सुखानुभूति, इन्द्रियजन्य दुःखानुभूति ये दोनों चारित्र मोहनीयकर्म के उदय पर होती है। जिन्होंने मोह का ही अभाव कर दिया है, वहाँ साता–असाता की वेदना व्यथित नहीं कर पाती है। असातावेदनीयकर्म की तीव्र, तीव्रतर, मंद, मंदतर पीड़ा से तृषा उत्पन्न होती है।

यद्यपि सूत्रकार ने ''एकादश जिने'' कहा। 'तत्त्वार्थसूत्र' में लिखा है कि जिनेन्द्र भगवान् के ग्यारह परीषह हैं। परीषह का वेदन असाता के उदय में होता है। उनको भी क्षुधा, तृषा का वेदन होना चाहिये। ऐसा प्रश्न कोई करता है, तो उनके लिये कहा है कि ऐसा नहीं होता। क्योंकि घातिया कर्मों के उदय का अभाव हो गया है। इसलिये वेदनीयकर्म में क्षुधा आदि बाधा आदि को उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं बची। जैसे विषद्रव्य की शक्ति मंत्र, औषधि आदि से नष्ट कर देने पर वह कार्यकारी नहीं होता, उसीप्रकार से ध्यान–अग्नि के द्वारा घातियारूपी कर्मदल को भस्म कर देने के बाद अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख, अनंतवीर्य, के प्रगट हो जाने पर निरन्तर शुभ पुद्गलवर्गणा आ रही है। जिससे अरहन्त भगवान् के परम–औदारिक शरीर कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष तक बना रहता है। इसलिये वेदनीय कर्म यद्यपि विद्यमान है, तो भी मोहनीय

की सहायता के बिना सामर्थ्य रहित हो गया है। अतः वह अपने योग्य क्षुधा, तृषादि परीषह को उत्पन्न करने में असमर्थ है। इसी बात को 'गोम्मटसार–कर्मकाण्ड' में भी कहा है :

सो धम्मो जत्थ दया सो वि तवो विसयणिग्गहो जत्थ।
दसअट्ठदोसरहिओ सो देवो णत्थि सन्देहो।।

केवलीभगवान् के घातिया कर्म के अभाव में मोहनीय के भेद, जो राग–द्वेष हैं, वे नष्ट हो जाने पर इन्द्रियजन्य क्षायोपशमिक ज्ञान भी नष्ट हो चुका है। इसलिये केवलीभगवान् के साता–असाताजन्य इन्द्रियसुख लेशमात्र भी नहीं होते हैं। जिसकारण केवलीभगवान् के एक साता वेदनीय का बन्ध, सो भी एक समय की स्थिति वाला ही है। इसकारण वह उदय भी सत्तारूप ही है। इसीकारण से असाता का उदय भी सत्तारूप से ही परिणमन कर जाता है। क्योंकि असातावेदनीय सहायरहित होने से तथा बहुत हीन होने से, मिष्ट–जल में खारे जल की एक बूँद की तरह, कुछ कार्य नहीं कर सकता। इसकारण से केवली के हमेषा सातावेदनीय का ही उदय रहता है। इसलिये असाता के निमित्त से होनेवाली क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंश, मशक, चर्या, शय्या, तृण, स्पर्श और मल ये ग्यारह परीषह जिनेन्द्रभगवान् के कार्यरूप नहीं होते। यही कारण है कि अरहन्तभगवान् कवलाहारी नहीं हैं। वे क्षुधादि महादोषों से रहित हैं और अनंतचतुष्टय से सहित पूर्णतया सुखी हैं।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि इहलोक भय, परलोक भय, अरक्षण भय, अगुप्ति भय, मरण भय, वेदना भय, आकस्मिक भय ये सात प्रकार के भय हैं। अरहन्तभगवान् इन सात भयों से शून्य हैं। भय संज्ञा का अभाव आठवें गुणस्थान में हो जाता है, फिर अरहंत परमात्मा के भय कहाँ? भयशील–पुरुष उद्विग्न रहता है। उसे कभी भी निर्भय–जन्य सुख का वेदन नहीं हो सकता है, प्रतिक्षण आशंकित रहता है। अनंतबल के धारी सर्वज्ञदेव भय दोष से मुक्त होते हैं। यही कारण है कि सर्वज्ञ परमात्मा निअम्बर, अस्त्र–शस्त्र से शून्य, नित्य, अनंतबल से युक्त होते हैं। तीर्थंकर परमेश्वर सर्वज्ञदेव अस्त्र–शस्त्र धारण क्यों नहीं करते? क्योंकि उनके भय दोष का अभाव है। अस्त्र–शस्त्र धारण वे करें, जो पर से भयभीत हैं। भय संज्ञा से ग्रसितपुरुष सच्चा–परमात्मा हो ही नहीं सकता। भीरुपुरुष तो सत्यवादी भी नहीं होता, तो परमात्मा कैसे हो सकता है ?

भो ज्ञानी! डरनेवाले व्यक्ति कभी सत्य नहीं बोलते और डरानेवाले भी सत्य नहीं बोलते। भयभीत हो या भय उत्पन्न करानेवाला हो, दोनों साधुपुरुष नहीं होते हैं। जो भयभीत होता है, वह भी हिंसक है और जो भयभीत करता है, वो भी हिंसक है। जो

भयभीत करता है, वो हिंसक है, यह तो समझ में आता है, क्योंकि पर के परिणामों को क्लेशित करता है, इसलिये हिंसक है। परन्तु जो स्वयं भयभीत हो रहा है, वह हिंसक कैसे? अरे भाई! आपको ज्ञात होना चाहिये :

प्रमत्त–योगात् प्राण–व्यपरोपणं हिंसा।। त. सूत्र।।

प्रमाद के योग से जो प्राणों का विघात करता है, वह हिंसा है, चाहे स्वयं के हो, चाहे पर के हो। **''यस्मात् स कषायासन हन्त्यात्मा''** जिससमय जीव कषाय से युक्त होता है, उससमय वह हिंसक होता है। भय भी एक काषायिक भाव है, दोष है। इसलिये काषायिक–भाव भी हिंसा है। इसलिये भयभीत होनेवाला हिंसक है, क्योंकि वह स्वयं के भावों को भयभीत कर रहा है। हिंसक 'परमात्मा' कैसा? परमात्मा 'हिंसक' कैसा? इसलिये निर्दोष परमात्मा भय संज्ञा से रहित होते हैं।

क्रोधस्वभावी जीव के तीव्रपरिणाम को रोष कहते हैं। यहाँ रोष–भाव द्वेष की तीव्रता का परिणाम है। क्रोधीपुरुष हिताहित विवेक से शून्य रहता है। पर जो परमात्मा है, वह अनंतज्ञान गुण से युक्त है। उनमें हिताहितपने के ज्ञान का अभाव कैसा? जगत के प्राणिमात्र को साम्यता का उपदेश करनेवाले साम्यभावी परमात्मा रोष नामक दोष से रहित हैं। क्योंकि प्राणिमात्र पर अभयदान की वर्षा करनेवाले सर्वोदयतीर्थ के तीर्थकर्ता होने से रोष दोष घटित नहीं होता ।

मोह के उदय से प्रीतिभाव प्रकट होता है, वह राग है। उस राग के दो भेद हैं–प्रशस्त और अप्रशस्त! दान,शील,उपवास,गुरुजनों की वैय्यावृत्ति आदि में उत्पन्न होनेवाला राग प्रशस्त–राग है। और स्त्रीकथा, राजकथा, चोर कथा और भोजनकथारूप विकथा के करनेवाले, सुननेवाले जो कुतुहल–रूप परिणाम है, वह अप्रशस्त–राग है। यह प्रशस्त–अपशस्त राग, दोनों शुभाशुभ बन्ध के कारण हैं! परमात्मा बन्धभाव से भिन्न हैं, वहाँ राग कैसा? राग दोष तो महादोष है। जो जीव कर्मों से बन्ध रहे हैं, बंधेंगे, बंध चुके है, वे सभी राग से बन्ध को प्राप्त हुये हैं। इसलिये परमात्मा रागशून्य हैं, क्योंकि वे निर्ग्रन्थस्वभावी हैं।

जो पर में आत्मबुद्धि जागृत करे, निजत्व भाव प्रकट कराये, वह मोह है। मोहित करे, वो मोह है तथा जो आत्मा को मोहित करे, वह मोहकर्म है, मोह दोष है, उसके भी प्रशस्त और अप्रशस्त दो भेद हैं। चार प्रकार के श्रमणसंघ में वात्सल्य से होनेवाला मोह प्रशस्त–मोह है। इससे भिन्न गृह, कुटुम्ब आदि संबंधी मोह अप्रशस्त–मोह है। निर्दोष

परमात्मा में मोहसंबंधी दोष नहीं होता, क्योंकि वे वीतरागी हैं। जहाँ राग है, वहाँ मोह है। जहाँ मोह है, वहाँ राग है। जिनका दोनों का अभाव हो चुका है, वे सच्चे परमात्मा हैं। जो सत्यार्थ आप्तपने से युक्त हैं, वे मोह दोष से रिक्त हैं।

चिन्ता जीवन का महान शत्रु है। चिन्ता में निमग्न पुरुष अपने भूतार्थस्वरूप में विमुख हो जाता है। चिंतातुर उभयलोक के सुख का नाश कर लेता है। वर्तमान में चिन्ता से युक्त होकर, वर्तमान पर्यायों के परमार्थ को एवं इन्द्रियजन्य किसी भी सुख का शांति से वेदन नहीं कर पाता । भविष्य में उसे इंद्रिय–सुख मिलने की संभावना नहीं है। क्योंकि चिन्ता, शोक यह असातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं। असाता का विपाक दुःख है, इसप्रकार से जानना चाहिये। चिन्ता उभयलोक में दुःख का कारण है। विवेकहीनता, शरीर की दुर्बलता, बुद्धि की क्षीणता, स्मृति का अभाव, ये चिन्ता के प्रत्यक्ष–फल हैं। टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव ने चिन्ता को दो में विभक्त किया है–प्रशस्त, अप्रशस्त। धर्म्यध्यान, शुक्लध्यानरूप चिन्तन करना, प्रशस्त–चिन्त है और इससे भिन्न आर्त्त–रौद्र सम्बन्धी चिन्तन करना, अप्रशस्त–चिन्ता है। प्रशस्त–चिन्ता तो उपादेयभूत है। वह तो मोक्ष का कारण बनती है। अन्य आचार्यों ने इसे चिन्तन और ध्यान में ही स्वीकार किया है, चिन्तास्वरूप स्वीकार नहीं किया। लोक में प्रसिद्ध आर्तरौद्र ध्यान को ही चिन्ता कहा है। परमात्मा अरहंतदेव क्षायिकज्ञानी हैं। अशुभ चिन्ता से पूर्णरूपेण शून्य हैं। जब सामान्यजीव को चिन्ता दुःखी कर रही है, यदि ऐसी चिन्ता से युक्त परमात्मा होंगे, तो वे अनन्तसुख के भोक्ता कैसे हो सकते हैं? इसलिये यह ज्ञातव्य है, कि अरहन्त भगवान् चिन्ता दोष से युक्त नहीं होते।

मनुष्यों और तिर्यंचों में उम्र के निमित्त से शरीर में होनेवाले विकार बुढ़ापा है। ये वृद्धत्व अर्धमृतक तुल्य है। वृद्ध–अवस्था रोगों, कष्टों और चिन्ता का निलय है। वृद्ध–अवस्था में पुण्य की क्षीणता, विवेक की दीनता, स्मृति की न्यूनता प्रत्यक्ष परिलक्षित होती है। स्वयं का शरीर भी वृद्ध के लिये दुःखभूत हो जाता है। संसार में जितने प्रकार के दुःख हैं, वे वृद्ध–अवस्था में सभी दिखाई देते हैं। बड़े–से–बड़े पुरुष को यह वृद्धता झुका देता है, अपमानित करा देता है। ऐसा वृद्धत्व स्वीधानता से शून्य होता है, पराधीन कर देता है। जिनका पालन करता था, उनसे भी स्वयं जीने की कामना करता है। ऐसा महारोग से वृद्धत्व अनन्त–सुख से युक्त सच्चे आप्त के नहीं होता। परमात्मा वृद्धत्व दोष से रहित होता है, क्योंकि 'जरा' भी सुख का साधन नहीं है।

वात, पित्त, कफ की विषमता से उत्पन्न हुई शरीर की पीड़ा ही रोग है। ये वात, पित्त का वैषम्य शरीर में धातुओं को विरस कर देता है। धातुओं की विरसता देह में अनेकप्रकार के रोगों की उत्पत्ति का कारण है। ये शरीर का रोग जीव को दुःख का कारण बनता है। रोगी कभी भी शांति को प्राप्त नहीं होता। श्री,स्त्री से सम्पन्न होने पर भी उनके भोग को प्राप्त नहीं करता। श्रीजी भी क्यों न मिल जायें, पर शरीर से रोगी पुरुष संक्लेशतावश श्रीजी को भी भक्ति से नहीं देख पाता। रोगी के अंतस् में विकलता–ही–विकलता है। परम औदारिक शरीर से युक्त तीर्थंकर अरहन्तकेवली रोग दोष से मुक्त हैं। परम औदारिकशरीर सप्तधातु से रहित होता है। उसमें वात, पित्त, कफ त्रिदोष का कोई विकल्प ही नहीं है। भो ज्ञानी! आदि–अन्त सहित मूर्तिक इंद्रिय तथा विजातीय नर, नारकादि विभावव्यंजन पर्याय का विनाश ही मृत्यु का कारण है। मृत्यु के काल में जीव तीव्र वेदना को प्राप्त होता है। कभी दैहिक, कभी मानसिक पीड़ा से पीड़ित होता है। जीव के मृत्यु के काल की वेदना केवली के ज्ञानगम्य है, अवधिज्ञानीगम्य है। आत्मप्रदेशों का देह से निकलने का समय अत्यन्त कष्टप्रद होता है। बिरले पुण्यात्मा सद्पुरुष होते हैं, जो शान्तचित्त से देह का त्याग कर सकते हैं। ऐसी महापीड़ा परमात्मा को नहीं होती है। इसलिये जिनागम में अरहन्त का परिनिर्वाण जो है, वह पण्डित–पण्डितमरण के नाम से जाना जाता है। आयुकर्म के निषेक पूर्ण होते ही देह कपूर की भांति उड़ जाता है। सामान्य जीवों की भांति प्राणों का त्याग नहीं होता। शरीर के विघटित होते ही आत्मा समयप्रमाण काल में लोक के अग्रभाग पर विराजमान हो जाता है, यही मोक्ष है। मोक्षभूमि में विराजमान सिद्ध परमेष्ठि जन्म, जरा, मृत्यु से रहित हो चुके हैं, अतः परमात्मा में मृत्यु नाम का दोष नहीं होता।

अशुभ नामकर्म के उदय से होनेवाला जो शरीर में श्रम है, उससे उत्पन्न होनेवाली दुर्गन्ध से संबंधित वासना से ग्रसित जलबिन्दुओं के समूह को पसीना कहते हैं। तीव्र पुण्योदय से उत्पन्न सर्वज्ञ अरहन्तदेव सर्वांग सुगन्धमयी हैं। उनके शरीर में दुर्गन्धमयी पसीना किंचित भी संभव नहीं है। अतः सच्चे आप्त स्वेद दोष से रहित होते हैं।

अनिष्ट के लाभ से होनेवाला खेद है। अनिष्ट का लाभ आर्त्तध्यान का हेतु बनता है। उसमें उसके जो खेद हुआ, वह दुःखभूत होता है। जहाँ आर्त्त–रौद्र ध्यान का अभाव है, वहाँ खेद किस बात का? तथा क्षायिकलाभ को प्राप्त अनन्तसुख से युक्त सच्चे आप्त के श्रम ही नहीं होता, तो वहाँ खेद भी नहीं है।

अखिल जनता के कान में अमृत को झराते हुये के समान सहज चतुर कविता से सहज, सुन्दर–शरीर, कुल, बल और ऐश्वर्य के निमित्त से आत्मा में अहंकार को उत्पन्न करनेवाला मद कहलाता है। मान तो मोह की सत्ता से होता है। बिना मोह के मान प्रकट नहीं होता। महाक्लेश का कारण मान कषाय है। मोह से रहित परमात्मा मद से रहित स्वयमेव हो जाते हैं। परमात्मा में मद कहाँ? और अहंकारी परमात्मा कैसा?

रुचिकर वस्तुओं में परम–प्रीति का होना ही रति है। रतिभाव कषायभाव है। बिना कषाय के रति नहीं है। 25 कषायों में रति नोकषाय है, जो कि चारित्रमोहनीय कर्म के आस्रव का कारण है। रति आदि काषायिक भावों के उदयकाल में यथाख्यात चारित्र नहीं हो सकता है। परन्तु सर्वज्ञ अरिहन्त परमात्मा के तो परमयथाख्यात चारित्र का तो सद्भाव होता है। अतः सच्चे आप्त के रति दोष का पूर्ण अभाव है।

परम समरसी भाव की भावना से रहित जीवों को, कहीं पर पूर्वकाल में नहीं देखा हुआ, ऐसा कुछ अपूर्व देख लेने से विस्मय होता है। सर्वज्ञ देव के कैवल्य में त्रिलोकवर्ती त्रैकालिक चराचरद्रव्य, निजगुण–पर्याय से युक्त होकर झलकते हैं। जहाँ संपूर्ण द्रव्य दृष्टि गोचर होते ही हैं, उनके लिये अब अपूर्व क्या? कोई अपूर्व वस्तु नहीं हैं। रागी जीवों को ही आश्चर्य होता है। वीतरागी, सर्वदर्शी, सर्वज्ञाता को कोई आश्चर्य नहीं होता। इससे जानना चाहिये कि सच्चे आप्त विस्मय दोष से रहित होते हैं।

दर्शनावरणीय कर्म के उदय से ज्ञानज्योति का अस्त हो जाना ही निद्रा है। सच्चे आप्त के दर्शनावरणी कर्म का ही अभाव हो चुका है, इसलिये उनके निद्रा नाम का दोष समाप्त हो चुका है।

केवल शुभकर्म से देवपर्याय में उत्पत्ति का होना, केवल अशुभकर्म से नरकपर्याय में उत्पत्ति का होना, माया से तिर्यंचपर्याय एवं शुभाशुभ की उत्पत्ति से मनुष्यपर्याय में उत्पन्न होना, जन्म कहलाता है। भगवान् सर्वज्ञदेव के शुभाशुभ भाव का ही अभाव हो चुका है, इसलिये जन्म का ही अभाव है।

इष्ट के वियोग होने पर घबड़ाहट का होना उद्वेग है। परमात्मा के इष्ट–अनिष्ट भावों का अभाव हो चुका है, इसलिये उनको अरति या उद्वेग भाव नहीं होता है। अतः सच्चे–आप्त अठारह दोषों से रहित होते हैं।

आचार्य विद्यानंद स्वामी कह रहे हैं–

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः स च भवति सुशास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धैर्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरंति।।

अभिमत फल की सिद्धि का उपाय सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति सुशास्त्र से होती है और सुशास्त्र की उत्पत्ति आप्त से होती है। आप्त के वचन ही सुशास्त्र है। इसलिये उनकी कृपा से ही अपना जो इष्ट है, मोक्ष की सिद्धि होने के कारण से वे आप्त, प्रबुद्ध ज्ञानीजनों के द्वारा पूज्य होते हैं। साधुजन जो होते हैं, वे किये हुये उपकार को कभी नहीं भूलते हैं।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारि देव कलश में भगवान् नेमिनाथ की स्तुति करते हुये कह रहे हैं–

शतमखशतपूज्यः प्राज्यसद्बोधराज्यःस्मरगिरिसुरनाथः प्रास्तदुष्टाद्ययूथः।
पदनत वनमाली भव्यपद्माशुमाली दिशतु शमनिशं नो नेमिरानन्दभूमिः।।कलश 13।।

तीर्थंकर जिनेन्द्रदेव कैसे हैं? जो सौ इंद्रों के द्वारा पूज्य हैं, जिन्होंने उत्कृष्ट राज्य के समान केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया है। जो कामरूपी पर्वत को नष्ट करने के लिये इन्द्र के समान हैं। जिन्होंने दुष्ट अष्टकर्मों के समूह को नष्ट कर दिया है। वनमाली श्रीकृष्ण जिनके पदकमलों में नत है और जो भव्यजीवरूपी कमलों को प्रफुल्लित/विकसित करने के लिये सूर्य के समान हैं, जो आनंद को प्रदान करनेवाले हैं। जो अठारह दोषों से रहित हैं। ऐसे नेमिनाथ भगवान् हम सबको सदैव सुख प्रदान करें।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी सातवीं गाथा में कह रहे हैं, जो उपर्युक्त संपूर्ण दोषों से रहित, केवलज्ञान आदि परम–वैभवसहित हैं, वह परमात्मा कहलाते हैं। उससे विपरीत परमात्मा नहीं है। 'परमात्मा' संज्ञा पूज्य नहीं है। जैनदर्शन संज्ञा मात्र की आराधना करनेवाला दर्शन नहीं है, गुणों की आराधना करनेवाला दर्शन है। लोक में परमात्मा के नाम पर नानाप्रकार की विडम्बना है। अज्ञप्राणी मूढ़ता से युक्त होकर के तिर्यंच तक की आराधना कर लेते हैं। जिनमें मानवता का अभाव है, वहाँ देवत्व कहाँ? सच्चा देव न मनुष्य छद्मस्थ है, न देवगति का कोई देव है, न कोई अदेव है, न कोई तिर्यच है । सच्चादेव तो देवाधिदेव अरिहन्तदेव ही है। वनस्पति, पशु आदि की आराधना अदेव की आराधना है।

भो ज्ञानी! आज प्राणी मूसल, घिनौची, कुआँ, चक्की, पत्थर, नदी, तालाब, बाबड़ी, सरोवर, खेत, खलिहान, यहाँ तक कि घूरे की भी आरती उतारते हैं, आराधना कर लेते हैं। परमात्मा के नाम पर देवमूढ़ता में जीनेवाले जीवों की संख्या कोटि–कोटि है। सामान्य–लोक में प्रसिद्ध पुरुषों को ही लोग परमात्मा के रूप में भी देखते हैं। यह प्रज्ञा की न्यूनता की चरमसीमा है। लोक में पूजे जानेवाले परमात्मा के नाम से परमार्थ के

कारणभूत तो हैं ही नहीं, परन्तु संसार के सुख के कारण भी नहीं हैं। सम्यग्दृष्टि जीव भय से, स्नेह से, राग आदि से परमार्थगुणों से शून्य व्यक्ति की कभी आराधना नहीं करता। जो आत्मा के गुणों का घात करने वाले हैं, वह घातिया कर्म कहलाते हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अंतराय ये चार घातिया कर्म हैं। जो इन घातिया कर्मों को परिपूर्णतया प्रध्वंस कर देने से निःशेष दोष से रहित होते हैं अथवा पूर्व गाथासूत्र में कहे गये अठारह महादोषों के जड़मूल से नष्ट हो जाने से अरिहन्त भगवान् निःशेष दोष से रहित कहलाते हैं और सकल विमल केवलज्ञान, केवलदर्शन परम वीतरागस्वरूप आनन्द आदि अनेक वैभव से समृद्ध होते हैं। जो इसप्रकार त्रिकाल निरावरण नित्य ही है एक आनंदस्वरूप जिसका, ऐसे निजकारण–परमात्मा की भावना से उत्पन्न कार्य– परमात्मा हो चुके हैं, वे ही भगवान् अरिहन्त परमेश्वर हैं। भगवान् परमेश्वर के विपरीत गुणवाले सभी देव और अभिमान में दग्ध हुये सभी देव भी संसारी ही हैं, यह अर्थ हुआ। यहाँ यह बात स्पष्ट की है कि घातिया कर्म के नाश से अष्टादश दोष समाप्त होते हैं और केवलज्ञानादि अनन्तगुण प्रगट होते हैं। इससे यह बात सिद्ध होती है कि संसारपूर्वक ही मोक्ष होता है। अनादिकाल से कर्ममल से रहित–अस्पर्शित ''सदाशिव'' नाम का कोई परमेश्वर नहीं है। परमात्मा के लक्षण में टीकाकार कह रहे हैं कि कारण–परमात्मा की भावना से कार्य–परमात्मा होते हैं। शुद्ध निश्चयनय से प्रत्येक जीव की आत्मा त्रिकाल में आवरण रहित है, नित्य ही आनन्दरूप है, वही कारण परमात्मा है। ऐसा समझ कर शुद्ध सम्यग्दृष्टिजीव जब निश्चयनय के अवलम्बन से अपनी ऐसी आत्मा की भावना करते हुये अपने–आपमें तन्मय हो जाते हैं, तब उनकी आत्मा ही परमात्मा बन जाती है। इसलिये शुद्ध निश्चयनय के अवलम्बन स्वरूप आत्मा ही कारण–परमात्मा बन जाती है। इसलिये शुद्ध निश्चयनय के आलम्बन स्वरूप आत्मा को कारण–परमात्मा कहा है। यद्यपि ''सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'' के अनुसार सभी जीव शुद्धनय से शुद्ध ही हैं। चाहे वे सूक्ष्म निगोदिया एकेन्द्रिय हों अथवा वे अभव्य हों, चाहे मिथ्यादृष्टि–मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती हों या 14वें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान के हों, उन सभी की आत्मा परमात्मस्वरूप है। किन्तु इतने मात्र से अभव्य या एकेन्द्रिय जीव आदि की आत्मा को क्या लाभ? कुछ भी नहीं है। निश्चयनय से सभी में कार्य–परमात्मा ही है, किन्तु इसमें उन्हें कुछ भी आनंद नहीं है। अतएव सम्यग्दृष्टि अंतर–आत्मा ही कारण–परमात्मा बनकर कार्य–परमात्मा को प्राप्त कर सकते हैं। इसीकारण परमात्मत्व से परिणत आत्मावस्था वीतराग निर्विकल्प ध्यानावस्था के समान होती है। यहाँ यह निष्कर्ष समझना चाहिये।

भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने अरिहन्त के लक्षण को परिभाषित करते हुये कहा है–

तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं।
तिहुवणपहाणदइयं माहप्पं जस्स सो अरिहा।।प्र.सार. 68।।

तेज–भामण्डल, दर्शन–ज्ञान ऋद्धि समवसरणादि विभूति, सौख्य, ऐश्वर्य और त्रिभुवन में प्रधान बल्लभपना, ऐसे माहात्म्य जिनके हैं, वे अरिहन्त भगवान् हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने भी समयसार कलश में कहा है–

कांत्यैव स्नपयंति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धंति ये,
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुख श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं,
वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षण धरास्तीर्थेश्वराः सूरयः।।स. सार. कलश 26।।

जो अपनी कांति से ही दशों दिशाओं को स्नान करा रहे हैं, जो अत्यन्त उत्कट तेज को धारण करने वाले सूर्य के तेज को अपने तेज से रोक देते हैं, जो अपने रूप से सभी–जनों के मन को चुराने वाले हैं, जो अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा भव्यों के कानों में साक्षात अमृत को झराते हुए सहज सुख उत्पन्न करते हैं, वे एक सहस्र आठ लक्षण धारण करनेवाले तीर्थेश्वर सूरी वंद्य हैं।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारि देव अरिहन्त–भगवान् की स्तुति में स्वयं को असमर्थ कहते हुए कलश 14 के द्वारा नेमिनाथ भगवान् की स्तुति करते हैंः–

जगदिदमजगच्च ज्ञाननीरेरुहान्त र्भ्रमरवदवभाति प्रस्फुटं यस्य नित्यम्।
तमपि किल यजेहं नेमितीर्थंकरेशं, जलनिधिमपि दोर्भ्यामुत्तराम्यूर्ध्ववीचिम्।।कलश 14।।

जिनभगवान् के ज्ञानरूपी कमल के अन्तर्गत भ्रमर के समान यह सम्पूर्ण लोक और अलोक नित्य ही स्पष्टरूप से प्रतिभासित हो रहा है। जैसे कोई ऊँची– ऊँची उठती हुई लहरोंवाले समुद्र को हाथों से तैरना चाहता है, वैसा ही मैं तीर्थंकर नेमिनाथ की पूजा करता हूँ। मैं नेमिनाथ भगवान् की स्तुति करने में समर्थ नहीं हूँ, असमर्थ ही हूँ। इसप्रकार से आप्त को दोषरहित और केवलज्ञान आदि अनन्तगुणों के वैभव से युक्त बताया है। यह केवलज्ञान की महिमा है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी 8वीं गाथा में परमागम के स्वरूप का कथन करते हुये कह रहे हैं कि विश्व में परम अमृतभूत रसायन यदि कोई है, तो वह जिनश्रुत है। यह

परम–औषधि है। प्राणीमात्र का कल्याण करनेवाली जिनेन्द्रवाणी है। सिद्धि को प्रदान करनेवाला जगत में कोई है, तो भूतार्थ परमागम है। पंचमकाल में सबसे उत्कृष्ट साधना, तप एवं ध्यान रूप जिनप्रवचन ही है। दीर्घ–समय तक चित्त को एकाग्र करने का उपाय परमागम का स्वाध्याय है। इंद्रियों का वशीकरण, चित्त्त की एकाग्रता, प्रशस्तता, जिनशासन की महिमा सद्शास्त्रों के अध्ययन से होती है। विषयों में प्रवृत्ति का मूलबिन्दु नेत्र–इंद्रिय और अनीन्द्रिय मन होता है। स्वाध्याय के काल में इन दोनों का ही नियंत्रण होता है। नेत्र आगम के अक्षरों पर होते हैं और मन अर्थ पर होता है। इसलिये दोनों की अशुभ–प्रवृति सहज ही नियंत्रित हो जाती है। जितने जीव मुक्ति के संगम को प्राप्त हुये हैं और होंगे, वे सभी स्वाध्याय से ही हुये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में जो भी प्रतिक्रमण, निंदा, गर्हा, आलोचना वचनपूर्वक जो–जो भी होते हैं, वह सभी स्वाध्याय रूप हैं। स्वाध्याय के नाम को, स्वाध्याय की महिमा को देखकरके ग्रन्थ मात्र से प्रभावित नहीं होना चाहिये।

भो ज्ञानी! जो निर्ग्रंथों के द्वारा प्रणीत ग्रन्थ है, वे ही स्वाध्याय के योग्य हैं। किसी भी व्यक्ति के द्वारा लिखित कोई भी पुस्तक स्वाध्याय के योग्य नहीं है। इसलिये शास्त्र–अध्ययन के पूर्व शास्त्रकर्ता का शोध होना अनिवार्य है। वचन प्रमाण नहीं होते हैं, वक्ता प्रमाण होना चाहिये । इसलिये यदि विश्व में कोई महान वक्ता है, तो वह सर्वज्ञ अरिहंत तीर्थंकर केवली हैं। और अरिहंत की जो वाणी है, वही आगम है, जिसको भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने परमागम कहा है। उन आप्त परमेश्वर के मुखारबिन्द से निकले हुये कुशल–वचन की रचना का विस्तार है, वह पूर्वापर दोष से रहित है। उन भगवान् के राग का अभाव होने से, पाप सूत्र के समान विषयादि पाप–क्रियाओं का अभाव होने से, जो शुद्ध हैं, वह ''परमागम'' इस नाम से कहा जाता है।

मनीषियो! वह परमागम भव्यों के द्वारा कर्ण द्वारा पीने योग्य अमृत है। मुक्ति सुंदरी के मुख को देखने के लिये दर्पण है। संसाररूपी महासमुद्र के महाभंवर में फंसे हुए सम्पूर्ण भव्यजीवों को हाथ का अवलंबन देने वाला है। सहज स्वाभाविक वैराग्यरूपी महल के शिखर का चूड़ामणि रत्न है। अक्षुण्ण यानि जो कभी नष्ट नहीं होगा, ऐसे मोक्षरूपी उत्तम भवन में पहुँचने के लिये पहली सीढ़ी है और काम, भोग से उत्पन्न हुये जो अप्रशस्त रागरूपी अंगारे उनमें झुलसते हुए दीन–प्राणियों के महान–क्लेश को जड़मूल से नष्ट करने में समर्थ, ऐसा सजल मेघ है। इन विशेषणों से विशिष्ट ऐसे इस परमागम के द्वारा निश्चितरूप से सात–तत्त्व और नव–पदार्थ कहे गये हैं।

भो ज्ञानी! जिनेन्द्र भगवान् के मुखकमल से निकली हुई वाणी को परमागम कहा है और उस परमागम को अमृत कहा है। क्योंकि अमृत के समान यह भव्यजीवों को सन्तुष्ट करने वाला है। इसे दर्पण कहा है, क्योंकि हमें आगमरूपी दर्पण में मुक्ति का अवलोकन हो जाता है। हमें हस्तावलम्बन क्या है? क्योंकि संसारसमुद्र में डूबे हुये प्राणियों को सहारा देकर मोक्ष में पहुँचाता है। उसे शिखरमणि कहा है। इसे प्रथम–सीढ़ी कहा है, क्योंकि इसके बिना मोक्षमहल पर चढ़ नहीं सकते हैं। और इसे सजलमेघ कहा है, क्योंकि कामभोग या इष्टवियग, अनिष्टसंयोग आदि अनेक मानसिक, शारीरिक और आगंतुक दुःखों में उत्पन्न हुये संताप को क्षणमात्र में शमन करने के लिये समर्थ है। इसप्रकार आप्त, आगम और तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

आगम के लक्षण बताते हुये आचार्य समन्तभद्र स्वामी कह रहे हैं–

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानभागमिन्ः।।

जो न्यूनता से रहित, अधिकता रहित और विपरीतता रहित, जैसा का तैसा वस्तु के स्वरूप को संदेह रहित जानता है, उसे आगम के ज्ञाताओं ने सम्यग्ज्ञान कहा है। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय इन दोषों से रहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारि देव जिनवचनों की वंदना करते हुये कह रहे हैं–

ललितललितं शुद्धं निर्व्वाणकारणकारणं निखिलभविनामेतत्कर्णामृतं जिनसद्वचः।
भवपरिभवारण्यज्वालित्विषां प्रशमे जलं प्रतिदिनमहं वन्दे वन्द्यं सदा जिनयोगिभिः।।कलश 15।।

जिनवचन मनोहर में भी मनोहर हैं। पूर्वापर बाधा से रहित हैं। भेदाभेद रत्नत्रय का कारण हैं। भेदाभेद–रत्नत्रय निर्वाण का कारण है। जिनवचन समस्त भव्य जीवों के कानों के लिये अमृतस्वरूप हैं। वन में लगी अग्नि को बुझाने के लिये जल के समान हैं। जिनवचन योगियों के द्वारा सदा ही वंदनीय हैं । ऐसे जिनवचनों की सदैव वंदना करता हूँ।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **यहाँ छह द्रव्यों के पृथक्–पृथक् नाम का कथन है।**

जीवा पोग्गलकाया, धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदि भणिदा, णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता।।9।।

संस्कृत छाया : **जीवाः पुद्गलकायाः धर्माधर्मौ च काल आकाशम्।**
तत्त्वार्था इति भणिताः नानागुणपर्यायैः संयुक्ताः।।9।।

अन्वयार्थ : (जीवाः पुद्गलकायाः) जीव, पुद्गलकाय (धर्माधर्मा) धर्म, अधर्म (कालः च आकाशम्) काल और आकाश ये छहों ही (नानागुणपर्यायैः संयुक्ताः) विविध गुण पर्यायों से संयुक्त (तत्त्वार्थाः इति भणिताः) तत्त्वार्थ इस प्रकार से कहे गये हैं।

उत्थानिका : **यहाँ उपयोग का लक्षण कहा गया है।**

जीवो उवओगमओ, उवओगो णाणदंसणो हेाइ।
णाणुवओगो दुविहो, सहावणाणं विभावणाणंत्ति।।10।।

संस्कृत छाया : **जीव उपयोगमयः, उपयोगो ज्ञानदर्शनं भवति।**
ज्ञानोपयोगो द्विविधः, स्वभावज्ञानं विभावज्ञानमिति।।10।।

अन्वयार्थ : (जीवः उपयोगमयः) जीव उपयोगमय है। (उपयोगः ज्ञानदर्शनं भवति) उपयोग ज्ञान और दर्शनरूप है (ज्ञानोपयोगः) ज्ञानोपयोग (स्वभावज्ञानं विभावज्ञानं इति द्विविधः) स्वभावज्ञान और विभावज्ञान इस प्रकार से दो प्रकार का है।

भव्यात्माओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी छह द्रव्यों के स्वरूप का कथन कर रहे हैं तथा संकेत दे रहे हैं कि जो छह द्रव्यों के स्वरूप को जानता है, श्रद्धान करता है, पंचास्तिकाय को जानता है, श्रद्धान करता है, सात तत्त्वों को जानता है, श्रद्धान करता है, देव, शास्त्र और गुरु को जानता है, श्रद्धान करता है, वह व्यवहारसम्यग्दृष्टि है। सामान्यज्ञान ही श्रद्धान के उपरान्त सम्यग्ज्ञान हो जाता है। मिथ्यादृष्टि जीव जानता है, उस जीव को जिनवाणी का ज्ञान तो होता है, परन्तु वह सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता, वो मात्र जानना ही है। जैसे ही सम्यक्त्व होता है, उसका नाम सम्यग्ज्ञान हो जाता है। उसका जानना तो जानना था, यह सामान्य अवस्था थी। परन्तु सम्यक्त्व के अभाव में असम्यक् को प्राप्त हो रहा था। ग्यारह–अंग नौ–पूर्व का पाठी अभव्य–मिथ्यादृष्टि जीव

भी हो सकता है। वो जिनवाणी को तो जानता है, पूरी परिभाषा आपको बता देगा, समझा देगा, परन्तु स्वयं श्रद्धा से विहीन है। आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने 'समयसार' जी में लिखा है।

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।

पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु।।स.सार 274।।

श्रद्धा के अभाव में पाठ गुणकारी नहीं होता है

ण मुयइ पयडिमभव्वो सुट्ठुवि अज्झाइऊण सत्थाणि।

गुडदुद्धंपि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा हुंति।।स.सार 317।।

जैसे दूध में गुड़ मिलाकर सर्प को पिलाने से वह सर्प निर्विष नहीं होता है, इसीप्रकार से अभव्यजीव जिनवाणी का रोज पाठ करे, फिर भी अपनी अभव्यता को नहीं छोड़ पाता है।

भो ज्ञानी! वह जैनश्वरी दीक्षा भी धारण कर लेता है, निर्दोष संयम का पालन भी करता है, इसके अभाव से वह नवें ग्रैवेयक की यात्रा भी कर लेता है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं, कि जैसे केंचुली के छोड़ने से विषधर निर्विष नहीं हो जाता है, वैसे ही जबतक मिथ्यात्व के जहर की थैली नहीं छूटेगी, तुम वस्त्र उतारकर बैठ भी जाओगे, तो भी मोक्ष नहीं पा सकते हो। ज्ञान के अभाव से भी मोक्ष नहीं होगा और सम्यक्त्व के अभाव से भी मोक्ष नहीं होगा। कोरा विद्वान् बनके बैठ गया, तो भी मोक्ष नहीं होगा। क्योंकि सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकता मोक्ष नहीं है, वो मोक्षमार्ग है। उस मार्ग का जो फल है, वह मोक्ष है।

भगवन्! संक्षेप में जो कथन कर रहे हो, तो इतनी सारी बातें क्यों बता रहे हो? उत्तर है कि मोक्षमार्ग में लगने में केवल एक मुहूर्त, अतंर–मोक्ष जाने में केवल एक अंतर–मुहूर्त। परन्तु मोक्षमार्ग जो है, वह लम्बा है। उस मोक्ष के मार्ग को कैसे तय करोगे? उस मार्ग के बीच में आपके परिणाम कहीं च्युत न हो जायें, इसीलिये जिनेन्द्र की वाणी में आप लगे रहो। आगम का सार इतना है?

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्वसंग्रहः।

यदन्यदुच्यते किञ्चित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः।।इष्टोपदेश 50।।

भो ज्ञानी! 'पुद्गल भिन्न है, और जीव भिन्न है', यही तत्त्व का सार है, शेष इसी का विस्तार है। पर इतनीसी बात को प्राप्त करने के लिये जीवनभर पुरुषार्थ करना पड़ता है। आचार्यभगवन् कहते हैं कि शुद्ध जीवद्रव्य है, अशुद्ध जीवद्रव्य है। शुद्धगुण, अशुद्धगुण।

अशुद्धपर्याय, शुद्धपर्याय। यह दो द्रव्य में होती है। जीव और पुद्गल के अतिरिक्त शेष जो चार द्रव्य हैं, वे शुद्धगुण, शुद्धपर्याय और शुद्धद्रव्य में ही अवस्थित रहते हैं, लेकिन कूटस्थ नहीं, उनमें भी षट्गुण हानि–वृद्धिरूप परिणमन चलता है। जो शुद्ध है, उसमें शुद्धरूप परिणमन चलेगा। जो अशुद्ध है, उसमें अशुद्धरूप परिणमन चलेगा। यदि हम शुद्ध को एकरूपी मान लेंगे, तो सिद्धों का सुख बासा हो जायेगा। पर ऐसा होता नहीं है। सिद्धों की जो सुख– अनुभूति है, वह प्रतिक्षण नवीन–नवीन ही है। उस अनन्तसुख में जाति की नवीनता नहीं है, धर्म की नवीनता नहीं है, पर परिणमन की नवीनता चल रही है। प्रतिक्षण परिणमन चल रहा है। तो जो पर्याय का परिणमन है, स्वभाव–स्वभावरूप परिणमन है, वो प्रतिक्षण चल रहा है। यदि इसे नहीं मानेंगे तो सांख्यदर्शन का सिद्धान्त यहाँ खड़ा हो जायेगा। भव्यविभाव भी होता है, अभव्यविभाव भी होता है। यह पारिणामिक वाला सूत्र नहीं लगाना यहाँ पर। ''जीव भव्यानि अभव्यानि च'' सूत्र जो है, अभी यहाँ पर मत लगाना।

'आलापपद्धति' में जो 21 भाव गिनाये हैं, उनको लगाना है। भव्यत्व–भाव, अभव्यत्व–भाव यह प्रत्येक द्रव्य में होता है। आपके अंदर भव्यत्व–भाव भी है और अभव्यत्व–भाव भी है। यह कैसे होगा? एक ओर कहते हो कि भव्य अभव्य नहीं होता और अभव्य भव्य नहीं होता है। वो विषय यहाँ नहीं लगाना है। भव्यत्व–भाव का तात्पर्य परिणमनस्वभाव और अभव्यत्व–भाव का अपरिणमनस्वभाव। यदि भव्यत्वभाव एकान्त से मान लिया, तो जीव की सत्ता नहीं बचेगी, द्रव्य की सत्ता नहीं बचेगी, क्योंकि परिणमन ही परिणमन होता जायेगा तो वस्तु क्या बचेगी? यदि आप कहें, कि अभव्यत्व–भाव का अर्थ ही अपरिणमन–भाव है, तो यदि अपरिणमन ही है, तो फिर कूटस्थ हो गया। तब जो तिर्यंच है, वह तिर्यंच ही रहेगा। जो मनुष्य है, वो मनुष्य ही रहेगा। जो देव है, देव ही रहेगा। जो नारकी है, नारकी ही रहेगा। फिर कोई वस्तुव्यवस्था ही नहीं बनेगी और फिर किसी भी पर्याय का परिवर्तन् विवर्तन ही नहीं बनेगा फिर क्यों पुण्य? क्यों पाप? यह तो शाष्वत हो गई, पर्याय नहीं।

यह द्रव्य भव्यत्व–भाव से पर्यायरूप परिणमन करता है और भव्यत्व–भाव से परिणमन परद्रव्य रूप नहीं होता है। जो हमारा जीवद्रव्य है, वो पर्याय–अपेक्षा तो बदल रहा है, परन्तु द्रव्य–अपेक्षा कभी नहीं बदलेगा। परद्रव्यरूप नहीं होगा, इस अपेक्षा से अभव्यत्व–भाव है। परिणमन होगा तो भव्यत्व–भाव और परिणमन नहीं होगा तो अभव्यत्व–भाव, यही सिद्धान्त है। द्रव्य परिणामी भी है और अपरिणामी भी है। पर्याय की

अपेक्षा परिणामी है और द्रव्यत्व की अपेक्षा अपरिणामी है। परिणमन होते–होते भी विनाश नहीं होगा, यह सत्ता है।

यदि कोई यह कहे कि आज तो हमने इतना स्वादिष्ट भोजन किया है, कि ऐसा भोजन तो कभी खाने को ही नहीं मिला था। गहराई में जाना। जो ऐसा कह रहा है, वह जैन–सिद्धान्त से अनभिज्ञ है। क्यों? ''सद् द्रव्यलक्षणम्'' यदि तू यह कहता है कि ऐसा भोजन कभी उत्पन्न नहीं हुआ है, तो ज्ञानी! तू उत्पाद मानकर बैठा है। उत्पन्न भी होगा किया हुआ भोजन। भोजन–सामग्री पर्याय तो उत्पन्न हुई है, परन्तु तू कह रहा है कि मैंने कभी सेवन ही नहीं किया। मेरे द्वारा विश्व के सम्पूर्ण पुद्गलों का सेवन कर लिया गया है। जिसे तू कह रहा है कि पहली बार सेवन कर रहा हूँ, भो ज्ञानी! जिसे तू अपनी थाली में देख रहा है, वो वही है जिसे तूने छोड़ा था, वही पर्यायान्तर से पुनः भोजन के रूप में दिख रहा है फिर कैसे कहते हो कि मैंने पहली बार सेवन किया है ? क्योंकि द्रव्य में बदलाव तो हुआ है, परन्तु द्रव्य का अभाव नहीं हुआ है।

जो परमाणु द्रव्य का सेवन मैं शरीररूप में कर रहा हूँ , हो सकता है कि इन परमाणुओं का कभी सेवन किया था और जिन परमाणुओं का तू सेवन कर रहा है, हो सकता है कि उनका सेवन भी पूर्व में किया हो। इसलिये सब उद्दिष्ट हैं, वमन हैं। वमन को ग्रहण करने में आनन्द कैसा? अध्यात्म–योग में बैठा योगी ऐसा चिन्तन करता है, सोचता है, अहो भगवन्! जो मैं शरीर के लिये चर्या करने जा रहा हूँ , वो समय मेरा बच जाये तो मैं और स्वतंत्र हो जाऊँ। एक घंटा व्यर्थ चला जाता है। हे भगवन्! वो दिन कब आये, कि आहार भी समाप्त हो जाये, नीहार भी समाप्त हो जाये। यही है अरिहन्त अवस्था। कभी लगता है कि सबकुछ छोड़ दिया है, फिर भी पराधीनता ही है। एक बार के पीछे श्रावकों के बीच जाना पड़ता है। ये दशा योगी के अतरंग की है और यह चिंतन ही उसको आहार–विहार से रहित कर देता है। सोने के आभूषण चाहिये, तो स्वर्ण धातु ही चाहिये पड़ेगी। जब चिन्तन निर्मल होगा, तभी परिणति निर्मल होगी। जब तुम्हारे चिन्तन में निर्मलता नहीं, तो परिणति क्या निर्मल होगी?

आचार्यभगवन् गुण–गुणी का कथन करने के पश्चात् उपयोग का कथन कर रहे हैं। आचार्य पद्मप्रभमलधारि देव तात्पर्यवृत्ति कलश में कह रहे हैं:–

इति जिनपतिमार्गाम्भोधिमध्यस्थरत्नं द्युतिपटलजटालं तद्धि षड्द्रव्यजातम्।
हृदि सुनिशितबुद्धिभूषणार्थं विधत्ते स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः।।ता.वृ.कलश16।।

जो जिनेन्द्र भगवान् का मार्गरूपी समुद्र/सागर है, उसके मध्य में स्थित छह द्रव्यरूपी रत्न हैं, जिनके कांति के जो समूह हैं, जिसकी प्रखर बुद्धि ही, तीक्ष्ण बुद्धि ही उस छह द्रव्यरूपी रत्नों के हार के समूह सुशोभित हैं। ऐसे रत्नों के आभूषण के लिये हृदय में धारण करता है। बड़ी गहरी उपमा चल रही है। यदि सम्बन्ध होने वाला है और दूल्हा सजके न जाय, तो शोभा नहीं देता है। लड़का कितना भी कुरूप हो, लेकिन आप कहीं दिखाने को ले जाते हो, तो कुछ–कुछ लगा देते हो। पद्मप्रभमलधारिदेव मुक्तिश्री को वधु बना रहे हैं और आपको वर बना रहे हैं। षट्द्रव्य रत्नों का आभूषण है, जब सम्यक्रत्न रूपी रत्नों के हार को धारण करने पर परम्श्री यानि मुक्तिरूपी कामिनी का वर बन जाता है। अर्थात् जो जीव छह–द्रव्यरूपी रत्नों के आभूषणों को अपने हृदय में श्रद्धा से धारण करता है, वह मुक्तिश्री का कान्त हो जाता है। इसप्रकार से सम्यक्त्व की महिमा का कथन किया।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्दस्वामी दसवीं गाथा में जीव का लक्षणात्मक कथन कर रहे है। **''उपयोगो लक्षणम्''** तत्त्वार्थसूत्र में भी आया है। छह द्रव्य विभिन्न गुण पर्यायों से संयुक्त हैं। ये द्रव्य आपके उपकारी हैं, उदासीन हैं, प्रेरक नहीं। संसार में सबसे बड़ा स्वार्थी कोई है, तो जीवद्रव्य है। जीवद्रव्य सबका उपकार स्वीकार करता है, पर स्वयं किसका कितना उपकार करता है? **''परस्परोपग्रहो जीवानाम्''** जीव तो जीव का मात्र उपकार कर रहा है निमित्त रूप, लेकिन स्वयं छह द्रव्यों का उपकार प्राप्त कर रहा है। आपके जीवन में छह द्रव्य नहीं होंगे, तो आप जी नहीं सकोगे, रह नहीं सकते हो। व्यवहार ही नहीं चल सकता है। जहाँ आप बैठते हो, रहते हो, वह आकाश है। जिससे आप जानते हो, मैं इतने वर्ष का हो गया, इससे छोटा–बड़ा हूँ, ये कालद्रव्य है। जब तू चलता है तो धर्मद्रव्य, जब रुकता है तो अधर्मद्रव्य है। भो ज्ञानी! जब तू श्वांस लेता है, तो पुद्गलद्रव्य है।

ये छह–द्रव्य और माता–पिता तेरा पालनपोषण कर रहे हैं, गुरु तुझे शिक्षा दे रहा है। व्यवहार से तू छह–द्रव्यों का उपयोग कर रहा है और निश्चय से मेरा निजद्रव्य ही सबकुछ हैं। निश्चय से गमन मेरा स्वभाव है। क्रियावती मेरी शक्ति है, इसलिये मैं गमन करता हूँ। मेरे उपादान में रुकने की शक्ति है, इसलिये मैं ठहरता हूँ। मैं स्वप्रदेश में निवास करता हूँ, इसलिये आकाश से मैं भिन्न हूँ। मेरा निज क्षेत्र है, स्वक्षेत्र है। मेरा परिणमन मेरी आत्मा का धर्म है। निज काल है। मेरा क्षयोपयशम, निज का विवेक है। मैं स्वयं का गुरु हूँ। आयु का बन्ध मैंने किया है, गति का बन्ध मैंने किया है। इसलिये जन्म–मरण में मेरी विभावदशा है।

परद्रव्य मेरा क्या है? कुछ नहीं है। यह निश्चय–व्यवस्था है। जब व्यवहार की बात करते हो, तो सम्बन्धकारक खड़ा हो जाता है। और जब निश्चय की बात करते हो, तो सम्बन्धकारक भाग जाता है। आनंद तभी आता है, जब सम्बन्ध भाग जाता है और व्यवहार में कर्तव्य–भाव जन्म लेता है। निश्चय में स्वभाव का जन्म होता है। विभाव में कर्तव्य का जन्म होता है। जितने तुम निश्चय में चले जाओगे, उतनी मोह की ग्रंथियाँ छूटती चली जायेंगी। जिसको हमने अनादि से सेवन किया है, सुना है, उस पर जोर दिया। जोर वास्तव में निजस्वभाव पर ही होना चाहिये।

सुदपरिचिदाणुभूया, सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो, णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।स.सार 4।।

भो ज्ञानी! इस जीव ने एकत्व–विभक्त स्वभाव को आज तक नहीं समझा, इसलिये सिर दर्द करता है। बोले–क्या आत्मा–आत्मा? समझ में नहीं आता है। पुद्गल–पुद्गल कितने दिन से लगाये हो? इससे तुझे उदासीनता नहीं आती? आचार्य कुन्दकुन्द देव 'समयसार' जी में कह रहे हैं, कि आज तक काम, भोग, बन्ध की ही कथा हमने की है, उन्हीं को सुना है, उन्हीं का अनुभव किया है। यह बहुत सुलभ है। परन्तु एकत्व–विभक्त्व यह सुलभ नहीं है।

अपने नगर में यदि आपकी आँखों पर पट्टी बांध दी जाये, तो भी आप चले जायेंगे। परंतु अपरिचित स्थान पर यदि आपको छोड़ दिया जाये, तो पट्टी नहीं बंधी रहने पर भी आप दस जगह पूछोगे। आत्मनगर से तुम अपरिचित हो, सो बार–बार पूछने पर भी तुम भूल जाते हो। परंतु विषयों की पुरी में आप इतने परिचित हो, कि आप आँख पर पट्टी बांधकर भी पहुँच जाते हो। हमने देखा कि एक जन्माँध बड़े आराम से चला जा रहा था। भो ज्ञानी! तूने चर्मचक्षु के अंधे को तो अंधा मान लिया, पर जिसकी आँख में बिल्कुल विरक्ति नहीं आ रही है और उसके चर्मनेत्र तो काम कर रहे हैं, पर हिय के नेत्र काम नहीं कर रहे हैं, समझ लेना कि उसके वैराग्य की ज्योति मंद पड़ गई है और विवेक की ज्योति भी मंद हो चुकी है।

आचार्यभगवन् उमास्वामी ने 'तत्त्वार्थ सूत्र' में **''उपयोगो लक्षणम्''** लिखा है, बहुत गहन है। यह सूत्र निगोदिया से लेकर सिद्धों तक लगेगा। अंतर इतना होगा, कि निगोदिया का विभावउपयोग है और सिद्धों का स्वभावउपयोग है और आपका भी विभाव

है लेकिन सहजस्वभाव है, विभाव तो विभाव है, स्वभाव तो स्वभाव है, जो अभी तुम्हारे पास नहीं है। उस स्वभाव की प्राप्ति का जो हेतु है, उसका नाम सहजस्वभाव है।

चतुर्थ–गुणस्थानवर्ती से लेकर नीचे के गुणस्थानों में श्रद्धारूप सहजभाव है, उसकी श्रद्धा है पर पूर्ण शुद्धोपयोग की जो दशा बनती है, वो सतिशय अप्रमत्त गुणस्थान से बनती है, इसके पहले पूर्ण शुद्धोपयोग घटित नहीं होता है। प्रारंभ हो जाता है सातवें से, लेकिन जहाँ पूर्ण क्षीणमोह है, वहाँ मोक्ष है, सहजभाव है। सहजभाव की प्राप्ति के लिये सहज बनना पड़ेगा। सम्यक्त्व के पहले भद्रपरिणाम नहीं हैं। एक सज्जन बोले–महाराज! आप मुनिराज हो, हमने आपको नमोस्तु नहीं की है, पर ये आपकी रोज पूजा करने आते हैं। महाराज बोले–क्या उस जीव के पूजा करने से मेरे मुनिपद में वृद्धि हो जायेगी? उस जीव के पूजा नहीं करने से मेरे मुनिपद में कमी आ जायेगी क्या? यह तो मेरे अंदर की दशा है। यह पूजा, प्रक्षालन का विषय नहीं है। यह तो कर्म–प्रक्षालन का विषय है। यह सहज अवस्था है। दशा नहीं कहना, यह सहज अवस्था है।

सामान्य–व्यवहार और सहजदशा ही मति–श्रुतज्ञान की आत्मप्रतीति की व्यवस्था है। मनःपर्ययज्ञान, अवधिज्ञान यह आत्मा का गुण तो है, पर स्वभाव नहीं है। ये सम्यक्–विभाव स्वभाव ही जानना। मति–श्रुतज्ञान यह सम्यक्–विभाव स्वभाव है। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, कुमति, कुश्रुत यह आत्मा का विभाव–विभाव स्वभाव है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययज्ञान यह आत्मा का सम्यक्–विभाव स्वभाव है, स्वभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञायकभाव है। केवलज्ञान, केवलदर्शन अत्मा का शुद्ध गुण स्वभाव है। स्वभाव तो स्वभाव है और विभाव तो विभाव है।

ग्रन्थ में आगे दसवीं गाथा का ही विस्तार है। अन्य गाथाओं के द्वारा **''जीवो उवओगमओ''** जीव ही उपयोगमयी है। जीव का धर्म क्या है? स्पर्श, रस, गंध, वर्ण यह पुद्गल का धर्म है, जीव तो उपयोगमयी ही है। इसलिये यह देह मेरी नहीं है। कर्मबन्ध क्या है? कर्म पुद्गल का धर्म है। कर्म जड़ है, मैं चेतन हूँ। इसीलिये कर्म भी मेरा धर्म नहीं है। मैं तो उपयोगमयी हूँ। पर उपयोग की विभावदषा का कारण है, कि मैं कर्म से लिप्त हूँ। उपयोग की अशुद्ध अवस्था का परिणाम यह है, कि कर्मबंध इस आत्मा में है। उपयोग कर्म–व्यवस्था का कारण यह है कि कर्मबंधन का भोक्ता भी हूँ, कर्मबन्ध का कर्त्ता भी हूँ। 'नियमसार' में 'समयसार' युगपत् चल रहा है। विसंवाद कहाँ है?

मति–श्रुत की जो अवस्था है, वो ही तो विभावभाव है। वो कबसे चल रही है? कब तक चलेगी? जबतक क्षायिकज्ञान नहीं होगा, तबतक चलेगी। जिसदिन क्षायिकज्ञान हो जायेगा, उसदिन समाप्त। उपयोग के दो भेद हैं, दर्शन–उपयोग, ज्ञान–उपयोग। ज्ञान–उपयोग के दो भेद हैं–स्वभावज्ञान, विभावज्ञान। स्वभावज्ञान में हैं–मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान। विभावज्ञान में हैं–कुमति, कुश्रुत, कुअवधि। दूसरी अपेक्षा से, स्वभावज्ञान में एकमात्र केवलज्ञान। स्वभावदर्शन में एकमात्र केवलदर्शन। विभाव में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और विभाव–विभाव में कुमति, कुश्रुत, कुअवधि। ऐसे घटित करना है।

अब उपयोग के विषय में विचार कर रहे हैं।

उभयनिमित्त वशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः।।स.सि. 27।।

जो अंतरंग–बहिरंग दोनों प्रकार के निमित्तों से होता है और चैतन्य का अन्वयी है अर्थात् चैतन्य को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता, वह परिणाम 'उपयोग' कहलाता है।

आत्मा के चेतनवर्ती जो परिणाम हैं, उनका नाम उपयोग है। चैतन्य का अन्वयी–परिणाम उपयोग है। अनुविधा यानी अबिनाभाव। अबिनाभाव अर्थात् होने पर होना और न होने पर विपरीत। जहाँ–जहाँ ज्ञान–दर्शन होगा, वहाँ–वहाँ चेतना होगी। जहाँ–जहाँ चेतना होगी, वहाँ–वहाँ ज्ञान–दर्शन होगा। इसका नाम अबिनाभाव है।

दूसरी दृष्टि से, आत्मभूत लक्षण। यह क्या है? जहाँ–जहाँ धूम्र होगा, वहाँ अग्नि होगी। यह घटित होगा। जहाँ–जहाँ अग्नि होगी, वहाँ उष्णता होगी। जहाँ–जहाँ उष्णता होगी, वहाँ–वहाँ अग्नि होगी। गुण–गुणी का सम्बन्ध ही अविनाभाव सम्बन्ध है। गुण–गुणी का लक्षण आत्मभूत होता है। आत्मभूत, अनात्मभूत को न समझने के कारण वैशेषिकदर्शन ने गुण–गुणी को भिन्न कर दिया। वो कहता है कि ज्ञान गुण है, उस ज्ञान के द्वारा पदार्थ को जाना जाता है। कैसे? जैसे कि बसूले से वृक्ष को छीला जाता है, तो बसूला पृथक् हो गया और वृक्ष पृथक् हो गया। पृथक् कर दोगे, तो आत्मा तो जानेगी ज्ञान से ही, पर ज्ञान भिन्न है और आत्मा भिन्न है। ऐसा वैशेषिकदर्शन का मत है। पर जैनदर्शन कहता है कि वृक्ष से डाल टूटी। अब बताओ, वृक्ष भिन्न है कि डाल भिन्न है? भेद में भी लग रहा है, अभेद में भी लग रहा है। गुण–गुणी वसूले से वृक्ष छीलने के समान

नहीं है। गुण–गुणी तो उष्ण और शीत के समान है। उष्णता अलग महसूस होती है और अग्नि अलग प्रतीत होती है। अग्नि की उष्णता को अग्नि से पृथक करने पर अग्नि नाम की कोई वस्तु नहीं होगी। ऐसे ही आत्मा ज्ञान–दर्शन से भिन्न कब होगा? जिस दिन होगा, उस दिन आत्मा नहीं होगा।

'आत्मा, अनात्मा' शब्द मात्र द्रव्यानुयोग का ज्ञातापना नहीं है। कोई यह कहे कि मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ। शब्दों का जानना मात्र द्रव्यानुयोग का ज्ञातापना नहीं है। द्रव्यानुयोग का ज्ञाता तो वो होगा, जो एक–एक द्रव्य की गहराई में बैठा है। बैठा भले बाहर है, पर दृष्टि पदार्थ के अन्दर जायेगी। दृष्टि–ज्ञान की सीमा ज्ञेय से ज्यादा है। यदि ऐसे तीनोंलोक और भी होते, तो केवली के ज्ञान में वे भी झलकते। सीमा किसकी ज्यादा है? ज्ञान ज्यादा है, ज्ञेय कम है। **''णाणं ज्ञेयप्रमाणम्''** ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ऐसा क्यों कह रहे हैं? इसलिये कह रहे हैं कि ऐसे तीनों लोक ज्ञेय होते, तो भी मेरा ज्ञान उतना जाता।

इस संसार में जो चल–अचल वस्तुयें दिख रही हैं, वे सब ज्ञान के विषय में आ रही हैं। परन्तु जितने भी भौतिक पदार्थ दिख रहे हैं, इनने ज्ञान को जन्म नहीं दिया और ज्ञान ने इनको जन्म नहीं दिया।

आचार्य वीरसेन स्वामी की 'धवला' को पढ़ो, तो लगता है कि आचार्यभगवान् को गणित का क्या अद्भुत रहा ज्ञान होगा। इसलिये उनको कलिकाल सर्वज्ञ की उपाधि दी गई । ज्ञान विशाल है, एक – दो शब्दकोष का नाम ज्ञातापना नहीं है। ज्ञान–दर्शन जो उपयोग है, वह धर्म किसका है? जीव का । आत्मा का धर्म ज्ञान–दर्शन है, अग्नि का धर्म उष्णता, जल का धर्म शीतलता है। धर्मी धर्म से भिन्न होता नहीं है। यह द्रव्यानुयोग चल रहा है। द्रव्यानुयोग मात्र आत्मा शुद्ध, आत्मा बुद्ध इतना ही नहीं है। द्रव्यानुयोग का अर्थ 'समयसार' मात्र नहीं है। जितने दर्शनशास्त्र जैनदर्शन में हैं, सब द्रव्यानुयोग का विषय है। सात–तत्त्व का कथन, सब द्रव्यानुयोग का विषय है। आत्मतत्त्व की सिद्धि जिस विषय से की जायेगी, वह सब द्रव्यानुयोग है। धर्म यानी स्वभाव, धर्मी यानी जिसमें स्वभाव है। आप क्या हो? धर्मी और ज्ञान–दर्शन धर्म है। यहाँ धर्म का अर्थ पुण्य–पाप से नहीं है, जैनधर्म और अन्यधर्म से नहीं है। क्रियारूप धर्म की बात नहीं है। यह वस्तु के स्वभाव की बात है।

यहाँ पर यह नहीं चल रहा है कि आप मुनिधर्म का पालन करते हो कि आप श्रावकधर्म का पालन करते हो। जो तुम्हारा धर्म है, वह आचरण का धर्म है। वह चरणानुयोग का धर्म है। यह द्रव्यानुयोग की, स्वभाव की बात कर रहे हैं। इन दोनों में संबन्ध प्रदीप–प्रकाशवत् है। यह बताओ कि क्या दीपक–ज्योति भिन्न है और प्रकाश भिन्न है? दीपक भिन्न है, ज्योति भिन्न है? किम् सत्यम्? अस्ति धर्म है, दीपक अभिन्न है, ज्योति अभिन्न है। गुण–गुणी की अपेक्षा से भिन्नता है, परन्तु व्यवस्था की अपेक्षा से अभिन्नता है। लक्षण की अपेक्षा से भिन्नता है। दीप प्रकाश का कर्त्ता है, प्रकाश पदार्थ को दिखाने का कर्त्ता है, प्रकाशित होना क्रिया है। परन्तु यह सब किसमें है? दीप में हैं दीप से भिन्न नहीं है। इसलिये लक्षण की अपेक्षा से भिन्नता, वस्तुस्वभाव की अपेक्षा से अभिन्नता है। ज्ञान भिन्न है, दर्शन भिन्न है, लेकिन ज्ञान–दर्शन आत्मा से भिन्न नहीं है। लक्षण अपेक्षा भिन्नता है, प्रयोजन अपेक्षा भिन्नता है, परन्तु स्वभाव अपेक्षा भिन्नता नहीं है।

प्रदीप–प्रकाश के समान ज्ञान–दर्शन दो भेद किये हैं। भो ज्ञानी! स्वभाव विभाव की अपेक्षा से पहले उपयोग के दो भेद कर दिये– ज्ञान–उपयोग और दर्शन–उपयोग। फिर ज्ञान–उपयोग के दो भेद–स्वभावज्ञान उपयोग और विभावज्ञान उपयोग। यह स्वभावज्ञान अमूर्त है, क्योंकि क्षायिकज्ञान की बात कर रहे हैं। यह बाह्य उपादानों से रहित अतीन्द्रिय है।

भैया! आपका नाम प्रकाशचंद हो, तो आपको प्रकाश शब्द से राग है कि यह हमारा ही नाम है और इस पर्याय की पर्याय पर आप कितने सजग हो जाते हो। आपने कर्ण इन्द्रिय से सुना, मैंने रसना इन्द्रिय से कहा, ये सब परोक्ष बातें चल रही हैं। सिद्धान्त क्या कहेगा? पर के संयोग से हो रहा है और पर का संयोग स्पष्ट दिख रहा है, मूर्तिक है। इसलिये मति–श्रुतज्ञान विभाव–अवस्था है, मूर्तिक है, अमूर्तिक नहीं है। इन्द्रिय व मन के संयोग से हो रहा है और इन्द्रिय व मन मूर्तिक हैं। इसलिये मति–श्रुतज्ञान भी मूर्तिक है। केवलज्ञान न मन का सहयोग लेता है, न इन्द्रिय का सहयोग लेता है। इसलिये अतीन्द्रिय कहा गया है।

आप यह बताओ कि केवलीभगवान् का ब्रेन–हेमरेज कब होगा? क्यों? आप ज्यादा पढ़ोगे तो दिमाग की नस फट जायेगी। ऐसे लोग भी देखने में आते हैं कि बहुत पढ़ा, ज्ञानी बन गये और कुछ दिन में कोमा में आ गये। एक विद्वान् जो वर्णी जी के भक्त थे, अंतिम समय में कोमा में पांच–छह महीने पड़े रहे। अतः अध्ययन

कम करना, चिन्तन अधिक करना। हमेशा यह ध्यान रखना, कि हमारे ज्ञान में अहं का कीड़ा तो नहीं लग रहा है। हे प्रभु! मैं ऐसा ज्ञानी नहीं बनना चाहता हूँ कि पंच–परमेष्ठी के चरणों से भाग के खड़ा हो जाऊँ। हम मारीचि जैसे ज्ञानी नहीं बनना चाहते हैं, जो समवसरण छोड़कर ही भाग गया।

भो ज्ञानी! जब आम में बौर आते हैं, तो किसान पहले से टेका लगाने लगता है। पर बिना फूले–फले वृक्ष में कभी टेका नहीं लगाता है। जिसके पास कुछ होता है, तो वह झुका होता है। वही ज्ञान 'ज्ञान' है, जिसमें विनय हो और जिसमें विनय नहीं है, वह ज्ञान नहीं है। शुभचन्द्र स्वामी ने ज्ञान को अमृत कहा है। ध्यान रखना कि वो अमृत ही कहीं जहर का काम न करने लगे। ज्ञान से ही सोलहकारण भावनायें भाई जाती हैं, वो मति–श्रुतज्ञान से ही भायी जाती हैं। इसलिये मोक्षमार्ग में उपयोगी कोई ज्ञान है, तो मति–श्रुतज्ञान है और मति–श्रुतज्ञान का ही अहं आ गया, तो ज्ञानी! तू कभी तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध नहीं कर सकता है। सोलहकारण भावना में एक विनयसम्पन्नता भावना है। भो ज्ञानी! यदि अविनश्वर को पद प्राप्त करना चाहते हो, तो विनश्वर का अहं मत करो। कभी ये मत सोचो कि मैं बड़ा ज्ञानी हूँ। सामने कितने लिखे ग्रन्थ हैं, उनको तो पढ़–समझ नहीं पा रहे हो और कह रहे हो कि हम ज्ञानी हैं।

वर्तमान में जिनको ज्ञान का अहंकार है, वह 'षट्खंडागम' पढ़ें, करणानुयोग पढ़ें, समझें। तब ज्ञात होगा कि मैं कितना ज्ञानी हूँ? ये ऊँट जैसी दशा है, जब वह पहाड़ के नीचे पहुँचता है, तभी पता चलता है कि हमसे बड़ा भी कोई है। अपन को जबतक केवलीभगवान् नहीं दिख रहे हैं, श्रुतकेवली नहीं दिख रहे हैं, तबतक हम सोचते हैं कि हम तो बड़े ज्ञानी हैं।

उत्थानिका : **यहाँ पर ज्ञान के भेद और लक्षण को कहा है–**

केवलमिंदियरहियं, असहायं तं सहावणाणं ति।
सण्णाणिदरवियप्पे, विहावणाणं हवे दुविहं।।11।।

संस्कृत छाया : **केवलमिन्द्रियरहितं असहायं तत्स्वभावज्ञानमिति।**
संज्ञानेतरविकल्पे विभावज्ञानं भवेद् द्विविधम्।।11।।

अन्वयार्थ : (केवलम्) जो ज्ञान केवल (इन्द्रियरहितं) इंद्रियों की सहायता से रहित (असहायं) असहाय है (तत्स्वभावज्ञानं इति) वह स्वभावज्ञान है। (विभावज्ञानं) विभावज्ञान (संज्ञानेतरविकल्पे) सम्यग्ज्ञान तथा मिथ्याज्ञान के भेदरूप से (द्विविधं भवेत्) दो प्रकार का है।

सण्णाणं चउभेयं, मदिसुदओही तहेव मणपज्जं।
अण्णाणं तिवियप्पं, मदियाई भेददो चेव।।12।।

संस्कृत छाया : **संज्ञानं चतुर्भेदं मतिश्रुतावधयस्तथैव मनः पर्य्ययम्।**
अज्ञानं त्रिविकल्पं मत्यादेर्भेदतश्चैव।।12।।

अन्वयार्थ : (संज्ञानं) ज्ञान (चतुर्भेदं) चार प्रकार का (मतिश्रुतावधयस्तथैव मनः पर्ययम्) मति, श्रुत, अवधि एवं मनःपर्यय है (अज्ञानं) अज्ञान के (त्रिविकल्पं) तीन भेद (मत्यादेर्भेदतश्चैव) मति, श्रुत, अवधि की विपरीतता है।

भव्य बन्धुओ! आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने दसवीं गाथा में जीव का लक्षण समझाया कि उपयोग ही जीव का लक्षण है। वह दो प्रकार का है– ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग के सामान्यता आठ और दर्शनोपयोग के चार, इस प्रकार से बारह प्रकार का उपयोग होता है। आचार्यमहाराज ने ज्ञानोपयोग के सविकल्प, निर्विकल्प, शुद्धोपयोग, अशुद्धोपयोग इस प्रकार से भेद किये। शुद्ध क्षायिकज्ञान केवलज्ञान है और मति–श्रुत आदि अशुद्ध ज्ञान हैं। इनके भी दो भेद कर दिये–स्वभाव, विभाव। स्वभाव एकमात्र क्षायिकज्ञान है। विभाव के दो भेद किये–शुद्धविभाव और अशुद्धविभाव! शुद्धविभाव में मति–श्रुतज्ञान और अशुद्धविभाव में कुमति, कुश्रुतज्ञान का कथन किया है। पद्मप्रभमलधारि देव उपसंहार रूप कलश में कथन कर रहे हैं।

अथ सकलजिनोक्तज्ञानभेदं प्रबुद्ध्वा परिहृतपरभावः स्वस्वरूपे स्थितो यः। सपदि विशति यत्तच्चिच्चमत्कारमात्रं स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः।।17।।

आचार्यभगवन् बहुत सुन्दर चर्चा कर रहे हैं। (अथ सकल जिनोक्तज्ञानभेदं) इसप्रकार से सम्पूर्णरूप से जिनेन्द्रभगवान् के कहे हुए ज्ञान के भेद (प्रबुद्धवा) उनको अच्छी तरह से जानकरके, (परिहृतपरभावः) भगवान् जिनेन्द्रदेव ने ज्ञान के भेद कहे हैं। इन भेदों को जान करके, तू छोड़दे (परभावः) किसको? परभावों को, क्योंकि ज्ञान का उद्देश्य ही पर को छोड़ना है। ज्ञान का उद्देश्य जानना मात्र नहीं है।

''हिताहितप्राप्तिपरिहार समर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्''।।प.मु. 2।।

हित की प्राप्ति, अहित का परिहार, यही ज्ञान का फल है। ग्रहण करने योग्य को ग्रहण करना और अग्राह्य को छोड़ना और दोनों में मध्यस्थ होकर जीना, यह ज्ञान का फल है। यदि हेय को नहीं छोड़ा, उपेय को नहीं स्वीकार किया और रागादिक भाव में मध्यस्थभाव नहीं हुआ, तो जिनागम तुझे ज्ञानी की संज्ञा नहीं दे पायेगा। क्योंकि जो 'ज्ञानी' शब्द का उपयोग कर रहे हैं, वो ज्ञानी अध्यात्म का समझना, लक्षण का मत समझना। वैसे तो निगोदिया भी ज्ञानी है, पर यहाँ ज्ञानी से तात्पर्य जिसको स्व की ओर ममत्व है, स्व की लीनता के परिणाम हैं, वो ज्ञानी है। अध्यात्म भी ज्ञानी किसे कहेगा? विभाव भावों से हटकर स्वभावभाव में लीनता की ओर जो जा रहा है, उसका नाम ज्ञानी है। इसलिये कह रहे हैं कि तू परभाव को छोड़ दे। जब परभाव को छोड़ देता है, तो स्वरूप में स्थित हो जाता है। (यः सपदि विशति यत्तच्चिच्चमत्कारमात्रं) वह चिद् चमत्कार आत्मा में शीघ्र प्रवेश करता है (स भवति) जब प्रवेश कर जाता है, तब क्या होता है? (परमश्रीकामिनीकामरूपः) वह परमश्री मुक्तिश्री जो रमणी है, उसका कान्त बन जाता है। लेकिन जबतक परभाव को नहीं छोड़ेगा, स्वभाव में नहीं जायेगा, तबतक मुक्तिश्री का कान्त नहीं बन सकेगा। इसीलिये आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि मात्र जानना नहीं, जानकरके स्वानुभव की ओर चलना। स्वानुभव का जो मार्ग है, उस रत्नत्रय की ओर अपनी दृष्टि ले जाना, इसका नाम ज्ञानीपना है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द देव 11 और 12 वीं गाथा में एकसाथ शुद्ध–अशुद्ध, स्वभाव–विभाव ज्ञान का वर्णन कर रहे हैं। जो केवलज्ञान है, वह इंद्रियों से रहित हैं, इसलिये यह अतीन्द्रिय ज्ञान है। यह असहाय है अर्थात् पर की सहायता से रहित है। यही परमज्ञान है, यही हमारा साध्य है। यही हमारा परम–साधन भी है सिद्धि का। यही

परमसहाय, परमसाधन फिर भी अपने आपमें असहाय, निरावरणज्ञान, जिसमें कोई आवरण नहीं होता है। दो ही ज्ञान निरावरण हैं। लब्धिपर्याप्तक जीव के लब्धिज्ञान के आगे कोई आवरण नहीं होता है। दूसरा सिद्धों का ज्ञान। इन ज्ञानों पर कभी आवरण नहीं पड़ेगा। इसीलिये कैसी दशा होगी? कैसा सुख होगा? जिसे दस दिन में एक श्लोक याद होता हो, उससे पूछना कि श्लोक याद करने पर कैसा लग रहा है? जिस जीव ने तीनों लोकों को जान लिया है, उसकी अनुभूति क्या होगी? ज्ञान अमृत है, यही सुख है।

अज्ञान का दुःख जानते हो? जिस दुःख में कभी पत्थर न पटके जाते हों, जिस दुःख में कोई कभी किसी को पीटता न हो, जिस दुःख में कोई किसी से कुछ छीनता न हो, वह दुःख अज्ञान का है। अंदर–ही–अंदर जो क्रिया होती है, वह समझना। चार ज्ञानीजीव बैठे हों अपनी सहजता में, तब एक अज्ञानी जीव पहुँच जाये, तो उसको लगता है, कि मैं कहाँ आ गया? अपने–आपको बिल्कुल हीनदृष्टि से देखने लगता है। यही अज्ञानता का दुःख है। इस जीव ने अज्ञानता को कब से शुरू किया? यदि साथ में मोह न होता तो तुम जी नहीं सकते। मोह तुम्हारे असंयम, अज्ञान को अपने–आपमें सम्मिलित कर लेता है और दुःख का अनुभव ही नहीं होने देता है। जिस दिन मोह मिट जाये, उस दिन देखो कि असंयम कैसा लगता है? जब वैराग्य होता है, तब एक क्षण आपको पसंद नहीं आता है, लगता है कि कब भाग जाऊँ। जबतक राग रहता है, तबतक वो ही सामग्री दुःख का कारण बन रही है।

यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि।। इष्टोपदेश 37।।
यथा यथा न रोचंते, विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्त्मम्।।इष्टोपदेश 38।।

जैसे–जैसे स्वात्मसंवित्ति का उदय होता है, उद्भव होता है, वैसे–वैसे सुलभ–से–सुलभ विषय भी रुचिकर नहीं होते हैं और जैसे–जैसे विषयों में अरुचि होती है, वैसे–वैसे स्वात्मसंवित्ति का उद्भव होता है। इसीलिये जबतक विषयों में अरुचि नहीं होगी, तबतक आप चाहो कि आत्म–स्वसंवित्ति का उदय हो जाये, ऐसा संभव नहीं त्रैकालिक यह ज्ञान का विषय तो हो सकता है, लेकिन अनुभूति का विषय नहीं। जब आप एकदिन बुद्धिपूर्वक शील का पालन कर लेते हो, दूसरे दिन क्या गद्गद् भाव होते हैं।

जिसने दस दिन शील का पालन किया हो, उसके शरीर की, उसके स्वभाव की दशा देखना। एकक्षण का भी असंयम का सेवन कर लिया हो और फिर उसके बाद कोई आपसे पूछे, क्या हो रहा है? किसी के पूछने की आवश्यकता नहीं है। एक क्षण के लिए भी असंयम देखो कि क्या हो रहा है? फिर लगेगा कि जिसे मैं भोग्या कह रहा था, उसका चेहरा देखने का मन नहीं करेगा, उससे आँख नहीं मिला पायेगा। इसे भले ही हम सुख कहें? राग न होता, तो मैं इस दुःख में कभी न जाता । योगी की स्वतंत्र दशा देखो। योगी की दशा कितनी स्वतंत्र अवस्था है। न कोई विकल्प है, न कोई वांछा है। परन्तु ध्यान रखना, पहले वांछा समाप्त करना, तब विकल्प समाप्त होंगे। जबतक वांछा है, तब तक विकल्प समाप्त नहीं होंगे। विकल्पता की जननी वांछा है। जैसे–जैसे वांछा बढ़ेगी वैसे–वैसे विकल्प बढ़ जायेंगे। जितने अपरिचित होकर जिओगे, जितने अवांछित जिओगे, बड़ा सुख होगा। आपसे लोग जुड़ें या न जुड़े, पर अपने आपमें बड़ा आनंद आयेगा।

जिनवाणी माँ कहती है, हे योगी! तू जनसम्पर्क छोड़ दे। जनसम्पर्क भीतरी सम्पर्क को छोड़ देता है। लोकाचार स्वलोक से भिन्न कर देता है। इसलिये पर का उपचार अपने स्थान पर है, मैं अपने स्थान पर हूँ और यह धर्म अपने स्थान पर है। इसलिये जिनवाणी में वैरागी को उदासीन कहा जाता है। उदासीनता का अर्थ मुँह लटकाकर बैठ जाना नहीं है। उदासीनता का अर्थ है भोगों से निरपेक्षवृत्ति। उदासीन का अर्थ है, परलोगों से समत्व–वृत्ति अर्थात् अपने स्व में प्रभुत्व दिखना। असहायज्ञान तभी होगा, जब तू संपूर्ण जगत से सहायता लेना बन्द कर देगा।

(असहावं तं सहावणाणं त्ति) ये स्वभावज्ञान है विभावज्ञान के दो भेद हैं, स्वभावज्ञान का मात्र एक भेद है केवलज्ञान। मिथ्याज्ञान यह विभावज्ञान है। मति, श्रुत, अवधि ये सम्यक्–विभावज्ञान और कुमति, कुश्रुत, कुअवधि यह मिथ्या– विभावज्ञान है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय यह स्वभाव–विभाव सम्यग्ज्ञान हैं।

जो सम्यग्ज्ञान है, वह चार प्रकार का है–मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञान। इन्द्रिय मन से चिन्तन होना, वह मतिज्ञान है। सुनकरके मतिपूर्वक जाने वह श्रुत है। श्रुतज्ञान जो है, वह रूपी पदार्थों को जानता है। एकदेश प्रत्यक्ष हो, वह अवधिज्ञान है। अवधिज्ञान के तीन भेद हैं–देशावधि, सर्वावधि और परमावधि। आप सात–भव पहले क्या थे? सात–भव बाद क्या बनोगे? अवधिज्ञानधारी मुनि आपको बता देंगे। वे तुम्हारी सब दशा जानते हैं। मनःपर्ययज्ञानी चिंतित, अचिंतित और अर्द्धचिंतित, दूसरे के मन में क्या

विकल्प आ रहे हैं, उनको बता देंगे। मानुषोत्तर–पर्वत के भवन में बैठा कोई जीव क्या चिंतन कर रहा है, बता देंगे। वे वीतरागी मुनिराज आज होते, तो तुम्हारी मायाचारीवृत्ति नहीं चल पाती, कि क्या कह रहे हो और क्या कर रहे हो और क्या सोच रहे हो। यहाँ तो 'महाराज! नमोस्तु–नमोस्तु। महाराज! आपके समान कोई नहीं।' और मन में कह रहा है, कि हमारे सामने आप भी कुछ नहीं हैं। लेकिन उनके सामने नहीं चल सकता था।

कोई व्यक्ति किसी बड़े प्रोफेसर के यहाँ पढ़ करके पोजीशन लाता है, तो कोई बड़ी बात नहीं। जिसके पास कोई साधन भी न हो, कुछ भी न दिख रहा हो, वो फिर भी धर्म में लगा हुआ है, यह चमत्कार पंचमकाल का है। चतुर्थकाल में तो विद्याधर दिखते थे, केवलीभगवान् दिखते थे, देव आते थे, लेकिन आज तो मुझे कोई प्रत्यक्षफल नजर नहीं आ रहा है, फिर भी हम वीतरागमार्ग में लगे हैं, यही पंचमकाल का चमत्कार है। इतनी आस्था तो है, जो दिख नहीं रहा है, अदृश्य– सत्ता है, उसपर भी अपन दृष्टि रखे हैं। यही तत्त्वदर्शन है। मनःपर्ययज्ञान पंचमकाल में नहीं होता है। अवधिज्ञान किसी को हो सकता है। अज्ञान तीन प्रकार का है, कुमति, कुश्रुत और कुअवधि, इस प्रकार जानना चाहिये।

भो ज्ञानी! पर की उपाधि से रहित ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं अर्थात् जिसमें दूसरे का आलम्बन नहीं है। अपना ज्ञान तो इन्द्रिय मन की सहायता से हो रहा है। यदि नेत्र निर्मल नहीं होंगे, तो आप सामने की वस्तु को नहीं देख पाओगे। यह पर का आलम्बन हुआ। इन्द्रियाँ निजधर्म नहीं हैं, इन्द्रियाँ परवस्तु हैं। मन भी निजवस्तु नहीं है, वह भी परवस्तु है। क्षायिकज्ञान को निरुपाधि कह रहे हैं। कर्म की उपाधि से रहित अर्थात् ज्ञानावरणी–कर्म की उपाधि यहाँ समाप्त हो चुकी है। इस अपेक्षा से निरुपाधि कहा है, परन्तु क्षायोपशमिक ज्ञानों में उपाधि लगी हुई है। इसलिये सोपाधिक कहा है। जब न्याय की दृष्टि से कथन करेंगे, तो कर्मोपाधि–निरपेक्ष। जब कर्म की उपाधि से निरपेक्ष होकर हम देखेंगे, तो हम सब भी केवलीभगवान् बनेंगे। मुझे जमीन नहीं दिख रही है, मुझे पानी दिख रहा है। इस जमीन में पानी तो है, पर पानी पीने नहीं मिलेगा। जमीन खोदो, पानी मिलेगा। पानी की सत्ता त्रैकालिक है, वो कभी नष्ट नहीं हुई है और न होगी । अंतर इतना है कि वो दबी हुई है। उसको हटाने का मार्ग है सम्यक्–आचरण, संयमाचरण, स्वरूपाचरण इनके होने पर ही परम–पारिणामिकभाव का जन्म होगा तभी केवलज्ञानदिवाकर उदित होगा, जब स्वरूप में तुम लीन होगे। ये दर्शनपक्ष है।

हम जो जानते हैं, क्रम से जानते हैं पर केवली का ज्ञान अक्रम है, इसलिये वह ज्ञानाक्रम है। वो ज्ञान निहित है, तुम्हारा ज्ञान निहित नहीं है। केवली के ज्ञान को

मति–श्रुतज्ञान में मत मिलाना। यदि हम कहते हैं कि यहाँ पर इनका ज्ञान निश्चित है, पर आपको निश्चित नहीं है। केवली का ज्ञान अपने में मत लगा लेना। इस विषय को गहराई से समझना।

आचार्य पद्मप्रभमलधारि देव गाथा 12 की टीका में कह रहे हैं 'क्रम करण' अर्थात् क्रम–क्रम से देखेंगे। कौन? मति–श्रुतज्ञानी। हमारा ज्ञान इन्द्रिय के अभाव में नहीं हो सकता। हमारा ज्ञान अक्रम से नहीं होता , हमारा ज्ञान क्रम–करण से युक्त होता है, परन्तु केवली का ज्ञान क्रमकरण के द्विविधान से रहित है। यदि मुझे देखना है, कि पीछे क्या है, तो मुड़ना पड़ता है। परन्तु उनको देखना भी नहीं पड़ता है, यह चरमचक्षु की दशा है। उनको झलक रहा है। आपके ज्ञेय में अंतराल है, उनके ज्ञेय में कोई अन्तराल नहीं है। एक साथ सबकुछ हो रहा है।

छद्मस्थों के ज्ञान–दर्शन उपयोग क्रम से होता है, एकसाथ नहीं होता है। केवली के ज्ञान–दर्शन युगपत होते हैं, एकसाथ होते हैं, जो किसी वस्तु का सहारा नहीं लेते हैं। व्यापक होने से असहाय कैसा है? असहाय किसी की सहायता नहीं लेता है।

आचार्य समंतभद्र स्वामी ने श्रुतज्ञान को स्याद्वाद ज्ञान कहा है। "स्याद्वाद श्रुतज्ञान केवलज्ञानं" स्याद्वाद और केवलज्ञान में भेद नहीं है, क्योंकि केवलज्ञान सम्पूर्ण तत्त्वों का प्रकाशन करता है और स्याद्वाद भी सम्पूर्ण तत्त्वों का प्रकाशन करता है। केवलज्ञान प्रत्यक्ष कहता है और स्याद्वाद ज्ञान परोक्ष कहता है, यह अंतर है। लेकिन तत्त्व में कोई अन्तर नहीं है। जो केवली ने कहा, वही हम जिनवाणी से कह रहे हैं। सात–तत्त्व उन्होंने कहे, वही सात–तत्त्व यहाँ कहे जा रहे हैं। परन्तु वे अनुभव करके कह रहे हैं और हम शास्त्र को जानकर कह रहे हैं, पर दोनों सत्य हैं। अंतर है परोक्ष और प्रत्यक्ष का। इसीप्रकार से एक जीव श्रद्धानुभूति और ज्ञानानुभूति कर रहा है और एक जीव आत्मानुभूति कर रहा है। चतुर्थ, पंचम, षष्टम गुणस्थानवर्ती जीव आत्मा की श्रद्धानुभूति, ज्ञानानुभूति में लवलीन है और सप्तम गुणस्थान से ऊपर के जीव आत्मानुभूति में लीन हैं, यह जिनवाणी का कथन है। जो नहीं जानता है, उसे तो बताया जा सकता है, लेकिन जो नहीं मानता, उसे कभी मत बताना क्योंकि हमारा उद्देश्य तुमसे झगड़ा करना नहीं है, अपने परिणाम खराब करना नहीं है। यदि आप नहीं मानते हो, तो आपकी दशा जैसी हो, आप जानो।

मैं दर्शन–ज्ञानस्वरूप हूँ। मेरी आत्मा रत्नत्रय से युक्त है। एक क्षण में श्रद्धा नहीं, ज्ञान नहीं, अनुभव युगपत चल रहा है। अभेदरत्नत्रय मैं ही ज्ञाता, मैं ही दृष्टा, मैं ही

अनुभूत, मैं ही अनुभूति करनेवाला हूँ। मेरा ही ज्ञाता, मेरा ही दृष्टा और मेरा ही बंधकभाव। अब अभेद में आप न कार्यभेद करेंगे, न पदार्थभेद करेंगे। शुद्धोपयोग में बैठा जीव क्या जान रहा? जिसे जान रहा है, उसे ही देख रहा है। जिसे देख रहा है, उसे ही समझ रहा है। जिसको समझ रहा है, उसका वेदन कर रहा है। यह चिंतनमयी स्वदशा में है, अब आप चाहे शरीर को काटके फेंक दो, चाहे लोहे के आभूषण पहना दो, चाहे वसूले से छील दो–यहाँ लगेगा समयसार। स्यालनी जो खा रही है, मैं वह नहीं हूँ। जो भखा जा रहा है, वो कभी मेरा होगा नहीं। जो मेरा है, वह कभी भखा नहीं जा सकता है। जिस पर रोष है, वो मैं नहीं हूँ। जो मैं हूँ , इसपर ये रोष नहीं कर सकता है। अहो जीव! तू कषायबन्ध करके, व्यर्थ में रोष प्रकट करके इस पुद्गल से पुद्गल को खींच रही है। मेरा चेतन तो–

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाण मइओ सदायावी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि।। स.सार 38।।

भो चेतन! जब मैं देह को ही अपना नहीं मानता हूँ, तो तुझे अपना भक्षक कैसे मान लूँ? इसको आप अध्यात्मविद्या की कोई अतिशयोक्ति मत मानना। यह भूतार्थ है, सत्यार्थ है। जब स्वानुभूति में जाता है, तो परानुभूति झलकती नहीं है। जो शब्द अपने–आपमें शांत होकर, सुख देता है। दर्शन–ज्ञानरूपी आत्मा के सिवाय किंचित मात्र भी मेरा नहीं है, परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है, तो तू मेरा कैसे हो सकता है? जब शरीर में व्याधि सता रही हो, जब मन बेचैन हो रहा हो, तब कहना कि जब तू ही मेरा नहीं है, तो मैं तुझे क्या अपना मानूँ? वह एक दशा आयेगी, जब तुम सबसे शून्य हो जाओगे। इसलिये जिनवाणी कहती है कि इस शून्य ध्यान को जो प्राप्त करेगा, वही ओंकार के शून्य को पा पायेगा।

ओंकारं बिन्दु संयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमो नमः।।

ओंकार भी शून्य है। विभावों की शून्य दशा का नाम चैतन्यशून्य भगवान्– आत्मा है। जिसे हम शून्य कह रहे हैं, वो शून्य 'ध्यान' नहीं है, विभावों से शून्य चेतन–आत्मा का ध्यान है। अज्ञानी लोगों ने शून्य को ही ध्यान मान लिया है। जड़ का ध्यान नहीं होता है, चेतन का ध्यान होता है। कोई मोमबत्ती का ध्यान करता है, कोई अगरबत्ती का ध्यान करता है। ज्ञानी! ये ध्येय नहीं हैं। हमारे यहाँ दो ही ध्येय हैं स्वगत, परगत। स्वगत आत्मा है, परगत पंचपरमेष्ठी हैं, तीसरा कोई ज्ञेय नहीं है।

भो ज्ञानी! एक साल तक गोमटेश बाहुबली खड़े रहे। मैं आपको क्यों प्रणाम कर रहा हूँ? प्रभु! आपको देखकर मेरी निश्चलआत्मा का वेदन हो। आप दिगम्बर होकर भी भयभीत नहीं हुए। भगवन्! आप पर कोई वस्त्र नहीं। प्रभु! आपके शरीर पर सर्प रेंग रहे हैं, फुफकार मार रहे हैं, पर आप कांप नहीं रहे हो। हे गोमटेश स्वामी! आपको मेरा नमस्कार हो। उस अवस्था को नमस्कार किया है। अब सोचो, वो अवस्था कैसी है? उस अवस्था का अनुभव नहीं है। मनीषियो! वेदन ही आत्मा की परिणति है। देखो, उस तत्त्व की बात में कितनी शांति है। इसलिये अब कभी सामायिक करके आप देखना कि परमात्मा का आनंद क्या होता है? एक घंटे के लिये पांच पापों का त्याग करके बैठना। पर पहले कह देना कि कोई समाचार मेरे पास लेकर मत आना, घर में कुछ भी हो रहा हो। फिर आप देखो, कि क्या अनुभूति होती है।

मुनियों की अलौकिक–वृत्ति। इनको जंगल का विकल्प नहीं, भवन का विकल्प नहीं, कोई विकल्प नहीं। इस दशा की प्राप्ति में अभी से लग जाओ। कभी तो मिलेगा। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने आपको समय दे दिया छह महीने का। इसमें तुम एकान्त में बैठकर, मौन होकर रहो, तो ही भेदविज्ञान होगा। अनुभूति नहीं है, भेदविज्ञान है। भिन्नत्व का भान होगा। अनुभूति तो विषयहीन है। भेदविज्ञान होगा।

आचार्य महाराज ने स्पष्ट कर दिया कि ये भगवान् के स्वरूप की बात नहीं कर रहा हूँ। उस योगी की अनुभूतियाँ कर रहा हूँ कि वो योगी कैसा होगा? भगवान् का सुख अभी नहीं देखना, मैं तो उस योगी के सुख का वेदन करना चाहता हूँ, कि वह कैसा वेदन कर रहा है। योगसार, परमात्मप्रकाश में योगीन्दुदेव ने लिखा है कि करोड़ों देवांगनाओं के साथ एकसाथ रमण करने में जो सौधर्म– इन्द्र को सुख की अनुभूति नहीं होती है, वो एकक्षण में स्वात्म में रमण करनेवाले योगी को होती है क्योंकि सौधर्म इन्द्र का सुख इंद्रियाधीन है, पराधीन है और योगी का अतीन्द्रिय है।

वैराग्य को यूँ ही नहीं बनाया जा सकता । ध्यान रखो, जितनी चारित्र में शक्ति लगाते हो, उतनी वैराग्य में शक्ति लगाये रखना। वैराग्य के अभाव में चारित्र पल नहीं सकता। वैराग्य प्रतिक्षण जागृत रहना चाहिये। जो इन्द्रियों से प्राप्त हो रहा है, उसे सुख कह रहे हो, जबकि वो दुःख ही है। उमास्वामी महाराज ने भी लिखा हैः–**''दुःखमेव वा''** ये सब सुख तो दुःख ही है। जिसमें आकुलता हो, उसे सुख कैसे कहें? इसलिये सुख तो वहाँ है, जहाँ आकुलता नहीं है। **''आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिए''** आकुलता से सहित सुख नहीं कहा है, अतः शिवमार्ग में लगना चाहिये। सोचो, क्या अद्भुत आनंद की यात्रा है। कुछ भी कहो, सुख ही सुख है।

ज्ञानी! मिठाई को देखकर मुख मीठा होने लगता है, तो इस मिठाई को क्यों नहीं देखते हो? उस मिठाई में लगे हो, जिसमें चीटियाँ लगती हैं, कीड़े पड़ते हैं। मोक्षसुख की बात तो हर व्यक्ति करता है, लेकिन मोक्षमार्ग में दुःख वो ही महसूस करता है, जिसको मोक्षमार्ग पर विश्वास नहीं है, भरोसा नहीं है। उसे मोक्ष का मार्ग दुःखरूप लगता है। वास्तविकता ये है कि जिसका मार्ग इतना सुन्दर है, उसका मार्गी कितना सुन्दर होगा? यदि ये सुख नहीं होता, तो यह ग्रन्थ उनकी बुद्धि में चढ़ ही नहीं सकता था, लिख ही नहीं सकते थे। ऐसी गहरी बातें वो ही लिख सकता है, जो अन्दर में बैठकर बाहर आया हो।

भो ज्ञानी! इस जिनालय में कितनी वेदियाँ हैं? घबड़ाओ नहीं। जो मंदिर में गया ही नहीं है, वो बेचारा बाहर से आ रहा है, उससे आप पूछ रहे हो, कि कितनी वेदियाँ हैं? अरे! उससे पूछो, जो जिनालय में दर्शन करके बाहर आया है। ऐसे ही जिसने स्वात्मानुभूति में कभी प्रवेश किया ही नहीं, स्वानुभव को जाना ही नहीं, वो स्वानुभव की क्या बात करेगा? जो स्वानुभव से आकरके फिर स्व में गया है, उससे तुम चर्चा कर लो, वो बता देगा। इसलिये कुन्दकुन्द भगवान् ने गाथा में स्पष्ट लिख दिया है–

तं एयन्तविहृतं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेतव्वं।। स.सार 5।।

आचार्यभगवन् कह रहे हैं, कि कथन में चूक हो जाये तो छल गृहण नहीं करना और हम ऐसे छलिया हैं कि जानके चूक कर रहे हैं। वे स्पष्ट कह रहे हैं, कि मैंने जो कुछ लिखा है, अपनी स्वानुभूति और आगम से लिखा है। स्वानुभव से जाना और **'सुदकेवली भणिदम्'** जो श्रुतकेवली ने कहा है, वही लिखा है। पर तुम्हें न श्रुतकेवली से मिला है, न स्वानुभव है, फिर आपकी बात कैसे मानें? जितना पुराना वैद्य होता है, उसपर विश्वास उतना ज्यादा हो जाता है, क्योंकि उसके पास अनुभव होता है। ऐसे ही आगम में जब–जब आचार्यों ने लेखनी चलाई, तब पूर्वाचार्यों का नाम पहले रखा है। क्यों रखा? प्रमाणिकता के लिये। ज्ञानी! लिखना ही नहीं है, तनिक–तनिक लखना भी है। लिखोगे नहीं, तो लखोगे कैसे? पूरा लिख लो, जब लिखने को कुछ नहीं बचे, फिर उसे पढ़ना शुरू कर देना। भो चेतन! इस पर्याय में तुझे मिला है वीतराग धर्म का रत्न। जितना ले सको, ले जाओ। आगे किसने देखा है, कौन–सी अवस्था होने वाली है, परन्तु यह काम में आयेंगे। नरक में भी काम में आयेंगे, निगोद में भी काम में आयेंगे। चिन्ता मत करना। निगोदिया में भी संस्कार पड़े रहेंगे, वे नष्ट नहीं होंगे पर जब वहाँ से निकलेगा, तो उदय

में आ जायेंगे। संस्कार नष्ट नहीं होंगे। क्योंकि जिनदर्शन कहता है कि सत्य का कभी विनाश नहीं होता। इस प्रकार से शुद्ध–ज्ञान के स्वरूप का कथन किया।

भो ज्ञानी! अनेक विकल्पों का स्वामी मतिज्ञान है। इसका काम ही है विकल्पों को उत्पन्न करना। ज्ञान न सम्यक् होता है, न मिथ्या होता है। ज्ञान तो ज्ञान होता है। दुग्ध कड़वी तुमड़ी में रख दिया तो कड़वा हो गया और मिश्री के बर्तन में रख दिया तो मीठा हो गया। ऐसे ही जिसकी दृष्टि विपरीत है, वही ज्ञान मिथ्याज्ञान और दृष्टि सम्यक् है, तो वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। जैसे बल्व नीला है तो प्रकाश नीला हो रहा है, बल्व पीला है तो प्रकाश पीला हो रहा है। अहो ज्ञानी! प्रकाश न नीला है, न पीला है। प्रकाश तो जैसा है, वैसा ही है। इसीतरह ज्ञान न सम्यक् है, न मिथ्या है। ये तो काँच का आवरण है। दृष्टि का भेद है। इसलिये ध्यान रखो, वस्तु को सुधारने का कभी विकल्प नहीं लाना। क्यों? वस्तुओं को सधारने के बाद क्या तू भगवान् बनेगा? उन भगवान् से कह देना, तुम कभी नहीं बन सकते और तुम मनुष्यों को कब तक सुधारोगे? क्या निमित्त नष्ट होंगे? क्या जो राग के हेतु थे वे ही वीतरागता के हेतु हैं? देखना, रागी उसी दृश्य को देखकर मुस्करा रहा है, कोई रो रहा है और विरागी दोनों में मध्यस्थ होकर अपने–आपमें जी रहा है।

नीलांजना के नृत्य को देखकर सभा कैसे मुस्करा रही थी और मृत्यु को देखकर विषाद हो गया। परन्तु ज्ञानी के लिये वैराग्य हो गया और अज्ञानी को विषाद। हम वैराग्य की वस्तु किसे कहें और राग की वस्तु किसे कहें? इसलिये वस्तु **"न सुन्दरं न असुन्दरम्"** वस्तु न सुन्दर है, न असुन्दर है। ज्ञानी! नीम खाते हो कभी क्या? नीम खाते समय कैसा चेहरा बनता है? नीम कभी नहीं खाते, कहते हो कि नीम खराब है। ऊँट के लिये नीम अच्छी है, तो उसे खराब कैसे कहें? वस्तु खराब है, कैसे कहें? एक को भोग भुजंग लग रहे हैं और एक भोग को अमृत की उपमा दे रहा है। **"किं सुन्दरं किं असुन्दरम्।"** जिस पर राग है, वह सुन्दर है। जिस पर द्वेष है, वह असुन्दर है। पड़ोसी का सुन्दर बेटा भी आपको कुरूप लगता है। स्वयं के बेटे की नाक टपक रही हो, तो भी वह अच्छा लगता है। अब हम किसे सुन्दर कहें, किसे असुंदर कहें? इसलिये दृष्टि के अनुसार ही वस्तु सुन्दर–असुन्दर है।

भो ज्ञानी! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ग्रन्थराज नियमसार जी में जीव के स्वभाव का कथन करते हुए कह रहे हैं कि उपयोग ही जीव का धर्म है। उस उपयोग के भीतर भेद/प्रभेद का कथन करते हुए श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने उसका विस्तार से कथन किया है। ज्ञान–दर्शन ही जीव का धर्म है। शरीरादि यह पुद्गल का धर्म है, यह निरंजनस्वरूपी आत्मा का धर्म नहीं है।

किसी की बाल्टी में दुग्ध होता है, तो किसी के गिलास में दुग्ध होता है, लेकिन वास्तव में दुग्ध गिलास आदि नहीं होता है। इसीप्रकार से आत्मा कभी तिर्यंच की देह में है, तो कभी नारकी की देह में है, तो कभी मनुष्य की देह में है। फिर भी आत्मा जो है, वह तद्रूप नहीं है। तदाकार तो है, तद्रूप नहीं है। ज्ञान–दर्शन स्वभाव जानना और देखना स्व पर को, आत्मा का ये गुण है। आत्मा स्वयं को भी जानता है, स्वयं को भी देखता है, पर को भी जानता है, पर को भी देखता है। यह आत्मा शरीराकार तो है, परन्तु शरीररूप नहीं है। तदाकार तो है, तद्रूप नहीं है। कमण्डलु में पानी है, तो तदाकार है और गिलास में पानी है तो तदाकार है। तदाकार तो हो रहा है, परन्तु तद्रूपता नहीं है।

ज्ञानी! आपने बूरे की चाशनी को गुझिया के सांचे में डाल दिया, तो जमने पर शक्कर का आकार तदाकार हो गया। लेकिन शक्कर तदाकार हुई है कि तद्रूप हुई है? तदाकार है, तद्रूप नहीं है। यह आत्मा जिस पर्याय को प्राप्त होता है, तदाकार होता है, तद्रूप नहीं होता है। जैसा आकार साँचे का होता है, मिट्टी वैसे आकार की हो जाती है, परन्तु मिट्टी साँचेरूप पने को प्राप्त नहीं होती है। ऐसे ही नामकर्म की प्रकृति का जो काम होता है, उस प्रकृति के उदय से जीव वैसे आकार को प्राप्त कर लेता है, परन्तु तद्रूप फिर भी नहीं होता है। यह आत्मा शरीराकार तो है, पर आत्मा शरीररूप नहीं है। उपचरित–असद्भूत–व्यवहारनय की अपेक्षा से कह दिया जाता है कि मैं ऐसा हूँ, पर मैं ऐसा वास्तव में नहीं हूँ। उपचरित–असद्भूत भाव की दृष्टि से मैं ऐसा ही हूँ, पर वास्तव में आत्मा वैसा नहीं है। यह पर्याय का धर्म है और मेरा धर्म ज्ञान–दर्शन है। पर्याय का धर्म स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णरूप है, जो पुद्गल का धर्म है। शरीर इस स्पर्श, रस, गंध, वर्णरूप से युक्त है। इसलिये शरीर आत्मा का धर्म नहीं है। यह है वस्तु का वास्तविक स्वरूप। शरीर में ज्ञान –दर्शन से युक्त आत्मा विराजमान है। वह आत्मा, शरीर– इंद्रिय के माध्यम से जान रहा है। परन्तु शरीर न जान रहा है, न देख रहा है। पर आत्मा शरीर को जान रहा है, देख रहा है। जिस वाहन से आप आये हो, वह वाहन आपको लेकर आया है। उसमें आप बैठकर आये हो, उसको आप जान भी रहे हो, देख भी रहे हो। लेकिन वह वाहन स्वयं को न जान रहा है, न देख रहा है, क्योंकि वह जड़ है।

इस देहरूपी/कर्मरूपी पालकी में बैठकर तू अनादिकाल से इस संसार में झूल रहा है, घूम रहा है। भले ही पालकी में बैठ जाओ, कहीं भी पहुँच जाओ, फिर भी पालकी में ही बैठे हो, लेकिन पालकीरूप नहीं हो। भूतकाल में पालकी के आकार के विद्याधरों के विमान होते थे। जो आज के विमान हैं, ऐसे विमान भी होते थे। विमान कोई नई वस्तु नहीं

है। सत्यन्धर राजा ने अपनी रानी के लिये मयूराकार विमान बनवाया था। शरीररूपी विमान में आत्मा विराजा है। इस विमान के माध्यम से सब जगह घूम रहा है। फिर भी विमान तो विमान है, यात्री तो यात्री है।

हे हंस–आत्मन्! तू हंस है, पर पर्याय तेरी हंस नहीं है। हंस–आत्मा का अर्थ पक्षी में मत लगा लेना। हंस– आत्मन् यानि शुक्लध्यान स्वरूपी आत्मा। तू हंस है, पर हंस (पक्षी) नहीं है, लेकिन परमहंस है।

भो ज्ञानी! अन्तः– तत्व का प्रकाशन ही सहजज्ञान है। सहजज्ञान यानि मति–श्रुतज्ञान के माध्यम से आत्मा की शुद्धसत्ता का वेदन करना। इसको समझना है, कैसे होगा? जैसे विमान में विराजा यात्री विहार कर रहा है, फिर भी निर्विहार है। उसके कदम चल ही नहीं रहे हैं। ऐसे ही विमान में विराजा आत्मा विहार से रहित है। ध्यान अशरीरी के नहीं होता है, शरीरी के होता है। सिद्धों के कोई ध्यान नहीं है। उस अशरीरीरूप की प्राप्ति के लिए ध्यान किया जाता है। ध्यान से तात्पर्य, केवलज्ञान–दर्शन मेरी आत्मा का सत्यस्वरूप है। उस स्वरूप के अभाव में तद्रूप चिन्तन करना–मैं अभी न केवलज्ञानी हूँ, न केवलदर्शन वाला हूँ। फिर भी मति–श्रुतज्ञान के माध्यम से उसी केवलज्ञानी की सत्ता को अनुभूत करना, यह केवली का स्वरूप है, यह सिद्ध का स्वरूप है। साँचे में सिर्फ आकार को देखना, वो भी निराकार, वही वास्तव में ध्यान है।

भो ज्ञानी! 'मैं देह से भिन्न हूँ,' मात्र कहना नहीं है इसी काल में किसी सिंह ने आक्रमण कर दिया, उसने भग लिया। मैं तो भिन्न हूँ। नौका टूट गई, नौका छिद गई, मैं बिल्कुल शुद्धस्वरूप स्वच्छ हूँ, मेरा कुछ नहीं छिदा है। वस्त्र जीर्ण हो गया है, वस्त्र के जीर्ण होने से शरीर जीर्ण नहीं हो रहा है। थोड़ा समझना, ये क्या भूमिका चल रही है। वस्त्र जीर्ण हो गया, देह जीर्ण नहीं है, वस्त्र जीर्ण है। आंखों से दिख रहा है। भैया! वस्त्र फटने से क्या तेरा शरीर फटता है? शरीर जीर्ण हो गया, शरीर शीर्ण हो गया, पर आत्मा न जीर्ण है, न शीर्ण है । ये तेरा स्वरूप का ज्ञान है। ऐसे स्वरूप का ध्यान करता है योगी, उपसर्ग/परीषह कितने भी आ जायें, फिर भी लक्ष्य किसमें जाता है? स्वयं में। शुद्ध–अवस्था, नीरस– अवस्था। नीरसता में रस झलकता है, उसका नाम योगी का रसपना है। मैं समरसी–भाव में लीन हो रहा हूँ। मैं अपने साम्यभाव में लीन हो रहा हूँ। इसलिये देह के जीर्ण होने पर आत्मा जीर्ण नहीं हो रही है। ये चिंतन ऐसे बैठकर जब तुम करोगे, तब तुम्हारी दृष्टि राग में जायेगी नहीं। कितनी दृढ़शक्ति है कि जिसमें रह रहा है, उसमें भी राग नहीं है। यही आत्मा की निर्ममत्व दशा है।

हे ज्ञानी! ध्यान रखना, गृह का राग छोड़ना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है, परन्तु देह का राग छोड़ना बहुत बड़ी बात है। देह का परिग्रह ही विदेही नहीं होने देता है, यह पूर्ण सत्य है। जिनको तू छोड़ चुका है, जो तुझे छोड़ चुके हैं, फिर भी सम्बन्ध तेरा स्थापित है। मैं भिन्न हूँ, मुझे मालूम है। कुछ नहीं है, फिर भी चाहता हूँ कि मेरे नाम की धर्मशाला यहाँ तीर्थ में बन जाय। ज्ञानी! तू कभी रहने आयेगा नहीं, पर तेरा राग देखो कि तू पटिया पर अपना नाम लिखाकर खुश होना चाहता है। अमुक महाराज के सानिध्य में यह भवन निर्मित हुआ, तो लोग देखेंगे,। क्या अद्भुत बातें हैं। भो ज्ञानी! यह मुक्ति का मार्ग नहीं है। अंदर का मार्ग है, बड़ा गहनतम मार्ग है। जरा भी तुम्हें मनोविकार आ रहा है, तो तुमने छोड़ा क्या है?

एक जीव कहता है कि मेरे पापकर्म का क्षय हो, पुण्य कर्म का उदय हो। मेरा अपयश न फैले, भगवन् मेरा यश फैले। मैं आपके चरणों में त्रिकाल नमोस्तु करता हूँ। ज्ञानी! तू तीर्थंकर के चरणों में कर्म को माँग रहा है कि भगवन्! मेरा अपयश न हो, भगवन्! मेरा अहित न हो, भगवन्! मेरा यश हो। अशरीरी बनने वाली आत्मा के सामने तूने शरीर को माँगा है, पुद्गल को माँगा है। जड़कर्म को माँगा, तो क्या माँगा? मैं उसे मिथ्यादृष्टि कहता हूँ जो अध्यात्म के बाद में भी यश चाहता है। वो मुमुक्षु नहीं है।

मैं अमुकजाति का हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, परवार हूँ, पोरवाल हूँ, पता नहीं कौन–कौन सी बातें करता है तू जाति में कहाँ चला गया। जिनशासन के मर्म को समझने के लिये नग्न होना पड़ेगा। अंदर–बाहर से पूरा खाली होकर पूरा नग्न होना पड़ेगा, तब तू जिनशासन को समझ पायेगा। मेरा चेला, मेरी चेली, यह सब कुछ नहीं होगा। ध्यान रखना, ये सब समाधि के साधन नहीं हैं। ये सब समाधि को भंग करने के साधन हैं। इतना कठोर निर्णय लेने को तैयार हो? यदि इतना कठोर निर्णय नहीं है तेरा, तो ध्यान रखो, अशरीरी भगवान्–आत्मा नहीं झलकता है। न तू जैन है, न तेरा धर्म जैन है। तेरा राग जैन है, तेरा राग धर्म है। जबकि इस परिग्रह में भी मैं नहीं पड़ना चाहता। मैं तो स्वभावलीन हूँ। यह है अध्यात्म विद्या। ज्ञानी! छह द्रव्यों की चर्चा परिग्रह है। समयसार की चर्चा भी परिग्रह है। वार्ता भी परिग्रह है। जहाँ–जहाँ विकल्प है, वहाँ–वहाँ सर्वत्र परिग्रह है। निर्विकल्प कहना भी परिग्रह है। मैं ज्ञायकस्वभावी हूँ। जो इन बातों को बाहर से सुनेगा, तो वह टूटने लगेगा। जो अंदर से सुनेगा, तो अपने में जुड़ेगा। अंदर में बैठकर सुनेगा, तो ये कहेगा कि यही सत्य है। अन्य नहीं, अन्यथा नहीं। वस्तुधर्म यही है। इसलिये सकलप्रत्यक्ष ही केवलज्ञान है। शुद्धोपयोग की दषा जो उभर रही है, वो मति–श्रुतज्ञान के माध्यम से ही

बनती है। मति–श्रुतज्ञान जो है, वह इंद्रिय और मनसहित होता है, यह परोक्ष है। शुद्धोपयोग आत्मप्रत्यक्ष है, स्वानुभवगम्य है। ये आत्मा से भिन्न नहीं है। पर सिद्धान्त–अपेक्षा से परोक्ष है, व्यवहार से प्रत्यक्ष है। इस प्रत्यक्ष का नाम सांव्यवहारिक–प्रत्यक्ष है। आपने देखा कि यह पेन है। पेन आप प्रत्यक्ष देख रहे हो कि परोक्ष?

आचार्यभगवन् अकलंकदेव ने राग की सहायता से होने वाले प्रत्यक्ष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है। पद्मप्रभमलधारिदेव ने व्यवहार–प्रत्यक्ष कहा है। व्यवहार से प्रत्यक्ष है, पर श्रद्धान से परोक्ष है। सहजज्ञान ही मोक्ष का कारण है, अन्य ज्ञान मोक्ष का कारण नहीं है। केवलज्ञान स्वभावज्ञान है और स्वानुभूति, यह सहजज्ञान है। उसमें निष्ठा/श्रद्धान नहीं है, तो ज्ञान कार्यकारी नहीं है। कोई भी काम करो, तुम निष्ठा से करो। आप मुनिराज भी बने हो, तो निष्ठा से बनो। गृहस्थधर्म का पालन कर रहे, तो निष्ठा से करो। अपने कर्त्तव्य का पालन निष्ठा से करो, विश्वास के साथ, पूर्ण–प्रतीति के साथ। उसमें छलकपट न हो । हमने कोई व्रत लिया है, वह व्रत हमें गुरु महाराज ने दिया है। इस व्रत का पालन आप कैसे कर रहे हो? अपने ईमान की परीक्षा स्वयं करो। निष्ठा क्या है? छलकपट तो नहीं चल रहा है साथ में? आपने समूह के बीच व्रत लिया है, तो आप व्रती तो कहलाओगे। उसे मैं व्रती मानता हूँ लेकिन जो अपने–आपको व्रती मानता है, अपने–आपको जो निष्ठा से व्रती कहे, उसी का नाम व्रती है।

भैया! देह के त्यागी, देह के व्रती लाखों मिल सकते हैं, पर परिणामों के व्रती दुर्लभ हैं। अपने भावों को दुनियां से मत पूछो कि मैं क्या हूँ? स्वयं विचार करो। 'मूलाचार' जी में आचार्यभगवन् ने लिखा है– जो भावों से व्रती है, वही व्रती है । इसका तात्पर्य आप गलत मत लगा लेना, कि मैं तो भावों से व्रती हूँ, फिर क्रिया में कुछ भी नहीं है। यह अर्थ नहीं है। जो भाव से व्रत होगा, वह शरीर से नियम से व्रत होगा ही। जिसके शरीर में व्रत नहीं झलक रहा, उसके भावों में क्या व्रत होगा? भैया! मनहस्ती को पकड़कर रखलो, तो तू व्रती हो जायेगा। मनहस्ती जिसके वश में नहीं, वह व्रती नहीं है। माया, मिथ्या, निदान ये तीन शल्य जिनके निकल चुके हैं, वो ही व्रती है। जिसके माया चल रही है, भोगों की आकांक्षा चल रही हो, मिथ्यात्व का पोषण चल रहा हो, उसे वीतरागवाणी में 'व्रती' संज्ञा नहीं दी है।

भैया! डॉक्टर कैसे बन गये? आपने दूसरे के शरीर की शल्यक्रिया की । मनुष्य के शरीर को आपने समझ लिया है। बस, ऐसे ही निज के भावों से निज की शल्यक्रिया करके समझो, कि हमारे अन्दर कौनसे भाव कहाँ लग रहे हैं। कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। श्रुत अपने पास मौजूद है। अभी भी आप अपने परिणामों को माप सकते हो। जितनी

एकाग्रता से शल्यक्रिया देखते हो, उतनी ही एकाग्रता से निज की शल्यक्रिया देखो। क्षपणासार, लब्धिसार इन ग्रन्थों में देखो कैसे–कैसे परिणाम तेरे हो रहे हैं, करणानुयोग का अर्थ है परिणामों की माप। माँ जिनवाणी कहती है कि वही चरण 'चरण' है, जिससे करण में निर्मलता है। करण को सुधारने के लिये चरण होता है। जिस चरण से करण ही खण्ड होने लग जाए, वह चरण 'चरण' नहीं है। चरण यानि आचरण और करण यानि परिणाम। चरण तो करण की निर्मलता के लिये है। चरण की निर्मलता के बिना करण में निर्मलता नहीं है और करण की निर्मलता के बिना चरण में निर्मलता नहीं है। यह भी ध्यान रखना, नहीं तो आप घर में बैठकर भरतेश बनने लग जाओ। उस जीव को भी करण सुधारने के लिये चरण स्वीकार करना पड़ा।

भो ज्ञानी! चैतन्य की शक्ति स्वरूप से सदा अपने निज में अन्तरमुखी होकरके, स्वरूप में अविचल हस्तिरूप चलायमान नहीं होना। ऐसी जगह परमचारित्र के द्वारा निश्चल/अविचल यानी निश्चल। सुमेरू चलायमान हो जाए, पर जिसका मेरू चलायमान नहीं हो। जिसका चारित्ररूपी मेरू अचल है, ऐसे ही अचल–आत्मा है। निश्चल–आत्मा ही निष्कर्म–आत्मा बनती है। ध्रुवत्व की ओर दृष्टिपात करो। भैया! अध्रुव में जी रहे हो। ध्रुवत्व से स्वरूप है। शब्दों में पूरा आगम टिका हुआ है। शब्दों में बड़ा आनन्द है अर्थात् शब्दों के भावों में आनन्द है। इसलिये आगम की प्राप्ति शब्दागम से ही होती है, परन्तु शब्दागम भावागम नहीं है। शब्दागम चल रहा है, यह भावागम नहीं है। जो परिणति चल रही है, उसका नाम भावागम है।

भो ज्ञानी! जो सदा अपने में ही निहित परम चैतन्यरूप श्रद्धान से सन्निहित है। मुक्तिसुंदरी का नाथ है, कौन? यह वीतरागी–आत्मा। मुक्तिसुंदरी का नाथ बनना है, तो पहले चारित्र के साथ हो जाओ, फिर तुम मुक्तिसुंदरी के नाथ बन जाओगे। इस धुरन्धर शीलधारी आत्मा की अनुभूति तो देखो। जगह–जगह सुंदरी की चर्चा कर रहा है जीव। परन्तु सुरासुंदरी में नहीं, निजसुंदरी की दृष्टि पर ध्यान रखना।

ज्ञानी! अब संसाररूपी बेल के मूल को हसियों के द्वारा नष्ट कर दो। जबतक संसार–बल्लरी की बेल नहीं टूटेगी, तबतक भो ज्ञानी! बेल टूट जायेगी, फिर ऊग जायेगी। जड़ से उखाड़ना पड़ेगा। इस संसार–बल्लरी की बेल का मूल क्या है? राग, द्वेष और मोह । यह संसार की बेल की मूल जड़ है और जबतक यह रहेगा, तबतक मुक्तिश्री का वरण संभव नहीं है।

भो ज्ञानी! धर्म का राग भी धर्म से दूर रखे है। क्या अद्भुत शून्यता है? अब कहीं नहीं जाना होगा, कहीं नहीं खोजना होगा। किसी भी लिंग में, किसी भी पर्याय में, किसी भी भेष में ख्याति/पूजा तो प्राप्त की जा सकती है, लेकिन स्वात्मा की अनुभूति तो केवल दिगम्बरभेष में होती है। इस भेष की कीमत मत आँको। प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति के समान तुझे कितने लोग जानते हैं। राष्ट्रीय–पशु, राष्ट्रीय– पक्षी की भी ख्याति होती है। उसको छोड़िये, जड़वस्तु की भी ख्याति होती है। हिमालय–पर्वत, गिरनार–पर्वत, सम्मेदशिखर इनसे ज्यादा तुम्हारी ख्याति है क्या? एवरेस्ट की चोटी, उससे ज्यादा तुम्हारी चोटी है क्या? इसलिये ये मत सोचना, कि विदिशा में मेरा नाम है, मध्यप्रदेश में मेरा नाम है, भारत में मेरा नाम है, कुछ नहीं है। ये श्रद्धा बनाइये पक्की, कि निर्ग्रन्थ बनने की भावना है। पर ध्यान रखना, ये भेष मात्र आत्मख्याति के लिये होता है। शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं। एक आत्मख्याति पुद्गल की ख्याति होती है। किसी भी पर्याय में यश आदि प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु भो ज्ञानी! आत्मा में वीतराग–अनुभूति के लिये मात्र एक दिगम्बर भेष है, इसका उपयोग इसी में होना चाहिये। यदि इसका उपयोग इसमें नहीं हो रहा है, तो कारण–कार्यविपर्यास है।

ये पेन आपने मुझे दिया। मेरा नहीं है, समाज का है। मैं उपयोग कर रहा हूँ, इसलिए मेरा है। विजातीय उपचरित सद्भूत नय की अपेक्षा से पेन मेरा है। ये पेन समाज ने मुझको लिखने को दिया है। इस पेन को आपने कान खुजाने के लिये नहीं दिया है। यदि इस पेन से कान खुजाते हैं, तो कारण–कार्यविपर्यास है। क्योंकि इस ज्ञान के उपकरण को तुमने मल निकालने में उपयोग किया है, तो तीव्र ज्ञानावरणी कर्म का बंध होगा। ये टेबिलें जिनवाणी विराजमान करने को रखी हुई हैं और आपने बैठना शुरू कर दिया, लांघना शुरू कर दिया, तो कारण–कार्य विपर्यास है। जिस कार्य के लिये जो कारण था, उसके लिये उसका उपयोग होना चाहिये, अन्य के लिये नहीं होना चाहिये। दिगम्बरमुद्रा स्वात्मानुभूति के लिये, आत्मकल्याण के लिये होती है। ये मुद्रा दूसरे काम के लिये नहीं होती है। इसका उपयोग अन्य काम करने के लिये करके इसका दुरुपयोग कर रहे हैं। ये कारण कार्यविपर्यास है। मानो या न मानो, पर सत्य यही है।

भो ज्ञानी! मेरा सोच तो यह है, कि प्रत्येक यति को अध्यात्मविद्या का स्वाध्याय तो करते रहना चाहिये। आप भी करो चरणानुयोग के साथ। जिसने चरणानुयोग को समझ लिया है, करणानुयोग को समझ लिया है, प्रथमानुयोग को समझ लिया है, अब

द्रव्यानुयोग को भी समझो। लेकिन सीधे समझोगे, तो तुम न ये करोगे, न वो करोगे और ये छोड़ दोगे। तुम्हारा परिणाम यह होगा, जैसे पंडित बनारसीदास जी ने लिखा है कि वे कमरे में बंद होकर, कपड़े उतारकर नंगे होते थे। उनने सोचा कि मुनि महाराज कैसे होते होंगे? सो कपड़े उतारकर बैठ गये। अब पूछो–क्या अनुभूति हुई? यथार्थ मैं आपको बताये देता हूँ। दीक्षा के दो वर्ष पहले आचार्यश्री ने कह दिया, कि आप जरा अभ्यास करो। हमने कह दिया– ठीक है। सो लंगोटी उतारकर बैठ गये। जैसे ही श्रावक दिखे, सो तुरन्त उठाकर पहन ली। क्योंकि लंगोटी उतारकर बैठते जरूर थे, पर नंगापन दिखता था, इसलिये अनुभूति नहीं होती थी क्योंकि श्रद्धा में यह बैठा था कि मैं मुनि बनने का अभ्यास कर रहा हूँ, न कि मुनि में श्रद्धा बसी थी। फिर बोला कि जंगल में उतार दो लंगोटी, हाथ में ले ली। बोले–चलो। अब चल रहे हैं, विहार कर रहे हैं, लेकिन फिर भी। अब देखना। हाथ में नहीं, बाहर पड़ी थी, सामायिक कर रहे थे, इतने में श्रावक यात्री आ गये। बोले– इनकी तो मुनिदीक्षा हो गई। जैसे ही वो गये, हम धीरे से लंगोटी उठा लाये। अब बताओ कि ये दशा अंदर की दशा थी, कि बाहर की दशा है? लंगोटी नहीं थी, क्योंकि उस लंगोटी में भी राग था और कषाय भी अपना काम कर रही थी। इसलिये जब तक कषाय का मंद उदय नहीं होगा और जिस गुणस्थान का जो क्षयोपशम नहीं होगा, तबतक भो ज्ञानी! गुणस्थान नहीं बनेगा।

करणानुयोग ने जो कह दिया, कोई अनुयोग टालने वाला नहीं है, किसी की ताकत नहीं है। इससे जो घटित है, उसका नाम मुनि है। उसका नाम साधु, उसका नाम श्रावक, सब इसीसे घटित होंगे। हमको 28 मूलगुण देखने हैं। देखलो 28 मूलगुण। अभव्यजीव ऐसे पालन करके दिखायेगा कि कोई क्या करेगा? इसलिये चरणानुयोग को देखकर तुम कितनी पहचान कर सकते हो? लेकिन करणानुयोग कहेगा कि मेरी पहचान पक्की है और द्रव्यानुयोग कोई पहचान का विषय नहीं है।

भो ज्ञानी! हम पर्याय देख रहे हैं और पर्याय को पूज रहे हैं। तुम्हारे पास द्रव्य की दृष्टि तो है ही नहीं और खोजोगे भी तो, जो करण–परिणाम हैं, कर्म– प्रकृतियाँ हैं, वो किसका विषय है? अवधिज्ञानी, केवलज्ञानी का। कोई कहे कि ये भैया मिथ्यादृष्टि है। महाराज! आपने कैसे कह दिया? आप अवधिज्ञानी हैं क्या? केवलज्ञानी हैं क्या? श्रुतज्ञान का विषय यह है कि जो देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धान करता है, वह सम्यग्दृष्टि है। जिसने चार प्रकृतियों का क्षयोपशम किया है, वह सम्यग्दृष्टि है। इसलिये कभी किसी जीव को ये

मत कह देना, कि ये ऐसा और वो वैसा। क्योंकि हम अपने–आपमें अनधिकृत चेष्टा नहीं कर पायेंगे। द्रव्य में जो क्रिया दिख रही है और साक्षात जो कुदेवों की पूजा कर रहा है, ये तो सब कोई जानता है, कि तुम क्या हो। करणानुयोग से हमारे ज्ञान का विषय नहीं, लेकिन शिथिलाचार भी हमारे ज्ञान का विषय नहीं है। बाहर का शिथिलाचार तो ज्ञान का विषय बन जायेगा, पर अन्दर का शिथिलाचार किसका है? वो तुम्हारे ज्ञान का विषय नहीं है। वह मनःपर्ययज्ञानी जाने कि उनके मन में क्या है? इसलिये कहा था कि मनःपर्ययज्ञानी होते, तो एक की भी मायाचारी न चलती । तुम क्या चाह रहे हो, क्या कर रहे हो, सब झलक रहा होता।

भो ज्ञानी! हम स्वयं क्या हैं, जान रहे हो, तो आप विचार लेना कि क्या ठीक है, क्या ठीक नहीं है।

इति निगदितभेदज्ञानमासाद्य भव्यः, परिहरतु समस्तं घोरसंसारमूलम्।
सुकृतमसुकृतं वा दुःखमुच्चैः सुखं वा, तत उपरि समग्रं शाश्वतं शं प्रयाति।।कलश 18।।

जिसजीव ने भेदविज्ञान के माध्यम से पुद्गल के धर्म और जीव के धर्म को अच्छी तरह से जान लिया है, वही जीव ज्ञानी है। वह भव्यजीव घोर–संसार के मूलकारण पुण्य या पाप अथवा सुख और दुःख को छोड़कर, परिपूर्ण शाष्वत–सुख को प्राप्त कर सकता है।

भो ज्ञानी! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ग्रंथराज नियमसार में जीव के लक्षण का कथन करते हुए कह रहे हैं कि उपयोग ही जीव की पहचान है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण ये पुद्गल के धर्म हैं। जिस जीव ने भेदज्ञान के माध्यम से पुद्गल के धर्म को और जीव के धर्म को अच्छी तरह से जान लिया है, वही जीव ज्ञानी है। वही सम्पूर्ण दुःखों से मुक्त हो सकता है। जिसने देह के धर्म को जीव का धर्म मान लिया है, वह जीव तीनकाल में भी विदेह–अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता है। इस बात का यहाँ पुनः संकेत कर रहे हैं कि हे योगी! जब देह के परिग्रह में लिप्त आत्मा शुद्धोपयोग में नहीं जा सकती है, तो वही परिग्रह–लिप्त आत्मा शुद्धोपयोग में कैसे प्रवेश करेगी? देह–परिग्रह में यानि नग्न होने के अनन्तर भी देह–परिग्रह में राग है, तो भी शुद्धोपयोग की दशा नहीं है फिर जो अत्यन्त भिन्न परद्रव्य है, उसमें जिसको राग है, उसको शुद्धता की प्राप्ति कैसे?

इसी बात को पद्मप्रभमलधारिदेव कलशों में कह रहे हैं–कि हे योगी! अब उस शरीर परिग्रह का भी त्याग कर दो, देह को भी छोड़ दो। अपने देश में एक **'घट–चटक–मोक्ष':** नामक मिथ्यामत भी हुआ है। घड़े में चिड़िया को बन्द कर दिया,

घड़े को फोड़ दिया, चिड़िया उड़ गई और कहा–चिड़िया को मोक्ष हो गया। अहो! यह जीवरूपी चिड़िया इस देह–घट में विद्यमान है, इसको फोड़ दो, तो तेरा मोक्ष हो जायेगा।

ऐसे लोभी जीव भी संसार में हुये हैं, जिन्होंने सिद्धान्त बना लिये हैं। एक को पहले वस्त्र–आभूषण से सुसज्जित किया, बाद में कहा कि आज तुम्हारा मोक्ष है। अच्छा भोजन कराने के पश्चात लाठी उठाकर सिर में मार दी, वह मर गया। जितना धन था, वह घर में रख लिया और कहा कि उसका मोक्ष हो गया। उसको मोक्ष हुआ हो या न हुआ हो, परन्तु इसका दरिद्रता से मोक्ष जरूर हो गया। यानि ऐसे जीव भी हुये हैं, जिन्होंने जीवघात को ही मोक्ष मान लिया। शरीर को छोड़ने का तात्पर्य शरीर को नष्ट कर देना नहीं है। शरीर छोड़ने से तात्पर्य शरीर के ममत्व को छोड़ दो, शरीर के श्रृंगार को छोड़ दो, शरीर के संस्कार को छोड़ दो। ज्ञानी! शरीर छोड़ने का तात्पर्य यह नहीं है कि असमय में सल्लेखना लेकर बैठ जाओ। जिनवाणी कभी उनको सल्लेखना की आज्ञा नहीं देगी। ऐसा नहीं कि सिर में दर्द हुआ, शरीर में कोई बाधा आ गई, तो हमें सल्लेखना दे दो। भो ज्ञानी! लगता है कि तू उपसर्ग से भयभीत है। इसलिये जीवन में ध्यान रखना, समाधि की भावना तो भाना। पर मेरी समाधि आज हो जाये, ये कभी मत सोचना। मृत्यु की भावना भी नहीं होना चाहिये और जीने की भावना भी नहीं होना चाहिये। जब भी मेरी मृत्यु हो, सल्लेखना के सहित हो। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है– कोई हँसी खेल नहीं है सल्लेखना समाधि, कि जब जिसको चाहो दे दो।

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतिकारे।
धर्माय तनु–विमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः।।र.क.श्रा.122।।

आर्यपुरुषों को समाधि लेने कब कहा? जब कोई घोर उपसर्ग आ जाये कि बचना असंभव हो, उस समय सल्लेखना ले लेना चाहिये। धर्म की रक्षा के लिये, अकाल/दुर्भिक्ष में, जब श्रावकों को ही खाने के लिये नहीं है, तब तुम्हारी चर्या कौन करायेगा? इसलिये आप तब समता–भावों से प्राणों का विसर्जन करें। सोचो, संयम के लिये जी रहे हैं और उस जीने में संयम छूट जाये, तो उस जीने का क्या प्रयोजन? मुमुक्षु! संयम के लिये जीवन धारण किया है, परन्तु जीवन चलाने के लिये संयम धारण नहीं किया है। आप यदि साधना करना चाहते हैं, तो क्षेत्र का त्याग कर दें। संपूर्ण क्षेत्र में ही दुर्भिक्ष हो, तो सल्लेखना धारण कर लें। उत्तर– भारत में बारहवर्ष का अकाल पड़ा था। उससमय भद्रबाहु सहित चौबीसहजार साधु थे, कहीं बारह हजार का विवरण मिलता है। बारहहजार साधु भद्रबाहु आचार्य के साथ उत्तर–भारत से दक्षिण की ओर चले गये।

ज्ञानी! जीवन में हमेशा ध्यान रखना, योगी सबकी बात को सुने, सहजता से समझे, मनोयोग से स्वीकार करे, लेकिन गृहस्थ की प्रत्येक बात न माने। क्योंकि असंयमी असंयमभाव से देखता है, उसे वही प्राणप्रिय है। संयमी को संयम प्रिय है। जब 12 वर्ष का अकाल पड़ा। श्रावकों को मालूम हुआ कि पूरे संघ को विहार का आदेश है। भद्रबाहु, स्थूलभद्राचार्य, जिनचन्द्र आदि बड़े–बड़े आचार्य थे। उस समय वे सब दिगम्बर–आचार्य थे। चंद्रगुप्त राजा ने भी भद्रबाहु स्वामी से दिगम्बरी दीक्षा ली थी वो भद्रबाहु स्वामी का शिष्य था।

मनीषियो! ध्यान देना, जिस समय आचार्य महाराज ने आदेश दिया, श्रावक सामने आ गये। प्रभु! सभी यति चले जायेंगे, तो हमारे श्रावकधर्म का क्या होगा? प्रभु! 12 वर्ष क्या, 24 वर्ष का भी अकाल पड़े, हमारे यहाँ तो अनाज भरा पड़ा है। भद्रबाहु स्वामी ने कहा–नहीं। जिन मुनियों ने गुरु आज्ञा को नहीं टाला, सो उनके कारण आज दिगम्बर जिनशासन जीवन्त है। पर कुछ मुनि जो श्रावकों की बातों में आ गये, उसका परिणाम क्या हुआ? जब अकाल की तीव्रता बढ़ी, तो जो साधु आहार करके आते थे, एक दिन घटना घट गई। आहार करके लौटते साधु के पेट को फाड़कर लोगों ने भोजन निकाल लिया। श्रावकों ने कहा, कि आप दिन में न जाकर, रात्रि में जायें। तो साधु रात्रि में जाने लगे, परन्तु वेष दिगम्बर ही था। पर बर्तन आ गया था हाथ में। रात्रि में श्वान आदि परेशान करने लगे, तो डंडा हाथ में आ गया था। एक बार कोई साधु रात्रि में चर्या को गये, घर में अकेली गर्भवती स्त्री थी, वो नग्न साधु को देखकर डर गई, उसका गर्भपात हो गया। पुनः श्रावक पहुँच गये–महाराज! समय ठीक नहीं है, आप एक चोला धारण कर लिया करें। सो चोला आ गया, एक लाठी आ गई, बर्तन आ गया, वस्त्र आ गया यह अवस्था हुई। गुरु ने दक्षिण विहार का आदेश दिया था, गुरु आज्ञा नहीं मानी, उसका परिणाम यह हुआ।

मनीषियो! इतना ध्यान रखना, समाज साधु का नेत्र नहीं है, परम्परायें साधु का नेत्र नहीं है, आम्नायें साधु का नेत्र नहीं है। **''आगमचक्खू साहू''** साधु का नेत्र आगम है। जो आम्नाओं, परम्पराओं से परे निर्विकार विचरण करता है, वही साधु है।

आगमचक्खू साहू, इंदिय चक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवाय ओहिचक्खू, सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू।।प्र.सार 234।।

देवों का नेत्र अवधिज्ञान, संसार के सामान्य जीवों का नेत्र चक्षुइंद्रिय, सिद्धों का नेत्र सर्वांग और साधु का नेत्र आगम है। आप पंचमकाल में, खोटे काल में जन्मे हो और फिर

खोटे लोगों की बातों में आ गये, तो ध्यान रखना कि जिस खोट को निकालने के लिये साधु बने हो, वह खोट निकल नहीं पायेगी। रागी–द्वेषी जीव तो यही सोचता है कि महाराज हमारे मन का कह दें। परन्तु किसी के मन का मत कहना। जो जिनदेव ने कहा है, वो कहना। आपको स्वीकार हो या न हो, इससे कोई प्रयोजन नहीं है।

ज्ञानी! अत्यन्त वृद्ध–अवस्था आ गई हो, समितियों का पालन ही नहीं हो रहा हो, संयम का पालन न हो, शरीर जीर्ण हो गया हो, उस समय सल्लेखना धारण कर सकते हैं। कोई ऐसा रोग हो गया हो, जिसका प्रतिकार न किया जा सके, तो समाधि ले लो। जिन्होंने यह सूत्र लिखा है उनको स्वयं भस्मक रोग हो गया था। गुरु महाराज के चरणों में गये थे समंतभद्रस्वामी, प्रभु! सल्लेखना दे दो। अहो! धन्य हो उस गुरु के लिये, जिनने ऊपर से नीचे तक देखा और कहा–इनके द्वारा तो जिनशासन की ध्वजा फहरनेवाली है। बेटा! समाधि नहीं, तुम भेष परिवर्तन कर लो। भेष परिवर्तन करने के बाद शरीर निरोग कर लिया। वही समन्तभद्र स्वामी यहाँ भेलसा में डंका पीटने आये थे। विदिशा से फिर बनारस गये थे, वहाँ जाकर शास्त्रार्थ किया था। उस समय उनका भेष वही था, जो बदला था। एक प्रसंग पर कुदेव–प्रतिमा को नमस्कार नहीं किया था और कह दिया था कि यह मेरे नमस्कार को झेल नहीं पायेगी। अतः सांकलों से बन्धवा दिया और बैठकर स्वयंभू–स्तोत्र का पाठ प्रारंभ किया। जैसे ही आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभु को नमस्कार किया–

चन्द्रप्रभं चन्द्र–मरीचि–गौरं, चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम्।
वन्देऽभिवंद्यं महतामृषीन्द्रं,जिनं जित–स्वान्त–कषायबन्धम्।।स्व.स्तो. 36।।

'प्रभु! मुझे मिथ्यात्व न आ जाये, मेरा सम्यक्त्व न चला जाये। मैं आपको नमस्कार कर रहा हूँ।' पिण्डी फट गई और चन्द्रप्रभ भगवान् का बिम्ब प्रकट हो गया, ऐसी श्रद्धा थी। उन्होंने लिखा है कि जिस रोग का प्रतिकार न हो, तो समाधि ले लेना चाहिये। धर्म की रक्षा के लिये तन का विमोचन किया, न कि मरण किया। घर में कोई झगड़ा हुआ, बोले–अब तो हम समाधि ले रहे हैं। यह आत्मघात है, समाधि नहीं है। समाधि का अर्थ है शरीर और कषाय को कृश करना। इसी का नाम सल्लेखना है। नहीं तो हर व्यक्ति सल्लेखना ले ले और बोले–कि हमने तो धर्म के लिये प्राण छोड़ दिये हैं। ऐसा नहीं है। अन्यथा सतीप्रथा और सल्लेखना में कोई अंतर नहीं होगा। इसलिये कषाय के अभाव में सल्लेखना होती है। सकषाय जीव की सल्लेखना नहीं होती है।

परिग्रहाग्रहं मुक्त्वा कृत्वोपेक्षां च विग्रहे।
निर्व्यग्रप्रायचिन्मात्रविग्रहं भावयेद् बुधः।। कलश 19।।

टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव उस योगी की कथा का कथन कर रहे हैं, जिसने अंतरंग–बहिरंग 24 प्रकार के परिग्रह का त्याग कर दिया है। शरीरमात्र परिग्रह जिनके पास है, उससे भी उपेक्षा कर रहे हैं। जितना परद्रव्य है, सब परिग्रह है। निष्परिग्रही कोई है, तो सिद्धभगवान् हैं क्योंकि ये आठकर्म भी मेरा निजद्रव्य नहीं है। ये आठकर्म आत्मा में लगे हुए हैं, ये परद्रव्य हैं। कितना गंभीर विचार है। यहाँ कह रहे हैं कि मेरे कर्म नष्ट हों और तुम कर्म को माँगने जाते हो, कि भगवन्! मेरे किसीप्रकार का असाता का उदय न आये यानी कि साता खूब आये। क्या माँगने गये थे? देखो, अध्यात्म की दृष्टि पर पहुँचना बहुत कठिन है। मैं कहता हूँ, भगवन्! कभी साता का उदय भी न आये। जब साता का उदय नहीं आयेगा, तो मैं नियम से सिद्ध बनके रहूँगा। तेरहवें गुणस्थान में असाता रोक कर नहीं रखती है, साता ही रखती है। शुभआयु, शुभनाम, शुभगोत्र ये सातावेदनीय कर्म हैं।

हर व्यक्ति की दृष्टि होती है कि चलो, भगवान् के चरणों में कोई विधान करा दो जिससे घर में साता हो जाये। साता के चक्कर में घर नहीं छूट रहा है। भगवन्! मेरा यश फैल जाय। यानी जिनके पास कर्म नहीं हैं, उनके चरणों में तुम कर्म माँगने आते हो। मुमुक्षु जीव न साता माँगता है, न असाता माँगता है। वह तो मात्र पुरुषार्थ करता है। मोक्ष भी नहीं माँगता है, क्योंकि माँगने से वो भी नहीं मिलेगा। वो तो तेरे पुरुषार्थ से मिलेगा। इसलिये निदान क्यों? पुरुषार्थ करो, निदान मत करो। लेकिन भक्ति के आवेश में प्रशस्त निदान हो सकता है।

अतः उस योगी की दशा को देखना, जो परिग्रह को छोड़ चुका है और देह–परिग्रह में भी उपेक्षादृष्टि ही है। एकमात्र चैतन्य से जिसका आग्रह है। चैतन्य–मात्र से ही ममत्व है। शून्यशांत जंगल में योगी कुछ भी नहीं करता, निर्लिप्त गगन में बैठा है। सच्चे वीतरागीमुनि सर्प के समान होते हैं। सर्प के अंदर एक बहुत बड़ा गुण होता है। वो निवास तो करता है, पर कभी निवासस्थान नहीं बनाता। वाँमी में रहता जरूर है, पर सर्प कभी वाँमी नहीं बनाता। अपने द्वारा निर्मित भवन में कभी नहीं रहता है। 'धवला' की पहली पुस्तक में आचार्य वीरसेन स्वामी ने कहा है–योगी सर्प के समान होते हैं, गगनतुल्य हैं। लिखा है, आकाश में कितनी ही धूल फेको, लेकिन आकाश निर्लिप्त ही रहता है। ऐसे ही ममत्व की कितनी भी धूल फेको, पर सच्चे योगी उससे निर्लिप्त ही रहते हैं।

मनीषियो! घर में विवाद हो पत्नि से, वो सुनाये गाली और तुम कहो–अहो! द्रव्य कितना पावन है, पवित्र है, जिसने इतना पुरुषार्थ किया कि निगोद से मनुष्य तक आ गया

है। यह द्रव्य और भी पुरुषार्थ कर लेगा, तो सिद्ध बन जायेगा। साधर्म इन्द्र नमस्कार करता है अपनी शची को, चरण छूता है उसका, क्योंकि नियोग है। जिस समय सौधर्म इन्द्र शची को जिनबालक को लिए देखता है, तो कहता है– हे देवी! बालक मुझे दे दो। एक इन्द्र के काल में 40 नील इंद्राणी मोक्ष चली जाती हैं और जब वे इन्द्राणी मनुष्यपर्याय को जाती हैं, उससमय सौधर्म इन्द्र चरण छूता है और कहता है–धिक्कार हो मुझ पापी को, मैं यहीं बैठा रहूँगा और ये यहाँ से जाकर सिद्ध बनने वाला द्रव्य है। सिद्ध द्रव्य को नमस्कार है।

ज्ञानी! विचार करो कि कौन शत्रु है, कौन मित्र है। कोई है ही नहीं। सच्चा मुमुक्षु, तत्त्वज्ञानी तो वही है, जिसके अन्दर इतनी मानने की सामर्थ्य है।

नमः समयसाराय, स्वानुभूत्या चकासते।

चित्स्वभावायभावाय, सर्वभावान्तरच्छिदे।। आत्मख्याति टीका 1।।

समयसारभूत आत्मा चैतन्यप्रकाश है। अपने ही अनुभवनरूप क्रिया से प्रकाश करता है। एक दर्शन मानता है कि कोई ब्रह्म नहीं है, शब्द ही ब्रह्म है। तो शब्दब्रह्म को ही भगवान् मान लिया और पूजा शुरू हो गई। जिनदर्शन के अनुसार शब्द तो पुद्गल की पर्याय है।

सद्दो–बंधो–सुहमो, थूलो संठाण भेद तम छाया।

उज्जोदादवसहिया, पुग्गलदव्वस्य पज्जाया।। वृ.द्र.सं. 16।।

इधर कहते हो कि पुद्गल को छोड़ो , पुद्गल में राग मत करो, लेकिन पुद्गल को ही पकड़कर बैठ गये। भवन का नाम है चैतन्यभवन। ओहो! चैतन्यभवन में कौन प्रवेश कर गया? भो ज्ञानी! ठीक है, शुभनाम रखना चाहिये, लेकिन शुभनाम के पीछे शुभराग नहीं कर बैठना। बच्चों के वही नाम रखना चाहिये, जिसका कोई अर्थ निकलता हो। मालूम, किसी व्यक्ति का अंतिमसमय चल रहा था, आत्मतत्त्व को भूल गया, भगवान् को भूल गया। बेटे का नाम था पारसकुमार। बेटे का नाम याद आ गया पारसकुमार और जब पारसकुमार का नाम याद आया, अरे भगवान् पारसनाथ भी तो हैं। आपने अच्छा नाम लिया, शुभनाम तो लिया।

जिनसेन स्वामी ने नाम लिखने का तरीका बताया है। तीर्थंकर के 1008 नाम हैं, उनमें से कोई प्रशस्त नाम निकालो, जिससे कि आप भगवान् का नाम लेते रहोगे परन्तु उस नाम में भी राग मत कर बैठना। क्योंकि वह भी पुद्गल की पर्याय है। हे योगी! तुझे देह में भी राग नहीं है, फिर नाम में राग कैसा? वो हुंकार ही तो सबकुछ कर रही है। जैसे

ज्वालामुखी फूटते हैं, तो लावा निकलता है। ऐसे इस मनुष्य के अंदर हुंकार फूटता है, तो वहाँ से क्रोध, मान, माया, लोभ के लावा निकलते हैं। अपने में अपनी बात करें और कहीं वीतरागता फूट जाये, तब भो चैतन्य! तुम चैतन्य से चैतन्य को स्फुरायमान कर दो, वो ही तुम्हारा वस्तुस्वरूप है।

शस्ताशस्तसमस्तरागविलयान्मोहस्य निर्मूलनाद्,
द्वेषाम्भः परिपूर्णमानसघटप्रध्वंसनात्पावनम्।
ज्ञानज्योतिरनुत्तमं निरुपधि प्रव्यक्ति नित्योदितं,
भेदज्ञानमहीजसत्फलमिदं वन्द्यं जगन्मङ्गलम्।। कलश 20।।

विश्व में सबसे बड़ी तपस्या है एकान्तवास। आत्मा को यदि उत्कृष्ट बनाना है, तो जब–जब यह चिद्रूप में जायेगी, तब–तब एकान्त होगा। निजरमणी से रमण है, तो एकान्त है। एकान्त में बैठे योगी, ध्यान रखना, जब परिणाम खराब होने लग जायें तो भीड़ में चले जाना चाहिए, फिर वहाँ सत्संग कहा है। जो असत्य में जा रहा है, उसके लिये सत्संग है और सत्य में जा रहा है तो उसके लिये एकान्त है। निज के भावों की रक्षा करने के लिये भीड़ में चले जाना, नहीं तो भाव एकान्त में बिगड़ जायेंगे। यदि एकान्त में परिणाम बिगड़ गये, तो तुम्हारा संयम, केवली जाने क्या होगा? फिर तो तुरंत दौड़ जाना भीड़ की ओर, वहाँ बच जाओगे और जब तुम स्वरूप में जाने लग जाओ, तो फिर भीड़ को छोड़ देना। ये बातें आगम–साधकों से अनुभव की कसौटी पर कस करके समझो। संयम अन्तर्मुहूर्त में धारण हो जाता है, पर संयम का पालन अन्तर्मुहूर्त में नहीं होता है, जीवनपर्यन्त करने पर होता है।

शिखर पर तड़ितचालक लगा है, क्योंकि कोई भरोसा नहीं कि कब गाज गिर जाये। ऐसे ही, भो चैतन्य साधु! संयम पर विषयों की गाज कब गिर जाये, कोई भरोसा नहीं है। इसलिये चारों ओर से उस गाज को झेलने के लिये, अपने चारों ओर तड़ितचालक लगाके चलना । ज्ञान की तड़ितचालक नहीं होगी, तो तुम च्युत हो जाओगे। अन्दर का ज्ञान यानी संयम को जो अपना धर्म मानेगा, वो कभी संयम से च्युत नहीं हो सकता है। जो संयम को स्वीकार किये है, पर धर्म नहीं मान रहा है, कर्तव्य मान रहा है, वो डाँवाडोल हो सकता है। धर्म तो धर्म है, कर्तव्य नहीं है, ध्यान रखना। कर्तव्य का अर्थ होता है–ड्यूटी। जैसे कोई नौकरीवाला है, वो नहीं चाहता है कि मैं जाऊँ, लेकिन जाना पड़ता है बेचारे को, परन्तु धर्म तो धर्म है। जैसे अग्नि का धर्म उष्णता है। ऐसा नहीं कि कभी अग्नि ठंडी

भी होना चाहती है, नहीं होना चाहती। ऐसे ही धर्म अंतरंग की वस्तु है, धर्म बाहर की वस्तु नहीं है। इसे कर्तव्य नहीं, स्वभाव समझो। **''धम्मो वत्थु स्वभावो''** धर्म वस्तु का स्वभाव है। धर्म हमारा स्वभाव है। धर्म की प्राप्ति के लिये षट्कर्तव्य जरूरी हैं।

भो ज्ञानी! निर्द्वन्द्व निर्विकल्प योगी निर्मल आकाश में बैठा आकाश को निहार रहा है। साधक अगर अपने ब्रह्म की रक्षा करना चाहता है, तो या तो नासादृष्टि रखे या जमीन को देखे या फिर आकाश को निहारे क्योंकि जमीन में कोई वासना नहीं है, आकाश में कोई वासना नहीं है। वासना शरीर में है, इनको देखोगे तो परिणाम खराब होंगे। इसलिये साधक को नासादृष्टि, भूमिस्थदृष्टि, उर्ध्वदृष्टि रखना चाहिये। ऐसे योगी, द्वेष के नीर से भरे मानस–घट को, फोड़ देते हैं और तब उसके भीतर वह निरुपाधि यानि उपाधि से रहित, अनुपम ज्ञानज्योति प्रकट होती है। जिसकी ऐसी दृष्टि है, उस जीव के भीतर भेदविज्ञान जन्म लेता है। भो ज्ञानी! उसमें सत्फल प्रकट होंगे–मोक्षफल। ऐसे जगत को मंगल करनेवाली उस पावनदृष्टि को नमस्कार किया है। ऐसी दृष्टि को वंदना हो मेरी।

मोक्षे मोक्षे जयति सहजज्ञानमानन्दतानं निर्व्याबाधं स्फुटितसहजावस्थमन्तर्मुखं च। लीनं स्वस्मिन्सहजविलसच्चिच्चमत्कारमात्रे स्वस्य ज्योतिः प्रतिहततमोवृत्ति नित्याभिरामम्।।कलश 21।।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं–मोक्ष जयवन्त हो। सहजज्ञान–आनन्द से युक्त ऐसा मोक्ष जयवन्त हो, जिसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं है। जो अपने एकमात्र चैतन्य–चमत्कार में विलास को प्राप्त करता है। जो मोह का अंधकार है, वो जड़ दीपकों से नष्ट नहीं होगा। वो ज्ञानदीप पोथियों से नहीं, ग्रन्थों से नहीं, जब तू निर्ग्रन्थ हो जायेगा, तब ज्ञानज्योति प्रकट होगी । निर्ग्रन्थ वे हैं, जिन्होंने मोह की गाँठ को क्षीण कर दिया है। क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती वे मुनिराज निर्ग्रन्थ हैं। ऐसे निर्ग्रन्थ होंगे, तभी चित्–ज्योति प्रकट होगी तेरहवें– गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त के बाद। भो ज्ञानी! वो ही तेरा परम पारिणामिक–स्वभाव है। अभी भावमोक्ष हुआ है। अब कुछ ही क्षणों में चौदहवें–गुणस्थान में जब जायेंगे, तो पांच वर्ण मात्र अ, इ, उ, ऋ, लृ के बाद द्रव्यमोक्ष हो जायेगा। फिर उस जीव के जो त्रैकालिक रहेगा, वो स्वभावभाव है। भव्यत्वभाव का अभाव हो गया, अभव्यत्व भाव का विकल्प समाप्त हो गया। एकमात्र भव्य की कल्पना कबतक? जबतक मोक्ष नहीं हुआ। भव्य किसे कहते हैं? जो मोक्ष जाने की सामर्थ्य रखता है। जिसका मोक्ष हो ही गया, तब फिर भव्य–अभव्य का प्रसंग किस काम का ?

भो ज्ञानी! कभी–कभी आचार्यभगवन् बैठे–बैठे स्वयं के बारे में भी सोचते रहते हैं कि भगवन्! लिखा तो हमने बहुत है, अब अपने–आपके बारे में कुछ तो सोचें। छह काल आते हैं, उनमें उत्तमार्थकाल, सल्लेखनाकाल ये अंतिम काल बचते हैं। शेष चार काल आचार्य छोड़ देते हैं। बस यही सोचते हैं कि मैंने जीवनभर गण का पोषण किया, समाज को दिया, संघ को दिया, लेकिन स्वयं को क्या दिया? फिर वे यतिसंघ को भी छोड़कर परगण में चले जाते हैं। सल्लेखना के लिये अपने संघ को भी छोड़ देते हैं। परगण में जाकर समाधि की साधना करते हैं। क्योंकि निजगण में समाधि ठीक से नहीं हो सकती, शिष्यों में राग आ सकता है अथवा शिष्यों को राग आ सकता है कि हमारे गुरु की समाधि हो जायेगी तो अब क्या होगा? ये राग का अंश आ गया, तो समाधि सल्लेखना भंग हो जायेगी । इसलिये आचार्य परमेष्ठी परगण में चले जाते हैं।

सहजज्ञानसाम्राज्यसर्वस्वं शुद्धचिन्मयम्।
ममात्मानमयं ज्ञात्वा निर्विकल्पो भवाम्यहम्।। कलश 22।।

सहज–स्वाभाविक ज्ञानरूपी साम्राज्य ही जिसका सबकुछ है, ऐसे शुद्ध चैतन्यमय अपनी आत्मा को जानकर मैं विकल्परहित हो जाऊँ फिर यही दृष्टि बनेगी कि न शिष्य है, न गुरु है, न मैं हीन हूँ, न मैं दीन हूँ। मैं तो एकमात्र चिदानन्दरूप हूँ।

भैया! ये दूसरे के जानने से और दूसरे के न–जानने से कल्याण का कोई सम्बन्ध नहीं है। कल्याण का सम्बन्ध स्वयं को जानने से है। इसलिये स्वयं को जानने का विकल्प भी है, तो विकल्प स्वरूप की अपेक्षा से है। परन्तु निर्विकल्पता के लिये विकल्प भी श्रेष्ठ है। पर जब स्वरूप में चले जाओगे, तो वो विकल्प भी छूट जायेगा। इसलिये भो ज्ञानी! अभी तो निर्विकल्पता का विकल्प बना कर चलना परन्तु जिन विकल्पों से विकल्प बढ़ें, उन विकल्पों को छोड़ देना।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **यह दर्शनोपयोग के स्वरूप का कथन है।**

तह दंसणउवओगो, ससहावेदरवियप्पदो दुविहो।
केवलमिं दियरहियं, असहायं तं सहावमिदि भणिदं।।13।।

संस्कृत छाया : **तथा दर्शनोपयोगः स्वस्वभावेतरविकल्पतो द्विविधः।**
केवलमिन्द्रियरहितं असहायं तत् स्वभाव इति भणितः।।13।।

अन्वयार्थ : (तथा) उसीप्रकार (दर्शनोपयोगः) दर्शनोपयोग (स्वस्वभावेतरविकल्पतः) अपने स्वभाव और विभाव के भेद से (द्विविधः) दो प्रकार का है (केवलं) जो केवल (इन्द्रियरहितं) इन्द्रियों से रहित और (असहायं) असहाय है (तत्स्वभावः इति भणितः) वह स्वभाव दर्शनोपयोग कहा गया है।

भो ज्ञानियो! टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव ने दर्शन उपयोग का कथन करते हुए कार्यदर्शन और कारणदर्शन की दृष्टि से कथन किया। सविकल्प ज्ञान होता है, निर्विकल्प दर्शन होता है। साकार ज्ञान होता है, निराकार दर्शन होता है। जैसे हम देख रहे हैं, ऐसे ही आप देख रहे हैं और जिसे जान रहे हैं, देखकरके जाना है, तो दर्शन नहीं, ज्ञान हो गया। जहाँ विकल्प का उद्भव हुआ, वहाँ ज्ञान हो गया। जहाँ निर्विकल्प था, वो दर्शन है। ऐसा दर्शन सामान्यरूप से विश्व के सम्पूर्ण जीवों को होता है। यह दर्शन का कथन जीव की उपयोगात्मक दृष्टि को लेकर कथन है।

मिथ्यादृष्टि जीव भी पेन को पेन जानता है और सम्यग्दृष्टि भी पेन को पेन जानता है। सामान्य पदार्थों को जानना सम्यक्त्व या मिथ्यात्व नहीं है। तत्त्वार्थ पर श्रद्धान नहीं है, वो मिथ्यात्व है। अतत्त्व पर श्रद्धान है, वो मिथ्यात्व है। जिसको तत्त्व पर श्रद्धान है, वो सम्यक्त्व और जिसको अतत्त्व पर श्रद्धान नहीं है, वह सम्यक्त्व। मिथ्यादृष्टि भी भोजन को भोजन कहता है, खाद्य को खाद्य कहता है, इसलिये सामान्य देखने–जानने को सम्यक्त्व या मिथ्यात्व में नहीं लगाना। जो **''तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्''** कहा है, वह सम्यग्दर्शन का विषय है। न कि सबको जानना, सबको देखना सम्यक्त्व है। मिथ्यादृष्टि सब जानता है, लेकिन जो जिनागम में तत्त्वदृष्टि है, उसे नहीं समझता है, श्रद्धान नहीं करता है, परन्तु जानता तो उसको भी है। विश्वास नहीं है, प्रतीति नहीं है, अनुभूति नहीं है, शुभदृष्टि नहीं है, इस अपेक्षा से निश्चित किया है। अन्तर मिथ्यात्व में और सम्यक्त्व में मिलेगा। बात को समझना। ये दर्शनशास्त्र का उपयोग है, ये न्याय

शास्त्र का उपयोग है और ये सिद्धान्तशास्त्र का उपयोग है। दर्शन निर्विकल्प होता है, इतना ही सत्य है। ये निर्विकल्प दर्शन शब्द को पकड़कर, जिन गुणस्थानों पर निर्विकल्प दशा नहीं है उन गुणस्थानों पर लगा लेता है जीव। निर्विकल्प समाधि का ये शब्द नहीं है। जो निर्विकल्प शब्द का यहाँ उपयोग चल रहा है, वो निर्विकल्प समाधिवाला शब्द नहीं है। ये निर्विकल्प इसलिये है कि यहाँ कोई नहीं है। यहाँ तो महासत्ता का ग्रहण है। निर्विकल्प समाधि जो है, वो चारित्र के अविनाभावीभूत है। यहाँ चारित्र से प्रयोजन नहीं है, वहाँ तत्त्वदृष्टि है, इसलिये वो निर्विकल्प मोक्ष का कारण है। यहाँ तत्त्वदृष्टि नहीं है, इसलिये इनका निर्विकल्प मोक्ष का कारण नहीं है। यहाँ पर सामान्यसत्ता का अवलोकन, सामान्य कथन चल रहा है। यहाँ सम्यक्त्व या मिथ्यात्व नहीं लगाना। 'न्यायदीपिका' का विषय 'समयसार' में नहीं लगाना। समयसार को समझने के लिये न्यायदीपिका का जो निर्विकल्प ज्ञान है, वो समयसार वाला नहीं है।

ज्ञान जब पर–प्रकाशी होता है, तो स्वयं को नहीं जानता और पर को पर ही जानता है। ज्ञान जब स्व–पर–प्रकाशी होता है, जैसे दीपक स्वयं को भी प्रकाशित करता है, पर को भी प्रकाशित करता है, ऐसे ही ज्ञान स्वयं को भी प्रकाशित करता है, दूसरों को भी प्रकाश देता है। ज्ञान ये भी जानता है कि मैं भी हूँ और ज्ञान ये भी जानता है कि ये परद्रव्य भी है। जिसमें स्वयं का भी वेदन होता है, पर का भी वेदन होता है, वो स्व पर प्रकाशित है, प्रदीपवत्।

भेदविज्ञान जो है, क्या कहेगा? स्व स्व है, पर पर है । स्व में पर–पना नहीं है। पर में स्वपना नहीं है। ये भेदविज्ञान है। पहले पर को जानेगा, तब भी दर्शन होगा। ये जो दर्शनशास्त्र का उपयोग है, ये मात्र जिनागम में है, अन्य कहीं नहीं मिलेगा। जिस दर्शन की चर्चा यहाँ चल रही है, वो दर्शन जिनागम मात्र में है, अन्य कहीं नहीं है और इसको पकड़ने के लिये आपके पास पदार्थ भी नहीं है। दर्शन का काल अल्प है, न्यून है। ज्ञान की पकड़ में आ गया तो दर्शन बेचारा कहाँ? दूसरी दृष्टि से जो स्व–प्रकाशी है, वो दर्शन है और पर–प्रकाशी है, वह ज्ञान है। जो स्व संवेदी है, वो दर्शन है। जो स्व–पर संवेदी है, वो ज्ञान है।

भो चेतन! जो द्रव्य की त्रैकालिक सत्ता को शुद्ध नहीं मानता, वह अज्ञानी है। जिनागम तो अभव्यजीव की सत्ता को भी शुद्ध मानता है। जब अभव्य के आप सिद्धत्वसत्ता स्वीकार कर रहे हैं, फिर अभव्य किस बात का? अभीतक तो हम कम–से–कम भव्य को कहते हैं, पर महाराज जी तो अभव्य को भी कह रहे हैं। भो ज्ञानी!

जिस पदार्थ का सद्भाव होता है, उसी पर आवरण होता है। जो पदार्थ है ही नहीं, उस पर आवरण किस बात का? इस आत्मा में अनादि से आठ कर्म बंधे हैं। वे आठ कर्म जैसे भव्य के हैं, वैसे ही अभव्य के हैं। यदि आप अभव्य के केवलज्ञान की सत्ता नहीं मानते हो, तो अभव्य के सात कर्म का बन्ध स्वीकार करना पड़ेगा, आठ कर्म का बन्ध नहीं होगा। जब छद्मस्थ है, छद्म यानि ढका है। जब ढका है तो आवरण है। अभव्यजीव के भी आठ कर्मो का ही बन्ध है। उसका केवलज्ञान व केवलदर्शन भी उसके साथ ढका हुआ है, वो सत्ता उसकी मौजूद है, त्रैकालिक है। लेकिन वह अभव्य किस बात से है? क्योंकि उसकी सत्ता कभी प्रकट नहीं होगी, इसलिये अभव्य है।

आप भव्य क्यों हो? क्योंकि आपकी सत्ता नियम से प्रकट होगी, इसलिये आप भव्य हो। जो सम्यक्त्व के योग्य पात्र है, जो मोक्ष जाने की योग्यता रखता है, वो भव्य है। जो मोक्ष जाने की योग्यता नहीं रखता है, जो रत्नत्रय धारण करने की योग्यता नहीं रखता, वो अभव्य है। दुग्ध में घृत की त्रैकालिक सत्ता है, परन्तु दुग्ध घृत नहीं है। यदि दुग्ध को घृत स्वीकार कर लेंगे आप, तो हमें दूध से पूड़ियाँ बनती दिखनी चाहिये, क्योंकि दुग्ध में तो घृत है। दुग्ध घृत नहीं है। तिल में तेल है, परन्तु तिल तेल नहीं है। पाषाण से प्रतिमा बनती है, परन्तु प्रत्येक पाषाण प्रतिमा नहीं है। आत्मा परमात्मशक्ति से सम्पन्न है, परन्तु प्रत्येक आत्मा परमात्मा नहीं है। जो–जो परमात्मा हैं, वे सब आत्मा हैं, लेकिन जो–जो आत्मा हैं, वे सभी परमात्मा नहीं हैं।

भो ज्ञानी। दृष्टान्त तो दृष्टान्त ही होता है। दृष्टान्त दृर्ष्टान्त नहीं होता है। दृष्टान्त तो दृाष्टान्त को समझने के लिये होता है। जिस जीव ने सिंह को नहीं जाना, उसे सिंह का ज्ञान कराना है, तो हम कैसे करायें? जैसा बिल्ली का आकार होता है, ऐसा शेर होता है, लेकिन बिल्ली शेर नहीं है। ज्ञानी! सूत्र का ध्यान रखना। जहाँ पर मुख्य का अभाव होता है, तो वहाँ कार्य की सिद्धि के लिये हमें उपचार से कथन करना पड़ता है। इसीप्रकार से यहाँ भी हमने सिद्ध–भगवान् को कभी देखा नहीं है, कि वे सिद्ध कैसे होते हैं? तो जैसा मेरी आत्मा में टंकोत्कीर्ण–स्वभाव विराजा है, शक्तिरूप परमात्मा विराजा है, वैसा ही सिद्ध–परमात्मा होता है यह मानना होगा।

जैसा सिद्ध–परमेश्वर सिद्धालय में विराजा है, वैसा ही परमेश्वर मेरे देहालय में विराजा हुआ है। जब भी हम परमात्मप्रकाश, द्रव्यसंग्रह, योगसार इन ग्रन्थों का स्वाध्याय करते हैं, तो हम ये कहना चाहते हैं–हे मुमुक्षु! तू जड़–जड़ में ही मत चिपका रह, स्वरूप

को भी जान कि तेरा स्वरूप ये है। वहाँ स्वरूप का ज्ञान कराया गया, परन्तु स्वरूप को वहाँ दिखाया नहीं गया है और तुम शक्तिरूप परमात्मा ही हो।

भो ज्ञानी! जब भी सम्यग्दर्शन होगा, वह अशुद्धआत्मा की अवस्था वाली आत्मा को ही होगा। आप में शक्तिरूप परमात्मा विराजमान है, उसका श्रद्धान करो, लेकिन शक्तिरूप परमात्मा को अभिव्यक्त मत मान बैठना। 'द्रव्यसंग्रह' की गाथा जो कह रही है– शुद्धनय की अपेक्षा से, न कि शुद्ध है। नय 'वस्तु' नहीं है। नय तो वस्तु को समझने की व्यवस्था (कथनशैली) है। नय को नय मानो। नय को न्याय में मत ले जाओ। नय तो नय है। फिर से समझना। जिसवस्तु का मुझे ज्ञान ही नहीं है, उस वस्तु की प्राप्ति कैसे? किसकी प्राप्ति? अध्यात्मशास्त्र कहते हैं–जिसे तुमने आजतक नहीं जाना, नहीं पहचाना, जिसका तुमने आजतक वेदन नहीं किया, जिसकी आपने आज तक चर्चा नहीं की, उस स्वानुभूति को समझो। वैसा सिद्ध तेरे अन्दर विराजा है। कर्मातीत को निहारो। कर्म के विपाक–बंध में भी कर्मातीत को देखो। ये शुद्धदृष्टि है और वो कर्मातीत त्रैकालिक है। ऐसा नहीं है कि कभी हुआ हो, कभी नहीं हुआ हो। सत्ता तो त्रैकालिक रहती है। अंतर इतना रहता है कि अपन सामान्य चर्चा करते हैं, पर विज्ञान की दृष्टि में सूत्र कहा जाता है। परन्तु **'अल्प–बाल–बोधाय'** वार्तिक लिखे जाते हैं। श्री पुष्पदन्त–भूतबलि स्वामी ने 'षट्खंडागम' की रचना कर दी। जब हमारी बुद्धि क्षीण होती गई, तो वीरसेन जैसे आचार्य–भगवन्तों को टीका लिखनी पड़ी । ये कुन्दकुन्द स्वामी के सूत्र हैं, गाथा सूत्र हैं। लेकिन गाथा–सूत्र में जब भटकने लगे, तो अमृतचंद्र स्वामी ने उसकी फिर टीका की। अमृतचंद्र स्वामी की टीका इतनी जटिल हो गई कि उसमें लोग भटकने लगे, तो फिर जयसेन स्वामी ने टीका की। वो टीका पर टीका है। आज तुम्हारे पास इतना समय नहीं है कमाने खाने में, कि व्याकरण संस्कृत में पढ़ पायें। तो हमारे विद्वानों ने, मुनियों–आचार्यों ने, आर्यिकाओं ने संस्कृत से हिन्दी कर दिया। भो ज्ञानी! अब इससे नीचे कुछ नहीं हो सकता है। इसके नीचे भावार्थ आ गया और भावार्थ को सामान्य ले लो। अब सामान्य प्रवचन चलने लगे। तो जिनागम 'प्रवचन' उसे ही कहता है, जिसमें वास्तव में प्रकृष्ट–वचन हों। **''प्रकृष्टं वचनम् इति प्रवचनम्''** जो श्रेष्ठ आप्त के वचन हैं । पूरे एक घंटे में आप्त का शब्द नहीं आया, तो जिनवाणी उसे 'प्रवचन' संज्ञा नहीं दे पायेगी। प्रवचन भाषण नहीं है, प्रवचन तो प्रवचन ही है। इसमें लोकस्थान कोई नहीं है। लोक को जिनवाणी की गद्दी से नहीं समझाना, ये तो तत्त्वज्ञान का स्थान है ।

प्रत्येक का उपादान भिन्न–भिन्न है। पता नहीं कि आपकी–अपनी एक भाषा को कौन किस दृष्टि से देखे। हमारी जिनवाणी में एक शर्त है, कि जिसमें काम, क्रोध, मान, माया, लोभ किसी भी प्रकार से भरे हों, वह जिनवाणी की गद्दी पर बैठने का प्रयास न करे। उसमें आप अनर्थ कर लोगे। भावुकता में, अतिप्रसन्नता में भी ग्रन्थ नहीं पढ़े जाते गंभीर–अवस्था में स्थित हो, तभी सिद्धान्तों का अध्ययन होता है। आपके चेहरे पर सहजता नहीं होगी, तो सुननेवाले तुम्हारा चेहरा पसंद नहीं करेंगे, तुम्हारी बात पसंद नहीं करेंगे।

भो ज्ञानी! अभी एकान्त में लोगों को भ्रम है कि पर्याय ही होती रहती है, द्रव्य में कुछ नहीं हो रहा है। यदि हम पर्याय में सबकुछ मानेंगे, तो परिणाम ये होगा कि जैन–आगम से बाहर हो जायेगा ये जीव। बौद्ध दर्शन कहता है कि आत्मा तो राई के बराबर रखी है यहाँ पर और उसमें संचालन चल रहा पूरा शरीर का। हम सभी तत्त्व को न जानने के कारण अपने हाथ से अपनी सत्ता खो रहे हैं।

भो ज्ञानी! जैसे पद्मराग–मणि को यदि आपने दुग्ध के बर्तन में डाल दिया तो पूरा–का–पूरा वो दुग्ध लाल हो जायेगा और उसीको आपने ग्लास में डाल दिया तो सफेद दिखेगा। जैसे दुग्ध में पद्मराग को डालने से दुग्ध प्रभावित हो जाता है, उसी प्रकार से आत्मा जितने बड़े शरीर में पहुँच जाती है, उस आकार की उतनी बड़ी हो जाती है। वर्तमान में आपकी आत्मा मनुष्य के आकार की है, फिर भी पर्याय 'द्रव्य' नहीं है, द्रव्य की पर्याय है। जैसे दुग्ध में मणि होने पर भी दुग्ध तन्मय हो चुका है, फिर भी तद्रूप नहीं है।

प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है। हल्दी में चूना, चूने में हल्दी, हल्दी का वर्ण कैसा हो गया? हल्दी का पीला, चूने का सफेद, दोनों को मिला दिया, तो लालरंग। ये लाल रंग किसका है? ये तीसरी पर्याय कहाँ से आ गई? पुद्गल का धर्म परमाणु है। चैतन्य का धर्म सिद्ध–परमात्मा है। ये बैठा कौन? मनुष्य है। ये तीसरा कौन है? इसीका नाम संयोगी–अवस्था है। रंग को क्या आप लाल नहीं कहोगे? कितने अंश में है? सर्वांश में लाल है।

अण्णोण्णं पविसंता, दिंता ओगास–मण्ण–मण्णस्य।
मेलंता वि य णिच्चं, सगं सभावं ण विजहन्ति।।पंचास्तिकाय 7।।

एकदूसरे से परस्पर पूर्णरूप में मिले हुए नीर–क्षीर की भांति एकदूसरे को अवकाष भी दे रहे हैं। नित्य मिले होने पर भी अपने–अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं, इस अपेक्षा से मैं त्रैकालिक–आत्मा हूँ, ये त्रैकालिक–द्रव्य है। यह भेदविज्ञान की तत्त्वदृष्टि है। भो ज्ञानी! अन्य आचार्यो ने कई प्रकार से समझाया है। सप्तभंगी का पहला कथन आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने

किया है 'पंचास्तिकाय' में। इसके पहले चार भंग माने जाते थे। पंचशील–सिद्धान्त, जो आप भगवान् महावीरस्वामी के मानते हो, पर दिगम्बर, श्वेताम्बर आम्नाय में थोड़ा अन्तर है। भगवान् पार्श्वनाथ के काल तक चार सिद्धान्त माने जाते थे, ऐसा श्वेताम्बर–शास्त्र और राजवार्तिक–शास्त्र में कुछ अंश तक स्वीकार किया गया। पांच की जगह चार कोई समस्या का विषय नहीं है। समझना, पहला कौन था? अपरिग्रह, सबसे जटिल तो ये ही है क्योंकि व्यक्ति भगवान् तो बनना चाहता है, पर छोड़ने की बात मत कहो। अच्छी वस्तु किसे अच्छी नहीं लगती? कल्पना करना, 'तत्त्वार्थसूत्र' में मोक्षमार्ग का वर्णन करनेवाले 9 अध्याय और मोक्ष का कथन करनेवाले 10 वें अध्याय में मात्र 9 सूत्र हैं क्योंकि विसंवाद मार्गी पर नहीं है, विसंवाद मार्ग पर है। 'राजवार्तिक' में अकलंकदेव ने स्वयं प्रश्न किया कि भगवन्। ये आचार्यों की शैली है, शिष्य हो या न हो, स्वयं शिष्य बनके स्वयं प्रश्न कर रहे, स्वयं समाधान दे रहे।

भो ज्ञानी! कोई लोटा धारण करके मोक्ष जाना चाहता है, कोई लंगोटा धारण करके मोक्ष जाना चाहता है, कोई नंगे होके मोक्ष जाना चाहता है, कोई तिलक लगा करके मोक्ष जाना चाहता है यानि मोक्षमार्ग के इतने विवाद हैं। लेकिन मोक्ष सब जाना चाहते हैं, क्योंकि सबको प्रिय है। पर राजमार्ग एक ही होगा, उसका नाम है **''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।''** विसंवाद मार्गी पर नहीं है, विसंवाद मार्ग पर है।

छत्तीसगढ़ में एक पुस्तक पढ़ने को मिली '' खण्डहरों का वैभव''। इसका संकलन श्वेताम्बर मुनि ने किया है। तीर्थयात्रा करके उन्होंने इसका संकलन किया है। शास्त्रज्ञानी से घुमक्कड़ ज्यादा ज्ञानी होता है, क्योंकि शास्त्रज्ञानी को थ्योरी का ज्ञान होता है और घुमक्कड़ को प्रेक्टिकल ज्ञान होता है। विहार करने में घाट–घाट का पानी पीने को मिलता है और घाट–घाट की वाणी सुनने को मिलती है। फिर देखो कि क्या अनुभूति होती है? कैसे–कैसे लोग अपने अनुभव सुनाते हैं।

भो चेतन! जब तेरा द्रव्य शुद्ध होगा, तो पर्याय नियम से शुद्ध होगी। जब पर्याय शुद्ध होगी, तो द्रव्य–गुण नियम से शुद्ध होगा। चरमशरीर से किंचित् जो न्यून है, वो द्रव्य की शुद्धपर्याय है। शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि से सम्पूर्ण संसारीजीव सिद्ध के समान शुद्ध हैं। मुझे तो 'समयसार' का अध्ययन करने के बाद ऐसा लगता है, प्रत्येक द्रव्य में हर वस्तु झलकती है। पता नहीं कि आप क्यों नहीं समझ पा रहे हो। एक माँ गेहूँ पीसती है, तो पीसते समय उसको क्या–क्या नहीं दिखता है? उसको वो कर्मोपाधि–निरपेक्ष देख रही है। किसी को आटे में रसगुल्ले दिखते हैं, किसी को बाटियाँ दिख रही हैं, किसी को बालूशाही दिख रही है, तो किसी को उसमें रोटियाँ दिख रही हैं। पर ये सब उसके अन्दर है कि नहीं? ऐसे ही मान लो, कि असंसारी ही संसारी है और संसारी ही असंसारी है।

आचार्य शान्तिसागर महाराज के समय की बात है, तो देखो, सग्रन्थ का भी मोक्ष होता है, निर्ग्रन्थ का भी मोक्ष होता है। थोड़ा समझना इस विषय को। जितने निर्ग्रन्थ हैं, वे सभी सग्रन्थ थे। भूतनैगम नय की अपेक्षा से निर्ग्रंथ सग्रन्थ का मोक्ष हुआ, परन्तु वर्तमान–नैगम नय की अपेक्षा से निर्ग्रन्थ का ही मोक्ष होगा। सवेद से मोक्ष होता है। जब भी मोक्षमार्ग का प्रारंभ होगा, तो सवेद से ही होगा पर जब भी मोक्ष होगा, निर्वेद से ही होगा। स्त्रीवेद से भी मोक्ष होता है, पुरुषवेद से भी मोक्ष होगा। नपुंसकवेद से भी मोक्ष है।

भो ज्ञानी! हमारे सिद्धान्त में भाववेद का कथन है। जब भी मोक्ष होगा, अपगत वेद से होगा। तो फिर स्त्री या पुरुष वेद से क्यों कहा? इसलिये कहा कि नवमें गुणस्थान में जो भाव बनेंगे, उन भावों में अंतिम–अवस्था में जिस वेद का क्षय किया जायेगा, उसी वेद के वो सिद्ध कहलायेंगे, परन्तु द्रव्यवेद पुरुषवेद ही होगा।

'भगवती–आराधना' ग्रन्थ में आचार्य शिवकोटि महाराज ने लिखा है–संपूर्ण आगम को जीव जानता है, मानता है। हमारा क्षयोपशम इतना नहीं है, अपन तो देखके बतायेंगे। कभी–कभी देखने के बाद भी समझ में नहीं आता है, ये भी ध्यान रखना। अपेक्षा कुछ लगी हो और अपन कुछ निकाल रहे हैं। ये तो सिद्धान्त है भैया! गणित–जैसे सवाल हैं।

भो चेतन आत्मा! स्वभाव में कोई तर्क नहीं लगता है। जितनी सिद्धि की जाती है, सो असिद्धि की सिद्धि की जाती है। सिद्धि की कभी सिद्धि नहीं की जाती है। जो सिद्ध है, उसकी सिद्धि क्यों? जब भी सिद्धि होती है, असिद्धि की ही सिद्धि होती है। पिसे को नहीं पीसा जाता।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव ने स्वरूप के श्रद्धान मात्र को ही कारणदृष्टि से कारणस्वभाव दर्शनरूप कहा है।

दृग्ज्ञप्तिवृत्यात्मकमेकमेव, चैतन्यसामान्य निजात्मतत्त्वम्।
मुक्तिस्पृहाणामयनं तदुच्चैरेतेन मार्गेण विना न मोक्षः।। कलश 23।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप एक ही चैतन्य सामान्य अपना आत्मतत्त्व है, क्योंकि इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है। इस मार्ग के बिना मोक्ष नहीं है, यह व्यवहार–रत्नत्रय से कथन है परन्तु अभेद–रत्नत्रय में भी इन तीनों की एकाग्ररूप परिणति होती है। वही चैतन्य सामान्य निजात्म–तत्त्व है। उस अद्वैतरूप तत्त्व को प्राप्त किये बिना निर्वाण नहीं हो सकता है।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **इसमें अशुद्ध दर्शनोपयोग की तथा शुद्ध–अशुद्ध पर्याय का कथन है।**

चक्खु अचक्खू ओही, तिण्णि वि भणिदं विभावदिट्ठिति।
पज्जाओ दुवियप्पो, सपरावेक्खो य णिरवेक्खो।।14।।

संस्कृत छाया : **चक्षुरचक्षुखधयस्तिस्त्रोपि भणिता विभावदृष्टय इति।**
पर्यायो द्विविकल्पः स्वपरापेक्षश्च निरपेक्षः।।14।।

अन्वयार्थ : (चक्षुरचक्षुखधयः) चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन (तिस्त्रः अपि) ये तीनों भी (विभावदृष्टयः) विभावदर्शन (इति भणिताः) कहे गये हैं। (स्वपरापेक्षः च निरपेक्षः) स्व–पर की अपेक्षा से सहित स्व परोक्ष और स्व पर की अपेक्षा से रहित–निरपेक्ष (पर्यायः द्विविधः) ऐसी पर्यायें दो प्रकार की हैं।

भो बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने उपयोग का कथन करते हुए बहुत सुन्दर दृष्टि से समझाया कि ज्ञान और दर्शन की धारा श्रद्धानात्मक दृष्टि से समझने की आवश्यकता है क्योंकि यदि जाना है, समझा है, परन्तु रुचि नहीं हो सकती। रुचि के अभाव में परिणति नहीं हो सकती । रुचि है, तो परिणति है। आवश्यकता चारित्र को प्रकट कराने की नहीं है, रुचि को प्रकट कराने की है। रुचि प्रकट है, तो चारित्र की प्रकटता होगी। अतः रुचि कहो, प्रतीति कहो। तो अध्यात्मदृष्टि से कथन करेंगे तो सहानुभूति, आत्मप्रतीति, आत्मानुभूति, आत्मसंवित्ती, स्वसंवेदन, आत्मानुभवन ये सब पर्यायवाची नाम हैं। निश्चयसम्यक्, निश्चयज्ञान, निश्चयचारित्र ये सब युगपत होंगे, एकसाथ ही होंगे। न कालभेद है, न भावभेद है। वह इन सबके पूर्व जो सामान्य आस्था ही रुचि है, वो जबतक नहीं होगी तब तक सरागसम्यक्त्व, सरागसंयम, सरागचारित्र भी नहीं है और उस रुचि का जनक है कषाय की मंदता ।

भो ज्ञानी! गौतमस्वामी को बहुत ज्ञान था और अभीतक अपना ये बहुत बड़ा भ्रम रहा है कि ज्ञान से रुचि बनती है। इस भ्रम को अपन को अलग करना है, क्योंकि रुचि बड़ी है, ज्ञान बड़ा नहीं है। रुचि सम्यक्त्व को प्राप्त होने वाली है। रुचि शब्द का अर्थ सम्यग्दर्शन निकलता है। मान्यता है कि ज्ञान तभी उत्पन्न होता है, जब रुचि है। उसका नाम सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान 'रुचि' नहीं है। वीतरागमार्ग के प्रति, ज्ञान के प्रति रुचि होती, तो तत्त्वरुचि होती है। भो ज्ञानी! तत्त्व का मार्ग जहाँ दिखता है, वहाँ तू तत्त्व की ओर चला जाता है पर ज्ञान के होनेपर भी तत्त्व को नहीं समझ रहा है। ये ज्ञान रुचि का कारण नहीं

बना। ये ज्ञान तेरे अहंकार का कारण बना है। तत्त्वरुचि होती, तो भो ज्ञानी! ऐसे भी जीव संसार में हैं, क्योंकि ये तत्व की ही तो चर्चा चल रही है, यहाँ सब जीव क्यों नहीं बैठते? यदि तत्त्वरुचि होती, तो सब जीवों को बैठना चाहिये था।

ज्ञान 'तत्त्वरुचि' नहीं है। ज्ञान अहम् में ले जाता है पर जो ज्ञान सम्यक्त्व के साथ होता है, वह ज्ञान तत्त्वरुचि को उत्पन्न कराता है। गौतमस्वामी को चारों वेदों का ज्ञान था, अठारह–पुराणों का ज्ञान था, कितना विशाल ज्ञान था, लेकिन कषाय की तीव्रता थी। इन्द्र जब गया और कहा–मैं जानना चाहता हूँ कि मेरे गुरु ने अध्ययन कराते समय सूत्र समझाया था, लेकिन मेरे समझ में नहीं आया। पूछा–कौन–सा सूत्र है? ब्राह्मण वेशधारी सौधर्म इन्द्र कहने लगा–

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं, नवपदसहितं, जीवषट्कायलेश्याः।
पञ्चान्ये चास्तिकाया, व्रतसमितिगतिज्ञानचारित्र भेदाः।।

गौतम सोचने लगा–तीनकाल, छह लेश्या, पंचास्तिकाय आदि, ये सब क्या है? लेकिन ध्यान रखना, ज्ञानी हरसमय श्रेष्ठ होता है। अपनी प्रतिभा से, अज्ञानी गुरु की अपेक्षा से, ज्ञानी–शिष्य श्रेष्ठ होता है। यदि मैं कहता हूँ, कि मेरे से नहीं बनता, तो ये चेला क्या कहेंगे? अतः कहने लगा कि इसका उत्तर आपको क्या दूँ? इसका समाधान तो मैं आपके गुरु को दूँगा। सौधर्म इन्द्र यही तो चाहता था। उसने कहा–आप चलो, आप हमारे गुरु को भी दे सकते हो। महावीर को वो तीर्थंकर नहीं मानते थे।

गौतम के पास तत्त्व के प्रति, कोई रुचि नहीं। उसको ज्ञान का अहम् था, इसलिये भगवान् महावीर को समाधान देने जा रहे थे। तीनलोक के गुरु के पास गुरु बनकर पहुँचे, परन्तु प्रभु के पास गुरु चल नहीं पाते हैं। गुरूर के मरे बिना गुरु मिलता नहीं है। जबतक गुरूर नहीं मरेगा, तबतक गुरु तुम्हें मिलनेवाला नहीं है। जिनको आजतक गुरु नहीं मिले, समझलो कि उनका आजतक गुरूर मरा नहीं है। अन्दर का गुरूर मर जाता, तो भो चेतन! बाहर तुझे गुरु दिखना प्रारंभ हो जाते । जबतक अहंकार का गुरु बैठा है, वह प्रभु में भी प्रभुता नहीं देख पाता है। गौतमस्वामी! जब तुम गौतम थे, स्वामी नहीं थे। जैन–सिद्धान्त कहता है कि जिस व्यक्ति ने यानि आचार्य ने सिद्धान्तग्रन्थों की, 'तत्त्वार्थ–सूत्र' जैसे ग्रन्थ की टीका लिखी, उसके नाम के आगे 'स्वामी' लगा है। जिन्होंने टीकाग्रन्थ लिखे हैं, उनको 'स्वामी' कहते हैं। गमकगुरु, वादिगुरु, ये सब जैन गुरुओं की बातें चल रही हैं। जो मात्र सूत्र–पाठ सुनाते अपने शिष्यों को संघ में। चतुर्विध संघ होता है, संघ में पदों की व्यवस्था होती है। वर्तमान में आप मत झाँकना, मात्र आगम को

समझना। जिस संघ में पाँच पद न हों, माँ जिनवाणी कहती है कि उस संघ में दीक्षा नहीं लेनी चाहिये। आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर आदि ये पांच पद जिनागम में हैं।

साधुओं को जो शिक्षा देने में कुशल हैं, वह आचार्य–परमेष्ठी हैं। वे आठ गुणों से समन्वित हैं, लोकाचार व परलोकाचार के पूर्ण ज्ञाता हैं। व्यवहारिकता से परिपूर्ण हैं। ऐसे आचार्यपरमेष्ठी जो आत्मज्ञ हों, तपस्वी हों, उनके चरणों में जाकर दीक्षा लें। संघ में चारों वेदों के ज्ञाता। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग–ये जैनदर्शन में चार वेद हैं। 'विद्' धातु है, वो ज्ञान के अर्थ में आती है। शब्दागम, तर्कागम, परमागम ये तीनप्रकार का आगम है। शब्दागम यानि व्याकरणशास्त्र, तर्कागम यानि न्यायशास्त्र और परमागम यानि सिद्धान्त अध्यात्म। ये तीन पूरी जिनवाणी है। ऐसे कुशल आचार्य भावसेन हुये हैं, सिद्धान्त के बहुत बड़े ज्ञाता। उनकी उपाधि थी–त्रैवेदाचार्य । उपाध्याय परमेष्ठी, जो वाग्मी हों, वाग्माचार्य कहलाते हैं। वाग्मी यानि शास्त्रार्थ करने में कुशल हों। प्रत्येक मुनि के लिये शास्त्रार्थ करने के अधिकार नहीं हैं। संघ में पांच सात सौ मुनिराज रह रहे हों, सभी को व्यवस्था सौप देंगे, तो संघ का संचालन गड़बड़ा जायेगा। जो स्वमत व परमत के ज्ञाता हों, ऐसे मुनिराज शास्त्रार्थ करेंगे। वाग्मी वादविवाद करेंगे। प्रत्येक तीर्थंकर के काल में और समवसरण में हजारों मुनियों की संख्या होती है। इस प्रकार उपाध्याय परमेष्ठी का काम शिक्षा देना मात्र है और धर्मोपदेश करना है और कोई दूसरा काम नहीं होगा। संघ की व्यवस्था से कोई प्रयोजन नहीं होगा उनका। मात्र दो काम, स्वयं का अध्ययन और अध्यापन। इसलिये उपाध्याय परमेष्ठी को पाठकाचार्य कहा जाता है। ये हमारे पाठक है।

तीसरे होते हैं प्रवर्तक। प्रवर्तकाचार्य जो होते हैं, वे कुछ करेंगे नहीं, वो मात्र यह देखेंगे कि कौन–से मुनिराज क्या कर रहे हैं? संघ में कौन क्या कर रहा है? और वो सब देखदाख कर आचार्यपरमेष्ठी तक सूचना पहुँचायेंगे। कहाँ पर किसको रुकना है, ये व्यवस्था सबको नहीं दी जायेगी। वे ही ध्यान रखेंगे कि किनका स्वास्थ्य गड़बड़ है, कितनों को औषधि आदि की आवश्यकता है। ये सारी–की– सारी व्यवस्था प्रवर्त्तकाचार्य के पास होगी। यहाँ तक कि प्रवचन कहाँ होना है, प्रवचन–मण्डप कैसा हो, वो सारी–की–सारी व्यवस्थायें प्रवर्त्तकाचार्य देखेंगे। कहाँ शुद्धि का स्थान है, इन सबका भी ध्यान रखेंगे। संघ को कहाँ ठहरना है, जहाँ पर स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि का गमनागमन न हो। ये श्रावकों का भी कर्तव्य है, कि रहने का स्थान पूर्ण निर्द्वन्द्व हो। जिस स्थान को किसी ने छोड़ दिया हो, उस स्थान पर रुक सकते है। पाठशाला, धर्मशाला, गुफा आदि में रुक सकते हैं। असमय में विषमलिंगी का प्रवेश न हो। भो ज्ञानी! आप भी ध्यान रखें, कि अपन भक्ति करें, आराधना करें, परन्तु आराधना, भक्ति में इतना ध्यान रखें कि हमारी भक्ति का प्रभाव अप्रभावना न बन जाये।

आप पुरुष हैं, कोई आर्यिका संघ विराजा है, कोई समय का ध्यान नहीं रखते, कभी भी पहुंच जाते हैं। **''यद्यपि शुद्धं, लोकविरुद्धं न करणीयं, न चरणीयं।"** भले आप तो शुद्ध हैं, आपके भाव शुद्ध हैं, लेकिन लोक के विरुद्ध है, आगम के विरुद्ध है। ऐसे ही मुनिसंघ विराजा है तो विषमलिंगी अर्थात् स्त्री/बालिका इनको किसी भी साधुसंघ में असमय में जाने की आवश्यकता नहीं है वह करणीय नहीं है, आचारणीय नहीं है क्योंकि ये सब आगम की व्यवस्था है। इस व्यवस्था से ही तुम्हारा सिद्धान्त बना रहा। आज तक जैनदर्शन जीवन्त है, क्योंकि इसकी संहिता बड़ी निर्मल है। अपवादमार्ग बहुत होते हैं परन्तु राजमार्ग का विनाश नहीं हुआ, क्योंकि संहिता हमारी बनी हुई है। प्रवर्तक–आचार्य सब ध्यान रखते हैं। परन्तु ये पद तभी दिये जायेंगे, जब संघ के अन्दर रहेंगे। संघ के बाहर रहने पर क्या मतलब उस पद का? उपाध्याय हैं, अकेले रह रहे हैं, किस विषय के उपाध्याय, जब कोई पढ़ने वाला नहीं? उपाध्याय की शोभा वास्तव में आचार्यसंघ में ही होती है, जहाँ पर वे अध्ययन–अध्यापन कार्य कराते हैं।

स्थविराचार्य, उनका काम रहता है कि हमारी संतति यानि परम्परा जिसप्रकार की चली आ रही है। देश में जितने मुनिसंघ है, संपूर्ण मुनिसंघों की चर्या का ज्ञान रखेंगे, उनकी कुल–परम्परा का ध्यान रखेंगे कि इनकी कुल–परम्परा कैसी चल रही है? कुल–परम्परा यानि गुरु–परम्परा। अपनी कुल– परम्परा नहीं लगा लेना। अतः इस गुरु–परम्परा में किसी प्रकार का विच्छेद तो नहीं, किसी प्रकार का द्वेष तो नहीं है, किसी प्रकार का विकल्प तो नहीं है। ये सारा–का–सारा ध्यान रखते हैं स्थविराचार्य। जब भी कोई साधु–सम्बन्धी प्रष्न आयेगा, तो स्थविराचार्य के पास ही जायेगा, वे ही समाधान करेंगे। देखो भाई! अमुक संघ में ऐसी परम्परा चलती थी, उसके बाद ये परम्परा प्रारम्भ हुई। धरसेनस्वामी के काल में ऐसा हुआ, अर्हद्बली स्वामी के काल में पांच संघों का विभाजन हुआ। ये सारा ध्यान स्थविराचार्य रखते हैं।

पाँचवे होते हैं गणधराचार्य। गण यानि समूह। मुनिसंघ को संभालना। एक आचार्य कितना संभालेगा? इसी बात को ध्यान में रखकर इन पाँच पदों की व्यवस्था जिनागम में है। इसके अलावा छठवीं कोई व्यवस्था नहीं है। ये दुनियाँ की पदवियाँ व्यवस्था के लिये दी जाती हैं। उत्तम–पद एकमात्र मुनिपद ही है। अन्त में सभी पद छोड़ने पड़ेंगे, तभी समाधि होगी।

गमक गुरु। गमकाचार्य भद्रबाहु को गमक गुरु कहा है। यानि जिनके मुख से हम जिनवाणी सुनते हैं, वे गमकाचार्य कहलाते हैं अर्थात् उन्हीं की परम्परा से हमें प्राप्त हुआ

है। गमकगुरु कहा गया है भद्रबाहु स्वामी को। जीवन में ध्यान रखना, कितने भी श्रेष्ठ हो जायें, ख्याति प्राप्त करलें, लेकिन जिस गुरु से आपने शिक्षा प्राप्त की है जीवन में, उसका नाम मत भूलना। अन्यथा दर्शनावरणीय कर्म का, ज्ञानावरणीय कर्म का तीव्र आस्रव होगा। 'तत्त्वार्थसूत्र' में आस्रव के कारण कहे हैं–**तत्प्र दोष निह्नवमात्सर्यान्तराया–सादनोपघाता ज्ञानदर्शन वरणयोः।। त. सू. 10/6।।**

निह्नव नाम का दोष है। अपने गुरु का नाम छिपा लिया, जिस शास्त्र से पढ़ा है, ये मत कहना कि मेरा चिन्तन है। जिसकी अच्छी ख्याति है, उसी का नाम ले लो। प्रतिष्ठा पाने के लिये कह देते हैं। नहीं, जिनवाणी का नाम लो, शास्त्र का नाम लो। जिनवाणी में अपना चिन्तन नहीं लगाना, अनिह्नव गुण है। निह्नव गुण का पालन नहीं किया, तो निह्नव नाम का दोष है। इससे ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय दोनों कर्म का आस्रव होता है।

भो ज्ञानी! मूलविषय को मत खो देना। ज्ञान रुचि का कारण नहीं, कषाय की मंदता रुचि का कारण है। तो जैसे ही गौतम की कषाय मन्द हुई, देखा समवसरण को और बोला–ये क्या है? बोले–हमारे गुरु की प्रवचनसभा है। मानस्तंभ देखते ही मान का गलन हुआ। कषाय मंद हुई, तो अन्दर में रुचि उत्पन्न होने लगी, कि देखूँ तो कैसे हैं इनके गुरु। और जैसे ही कषाय में मंदता आई, वो ज्ञान काम करने लगा। बीज से ही अंकुर होगा, ये सत्य है।

पहले बीज नहीं डालता किसान, पहले भूमि को उर्वरा करता है, मुलायम करता है। उर्वरा करना कषाय की मंदता है। बीज वो गया तो ज्ञान ने काम कर दिया। कषाय की मंदता में सब बातें अच्छी लगती हैं और कषाय की तीव्रता में हमें केवली भी नहीं दिखते। आँखों के सामने खड़ा हो कोई व्यक्ति और आपके अन्दर तीव्ररोष हो, तो वो भी आपको दिखेगा नहीं। जब कषाय की मंदता आई, तो देखो गणधर बन गये। आज तीर्थंकर महावीर का नाम लेते हैं, तो कितने आदर के साथ। गौतमस्वामी पहले आ जाते हैं। हमारे यहाँ किसी व्यक्ति से द्वेष नहीं है, किसी से राग नहीं है। परन्तु गुणों में कितना अनुराग है कि अंजन जैसे चोर को भी हम केवली बनाकर नमोस्तु करते हैं। इसलिये कभी भी किसी से ग्लानि मत करना। क्यों? आज का अपराध आज के क्षण का है, किस क्षण में परिणाम बदल जायें। तुम अपराधी को अपराधी कहते रहोगे, तुम राग को राग कहते रहोगे और वे आराधक बनके आराध्य बन जायेंगे। अंजन चोर निरंजन हो गये।

कुछ लोग किसी व्यक्ति को लेके बैठ गये, कि हमें मालूम है कि आपकी भूत की क्या स्थिति थी। अरे भाई! भूत तो भूत ही था, वो तो भाग गया। भूत की याद दिलाकर भविष्य को क्यों खराब कर रहे हो? जीवन में हर व्यक्ति से भूल हो सकती है, पर भूत को दोहराना इंसान का काम नहीं है। भूल को स्वीकार करके, भूल को सुधार लेता है, वो ही भगवान् बनता है।

भो ज्ञानी! ये बताओ कि कितनी चौबीसियाँ निकल गई? जितने भगवान् बने हैं, वे सब अधवान् थे। भूल को सुधार–सुधार कर ही तो भगवान् बने हैं। इसलिये भगवान् से भगवान् बनाने की आवश्यकता नहीं होती । जो भूले–भटके होते हैं, उन्हें ही भगवान् बनाया जाता है लेकिन उनको नकार दिया कि हटो–हटो। तीर्थंकर ने तो तिर्यंच को भी स्थान दिया। सिंह जैसे जीव उनके समवसरण में विराजे और हमारे यहाँ कोई महाराज आ जायें, बोले–'महाराज! इन्हें मत देखिओ, इनकी ऐसी क्रिया चर्या थी।' भूत को तुम अबतक लगाये हो, जबकि अब तो नहीं है। तुम्हें एक भगवान्–आत्मा से घृणा है। ये देखो, हमारे अन्दर क्या है? अपने अन्दर से पूछो कि तुम कितने कैसे हो?

भो ज्ञानी! जीव को भगवान् कहलाने में कितना अच्छा लगता है। भैया जी! जब भगवान् कहलाने में तुम इतना आनंद मना रहे हो, तो भगवान् बनने में कितना होगा? हम तो चाह रहे हैं कि भगवान् कहलाओ, बन भी जाओ। पर भटकते भगवान् में ही अटक मत जाना, भगवान् बनके ही दिखाना। अंजन जैसे निरंजन बनना।

आचार्यभगवन् चौदहवीं गाथा में कह रहे हैं कि विभाव (व्यवहार) दृष्टि तीन प्रकार कही गई है–चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन। पर्याय दो प्रकार की है, स्व–पर–सापेक्षी और पर–निर्पेक्षी अर्थात् स्व–पर की अपेक्षा से सहित और स्व–पर की अपेक्षा से रहित। स्वभावपर्याय और विभावपर्याय। दर्शनगुण के साथ–साथ संसार की सामान्य पर्यायों को भी लिया है। दर्शनगुण के चलने पर भी टीकाकार ने विभाव व्यजंनपर्याय, स्वभाव व्यंजनपर्याय लिया। परन्तु जब दर्शन का कथन करेंगे तो स्वभावपर्याय केवलदर्शन, विभावपर्याय चक्षु, अचक्षु, अवधि। इस दृष्टि से अर्थ–पर्याय का कथन करेंगे, गुणपर्याय का कथन करेंगे, व्यंजनपर्याय का कथन करेंगे।

भो ज्ञानी! भेद कह दो तो व्यवहार हो गया और अभेद कह दो तो निश्चय हो गया। ज्ञानस्वरूपी–आत्मा निश्चय, ज्ञानस्वभावी–आत्मा व्यवहार होगा। मति– ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से मूर्तिक वस्तु को जानता है एवं चक्षुदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से मूर्तिक वस्तु को देखता है। जिसप्रकार अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से

शुद्धपुद्गल मूर्तद्रव्य को जानता है, उसीप्रकार अवधिदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से जीव समस्त मूर्तिक पदार्थों को देखता है।

षट्द्रव्यों में साधारणरूप से रहने वाली पर्याय को स्वभावपर्याय कहते हैं। वह अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण मन–वचन से अगोचर है। छह प्रकार की हानि तथा छह प्रकार की वृद्धि से सहित है। नर–नारक आदि व्यंजनपर्याय को अशुद्ध विभावपर्याय कहा जाता है।

अथ सति परभावे शुद्धमात्मानमेकं सहजगुणमणीनामाकरं पूर्णबोधम्।
भजति निशितबुद्धिर्यः पुमान् शुद्धदृष्टिः स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः।। कलश 24।।
इति परगुणपर्यायेषु सत्सूत्तमानां हृदयसरसिजाते राजते कारणात्मा।
सपदि समयसारं तं परं ब्रह्मरूपं भज भजसि निजोत्थं भव्यशार्दूलसत्वम्।। कलश 25।।
क्वचिल्लसति सद्गुणैः क्वचिदशुद्धरूपैर्गुणैः क्वचित्सहजपर्ययैः क्वचिदशुद्ध पर्यायकैः।
सनाथमपि जीवतत्वमनाथं समस्तैरिदं नमामि परिभावयामि सकलार्थसिद्धयै सदा।। कलश 26।।

भो बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने तीन दृष्टियों की चर्चा की– स्वभावदृष्टि–कैवल्यदृष्टि, विभावदृष्टि–चक्षु, अचक्षु, अवधिदृष्टि और सहजदृष्टि। स्वभावदृष्टि का लक्ष्य सहजदृष्टि है। शुद्ध आत्मतत्त्व पर जो दृष्टि है, वो सहज–दृष्टि है और सहजदृष्टि के अभाव में स्वभावदृष्टि प्रकट नहीं होगी।

भो ज्ञानी! समदृष्टि यानि सभी पदार्थो के प्रति सरलता, समीचीनदृष्टि है और समीचीनदृष्टि भेदभाव से रहितदृष्टि, उसके बाद बनेगा तू सम्यग्दृष्टि। प्रश्न है कि ज्ञान के माध्यम से दर्शन होता है क्या? वास्तव में ज्ञान के माध्यम से सम्यग्दर्शन नहीं होता, कषायों की मंदता से सम्यग्दर्शन होता है। सात प्रकृतियों का क्षय, क्षयोपशम ये अनंतानुबंधी की जबतक मंदता नहीं बनेगी, ध्यान रखना, कोई सीधे सम्यग्दृष्टि नहीं बनता। पहले वो जीव जानकारी लेता है। जब सामान्यज्ञान प्राप्त करना चाहता है, वह हुई भद्रता। भद्र–मिथ्यादृष्टि को तत्त्व को जानने की इच्छा होती है। जो सम्यक्त्व के नजदीक है, उसे कहते हैं भद्रमिथ्या– दृष्टि। कषाय की भद्रता से युक्त मिथ्यादृष्टि को कहा है भद्र मिथ्यादृष्टि। तीव्र मिथ्यादृष्टिजीव जिनवाणी को सुनना ही पसन्द नहीं करता, नजदीक आना ही पसन्द नहीं करता। जब परिणामों में भद्रता आती है, तो भद्रमिथ्यादृष्टि जीव देव–शास्त्र–गुरु की आराधना कर लेता है। देव–शास्त्रपूजन व दान करके वह भोगभूमि में चला जाता है। यदि मनुष्य आयु का बन्ध कर लिया तो भोगभूमि में जायेगा, स्वर्ग में नहीं जायेगा। कषाय की मंदता में मिथ्यादृष्टिजीव पुण्यक्रियायें करता है

और उसके योग से वह असुर आदि अवस्था को भी प्राप्त करता है। इसलिये 'प्रवचनसार' के मंगलाचरण में सुरासुर अर्थात् सुर व असुर शब्द का प्रयोग आया है।

भो ज्ञानी! मिथ्यादृष्टि की वह शुभ–उपयोग की क्रिया पुण्यबन्ध का कारण है और वह पुण्य सुर, असुर आदि अवस्था को प्रदान करता है। सम्यग्दृष्टि जीव की पुण्यक्रिया असुर नहीं बनायेगी, स्वर्ग भेजेगी। इसलिये ज्ञान जब सम्यक् हो जाता है, तो वह 'ज्ञान' संज्ञा को प्राप्त कर लेता है। परन्तु सम्यक्त्व की प्राप्ति, पुनः ध्यान रखना, कषाय की मंदता से ही होगी। तत्त्वश्रद्धान जो बनेगा, वो कषाय की मंदता में ही बनेगा।

भो ज्ञानी! कषाय की तीव्रता में आप सल्लेखना नहीं कर सकते, समाधि नहीं कर सकते हो, व्रती नहीं बन सकते हो। अब कषाय कैसी? अनंतानुबन्धी कषाय की तीव्रता में कोई जीव भद्रमिथ्यादृष्टि नहीं हो सकता। सम्यग्दृष्टि तो होगा ही नहीं, अनन्तानुबंधी कषाय की जब मंदता आती है, तो कुलिंग धारण करके सद्गुरु के चरणों में बैठ लेता है। वो कहता है, जय हो दिगम्बर। स्वयं कुलिंगी है, फिर भी कह रहा है कि ये दिगम्बर ही श्रेष्ठ है। ये उस जीव की अनन्तानुबन्धी की मंदता थी और तीव्रता में वो कहता है–ये स्याद्वाद शासन तो संशयवाद शासन है। ये मिथ्यात्व की तीव्रता थी।

भो ज्ञानी! कषाय की तीव्रता में विभिन्न पन्थों का जन्म होता है और जब कषाय मन्द होती है, तो व्यक्ति अपने–आपमें सुलझ जाता है। मारीचि ने कषाय की तीव्रता में 363 मिथ्यामत चला दिये। स्वयं भगवान् बनके चले गये, परन्तु अपने–बनाये कुमत का समापन नहीं कर पाये। एक बात का ध्यान रखना, किसी का संहार करनेवाला व्यक्ति पर्याय का विनाषक है और श्रद्धा का संहार करने वाला जीव सम्यक्त्व का नाशक है। जिसने पंच–परमेष्ठी के चरणों से आस्था हटा दी हो, भो ज्ञानी! उससे बड़ा कसाई/हिंसक संसार में कोई नहीं होगा, क्योंकि पर्याय का नाश एक पर्याय में होता है और सम्यक्त्व का नाश हो जाये, तो फिर क्या कहें, अनन्तभवों में भटक गया। इसलिये ध्यान रखना, सत्य कहने की सामर्थ्य न हो, तो मौन होके चले जाना। लेकिन असत्य भाषण सुनते रहोगे, तो आपके साथ जो चार गये हैं, वे नहीं समझते हैं। वो ये समझे, ये भैया पहुंचे तो बड़े भैया बैठे थे, तो सही होगा।

एक सज्जन मेरे पास आये। कुलिंग का उत्सव हो रहा था, वहाँ हम पहुँच गये थे। लेकिन उनको पोषण शरीर के माध्यम से मिला कि नहीं? क्या आप असंज्ञी थे? क्या बिना मन के पहुँच गये थे? क्या मन में भय, स्नेह, लोभ था? सम्यग्दृष्टि जीव कहता है कि मैं

वीतराग–तत्त्व के अलावा कुछ सुनना पसन्द नहीं करता। वीतरागवाणी को समझने के लिये मेरा विवेकज्ञान है, अन्यथा नहीं समझना चाहता । ये सम्यग्दृष्टिजीव का सोच होता है। विनयमिथ्यात्व ये कहता है, कि जहाँ जाओ, सबकी जय। सब जगह सिर पटको, विनय करो। परन्तु विनय को देखो, विनय का निषेध नहीं है। विनय तो मोक्ष का द्वार है। **''विणयो मोक्खमग्गो''** मूलाचार में लिखा है।

भो ज्ञानी! पंचपरम्गुरु की सहजस्वभाव विनय, सत्श्रुत को नमस्कार करना, परन्तु मिथ्यात्व को एक–समयप्रमाण भी नमस्कार नहीं करना। लोकविनय हम उसे कहेंगे जिस लोकविनय में रत्नत्रय का अविनय न होता हो। जिनवाणी में स्पष्ट लिखा है कि वही लोकविनय मुझे स्वीकार है, जिसमें सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की हानि न होती हो। सम्यग्दृष्टि विद्वान ने हाथी के पगतले मृत्यु तो स्वीकार कर लिया, पर नमस्कार नहीं किया। जिसे मृत्यु से डर हो, वह नमस्कार करे। जिसे मृत्यु से डर ही नहीं था, उसने मरण स्वीकार कर लिया। कितने लोग चादर चढ़ाने चले जाते हैं। यहाँ उनसे कहेंगे कि कुदेव या अदेव की पूजा कर लो, वंदना कर लो, तो उन्हें मिथ्यात्व का दोष लग जायेगा।

'अष्टपाहुड' ग्रन्थ में लिखा है कि एक लाख वेश्याओं के सेवन में जो पाप का बन्ध होता है, वो एक बार के मिथ्यात्व के नमन में दोष लगता है। इसका तात्पर्य वेश्यावृति मत करने लग जाना। ऐसे लोग है संसार में जो यह मानते हैं कि जिनमुद्रा से पाप लग जायेगा और पाखंडीमुद्रा को देखकर सिद्धालय पहुँचा जा सकता है। ज्ञानी! तत्त्व को समझो, विपरीत मार्ग में मत चले जाना। सच्चीश्रद्धा, सच्चीआस्था निमित्त बने, भले ही उपादान उसका कैसा भी हो?

भो आत्मन्! जिनशासन की प्रभावना के पहले 'रत्नत्रय तेजसा' आत्मा की प्रभावना करें। ये स्वयं की प्रभावना है, जो मोक्षमार्ग से भटक रहे हैं, किसी के दान से उनके भी भाव बदल जाते हैं। अतः दान करो। पूजा, प्रतिष्ठा ये श्रावक की क्रिया चल रही है और रत्नत्रय मुनिमहाराज की। तपस्या के द्वारा, विद्या आदि के द्वारा जिनेन्द्रशासन की प्रभावना करना। गिरनारपर्वत पर दोनों आम्नाओं के संघ गए हुए थे, वहाँ कह दिया कि पहले श्वेताम्बर आम्नाय का संघ वंदना करेगा, दूसरा कहने लगा–दिगम्बर आम्नाय का संघ पहले वंदना करेगा। साधुओं ने आपस में चर्चा की और बड़ा सुन्दर निर्णय लिया कि विकल्पों को उन्हीं पर छोड़ दो। दोनों के आचार्यों ने निर्णय लिया कि अंबिका देवी जो ऊपर है, वो जिसको बोल दे, वो पहले वंदना करेगा।

कुन्दकुन्दाचार्य ने श्वेताम्बर आचार्य से कहा–पहले आप बुला लीजिये। उन्होंने कई मंत्रों का पाठ किया, पर उधर से कोई उत्तर नहीं आया। उन्होंने कुन्दकुन्द आचार्य से कहा–आप बुलाइये। कुन्दकुन्दाचार्य ने जैसे ही आराधना की, ऊपर से आवाज आई ''महासाहू दिगम्बरा'' ये सामञजस्य था हमारे पूर्वाचार्यों में।

हमारे पूर्वाचार्यों ने, भट्टारकों ने समय की स्थिति को देखकर चमत्कार भी दिखाये हैं पर वे चमत्कारों के पीछे नहीं पड़े। उसको आजीविका का साधन नहीं बनाया। उसे मोक्षमार्ग नहीं माना। भक्तामर–स्तोत्र को जिनशासन की तात्कालिक प्रभावना के लिये आचार्य मानतुंग ने रचा था। कल्याणमंदिर–स्तोत्र चमत्कार के लिये लिखा गया था। विषा पहार–स्तोत्र इधर पढ़ा जा रहा था और उधर बेटे का विष उतर रहा था। परन्तु अन्त में आचार्यों ने ये ही कहा कि ये मंत्र–तंत्र मोक्ष का मार्ग नहीं है। ये जिनशासन की प्रभावना के परिचायक मात्र है।

भो ज्ञानी! कषाय को मंद रखें। ध्यान रखना, देव–शास्त्र–गुरु के निमित्त से भी किया गया कषाय आपको मिथ्यात्व में डाल सकती है, क्योंकि आप यहाँ आये और आपकी दृष्टि बन गई कि हम तो इस वेदी पर ही पूजा करेंगे। यहाँ दूसरा पुजारी आकर पूजा करने लगा, तो इतनी कषाय भड़की कि अनंतानुबन्धी में चले गए और सम्यक्त्वमार्ग चला गया। वे क्या कहते हैं? हमने तो पहले मंदिर छोड़ दिया, देव छोड़ दिये, हमें प्रवचन सुनने के परिणाम नहीं होते। बोला कि महाराज जी के पास चलो, तो बोले–देखके आओ कि कौन बैठा है? बोला कि अमुक जी बैठे हैं तो बोले कि हमें महाराज जी के पास नहीं जाना। पूछा–क्यों? तो बोले कि वे भी ऐसे लोगों को बैठाते हैं। उसने देव छोड़ दिया, शास्त्र छोड़ दिया, गुरु छोड़ दिया। कषाय तुम्हारी इतनी भड़की कि तुम नीचे चले गये। इसलिये हर क्षेत्र में सहजता का उपयोग करना। लगाव रखना, पर चिपकना नहीं, अन्यथा नीचे गिर जाओगे।

भो ज्ञानी! सम्यग्दृष्टिजीव अनुरागी होता है, रागी नहीं होता। अनुराग तो रखता है धर्म–धर्मात्माओं पर, परन्तु तीव्रराग में नहीं जाता। वात्सल्य तो धर्म से युक्त अनुराग है। प्रेम/स्नेह राग का ही नाम है। प्रेम बराबर वालों में होता है, स्नेह छोटों से होता है, परन्तु वात्सत्य तो धर्म–धर्मात्माओं से होता है।

जिसप्रकार श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से, श्रुत के द्वारा, संपूर्ण वस्तुओं को प्रत्यक्ष नहीं जानता, परोक्षरूप से जानता है, उसीप्रकार अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत द्वारा उसके योग्यविषय को जानता है। जैसे श्रुत

के द्वारा परोक्ष जानता है। भो ज्ञानी! इंद्रियाँ अपने–आपमें अहमिन्द्र होती हैं। एक इंद्रिय दूसरी इंद्रिय का कभी काम नहीं करती है। चक्षुदर्शनावरणी का कर्म चक्षुदर्शनी ही करेगा। अचक्षु का काम अचक्षु ही करेगा। करण इंद्रिय का भी अचक्षुदर्शन होगा परन्तु अपने–अपने विषय को ही ग्रहण करेंगे, दूसरे के विषय को ग्रहण नहीं करेंगे।

उसीप्रकार अवधिज्ञान दर्शनावरणीकर्म के क्षयोपशम से सम्पूर्ण मूर्त पदार्थो को देखता है। सम्पूर्ण से तात्पर्य ज्ञान की सीमा, न कि केवलज्ञान–जैसा लोकालोक। अवधि का नाम ही सीमा है। अवधिदर्शन यानि सीमित, एकदेश प्रत्यक्ष। पर्याय का तात्पर्य भिन्न मत समझते जाना, पर्याय अभिन्न होती है। विभक्त होगी, तो द्रव्य की पर्याय नहीं होगी, अन्यथा अलग द्रव्य बन जायेगा। द्रव्य का कथन जो होता है, वो समय की पर्याय है। जो द्रव्य बालपन के रूप में है, वह बालक पर्याय है। युवा होगा तो क्या दूसरा व्यक्ति आयेगा? उस पर्याय में वही जीव होगा तो उस जीव की पर्याय युवा है। वही वृद्ध है, जो कभी शिशु था। यदि आप इसे नहीं मानोगे, तो जन्म, जरा, मृत्यु नाम के रोग ही समाप्त हो जाएँगे।

भो ज्ञानी! ये बात सत्य है कि जिस समय आप यहाँ आये थे, अब वो नहीं हैं आप, क्योंकि आपके द्रव्य में परिणमन हो चुका है। जब आये थे, तब भाव आने के थे, अब भाव सुनने में लगे हैं तो भाव बदल गया, ठीक है? जब आप आये थे, तब 10 मिनट कम 60 साल के थे। अब आपके 10 मिनट पूरे हो चुके, 60 साल के हो चुके हो। आपका परिणमन हो चुका है। यदि यह नहीं मानोगे, तो अगुरु– लघु का परिणमन कैसे घटित करोगे। आप शिशु से वृद्ध हो चुके हो, यह परिणमन निरन्तर हुआ है। इसी का नाम तो पर्याय–परिणमन है और ये परिणमन द्रव्य के अभाव में नहीं होता है।

पर्याय की परिभाषा का ध्यान रखना। यानि जो द्रव्य में परिणमन नहीं मानता, वो पर्याय की परिभाषा ही नहीं जानता। द्रव्य में जो परिणमन है, उसका नाम ही पर्याय है। ''द्रव्य विकारो पर्यायः, गुण विकारो पर्यायः'' विकार अर्थात् परिणमन। पद्मभमलधारिदेव कह रहे हैं कि उसे पर्याय कहते हैं जो द्रव्य में चारों तरफ से हो रही है, चारों तरफ घेरे हुये है।

अब जो विनाश हो रहा है। उत्पाद–व्यय किसमें हो रहा है और ध्रौव्य कौन है? अब बताओ, पर्याय कहाँ गई? और इनसे रहित द्रव्य कौन–सा है? जिसमें उत्पाद–व्यय हो रहा है, वो द्रव्य है और उत्पाद–व्यय से युक्त है, वो द्रव्य है। नय कभी उत्पाद को गौण कर देता है, तो कभी व्यय को गौण कर देता है और कभी ध्रौव्य को गौण कर देता है। इसलिये आपको लगता है कि द्रव्य भिन्न है और पर्याय भिन्न है। बात को पकड़ना, ये

कथनशैली है। इसीलिये द्रव्यार्थिक नय के 10 भेद हैं और पर्यायार्थिक नय के 6 भेद हैं। आपने द्रव्य, पर्याय मात्र जानी है। क्योंकि न्यायविनश्चय, न्यायदीपिका, आलापपद्धति आदि का जबतक अच्छे से अध्ययन नहीं होगा, एकबार पढ़ने से काम नहीं चलेगा। ये वाचना के ग्रन्थ नहीं हैं। ये आम्नाय के ग्रन्थ हैं, अनुप्रेक्षा के ग्रन्थ हैं, कंठस्थ करने के ग्रन्थ हैं। सूत्र को याद किया जाता है। यदि सूत्र याद नहीं है, तो तुम लगाओगे क्या? ये सूत्र हैं जैनसिद्धान्त के और जबतक आपको नय आदि के सूत्र याद नहीं होंगे, तो बस आपने इतना सीख लिया–निश्चय और व्यवहार । आगे–पीछे कुछ जानते ही नहीं हैं और ये मानते हैं कि द्रव्य शुद्ध है, पर्याय शुद्ध है। पर्याय में परिणमन चल रहा है।

मनीषियो! जो जीव ये कहता है कि निश्चय ही भूतार्थ है, वह श्रमण– संस्कृति के व्यवहार–तीर्थ का शत्रु है। जो व्यवहार को मात्र सत्यार्थ मानता है, निश्चय को झूठा कहता है, वो आत्मतीर्थ का शत्रु है। मंदिर, मठों में ही जी रहे हो, ग्रन्थों में जी रहे हो। क्रिया वो ही कर रहे हो और मुख से कह रहे– ये देह– देवालय में विराजमान आत्मप्रभु ही सच्चा देव है और ये जड़ है। अरे ज्ञानी! ये हल्ला का विषय नहीं है। जब तू स्वतत्त्व की ओर उन्मुख हो जाये, परतत्त्व से विमुक्त हो जाये, फिर कहना कि आत्मदेव ही सच्चा देव है, निज–आत्मदेव ही सच्चा देव है। जड़द्रव्य कुछ नहीं।

अहो ज्ञानी! कहाँ तू तीर्थों में भटकता है? रत्नत्रय धर्म ही दिव्यतीर्थ है। उस तीर्थ में प्रवेश करो। संसार के संपूर्ण तीर्थ हो गये, जिसे इसकी सुगंध ही नहीं है। भो ज्ञानी! तीर्थों की वंदना मत छोड़ देना। 'योगसार' में स्पष्ट लिखा है कि पिच्छि, कमण्डुलों के ढ़ेर लग गये। तो ठीक, भईया! छोड़ दो, परंतु जिसने पिच्छि कमंडलु लिये ही नहीं वे तो नरक–निगोद ही जायेंगे।

दक्षिण में बहुत पहले मुनिराज बहुत सरल थे। उन मुनिराज के पास कोई विद्वान् पहुँचा और बोला–महाराज! शास्त्र में लिखा है कि पंचमकाल में इतने मुनि निगोद जायेंगे। ये सत्य ही लिखा है, क्योंकि अगर सुई की नोक के बराबर परिग्रह रखता है मुनि, तो निगोद का पात्र है। वे मुनि घर पहुँच गये और पिच्छि–कमण्डलु रख दिया। पत्नि समझदार थी, उसने पूछा–क्या हुआ? उन्होंने कहा कि पंडित जी ने कहा है कि इतने मुनि निगोद जायेंगे। पत्नि ने कहा– पंडित जी ने सत्य कहा है कि जो संयम धारण करके संयम को नहीं पालते, पिच्छि कमण्डलु छोड़कर भागने लगते हैं, ये लोग निगोद जाते हैं। उन्होंने कहा–ऐसा? पुनः पिच्छि कमण्डलु धारण कर लिया।

मुमुक्षु! मुनि कभी निगोद नहीं जाता है। मुनि कभी न निगोद गया है, न जायेगा। मुनि के वेष में जो कषाय के लुटेरे खड़े होते हैं, वे नरक–निगोद जाते हैं। मुनि कभी निगोद जा ही नहीं सकता । जिसने मात्र मुनिव्रत धारण किया हो, पर मुनि न बना हो, मुनिपना नहीं आया, ये उसके लिये है।

इसलिये ध्यान रखना, अभी तुम पूर्वपुण्य को भोग रहे हो, भोग लो, अंत में तुम्हारा क्या परिणाम होगा? केवली से जाके पूछ लेना। ऐसे–ऐसे जीव हैं, जिन्होंने जीवनभर अध्यात्म, सिद्धान्त की बातें की और अंतिम समय में कहने लगे, क कि तुम्हारी वृत्ती हमें पसंद नहीं। तत्त्व की बातें करें और खाने में है तीव्र–गृद्धता। कोई संयम नहीं, कोई चर्या नहीं, समाधि बेचारी क्या करे ? कोरे–ज्ञान को हमारे यहाँ पूजा नहीं गया। आपलोग जब बेटे की शादी करते हो, तो पूछते हो कि चाल–चलन कैसा है? चाल तो बहुत लम्बी है और चलन ठीक नहीं है, तो सम्बन्ध नहीं होगा। इसलिये दर्षन से स्वर्ग मिलता है, ज्ञान से यश फैलता है, पर पूजा तो चारित्र से ही होती है। ज्ञान से कीर्ति फैलती है, बस मोक्ष नहीं मिलेगा। दर्शन से स्वर्ग मिलना है, सम्यग्दर्शन जिसके होगा, वो नियम से स्वर्ग जायेगा, यदि आयुबंध नहीं किया हो तो। मोक्ष की प्राप्ति कब होगी? जब तीनों एकसाथ होंगे। बाहर की पूजा कोरे–चारित्र से मिल सकती है, पर मोक्ष नहीं मिल सकता। मोक्ष तभी मिलेगा, जब तीनों एकसाथ होंगे।

भो ज्ञानी! बल्व का प्रकाश तेज होता है, परन्तु मणि का प्रकाश इतना तेज नहीं होता है। जिसने मणि के प्रकाश को नहीं देखा, वो बल्व के प्रकाश को देख रहा था, उसने मणि को फेंक दिया और बल्व को देखता रहा। बल्व की रोशनी आँखों को नष्ट करने वाली थी। मणि का मंदप्रकाश, वो अंदर में सर्वांश में था, सुमधुर था, स्थाई था। भो चेतन! वो ही चारित्रानुभूति का प्रकाश है। वो ही तेरे श्रद्धान, सम्यग्दर्शन–ज्ञान का प्रकाश है। तुम बाह्य प्रकाश में जीने लगे, तो अंदर के नेत्र तुम्हारे नष्ट हो जायेंगे। पर्याय ऊपर–ऊपर नहीं होती है और भीतर–भीतर भी नहीं होती है। लक्षण की अपेक्षा से भिन्न है और प्रयोजन की अपेक्षा से भिन्न है, पर वस्तुधर्म की अपेक्षा से भिन्न नहीं, अभिन्न है।

भो ज्ञानी! आत्मा तो आत्मा है। वो आस्रव आत्मा में है, आस्रव आत्मा को है। आस्रव आत्मा से रहित नहीं हुआ है। यदि आस्रवरहित आत्मा है, तो वो संसारी नहीं है, वह चौदहवें–गुणस्थान में है, ये भेदविज्ञान की दशा है। समयसार में आ जाओ कि आत्मभाव–आस्रवभाव को जबतक नहीं जानेगा, तबतक तू मोक्ष को प्राप्त नहीं करेगा। आत्मभाव–आस्रवभाव को जानने का तात्पर्य यह नहीं मान लेना कि आत्मा आस्रव से रहित ही है। क्रोध जो आ रहा है, वो आत्मा में आ रहा है, कि पुद्गल में आ रहा है? जो

क्रोध हो रहा है, वो ज्ञान में हो रहा है कि अज्ञान में हो रहा है? जैसा प्रश्न है, वैसी आप चर्चा करो। क्रोध जो आया है, वह ज्ञान से आया है, कि अज्ञान से आया है, कि जड़ से आया है? अज्ञान से आया है। वो अज्ञान ज्ञान है कि नहीं? पहले लक्षण बनाओ, फिर अध्यात्म लाओ। ज्ञान अध्यात्म नहीं है। ज्ञान आत्मा का लक्षण है। अध्यात्म की भाषा को ज्ञान में मत जोड़िये। ज्ञान अध्यात्म नहीं है, दर्शन अध्यात्म नहीं है। ये तो बाद की जोड़ी हुई वस्तु है। अध्यात्म एक काल्पनिक वस्तु है और आत्मा है सत्यवस्तु। काल्पनिक का तात्पर्य, ध्यान करो–'मैं शुद्ध–बुद्ध हूँ, मैं अखंड चिद्रूप हूँ।' तुम हो नहीं, कल्पना में जी रहे हो, कल्पना चल रही है। विकल्प है, विकल्प । आपकी सुंदर भाषा में बोल दूँ– काल्पनिक को आप विकल्प में कह दो, पर है कल्पना। अभी आप कल्पना को अशुद्ध नहीं मानना। कल्पना की शक्ति स्पष्ट बता देता हूँ।

भैया! किसी स्त्री का चिन्तन करो। तुम्हारे सामने कोई स्त्री नहीं है। फिर भी आपके शरीर की धातु क्षीण होना प्रारंभ हो चुकी है। अशुभ का चिन्तन करिये आप, न यहाँ कोई स्त्री थी, न कोई पुरुष था, न कोई विकारसामग्री थी, पर तेरी कल्पना में विकार था। जैनदर्शन कितना गहरा है? लोगों ने ऊपर–ऊपर समझा है। अच्छा भयंकर तनाव हो, तो शरीर गर्म हो जाता है, उससे नाक से रक्त का निकलना आरंभ हो जाता है। अधिक तनाव में व्यक्ति के दिमाग की नसें फट जाती हैं। किसी ने पत्थर नहीं मारा, लाठी नहीं मारी फिर भी पागल हो गया, क्योंकि चिन्तन इतना बढ़ा कि उसकी नस ही फट गई। क्या कल्पना थी? आप विचार करके गये कि आपको तीनलाख का मुनाफा होना है, पर है नहीं। किसी ज्योतिषी ने बोल दिया–ग्रह बता रहा कि आपको तीनलाख का मुनाफा हो जायेगा। भैया! अंदर से पूछना, कैसा लग रहा है?

भैया! अध्यात्म वास्तव में पहले कल्पना में चलता है, फिर अनुभूति में आता है, फिर अध्यात्मभूत हो जाता है। पिण्डस्थ, पदस्थ ध्यान क्या है? कल्पना है। रूपस्थ, रूपातीत ध्यान क्या है? सब कल्पना है, विकल्प है। जिसे हम कल्पना कह रहे हैं, उसे आपका शास्त्र विकल्प कह देगा। परन्तु आस्रव विकल्प नहीं है, कल्पना नहीं है। आस्रव के दो भेद–द्रव्यास्रव और भावास्रव। जिन भावों से कर्म आते हैं, वो भावास्रव तो जो कर्म जिनभावों से आ रहे हैं, वे भाव ज्ञान है, कि जड़ है? अज्ञान मिथ्यात्व है, वो भी ज्ञान ही है। जो मिथ्यात्व से आप कह रहे हैं, वो अज्ञान जो है, वो जड़रूप नहीं है। वो तो मिथ्यात्व के कारण अज्ञान कह दिया है। वो वास्तव में ज्ञान ही है। सम्यग्ज्ञान को ज्ञान क्यों कहा? वहाँ हमने दर्शन की प्रधानता से कथन किया, लेकिन वो भी ज्ञान ही है। मिथ्यात्व का तात्पर्य, जड़त्व नहीं आ जाता आत्मा में।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **स्वभाव और विभाव पर्यायों का संक्षेप कथन।**

णरणारयतिरियसुरा, पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया ते सहावमिदि भणिदा।।15।।

संस्कृत छाया : **नरनारकतिर्यक्सुराः पर्यायास्ते विभाव इति भणिताः।**
कर्मोपाधिविवर्जितपर्यायास्ते स्वभावा इति भणिताः।।15।।

अन्वयार्थ : (नरनारकतिर्यक्सुराः पर्यायाः) नर, नारक, तिर्यंच और देवरूप जो पर्यायें हैं (ते विभावाः) वे विभावपर्याय (इति भणिताः) इसप्रकार कही गई हैं (कर्मोपाधिविवर्जित पर्यायाः) कर्मों की उपाधि से रहित जो पर्यायें हैं (ते स्वभावाः) वे स्वभावपर्यायें (इति भणिताः) इस प्रकार कही गई हैं।

भो बन्धु! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने दृष्टि का कथन करते हुए कहा, कि वास्तव में जो कुछ लोक में है, सब दृष्टि का ही खेल है। दृष्टि वीतराग है, तो वीतरागता की प्राप्ति है। दृष्टि सराग है तो सरागता की सिद्धि है। दृष्टि समीचीन है, तो पदार्थ में आपको सत्यता नजर आयेगी। दृष्टि असमीचीन है, तो पदार्थ में आपको असमीचीनता नजर आयेगी। पदार्थ नीला नहीं है, पीला नहीं है। पदार्थ अपने स्वरूप में है। कांच नीला चढ़ा हुआ है, तो पदार्थ नीला दिखता है। कांच पीला चढ़ा हुआ है, तो पदार्थ पीला दिखता है, परन्तु पदार्थ नीला, पीला नहीं है। ऐसे ही आत्मा का ज्ञान गुण सम्यक् नहीं होता है, मिथ्या भी नहीं होता है। दृष्टि सम्यक् है तो ज्ञान सम्यक् है। दृष्टि मिथ्या है तो ज्ञान मिथ्या है।

भो ज्ञानी! बाहर की विपरीतता की जबतक दृष्टि है, तबतक समीचीन तत्त्वदृष्टि नहीं बन सकती है। इसलिये आचार्य महाराज जोर दे रहे हैं कि दृष्टि पर दृष्टिपात करो। स्वभावमय देखोगे तो स्वभाव को प्राप्त करोगे। विभावमय देखोगे तो विभाव को प्राप्त करोगे। पदार्थ जैसा है, वैसा ही देखना। एक व्यक्ति तलघर के अंदर बैठा है, दूसरा व्यक्ति मंजिल के ऊपर बैठा है, सीढ़ियाँ लगी हुई हैं। वे सीढ़ियाँ नीचेवाले को ऊपर ले जायेंगी और ऊपरवाले को नीचे ले जायेंगी। सीढ़ियाँ तो तटस्थ हैं यथा स्थित। जिसकी दृष्टि नीचे जाने की है, तो सीढ़ियाँ नीचे ले जाने का काम कर देती हैं और जिसकी दृष्टि ऊपर जाने की है तो सीढ़ियाँ ऊपर का काम कर देती हैं।

भगवान् की प्रतिमा को जिसने भगवान् की दृष्टि से देखा, तो कर्मों की निर्जरा होगी और जिसने पाषाण समझकर अवहेलना की दृष्टि से देख लिया, तो निधत्ति,

निकाचितकर्म का बन्ध करके चला गया। भगवान् ने कुछ नहीं किया। एकदृष्टि कहेगी कि भगवान् ने कुछ नहीं किया और विभावदृष्टि कहेगी कि भगवान् ने सबकुछ किया। इस प्रकार देखा जाता है कि वही द्रव्य शुभ का कारण बन गया, वही द्रव्य अशुभ का कारण बन गया।

भैया! अब देखना, दृष्टि द्रव्य में ही तो हो रही है। पर हर दृष्टि को एक दृष्टि से मत देखो, समझो। यहाँ उपयोग की बात कर रहे हैं। यहाँ दृष्टि से पर्यायदृष्टि की बात नहीं चल रही है। यहाँ दृष्टि से तात्पर्य उपयोग है। उपयोग हमारा जैसा होगा, परिणमन वैसा होगा। ज्ञान–दर्शन की जैसी भूमिका बनेगी, वैसा परिणमन होगा। अब देखना, एक जीव एक स्त्री को देख रहा है, उसे बहिन नजर आ रही है। उसीको एक दूसरा देख रहा है, उसे पत्नि नजर आ रही है। तीसरे को माँ नजर आ रही है। पर कितनी स्त्रियाँ थी? माँ की दृष्टि से देखना प्रारंभ करें, तो क्या विकार आयेंगे? स्त्री की दृष्टि से देखता है, तो विकार आते हैं और उसी क्षण में वहाँ एक बेटा कह रहा है–माँ तो उसके आँचल में दुग्ध बह रहा है। माँ शब्द सुना तो अलग परिणाम हुआ। एक व्यक्ति आया, उसने अपनी बेटी कहा। वहीं एक वृद्ध आ गया, उसने बहू शब्द से पुकारा, तो तुरन्त घूंघट पड़ गया। ये सब बाहर की क्रिया आपको दिख रही है, पर परिणति अन्दर की हो रही है। भैया! यही है उपयोग की धारा। एक अध्यात्म का उपयोग, एक सिद्धान्त का उपयोग, उपयोग भी दो हैं। जिसे आप शुभ–उपयोग, अशुभ–उपयोग, शुद्ध उपयोग कहते हो, वो अध्यात्म का उपयोग है। चेतन के अनुविधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं। ये सिद्धान्त का उपयोग है।

जब आप सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थसूत्र की चर्चा करेंगे, 'लब्ध्युपयोगो भावेन्द्रिये' जो लब्धि–उपयोग है, वो भाव–इन्द्रिय है। उसमें जो ज्ञान दर्शन की धारा चल रही है, वो है उपयोग। अब जो आपका शुभ अशुभ उपयोग चलता है, वो आपके सुकृत, दुष्कृत और शुद्ध–अवस्था की दृष्टि से कथन है, पर वो ज्ञान दर्शनवाला उपयोग सर्वत्र रहेगा। भो ज्ञानी! **''उपयोगो लक्षणम्''** जो सूत्र है, वो शुभ में भी रहेगा, अशुभ में भी रहेगा और शुद्ध में भी रहेगा। जो 'उपयोगो लक्षणम्' सूत्र है, वो निगोदिया में भी लगेगा, सिद्धों में भी लगेगा, आप में भी लगेगा। ज्ञान–दर्शन निगोदिया में भी है, आपमें भी है और सिद्धों में भी है। चेतना है, तो चेतना लब्धि–उपयोग वहाँ भी लगेगा, सर्वत्र लगेगा।

हमारा ज्ञान दर्शन भी विभावरूप है, क्षायोपशमिक है, इसलिये अशुद्ध चेतना और उनका ज्ञान–दर्शन शुद्ध है, क्षायिक है, इसलिये शुद्धचेतना। 15 वीं गाथा की टीका में पद्मप्रभमलधारिदेव स्पष्ट कहते हैं–जैसे शक्कर है, उसकी चासनी आपने बनाई और

जैसे ही साँचे में डाला, तो पर्याय कैसी दिखेगी? पर वह पर्यायरूप परिणत कौन हुआ है? पर्याय जो अपन देख रहे हैं, वो शक्कर नाम का द्रव्य था, वो ही तद् पर्यायरूप परिणत हुआ। इसीप्रकार से जो आत्मद्रव्य है, वो जिस पर्याय में जाता है, तदाकार परिणत होता है। लेकिन तद्रूप नहीं होता, तदाकार हो गया है, वो ही उसकी विभावव्यंजन पर्याय हैं। नर–नारकादि जो अवस्थायें, 84 लाख योनियाँ हैं, ये जीवद्रव्य की विभावव्यंजन पर्याय है। व्यक्त है, इसलिये व्यंजन है। अर्थपर्याय अव्यक्त है, दिखती नहीं है। परन्तु प्रतिक्षण जो हो रही है, वह आपकी अर्थपर्याय चल रही है। अर्थपर्याय कोई हटके नहीं है। व्यंजनपर्याय का प्रतिक्षण का जो परिणाम है, वो ही अर्थपर्याय है। व्यंजनपर्याय में परिणमन चल रहा है, जो दृष्य नहीं है। अब शुद्ध अर्थपर्याय, अशुद्ध अर्थपर्याय। शुद्धद्रव्य में शुद्ध परिणमन होगा। अशुद्ध द्रव्य में अशुद्धपरिणमन होगा। सिद्धों में भी उत्पाद–व्यय होता है। ये ध्यान रखना कि लोक में ऐसा कोई द्रव्य नहीं है, जिसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यता नहीं होती हो, नहीं तो कूटस्थ हो जायेगा। शुद्ध में शुद्धरूप परिणमन होगा, अशुद्ध में अशुद्धरूप परिणमन होगा, स्वभाव में स्वभावरूप और विभाव में विभावरूप होगा।

भो ज्ञानी! ध्यान किसे कहते हैं? जिस वस्तु की प्राप्ति नहीं है, उस वस्तु की प्राप्ति के लिये ध्यान किया जाता है। पूज्यपाद स्वामी ने 'सर्वार्थसिद्धि' में ज्ञान की एकाग्रता का नाम ध्यान कहा है। यद्यपि ध्यान 12–वें गुणस्थान तक है। 13–वें, 14–वें में ध्यान उपचार से है, क्योंकि वहाँ ज्ञान प्रकट हो चुका है । वहाँ जो ध्यान है, वहाँ सहजवृत्ति है। सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति, व्युपरतक्रिया निवर्ति ये दो शुक्लध्यान हैं और उपचार कथन है। जहाँ चित्त की एकाग्रता की चर्चा की जाती है, उसे ध्यान कहा है। मूलसूत्र तो ये है कि चित्त की एकाग्रता का नाम ध्यान है। जहाँ चित्त ही नहीं, वहाँ एकाग्रता किसकी? ये विषय द्रव्यानुयोग और करणानुयोग से मिश्रित चल रहा है। 12–वें गुणस्थान तक चित्त है, मन है। जहाँ मन नहीं है, वहाँ ध्यान नहीं है। इसलिये 13–वें, 14–वें गुणस्थान तक उपचार–ध्यान कहा है। शुद्धद्रव्य का आश्रय लेंगे, तभी तो शुद्ध की प्राप्ति होगी। अशुद्ध का आश्रय लेंगे, तो अशुद्ध की प्राप्ति होगी। पर आश्रय निजशुद्धात्मा का ले रहे रहे हो कि शुद्ध का? दोनों बातें ध्यान रखना। शुद्धद्रव्य तो वास्तव में सिद्ध भगवान् हैं। जीवद्रव्य यदि कोई शुद्ध है, तो सिद्ध भगवान् और संसारीजीव अशुद्धद्रव्य है।

हम अन्य को अन्य में न लगायें। कुन्दकुन्द महाराज ने 'समयसार' जी में लिखा है–जिसको स्वर्ण आभूषण चाहिये तो वह स्वर्णद्रव्य की खोज करेगा। इसी– प्रकार से जैसा जीव सिद्धालय में विराजमान है, उसका अनुभवन करता है। मैं कर्मातीत हूँ,

वासनातीत हूँ, अष्टकर्म से रहित हूँ, ये ध्यान की अवस्था है। ध्यान की अवस्था में निःशुद्धात्मा को इसने ध्येय बनाया है और ध्येय बना करके, ध्यान करके फिर पृथ्वीधारणा, अग्निधारणा, वायुधारणा, जलधारणा इन धारणाओं को लेकरके क्रम से वो देखता चला जा रहा है और अष्टकर्म से रहित हो गया। रूपस्थ के बाद रूपातीत ध्यान, निरंजनआत्मा का ध्यान होता है, वहाँ निज का आलम्बन होता है। जबतक परालम्बन है, तबतक पिण्डस्थ है, पदस्थ है, रूपस्थ है। जैसे–जैसे ज्ञानी ध्यान की ओर बढ़ता जाता है, वैसे–वैसे उसका ध्येय निज की ओर चला जाता है, ये शुद्ध द्रव्यदृष्टि है। जब नय से पूछेंगे, तो क्या कहेगा? शुद्ध द्रव्यदृष्टि से निज को ध्येय बनाकर वो ध्यान कर रहा है पर ध्येय वस्तु और ध्यान के लिये बनाई आपने, उसे आपने ध्येयरूप समझा। परन्तु जबतक ध्यान चल रहा है, तबतक सिद्धरूप नहीं है। बस, इतना ध्यान रखना।

निर्विकल्पता की ओर, शांति की ओर जाने के लिये आपको स्वरूप का ही चिंतन करना होगा। 'समाधिशतक' में आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने बहुत सुन्दर कथन किया है। अशुद्धपर्याय से निरपेक्ष होकर देख रहा है, लेकिन पर्याय का अभाव करके नहीं देख रहा है। पर्याय तो नियम से कोई–न–कोई होगी। इसी का नाम द्रव्य–दृष्टि है।

मा चिट्ठह मा जंपह, मा चिंतह किंवि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं।। द्र.सं. 56।।

यदि आप ऐसा कह रहे हो, कि मैं निर्विकल्प हूँ, मैं शुद्धरूप हूँ, तो अभी निर्विकल्प ध्यान नहीं चल रहा आपका। किसी प्रकार की चेष्टा मत करिये। अखण्ड ध्रुव की सत्ता में लवलीन योगी जब निर्विकल्प ध्यान में लवलीन होता है, तब उसे जिस पर्याय में रह रहा है, उस पर्याय का भान नहीं है। इसलिये अपन कुछ भी मत करो, आत्मा को आत्मा में लगा दो। ये अवस्था कब होगी? जब योगी बिल्कुल निर्विकल्प होकर बैठेगा।

भो ज्ञानी! जीवन में ध्यान रखना, कभी भी मंत्र का जाप करो तो बिना गुरु–उपदेश के कोई मंत्र लेके मत बैठ जाना। ये आचार्य नेमिचन्द स्वामी का आदेश है। जितने भी ध्यानग्रन्थ ज्ञानार्णव, तत्त्वानुशासन आदि हैं, सभी ग्रन्थों में एक शब्द दिया है कि गुरु का उपदेश चाहिये। ये ध्यान से समझना। इसलिये हम आश्रय किसका लेंगे? शुद्ध–आत्मा का आश्रय लेंगे। परन्तु अभी पंचपरमेष्ठी तुम्हारे मस्तिष्क पर स्थिर नहीं हो पा रहे हैं। शीतलनाथ भगवान् की प्रतिमा का ध्यान कर रहे थे, उसमें ही तुम चलाचल हो रहे हो, तो तुम आत्मद्रव्य को कैसे पकड़ पाओगे?

भो ज्ञानी! आप पहले ध्यान करें पंचपरमेष्ठी का। पंचपरमेष्ठी में श्रद्धा आती जायेगी, तो स्वयं ध्यान, ध्याता, ध्येय बन जायेगा, फिर विकल्प नहीं होगा। परन्तु निर्विकल्प ध्यान के लिये बैठेगा, तो निर्विकल्प नहीं बन पायेगा। किसी ने कहा–मैं निर्विकल्प ध्यान करने बैठ रहा हूँ,, निर्विकल्प में बैठ रहा हूँ, तो आप निर्विकल्प में जा नहीं पाओगे। जैसे किसी ने हाथ में एक थाली ली और उस थाली में भरा पानी। वो कह रहा है कि मैं पानी पीऊँगा। कब? जब ये थाली का पानी स्थिर हो जाये। और हाथ में थाली लिये–लिये पानी स्थिर होगा नहीं, क्योंकि आपके शरीर का परिस्पंदन वहाँ होगा। तो क्या करें? आप रख दो उसको, जैसी है वैसी। अपने आप स्थिर हो जायेगा। ऐसे ही जो मन को वश में करना चाहता है, वो अज्ञानी बना बैठा है संसार में, कि मैं वश में करूँ। ऐसे वश नहीं होता। मन कोई ऐसी वस्तु नहीं है। मन को विषय दे दीजिये। जो अशुभविषय में जा रहा है, उसको शुभविषय दे दो। जब शुभ में लगेगा, तब धीरे–धीरे उत्कृष्ट की ओर चला जायेगा। भो ज्ञानी! वो ही तेरा शुद्ध चिद्रूप की ओर बढ़ जायेगा। इसका नाम मनवशीकरण है। ज्ञान–वैराग्य की रस्सी से ही मन को वश में किया जा सकता है अन्य कोई दूसरा उपाय नहीं है।

भो ज्ञानी! द्रव्यमन के अभाव में भावमन कभी काम नहीं करेगा और यदि भावमन नहीं है तो द्रव्यमन कार्यकारी नहीं है। अरिहन्तों के द्रव्यमन तो होता है, पर भाव–मन नहीं होता। भावमन कौन–सी वस्तु है? क्षयोपशम का नाम भावमन है और जिनके मन नहीं है, वे काम कैसे करेंगे?

भो बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी नियमसार जी में पर्याय का कथन कर रहे हैं। स्वभावपर्याय, विभावपर्याय। पुद्गलद्रव्य शुद्धपरमाणु सादि–सान्त हैं। क्योंकि यह विशेषता है पुद्गल और जीव में। अन्तर इतना ही है कि जीव एकबार शुद्ध हो जाये, तो पुनः अशुद्ध नहीं होता है लेकिन पुद्गल जो है, वो शुद्ध होकर भी पुनः अशुद्ध हो जाता है। क्यों? परमाणु है, पुनः स्कन्ध हो जाता है। जो स्कन्ध है, परमाणु हो जाता है। लेकिन जीवद्रव्य कभी शुद्ध से अशुद्ध नहीं होता है। जैसे जला हुआ बीज पुनः अंकुरित नहीं होता है, इसीप्रकार से जो आत्मा सिद्धालय में विराजमान हो चुकी है, कितने ही काल व्यतीत हो जायें, पुनः संसार में वापस नहीं आयेगी। ऐसा नहीं है कि जब धर्म की हानि होने लग जाये, असुरों की वृद्धि होने लग जाये, तो फिर अवतार ले ले । जैनसिद्धान्त ऐसा नहीं मानता। ये अवतारवादी दर्शन नहीं है, ये तो तारवादी दर्शन है अर्थात् यह आत्मा के तरने और तारने में विश्वास करता है। ये ईश्वर की सत्ता को नहीं मानता है। एकान्त नहीं है,

अद्वैत–एकान्त नहीं है। एक परम ब्रह्म है, दूसरा है ही नहीं, इस बात को जैनदर्शन मानता ही नहीं है। ब्रह्मवादी दर्शन कहता है कि एकमात्र ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं है। आपका सांख्य सूत्रग्रन्थ है। सांख्य सूत्र में कहा है कि अविद्या के प्रभाव से आत्मा संसार में भटकती है। तो आत्मा और अविद्या, दो हो गये, अद्वैत कहाँ बचा? 'गीता' सांख्यदर्शन का ग्रन्थ है। वहाँ पर भी लिखा है कि नारायण श्रीकृष्ण कहते हैं–'हे पार्थ! कर्म करो, कर्मफल की आकांक्षा मत करो। फल मिलेगा, जब मिलेगा।' तो कर्म अलग है, फल अलग। एक हुये, कि दो?

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने अपने ग्रन्थों में लिखा है कि ये जीव जब मुक्त हो जाता है, तो अलौकिक–अवस्था को प्राप्त कर लेता है। लोक से परे हो जाता है। भो ज्ञानी! जो मोक्ष की सत्ता को मानता है, उसे नियम से बन्ध की सत्ता को मानना पड़ेगा। जो बन्ध की सत्ता को नहीं मानता, तो 'मोक्ष की सत्ता' नाम की कोई वस्तु नहीं। जब तूने ग्रहण ही नहीं किया, तो छोड़ेगा किसको? **'मुंच'** धातु से मोक्ष की सिद्धि होती है। आपको ये स्वीकार करना पड़ेगा कि बन्ध है, तभी मोक्ष है। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में कार्तिकेय स्वामी ने इस कथन को स्पष्ट किया है। कार्तिकेय स्वामी ने लिखा है–जब ये जीव बन्ध को तोड़ देता है, तो सिद्ध, शुद्ध, ध्रुव हो जाता है।

भो ज्ञानी! आपकी आत्मा की सिद्धत्व–शक्ति का विनाश नहीं है। सिद्धत्व– शक्ति पर आवरण पड़ा हुआ है। विनाश मत मान लेना, अभाव मत मान लेना। परन्तु व्यक्तपने का अभाव है, अव्यक्त है।

'एक मैं हूँ, द्वितीय कोई है ही नहीं।' तो आप ध्यान रखना कि आप अरिहंतमत वाले नहीं हो। बस मैं ही अकेला हूँ, ये मात्र एकत्वदृष्टि है। इसलिये पर–सम्बन्ध का अभाव मत कर देना। आप अनित्य–भावना पढ़ोगे, तो क्या कहोगे? सब विनश्वर है, सब नष्ट होनेवाला है। परन्तु वहाँ ध्यान रखना, द्रव्य को मत रख देना। क्योंकि पर्याय में आपका राग चल रहा है। उस पर्याय के राग से नाना पर्यायों को प्राप्त कर रहे हो। इसलिये पर्याय की दृष्टि से कथन है, न कि द्रव्य– दृष्टि से कथन है। अनित्य–भावना द्रव्यदृष्टि से नहीं कही जाती । अनित्य–भावना पर्यायदृष्टि से है क्योंकि वैराग्य तो आए, पर सिद्धान्त को नाश करके न आए। नहीं तो तुम ऐसे वैरागी बन गए कि सब नष्ट होने वाला है।

भो ज्ञानी! सत् कभी भी नष्ट नहीं होगा। वैराग्य में भी सिद्धान्त निहित होता है। वैराग्य की बातें, नीति की बातें, ये तो सभी दर्शनों में समान हैं। भर्तृहरि का वैराग्यशतक,

इसमें वैराग्य भरा है, श्रृंगारशतक, नीतिशतक। भैया! नीति और वैराग्य की बातें समान मिल जायेंगी। इन सबमें मेलजोल हो सकता है, पर सिद्धान्त में कोई मेलजोल नहीं होगा। आचार्य कार्तिकेय स्वामी ने जो अनित्य– भावना का वर्णन किया, तो उनको लगा कि अनित्य–भावना का वर्णन तो कर रहा हूँ, कहीं हमारी अनित्य–भावना बौद्धदर्शन न बन जाये। उन्होंने अपनी एक गाथा में ऐसा कथन किया कि अनित्य का भी कथन हो गया और नित्य का भी कथन हो गया। अनित्य भावना में संसार क्षणभंगुर है, कोई शाश्वत नहीं है। पर्याय कह दो, क्योंकि हमारा दर्शन वैराग्य कराना चाहता है, अभाव नहीं। जो अभाव हो जायेगा, तो वैराग्य किसकी ओर रहेगा? वैराग्य तो कराना चाहता है बारह भावनाओं के द्वारा, परन्तु किसी द्रव्य का अभाव नहीं। जो कुछ भी उत्पन्न हो रहा है, उसका भी विनाश नियम से है, कोई टाल नहीं सकता। परन्तु कैसे? पर्याय स्वरूप से, पर्यायदृष्टि से कोई भी पदार्थ शाश्वत नहीं है, पर द्रव्यदृष्टि से कोई भी पदार्थ अशाश्वत नहीं है। क्योंकि हमारे यहाँ मोक्ष तो है, पर आत्मा का अभाव नहीं है। अशुद्धपर्याय के अभाव का नाम मोक्ष है, परन्तु द्रव्य के अभाव का नाम मोक्ष नहीं है। क्योंकि पर्यायदृष्टि से पर्याय क्षणिक है, लेकिन त्रैकालिक पर्याय का अभाव नहीं है। द्रव्य जहाँ भी रहेगा, वो पर्याय से सहित ही रहेगा, चाहे वह अशुद्ध हो, चाहे शुद्ध हो। पर्याय नित्य भी है और अनित्य भी है इसलिए पर्याय नित्यानित्य भी है। इसमें सप्तभंग लगेंगे। आपकी पर्याय नित्य भी है, अनित्य भी है, नित्यानित्य भी है। नित्य स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् अस्ति–नास्ति, स्याद् अवक्तव्य, स्याद् अस्ति अवक्तव्य, स्याद् नास्ति अवक्तव्य, स्याद् अस्ति–नास्ति अवक्तव्य।

भो ज्ञानी! ध्यान रखना **''नय योगेन्, न सर्वथा।''** जो कुछ कथन जिनागम करता है, नय के योग से करता है। जो त्रैकालिक नित्यपर्याय है, वो भी अनित्य है नय योगेन। अर्थपर्याय का परिणमन मानोगे कि नहीं? सुमेरूपर्वत है, नंदीश्वरद्वीप है, अकृत्रिम जिनविम्ब हैं। इनकी पर्याय शाश्वत एवं त्रैकालिक है। लेकिन उसमें भी परिणमन होता है और अर्थपर्याय का परिणमन हो रहा है।

पदार्थ परिणामी है। पर परिणामी ही नहीं, अपरिणामी भी है। अगुरु–लघु क्या कहता है? जिस कर्म के उदय से जीव रुई जैसा हल्का न हो और लोहे जैसा भारी न हो। आप चलते हो, दूसरे को अपनी पीठ पर रखकर चलो, वजन होता है। जब स्वयं चलते हैं, तो स्वयं का वजन महसूस नहीं होता। ये नामकर्म है। ये अगुरु–लघु नामकर्म चल रहा है।

अगुरु–लघुत्व नामकर्म के उदय से ये जीव की दशा बनती है। ध्यान रखना, पर्याय अशाश्वत है और शाश्वत भी है। क्षणिक भी है और त्रैकालिक भी है इसलिये नय अपेक्षा से लगाना।

भो ज्ञानी! ये वैराग्य की भावना है कि पर्याय क्षणिक है। भैया! 60 साल के तो हो गये होंगे, क्षणिक थे, तो 60 साल किसके हुये? इसलिये क्षणिक भी है और अक्षणिक भी है। ये मनुष्यपर्याय सादिसान्त है। परन्तु ऋजसूत्र नय आपसे कहेगा कि क्षणिक है, प्रतिक्षण बदल रही है परन्तु पर्याय त्रैकालिक शाश्वत नहीं है, लेकिन सांख्य की अपेक्षा पर्याय शाश्वत है। नय के बिना चल नहीं सकते । नय के बिना कुछ समझ नहीं सकते हो, अनुभव भी नहीं कर सकते हो। यदि ये मान लिया कि मैं क्षणिक हूँ, फिर उस मनुष्यपर्याय का वेदन कौन करेगा? जीव की श्रद्धा के अनुसार अनुभूति होती है।

ध्यान रखना, किसी व्यक्ति ने आपको दुग्ध दिया, मिलानेवाले ने वास्तव में मिश्री मिलाई थी, लेकिन आपको बोल दिया जहर। अब आपकी हिम्मत नहीं है कि उसको पी लें। पता नहीं वो अध्यात्म और सिद्धान्त कहाँ गोल हो जायेंगे। बोलो, होनहार होये, तो हो जायेगी। 'अरे! जानकर थोड़ी पिया जाता है, जानकर थोड़ी मरा जाता है' ऐसा बोलेगा जीव। जब हमें मालूम है, कि जहर डाल दिया है, तो मैं क्यों पीऊँ? होनहार, काललब्धि पलायन कर हो जाती है। वो तो काललब्धि, तब आती है जब कोई बोले–मुनि बन जाओ। बोले–काललब्धि आएगी, तो बन जायेंगे। लेकिन कोई कह रहा है कि ये जहर है, पीलो। भैया! वो श्रद्धा का विषय था।

भो ज्ञानी! नय जो है, वो श्रद्धा भी उत्पन्न कराता है। नय झूठा नहीं है, सत्य है। सत्य कोई कहता है, उसी का नाम नय है, अन्यथा कुनय है। यदि कोई इस चिन्ता में बैठ जाये कि महाराज श्री! मेरी बुद्धि में आगम नहीं चढ़ रहा है। वो हताश हो रहा है, ज्ञान के नाम पर संक्लेशता कर रहा है, तो अशुभ आस्रव होगा।

जिनवाणी में 22 परीषह कहे गये हैं। उनमें अज्ञान नाम का परीषह है। जो बार–बार भी याद कर रहा है, रट रहा है, सबकुछ कर रहा है, फिर भी याद नहीं होता है, तब संक्लेशता बढ़ जाती है।

जिस समय मैं संघ में आया। आचार्य महाराज ने भिण्ड में 'द्रव्यसंग्रह' पढ़ाया। आठ दिन तक एक गाथा पढ़ायी। मैं आठ दिन में एक गाथा याद नहीं कर पाया, नौवें दिन जब मैं स्वयं पुस्तक लेके गया और आँखों से आँसू टपकने लगे। बोला–महाराज! हमसे याद नहीं हो रहा है। हमने आँसू टपका कर ग्रन्थ रख दिया महाराज जी के पास और एक

किनारे खड़े हो गये। ब्रह्मचारी था। हमने कहा– महाराज जी! आठ दिन हो गये हैं, याद ही नहीं हो रहा है। महाराज जी बोले– घबराओ नहीं। आर्शीवाद दिया कि याद हो जायेगा। चले आये, क्या कर सकते थे? क्षुल्लक दीक्षा दे दी, 'द्रव्यसंग्रह' याद नहीं है। क्षुल्लक दीक्षा हो गई, मुझे बुद्धि में याद नहीं है, पर याद हो चुका था। बिहार करते हुए, टीकमगढ़ के पास ओरछा गाँव पड़ता है। संघ में नियम था कि प्रातः भक्ति के बाद एक ग्रन्थ का पाठ होता था, तो मैं अपनी पुस्तक खोल कर पढ़ता था। अब विहार में पुस्तक की व्यवस्था नहीं बनी। आचार्यश्री पाठ कर रहे थे और जैसे ही उन्होंने पाठ शुरू किया, तो पाठ करते में हमने पाठ कर लिया। उस समय कितनी खुशी हुई, मैं आपको नहीं बता सकता। हमने कहा, 'मुझे तो याद नहीं था, ये पाठ कैसे हो गया?' फिर बाद में यह समझ में आया कि 'मूलाचार' में ही लिखा है–

भत्तीय जिणवराणां, खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं।

आयरिय पसाएण च, विज्जा मंता य सिज्झंति।। मूलाचार 57।।

अरहंतदेव की भक्ति पूर्वसंचित कर्मों को क्षय करा देती है। निधत्ति– निकाचित कर्म के बन्ध को शिथिल करने का कोई मार्ग है, तो मात्र अरहंतदेव की भक्ति। गुरु कितना ही कठोर अनुशासक हो, पर चरणों में पड़े रहो, तो नियम से मिलेगा। आचार्य परमेष्ठी के प्रसाद से विद्या, मंत्र की सिद्धि स्वयमेव हो जाती है, करना नहीं पड़ती। यह गाथा प्रयोग में पहले ही आ चुकी थी, सिद्धान्त तो बाद में याद किया था। ज्ञान के लिए कभी सन्तुष्ट मत हो जाना। ज्ञानी बनने के लिये हमेशा बालक बनकर जीना और संयम के लिये हमेशा बूढ़े बन जाना, क्योंकि आयु का भरोसा नहीं है। उस समय आचार्यश्री ने एक ही सूत्र दिया था–घबराओ मत, पढ़ते रहो, बस। आचार्य महावीरकीर्ति महाराज का ये सूत्र था–

''शनैः शनैः कन्थाः शनैः शनैः पन्थाः शनैः शनैः ग्रन्थाः।''

हम सम्मेदशिखर की वंदना करने जाते हैं। अगर हम चाहें कि अभी चढ़ जायें, तो घबरा जायेंगे। आप तो नीचे देखते रहो और चलते जाओ धीरे–धीरे, जब पार्श्वनाथभगवान् की टोंक आ जाये, पार्श्वनाथ स्वामी के चरणों में पहुँच जाओ, फिर नीचे देखना। फिर लगेगा कि इतने ऊपर कैसे आ गये, इतनी दूर कैसे आ गये? तो शनैः शनैः पन्थाः (पथ), पार हो जाते हैं। कथरी में एक–एक धागा डालता हैं, तो कितनी बड़ी कथरी बन जाती है। शनैः शनैः कन्थाः। ग्रन्थ में पहले देखा कि कितने पृष्ठ हैं, तो घबरा जायेगा। एक–एक पृष्ठ पढ़ते जाओ, ग्रन्थ पूरा हो जायेगा। आप पढ़ते जाओ, आगे–आगे

पढ़ते जाओगे, तो विषय सुलझता जायेगा। एकबार में समझ में नहीं आये, तो दसबार पढ़ो, लेकिन पढ़ो जरूर, समझ में अवश्य आयेगा।

भो ज्ञानी! इतना जरूर सीख लेना कि जिससे जन्म–मरण का क्षय हो जाये। मोक्ष जाने के लिये बहुतकुछ सीखने की जरूरत नहीं है। पांच समिति, तीन गुप्ति अच्छे से जान गये, इससे मोक्ष हो जायेगा। जिनवाणी में इसे 'अष्टप्रवचन–मातृका' कहा गया है। एक निर्ग्रन्थ मुनि के लिये इतना ज्ञान होना अनिवार्य ही है। पाँच समिति, तीन गुप्ति जिसने प्राप्त कर ली, इससे बड़ा ज्ञानी कौन होगा? पर इतना ज्ञान तो होना चाहिये, इससे कम ज्ञान नहीं होना चाहिये, ज्यादा कितना ही हो जाये। स्तोक (अल्प) ज्ञान भी मोक्ष का कारण है। बहुतज्ञान भी संसार का कारण है। क्यों? मोह से सहित बहुत ज्ञान संसार का कारण है। निर्मोही का अल्पज्ञान भी मोक्ष का कारण है।

भो ज्ञानी! समन्तभद्र स्वामी ने देवागम–स्तोत्र लिखा है। यदि अल्पज्ञान है, तो भी मोक्ष है। बहुज्ञान भी है, तो बन्ध है। बहुज्ञान मोक्ष का हेतु नहीं है और स्तोकज्ञान मोक्ष का हेतु है, सम्यक्त्व के साथ है तो। सम्यक्त्व के साथ शास्त्रों का कम ज्ञान है, तो भी मोक्ष हो जायेगा परंतु सम्यक्त्वरहित ज्ञानी कभी मोक्ष नहीं जा सकता।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने 'समयसार' में स्पष्ट लिखा है–मात्र पाठ गुणकारी नहीं होता। दुग्ध में मिश्री डालकर सर्प को पिलाओ, तो भी सर्प निर्विष नहीं होता । ऐसे ही अभव्यजीव को कितना ही श्रुतज्ञान हो, वो कभी भव्य नहीं बन सकता। पर्याय को पर्याय समझो, द्रव्य को द्रव्य समझो, पर पर्याय में उलझ मत जाना। ज्ञानी तो बन रहे हो, पर ज्ञान में ही उलझ मत जाना। ज्ञान उलझने के लिये नहीं होता, ज्ञान सुलझने के लिये होता है।

भो ज्ञानी! प्रभाचन्द स्वामी लिखते हैं–अमृत विषहरण के लिये होता है और अमृत से ही विष चढ़ने लग जाए, तो तुम निर्विष किससे होगे? ज्ञान अबन्धता के लिये प्राप्त किया जाता है, ज्ञान बन्धन के लिये नहीं प्राप्त किया है। यदि ज्ञान से ही बन्ध होने लगा, तो अब निर्बन्ध कैसे होंगे? मोही का ज्ञान ही बन्ध का कारण होता है। मोही ध्यान रखना जितना ज्यादा ज्ञानी होगा, उतना ज्यादा बन्ध को प्राप्त होगा।

कोई मिथ्यादृष्टिजीव है, खेती कर रहा है, पेट भर रहा है। मंदकषाय में जी रहा है। कर्म आस्रव तो हो ही रहा है, पर कम हो रहा है। एक मिथ्यादृष्टिजीव की बड़ी तीक्ष्णबुद्धि चलती है। इसके साथ छल, उसके साथ कपट करता है। यह एक उदाहरण मानो, यह एक जीव की दशा है। जितना ज्यादा ज्ञान हो जायेगा और उसकी बुद्धि जितनी तीक्ष्ण होगी, उतना ही तीव्रपाप का आस्रव करेगा।

मनीषियो! व्यापार के लिये दिमाग लगाना पड़ता है। हर विषय के लिये ज्ञान चाहिये पड़ता है। एक विद्वान् ने 'षट्खंडागम' की वाचना की और पूरा मुनिसंघ विराजा उनके सामने। वाचना आचार्य महाराज के सान्निध्य में हुई। जब विहार होने लगा, तो पंडितजी के मन में आया कि इतने दिनों तक साथ रहे महाराज जी के, तो थोड़ी दूर तक विहार और करा दें। छलकपट नहीं था उनके मन में। विहार कराया। विहार में आहार देनेवाले श्रावक कम थे तो लोगों ने कहा–पंडित जी! आप धोती पहन लो, आप महाराज को आहार करा दो। पंडित जी ने धोती तो पहन ली, पर आहार कराते नहीं बनता था। क्योंकि अभीतक उन्होंने भोजन किया था। न स्वयं आहार किया था और न किसी को कराया था। क्या करें? इतना बड़ा विद्वान्, 'षटखण्डागम' की वाचना कर रहा है, पूजा करते– करते भूल गया, बोले–ब्रह्मचारी जी को बुलाओ, क्या करना पड़ता है? क्योंकि उनसे नवधा–भक्ति नहीं बनती थी। नवधा–भक्ति कहने का तो ज्ञान था, परन्तु नवधा–भक्ति करने का ज्ञान नहीं था। क्रियाओं और सिद्धान्त में बहुत अन्तर होता है।

एक नगर की घटना है, हम ब्रह्मचारीजी और ऐलकमहाराज को कातंत्र– व्याकरण पढ़ा रहे थे। एक इंजीनीयर साहब आ गये और बैठ गये। हमने त्यागियों से पूछा–वर्णमाला क्या है? तो इंजीनीयर ने कहा–महाराज! अ,आ,इ,ई पढ़ा रहे हैं। हमने कहा–तुम शान्ति से बैठ जाओ। लेकिन उस जीव को अहम् आ गया, कि मैं इनसे ज्यादा ज्ञानी हूँ। क्योंकि ये लोग तो अ, आ, इ, ई पढ़ रहे हैं। वो इंजीनीयर भी थे और पंडित जी भी थे। हमने कहा, आप वर्णमाला सुनाओ और जैसेही उन्होंने शुरू की, वे चौदह स्वर पर ही अटक गये। बोले–महाराज जी! कल से हम भी आने लगें? कभी–कभी ग्रन्थ तो जीव पढ़ लेता है, पर वास्तव में आप पुस्तक पढ़ने लगे, तो उनको फेरना बन्द कर दिया। कुछ लोग धवला, जयधवला, महाबन्ध पढ़ लेते हैं, परन्तु जैनसिद्धान्त में इनके प्रश्न नहीं बता सकते, उनका उत्तर नहीं बता सकते हैं। भो ज्ञानी! ज्ञानी तो बनना, परन्तु ज्ञान में अहम् मत लाना और ज्ञान नहीं हो रहा है, तो हीनभावना भी मत लाना।

'व्यंजन पर्यायश्च–पर्यायिणमात्मबोधमन्तरेण'

भो ज्ञानी! व्यंजन पर्याय किसे कहते हैं? जो दिखती हो, पकड़ी जाती हो, जो अनुभव में आ रही है, ये सब व्यंजनपर्याय है। ये मात्र जीव, पुद्गल की ही आपको दिखेगी। ये ध्यान रखना, व्यंजनपर्याय दो ही द्रव्य में होती है–जीव और पुद्गल में। प्रदेशत्व गुण कहता है कि प्रत्येक द्रव्य का कोई–न–कोई आकार है। तो आकार जो है, वह अपने प्रदेशों में आकार है।

आचार्य शुभचंद स्वामी ने 'ज्ञानार्णव' में श्लोक लिखा है–

धर्माधर्मनभःकालाः, पुद्गलैः सह योगिभिः।

द्रव्याणि षट् प्रणीतानि, जीवपूर्वाण्यनुक्रमात्।।26।।

व्यंजनपर्याय दो ही द्रव्यों में होती है, जीव और पुद्गल में। कुन्दकुन्द महाराज ने लिखा कि मात्र दो ही द्रव्यों (जीव और पुद्गल) में व्यंजन पर्याय होती है। चार द्रव्यों में अर्थपर्याय होती है, क्योंकि वहाँ विभावपरिणमन नहीं होता।

भो ज्ञानी! क्या पर्याय पर्यायी होती है कि द्रव्य पर्यायरूप होता है? आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव टीका में कह रहे हैं, आत्मबोध के अभाव से क्या करता है जीव? पर्यायभाव से शुभ–अशुभ परिणाम। जीव, विभाव से नरपर्याय को प्राप्त होता है। जब पुण्य और पाप मिश्रित होता है, तब ये जीव मनुष्य बनता है। पुण्य की तीव्रता होगी, तो नियम से देव बनेगा। पाप की तीव्रता होगी, तो मनुष्य नहीं, नारकी बनेगा। पुण्य–पाप की महिमा से ये सब दिख रही हैं। पुण्य–पाप ने कितना आपके साथ उपकार किया कि मनुष्य बना दिया, मुनि बना दिया। जो इस पर्याय को व्यर्थ के भोगों में लगा रहा है, उसके साथ उपकार नहीं, अपकार है, क्योंकि फिर नीचे चला जायेगा।

आचार्यों/विद्वानों के मुख से प्रवचन में तो हमने भी सुना है कि 48 भव मिलते हैं लेकिन स्वतंत्र पढ़ने को आज तक नहीं मिला है। ये जरूर है कि इस जीव को त्रसपर्याय के 2000 सागर मिले हैं। अब 2000 सागर में कितने भव तुम्हारे लिये रह गये, कितने मिलने वाले हैं? भो ज्ञानी! इतना ध्यान रखना, मात्र त्रसपर्याय लगाना, दो इंद्रिय से पंचेन्द्रिय।

पुण्य–पाप की मिश्र–अवस्था से ये जीव मनुष्यपर्याय को प्राप्त होता है। जबतक ये आत्मा नर के आकार रूप परिणत नहीं होगी, तबतक नरपर्याय नहीं होगी। केवल अशुभकर्म के माध्यम से आत्मा विभाव से नरक में जाता है तो आत्मा का आकार नरक के नारकी का होगा, वो नरकपर्याय है। आत्मा ने मायाचारी के साथ मिश्रपरिणाम किये, तो तिर्यंचअवस्था को प्राप्त हुआ । व्यवहार से वो आत्मा उस तिर्यंच के आकार में होती है, इसलिये वो तिर्यंचपर्याय है।

सिद्धान्त का दूसरा नियम है कि यदि आपने मनुष्यआयु का बन्ध कर लिया, फिर मायाचारी की, तो स्त्रीपर्याय की प्राप्ति होगी। माताओं! आप सबने मनुष्य– आयु का बन्ध किया, पर मायाचारी साथ में की थी, इसलिये आपको स्त्रीजाति में जन्म लेना पढ़ा। इससे बड़ी पराधीन व्यवस्था संसार में कहीं नहीं। इसका वर्णन आपलोग देख लेना 'पद्मपुराण'

में। जब सूर्पनखा और सीता का विसंवाद हुआ। सूर्पनखा जब राम, लक्ष्मण पर मोहित हो गई, तब उससमय सीता से चर्चा हुई। वो तत्त्व की बड़ी सुन्दर चर्चा है। अतः ये ध्यान रखना कि छलकपट नहीं करना।

मैं मुनि हूँ। गुरुमहाराज ने कोई आदेश दिया कि ऐसा करो। मैं कह रहा—'क्या मैं ही अकेला शिष्य हूँ? मैं ही सबकुछ करूँ? और भी तो कितने सारे चेला हैं, उनसे क्यों नहीं कहते?' ऐसे परिणाम साधु के मन में आ गये गुरु के प्रति, तो जिनवाणी में लिखा है, देवदुर्गति होगी अर्थात् भवनत्रिक में जाना पड़ेगा, क्योंकि आपके परिणाम गिर गये। इसलिये सहज में रहो। परिणाम कलुषित हो गये, तभी आयुबन्ध हो गया, तो अशुभगति में जाना पड़ेगा। घबड़ा नहीं जाना हमारी बातें सुनकर। घबराने के लिये नहीं संभलने के लिये कह रहा हूँ।

अहो! जिन भावों की सरिता में बड़े—बड़े गजराज बह जाते हों, उन भावों की सरिता में प्यारे मूषको ! तेरा क्या होगा? जिस नदी की बाढ़ में हाथी बह जाये, उस नदी की बाढ़ में चूहे की क्या रक्षा होगी? ध्यान करना, छल—कपट नहीं करना। आयुबंध भी कर लिया हो तो, स्त्रीपर्याय में जाना पड़ता है, सिद्धान्त का नियम है। इसमें आप क्यों और क्या नहीं कह सकते हो क्योंकि सिद्धान्त में कोई तर्क नहीं होता है।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **चतुर्गति के स्वरूप निरूपण का कथन।**

माणुस्सा दुवियप्पा, कम्ममहीभोगभूमिसंजादा।
सत्तविहा णेरइया, णादव्वा पुढविभेदेण।।16।।
चउदहभेदा भणिदा, तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा।
एदेसिं वित्थारं, लोयविभागेसु णादव्वम्।।17।।

संस्कृत छाया : **मानुषाः द्विविकल्पाः कर्ममहीभोगभूमिसंजाताः।**
सप्तविधा नारका ज्ञातव्याः पृथ्वीभेदेन।।16।।
चतुर्दशभेदा भणितास्तिर्यंचः सुरगणाश्चतुर्भेदाः।
एतेषां विस्तारो लोकविभागेषु ज्ञातव्यः।।17।।

अन्वयार्थ : (कर्ममहीभोगभूमिसंजाताः) कर्मभूमि में उत्पन्न हुये और भोगभूमि में उत्पन्न हुये (मानुषाः द्विविकल्पाः) मनुष्य दो प्रकार के होते हैं (पृथ्वी भेदेन) पृथ्वी के भेद से (नारकाः) नारकी (सप्तविधाः ज्ञातव्याः) सात प्रकार के जानना चाहिये (तिर्यंचः चतुर्दशभेदाः भणिताः) तिर्यंचजीव चौदह भेद सहित कहे गये हैं (सुरगणाः चतुर्भेदाः) देवगण चार भेद वाले हैं। (एतेषां विस्तारः) इन चारों गतियों के जीवों का विस्तृत विवरण (लोकविभागेषु ज्ञातव्यः) लोकविभाग आदि लोकानुयोग के ग्रन्थों से जान लेना चाहिये।

भो बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने पर्याय का कथन करते हुए संकेत दिया कि जिस समय जैसा कर्म–आस्रव किया, वैसे कर्म के अनुसार आयुकर्म का आस्रव हुआ। उस आयुकर्म के आस्रव के अनुसार जीव को पर्याय की प्राप्ति हुई। उस आस्रव का कर्ता जीव है। वास्तव में मन, वचन, काय आस्रव नहीं है। मन, वचन, काय के माध्यम से आत्मप्रदेशों की जो चंचलता है, मन, वचन, काय के माध्यम से आत्मप्रदेशों का जो परिस्पंदन है, उससे कर्म का आस्रव होता है। प्रदेशों का परिस्पंदन कोई जड़ नहीं कर रहा, आत्मा ही कर रहा है, परन्तु कर्म निमित्त है। परिणाम आत्मा का है, कर्म वहाँ निमित्त है। कोई भी कर्म का विपाक आता है, वो किसी–न–किसी निमित्त को लेकर आता है, जिससे दोषारोपण निमित्त पर हो जाता है।

भो ज्ञानी आत्माओ! थोड़ा समझना। वो जीव अज्ञानी है जो किसी से पूछे कि मेरा गमन कहाँ होने वाला है? छात्र अध्यापक से पूछे–कि साहब! मैं पास होऊँगा या फेल? कितना अज्ञानी है। अरे! उत्तरकापी अध्यापक ने लिखी, कि तूने लिखी? वास्तव में उत्तीर्ण– अनुत्तीर्ण का जो फल है, वह छात्र स्वयं जानता है। ऐसे ही ये केवलीभगवान् से पूछने की आवश्यकता नहीं बची, योगी महाराज से पूछने की आवश्यकता नहीं बची कि मेरी आगामी पर्याय क्या है? आप कापी पर क्या लिख रहे हो, पहले ये बताओ? परिणाम तुम्हारे मायाचारी के हैं, तो ध्यान रखना कि तिर्यंच की व्यवस्था हो रही है। यदि बहु–आरंभ परिग्रह की दृष्टि बन रही है, तीव्रक्रोध–कषाय भड़क रही है, अंतरंग में झुलस रहे हैं, अशान्ति महसूस होती है, कभी–कभी अपने–आप पर गुस्सा आता है, तो समझ लेना कि मेरा दुर्गति/नरक–आयु का आस्रव हो चुका अथवा होने वाला है। ये ध्यान रखना। वो चाहता है कि मैं अच्छा करूँ, मैं अच्छा सोचूँ, लेकिन अशुभ–आयु का बन्धक न अच्छा कर पाता है, न अच्छा सोच पाता है। वो धर्मक्षेत्र में भी आयेगा, धर्मात्मा के पास में भी आएगा, वो चाहेगा कि मेरे अच्छे भाव हो जायें, लेकिन नहीं होते हैं।

भो ज्ञानी! बड़े ध्यान से समझना, आयुबंध का समय जीव को आठबार आता है। वो आठबार में भी नहीं हुआ, तो मरण के अंतर्मुहूर्त पहले ये जीव आयु का बन्ध करेगा, फिर मृत्यु होगी। बिना आयुबन्ध के किसी की मृत्यु नहीं होती । पर ये मत मान लेना कि अकालमृत्यु होती नहीं है। ऐसा जिनवाणी नहीं मानेगी। परन्तु गतिबंध भिन्न है, आयुबंध भिन्न है। एक काल में, एक भव में गतिबन्ध अनेक हो सकते हैं, पर आयुबन्ध एकभव में एक ही होगा।

विषय को अच्छे से समझना। किसी जीव को तीव्रक्रोध आ रहा था, अब सिद्धान्त क्या है? लेश्यास्थान देखो। सिद्धान्त आपसे पूछेगा–आप ये बताओ विशुद्धि स्थान में संक्लेशित स्थान की क्या भूमिका चल रही है? क्योंकि बंध से सुख नहीं है, बन्ध से दुःख नहीं है। क्या अद्भुत जैनदर्शन है। सुख के उदय में बन्ध नहीं होता, दुःख के उदय में बन्ध नहीं होता। सुख, दुःख के उदय से बन्ध होता, तो सबसे ज्यादा बन्ध केवली–तीर्थंकर को होना चाहिये क्योंकि विश्व का सबसे बड़ा सुखिया जीव वही है। पुण्य के उदय से बंध नहीं होता। पाप का उदय भी बन्ध का कारण नहीं है। 'उदय' शब्द का ध्यान रखना क्योंकि जैसे सनतकुमार चक्रवर्ती ने दीक्षा ली और ऐसे पापकर्म का उदय आया कि शरीर में कुष्ठ हो गया। कर्मउदय तो था, पर बन्ध नहीं था। भुज्यमान आयु में बन्ध नहीं है, पर भुज्यमान आयु के योग में संक्लेश और विशुद्धिस्थान है। तात्पर्य

ये है कि किसी की असाता का उदय आ गया कि शरीर में रोग हो गया, वो रोग बन्ध का कारण नहीं है। वो तो तुम्हारा कर्म उदय में आ गया, निर्जीर्ण हो रहा है, खिर रहा है। इसलिये तीव्रपुण्य के उदय में, तीव्रपाप के उदय में संभलना बहुत अनिवार्य है। जितना पाप के उदय में संभलना अनिवार्य है, उतना पुण्य के उदय में भी संभलना अनिवार्य है। कभी–कभी तो पाप का उदय परमात्मा की याद भी दिला देता है, पर पुण्य का उदय परमात्मा को भुला देता है।

किससमय बन्ध हो रहा है, ये आपको मालूम नहीं है, पर बन्ध तो हो रहा है। बंध–अपकर्षकाल में परिणाम अशुभ थे, तो नरक–आयु का बन्ध हो गया। पर समझे क्या? कोई समझदार ही समझ पायेगा। जीवनभर आपने धर्मसाधना की, पर मृत्यु के काल में वह कह रहा है–कि हल्ला मत करो, मुझे शांति से लेटे रहने दो। णमोकार सुना दूँ? बोला–कोई णमोकार नहीं। बोला–'बिस्कुट खाने को दो, नाती–पोता कहाँ हैं? मेरे पास बिठाल दो, सिर दबा दो।' ओफ ओ! देखो विडम्बना जीव की । अब सिद्धान्त क्या कह रहा है? कह रहा है कि सूर्य का उदय पहले नहीं होता, सूर्य की लालिमा पहले आती है। ये विपाक उदय में नहीं आया, अभी ये विपाक की लालिमा फैल रही है। अभी भाव कैसे बनना प्रारंभ हो चुके हैं। क्योंकि बन्ध–अपकर्षकाल में जीवनभर जो किया था, वो कहाँ गया? महाराज श्रेणिक से पूछो। जब एक योगी के गले में मृत–सर्प डाला था। देखो, पुद्गल पर पुद्गल ही डाला था। धीरे–से बोल देते हैं कि पुद्गल का परिणमन पुद्गल में हो गया। इस धोखे में मत रहना। वाणी की मधुरता में मत जाना। जिनवाणी को भी याद रखना। वहाँ पूरी व्यवस्था चल रही है। कर्मसिद्धान्त कहता है कि आप आश्चर्य मत करना।

जैनदर्शन तेईस–प्रकार की वर्गणाओं की चर्चा करता है। ये झूठी बातें नहीं हैं, वास्तविक हैं। सीडी में कुछ नहीं दिख रहा, लेकिन यदि आपने संपर्क (कनेक्शन) कर दिया और टेलीविजन रख दिया, तो दिखना प्रारंभ हो जाता है। जो कर्म का बंध हो रहा है जीव के साथ, दिख नहीं रहा है आपको। गति और आयु का बन्ध जब उदय में आता है, ये टेलीविजन है भैया! बता रहे हैं कि एक भव में कई गति का बन्ध तो हो सकता है, क्योंकि गति मूलप्रकृति नहीं है, उत्तरप्रकृति है। आयुकर्म, ये मूलप्रकृति है। जैसे टेलीविजन में तरंगें। पता नहीं कितने चैनलों की तरंगें हैं पर वही चैनल आती है, जिसकी आप लेते हो।

हमारा चैनल जो हमने लिया है, वो बन्ध को प्राप्त होगा यानि हमारे ज्ञानावरणीयरूप परिणाम होंगे तो ज्ञानावरणीकर्म का बन्ध होगा। किसी के दर्शनावरणीयरूप परिणमन हो

रहा है, उसको दर्शनावरणीय कर्म का बन्ध होगा। अभी आत्मा के प्रदेशों में इसका प्रकृतिबन्ध चल रहा है, स्थिर होते चले जा रहे हैं। प्रत्येक प्रदेश पर कितनी सीमा खिची है? स्थितिबंध कह रहा है, कि जो आप सत्ता में कर्म रखते चले जा रहे हो, जिन कर्मों की जैसी स्थिति है, वैसे–वैसे वे तुम्हारे काल में उदय होते चले जायेंगे। बिल्कुल सामने आयेंगे। फिर आप कहोगे कि मैंने तो पुद्गल पर पुद्गल फेंका था। राजा श्रेणिक ने कहा–मैंने तो पुद्गल पर पुद्गल फेंका था। शरीर ने तो भूल की, लेकिन अब भूलकरके भी भूल मत करना। बन्ध भी पुद्गल है, लेकिन भोगेगा कौन? आत्मा । देखना, आयुबन्ध किया नरक–आयु का, बात को पकड़ना। जीवनभर जिनवाणी सुनी, जब मरण का काल आया, परिणाम बिगड़ रहे हैं। अब चलो विपरीतता में। एकजीव बहुत क्रूरपरिणामी था, जीवन भर पाप किये, पर एक ऐसा संयोग मिला, कि भाव बदलते देर नहीं लगी।

भो ज्ञानी! जैनदर्शन घर छोड़ने की बात नहीं करती। आग्रह छोड़ो, कूटाग्रह छोड़ो। जो तुमसे परिचित थे, इनसे राग–द्वेष ज्यादा होता है। अपरिचित व्यक्ति गाली भी दे, तो तुम उसका कुछ नहीं करते हो और सगा कुछ भी कह दे, तो टूट पड़ोगे। इसमें बन्ध है, बंध का मूल है, क्योंकि इनमें राग–द्वेष तीव्र होता है। जब आपका अपकर्षकाल आया और उससमय आपको ऐसा संयोग मिला कि परिणाम अतिनिर्मल हो गया। क्योंकि देव–शास्त्र–गुरु का सान्निध्य मिल गया, जिनवाणी मिल गई, बंध उसका हो गया। देखनेवाले क्या कहेंगे? कि ये पापी है, दुराचारी है और जिसदिन से और जब उसकी मृत्यु का काल आयेगा तो क्या कहेगा? भैया! मैंने जीवनभर पाप किये हैं, अब अंतिमसमय में कुछ सुना दो। मेरी आत्मा का कल्याण कैसे होगा? जैनसिद्धान्त कह रहा है–''यथामति तथा गति''।

'परमात्मप्रकाश' में योगीन्दुदेव स्वामी ने लिखा है–जैसी गति होगी, नियम से तुम्हारी मति वैसी बनेगी और जैसी मति बनेगी, वैसी गति का निर्माण होगा। इसलिये गति सुधारना चाहते हो, तो मति सुधारना आज से ही शुरू कर दो। ये मत कहना कि मैं कल करूँगा। आपको मालूम तो है नहीं, कि बन्ध कब होगा हमारा? बन्ध कोई दूसरा नहीं करा रहा है हमारा। दिखता जरूर है कि मृत–साँप को शरीर पर डाल दिया, क्या हुआ? साँप ऐसे ही नहीं उठा था। जितना जहर साँप के शरीर में नहीं था, उतना जहर तेरे परिणामों में था। जब सांप डाला था मुनि के गले में, कितने क्रूरभाव हुए होंगे। किसी योगी पर उपसर्ग करना सहज बात नहीं होती है, तीव्रपुरुषार्थ करना पड़ता है, क्योंकि

व्यक्ति सहज में पाप नहीं कर पाता है। ऐसे ही मोह का तीव्र नशा आता है, राग का तीव्र नशा चढ़ता है, तब अन्धा होता है। राग का तीव्र नशा न चढ़े, तो पाप हो ही नहीं सकता । पाप तो पकवान है। पकवान तो स्वाद के लिये खाते हैं, जीवन जीने के लिये नहीं खाते हो। ऐसे ही भोग स्वाद के लिये भोगते हो, जीवन जीने के लिये तुम भोग नहीं भोगते हो। शब्द समझना, पाप पकवान है और जो जितना ज्यादा पकवान खायेगा, उतनी जल्दी बीमार हो जायेगा। रोटी रोज खाता है, फिर भी स्वस्थ रहता है । ऐसे ही जो जीव सहजभाव से रहता है, वो अच्छा जीवन जीता है, अच्छी आयु का बन्ध करता है परन्तु जो पाप–पकवान का सेवन करता है, उसी को रोग लगते हैं, दुर्गति का बन्ध होता है।

भो ज्ञानी! प्रतिक्षण सजग रहना, जैसे सायकिल–चालक रास्ते में आपस में कितनी–सारी बातें करता रहता है, फिर भी देखो पैडल चल रहा है, हैण्डल पर ध्यान बराबर रहता है। मुमुक्षुजीव संसार में गमनागमन कर रहा है, पर लक्ष्य ये रखे कि वास्तव में मुड़ना कहाँ है यदि जरा भी लक्ष्य से विहीन हुआ तो साइकिल सहित वहाँ से नीचे आ गया। ऐसे ही आप लक्ष्य से विहीन हुये, कि नीचे आये। प्रतिक्षण सजग रहने की आवश्यकता है।

बंध–अपकर्षकाल का समय निश्चित नहीं है। मात्र इतना है कि आयु के त्रिभाग में होगा। वो त्रिभाग कब आ रहा है, मालूम नहीं है। इसलिये भव्य आत्माओ! प्रतिपल, प्रतिक्षण सजग रहो, अन्यथा जीवनभर का करा–कराया एक क्षण में मिटट्ी में मिल जायेगा।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारि देव कलश में कह रहे हैं:–

अपि च बहुविभावे सत्ययं शुद्धदृष्टिः सहजपरमतत्त्वाभ्यासनिष्णातबुद्धिः। सपदि समयसारान्नान्यदस्तीति मत्वा स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः।।कलश 27।।

जिसकी बड़ी तीक्ष्णबुद्धि है, ऐसा शुद्ध सम्यग्दृष्टि बहुत प्रकार के विभावों के आने पर भी, कुशल नाविक की तरह नौका को खेवे। जब सागर में ज्वारभाटे आ रहे हों, लहरें तीव्ररूप धारण किये हों, उसमें नाविक को अपनी नाव को भी संभालना है और मार्ग को भी देखकर चलना है। भो ज्ञानी! ये जीवन एक नौका है, एक भवसागर है, पतवार है संयम ज्ञान है डोर। भो चेतन! तू नाविक है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये रत्न रखे हुये हैं। काम, भोग, विलासता के ये तूफान चल रहे हैं। बाह्य निमित्तरूपी लहरें दौड़ रही हैं। सामने कुछ दिख नहीं रहा। पाँचों इंद्रियों के भोग के अलावा और क्या दिखता है। ऐसे विभावों के आने पर भी जो परमब्रह्म को देख रहा है, वही कुशल नाविक है।

भो ज्ञानी! समझना, कर्मों में मोहनीय कर्म, व्रतों में ब्रह्मचर्य, गुप्तियों में मनोगुप्ति, इन्द्रियों में रसना–इंद्रिय ये चार बड़ी कठिन हैं। जिन जीवों को सल्लेखना की धारणा मन में आ रही हो, उन्हें मैं कह रहा हूँ–'रसना' पर नियंत्रण जरूर कर लेना। क्योंकि वासना कम हो जाती है, पर स्वाद बढ़ जाता है। ऐसे–ऐसे जीव भी देखे हैं, जो अंतिम–श्वास में रसगुल्ला माँग रहे थे। रहस्य पकड़ो इसमें, कि लिप्सा बढ़ रही है। उसीसमय कहीं बन्ध अपकर्षकाल आ गया होता, तो.....? थोड़ा समझना। जिस समय जैसा राग होगा, वैसा ही बंध होगा। अपने शरीर में स्वयं कीड़ा बन जाता है जीव । वो अपने द्वारा अपना ही पुत्र बना है, संसार की दशा तो देखो।

हमारा शरीर ठीक–ठाक है, मृत्यु हुई और उसी शरीर में कीड़ा बन गया, बिलबिला रहा था। भो ज्ञानी! एक क्षण में रिश्ता/संबंध समाप्त हो जाता है। भैया! अभी भी कुछ नहीं है, क्या मालूम क्या हो जाये? ऐसे भो चेतन! दर्शन– मोहनीय नष्ट हो भी जाये, पर चारित्र तीव्र खड़ा हुआ है। कब परिणाम तुम्हारे इधर से उधर हो जाएँ। कालपरिवर्तन को देखो और पुद्गल–परावर्तन को देखो। ऐसा कोई परमाणु अब शेष नहीं बचा है, कोई प्रदेश नहीं बचा, जहाँ तू उत्पन्न न हुआ हो। क्रम से गया है। कहाँ–कहाँ गया है? जिनवाणी में वर्णित है। इसलिये भावों को सुधार लो । भाव सुधरेंगे, तो भावना सुधरेगी और चर्या में भी नियम से झलकेगी। चर्या में नहीं लग रहा है, तो समझो कि झूठ बोल रहा है। शरीर को संभालकर रखा, पर मन नहीं संभला। शरीर को संभालना कौन–सी बड़ी बात है? भैया! बगुले से पूछो, कितना शरीर को संभाल कर रखता है। 'एक टांग पर ध्यान लगात, निपट कपट की खान।' परन्तु भो ज्ञानी! जिनवाणी कह रही है कि जो शरीर प्राप्त है, उसको संभालो। परिणाम संभल गये, तो शरीर संभल जायेगा। परन्तु ध्यान रखना, एकान्त में मत चले जाना।

भो ज्ञानी! भाव बिगड़े, तो तेरा भव मात्र बिगड़ा, पर भंगिमा बिगड़ने के साथ में तूने श्री जिन–नमोस्तुशासन को भी कलंकित कर डाला। अनाचार तो हुआ, पर जिन–नमोस्तुशासन को तूने कलंकित कर डाला। भाव अंदर कितनी बार गिरे, कितनी बार उठे, ये तेरा विषय नहीं था। गंभीर–ज्ञानी का विषय था। पर शरीर दिख गया, तो सबकी आँखों का विषय बना दिया। भावों को भी संभालना और शरीर को भी संभालना। एकान्त में मत चले जाना। समझ गये? अतिचार था, वहाँ अनाचार हो गया । पर विशेषता यह है कि संसार में शरीर के पाप का दण्ड तो होता है, परन्तु श्री जिनशासन/नमोस्तु शासन का कर्मसिद्धान्त कहता है–बेटा! तुम्हारे शरीर और परिणाम दोनों को दण्ड

मिलता है। मन में तुमने कितने पाप कर डाले, शासन तुम पर कोई कार्यवाही करने नहीं आयेगा। पर शरीर से किया, तो पकड़े जाओगे। परन्तु श्री जिन नमोस्तुशासन कहता है–सुनो, तुम शरीर से कर भी न पाओ, मैं तुम्हें पकड़ लूंगा। कुछ नहीं कर सकते हो, कितनी ही चतुराई कर लो, कितनी ही कुशलता लगाना, पर कर्मों की संहिता से तुम बाहर नहीं जा सकते। इसी का परिणाम है कि 84 लाख योनियों का भ्रमण चल रहा है। इसलिये भटकते हो।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा में कह रहे हैं कि मनुष्य दो प्रकार के हैं–कर्मभूमियाँ और भोगभूमियाँ। सातप्रकार की भूमियों की अपेक्षा से नारकी सात प्रकार के होते हैं। तिर्यंच चौदह प्रकार और देवों के चार भेद कहे गये हैं।

भो ज्ञानी! बहुत सारा अपना आगम होली के रूप में जला दिया गया और कुछ आपकी वीतरागता के चक्कर में दीमक खा गई। भोगों में तो रागी रहे और धर्म से वीतरागी बन गये। इतिहास उठाकर देखो, जब–जब जिनधर्म पर उपसर्ग आये हैं, तो वीतरागी को रागी बनना पड़ा है, पर ये श्रावक तो वीतरागी बनकर बैठे रहे हैं। जब अकम्पनाचार्य पर उपसर्ग आया, बताइये कौनसा श्रावक पहुँचा? पद्मराय राजा तो यह कहकर बैठ गया कि मैं कुछ नहीं कर सकता । मुनिराज को ही रागी बनना पड़ा । विष्णुकुमार मुनिराज ने उपसर्ग दूर किया। रावण जब कैलाशपर्वत को उखाड़ने पहुँच गया था, तो कोई श्रावक नहीं पहुँचा था। वीतरागी बालि मुनिराज को ही अँगूठा दबाना पड़ा था।

आप कहते हैं, महाराज! ये सब क्यों कहते हो? क्योंकि आप कहने में तो बहुत होशियार हो, कहने में शर्म नहीं लगती। जब जैनमंदिरों में हरिजन प्रवेश की चर्चा प्रारंभ हुई, तब आचार्य शांतिसागर महाराज ने उपवास प्रारंभ किया, तो विरोध करने के लिये बहुत सारे लोग खड़े हो गये। मालूम, अस्तित्व नहीं बचता। मूल– आम्नाय क्या थी, क्या नहीं थी? क्योंकि वे लोग धर्म स्वीकार करना नहीं चाहते थे। वे क्या अपना व्यापार/कार्य बदलते ? जिसका पालन कर रहे हैं, उसे छोड़ते? वो ही हालत तुम्हारे मंदिर की होती। चारों तरफ वे ही घूमते मिलते। थोड़े विवेक से सुनना, आदमी को विरोध करने में कुछ जाता नहीं है। काम करने में मेहनत भी लगती है, पुरुषार्थ भी करना पड़ता है और श्रावक को खर्च भी करना पड़ता है। समय भी लगाना पड़ता है। विरोध करने में क्या है? हल्की–सी कलम चला दो, भेज दो पेपर में, घर में बैठ जाओ, हो गया तुम्हारा काम । अग्नि लगाने में कितना समय लगता है और भवन बनाने में कितना समय लगता है? ध्यान रखना, ये सोच कैसे बनता है? जैसा चिन्तन बनेगा व्यक्ति का, सोच वैसा ही बनेगा।

भो बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने कथन किया कि विभाव व्यंजनपर्याय और स्वभाव व्यंजनपर्याय जीव की ही हैं और जीव में ही हैं। समझना, विभाव व्यंजनपर्याय का अभाव नहीं होता। पर्याय का परिणमन होता है, अभाव नहीं होता। पर्याय का परिणमन होता है, आकार बदलता है, लेकिन पर्याय नष्ट नहीं होती है।

अरे भाई! पर्याय का परिणमन तुझे कोई संकेत कर रहा है और तू अहंकार कर रहा है। देखना संसार की दशा, विभावपर्याय को प्राप्त करके भी प्रसन्न हो रहा है, किस बात पर? विभाव को छोड़कर विभाव में ही प्रवेश कर खुश हो रहे हो। अरे! खुश तो सिद्धों को होना चाहिये कि स्वभाव में जा रहे हैं, तू प्रसन्न हो रहा है न, भैया! वो भी विभाव है। जो हँस रहा है, जो रो रहा है, वो भी विभाव है। हँसना–रोना दोनों से बन्ध हो रहा है, इसलिये पर्याय सुधारने की बात अब मत करना। कोई कहे, कि मैं द्रव्य सुधारना चाहता हूँ, गुण सुधारना चाहता हूँ। जबकि ज्ञानीजीव कहता है कि मैं कुछ भी नहीं करना चाहता हूँ, मैं अपने स्वरूप में बैठना चाहता हूँ। उसमें न विभाव छोड़ना पड़ेगा, न स्वभाव की खोज करनी पड़ेगी। वो अवस्था सिद्धपर्याय मात्र है, उसी का नाम सिद्धान्त में स्वभाव द्रव्यव्यंजनपर्याय है। फिर भी पर्याय का विनाश नहीं हुआ, वो भी पर्याय का परिणमन ही है।

भो ज्ञानी! इस भ्रम को दूर करना है कि पर्याय भिन्न है और द्रव्य भिन्न है। पर्याय नष्ट नहीं हुई, परिवर्तित हुई है। जैसे नीबू का फल था, पहले नीबू रस बन गया, निचोड़ दिया, फिर सुखा लिया, सत बन गया। इसमें आपके देखने की सामग्री आपको बदलती दिख रही है, उसमें परिणमन तो हुआ है, पर नष्ट कुछ नहीं हुआ है। इसलिये पर्याय के परिणमन को नष्ट कहना भूल जाओ। पर्याय के परिणमन को पर्याय ही कहना। नष्ट नहीं हुआ, व्यय हुआ है। श्रद्धा में ये दोष आ जायेगा, क्योंकि सत् का विनाश होता नहीं है। अरे! द्रव्य के परिणमन का नाम तो पर्याय है। अपेक्षा से कभी ऐसा भी कह दिया जाता है, कि पर्याय से परिणमन हुआ है, परन्तु अभाव नहीं करना।

पर्याय त्रैकालिक रहती है, पर एकक्षण की अपेक्षा से हम उसको तात्कालिक कहते हैं। पर्याय प्रत्येक द्रव्य की त्रैकालिक है, जैसे द्रव्य त्रैकालिक है। क्योंकि बिना पर्याय के द्रव्य बचेगा ही नहीं । जो अरिहन्त बने हैं, वे ही मुनि हैं। उन्हीं मुनिराज का औदारिकशरीर परमऔदारिक हुआ है। वो ही शरीर जिसमें सप्तधातु थी, वो ही शरीर सप्तधातु रहित हुआ है, परमऔदारिक हुआ है। कोई अलग से शरीर नहीं आया, कोई अलग से जीव नहीं आया, पर संज्ञा बदल गई, क्योंकि परिणमन हुआ। परिणमन के कारण संज्ञा बदल जाती है। जो जीव दस वर्ष से विदिशा में निवास करता था, चार वर्ष

से भोपाल में रहने लगा। अब घर में आता है, तो घर के भैया कहते हैं कि भोपालवाले भैया आ गये। और जब भोपाल जाता है तो भोपालवाले कहते हैं कि विदिशा के सेठजी आ गये। अब बताओ, भैया बेचारे कहाँ के हैं? ये क्षेत्र परिणमन ने तेरे नाम का परिणमन करा दिया। इस बात को व्यक्ति समझ नहीं पाते, तो वे इसको सिद्धान्त बना बैठते हैं कि द्रव्य, क्षेत्र, काल के परिणमन से भाव में परिणमन हुआ और भाव के परिणमन से पर्याय में भी परिणमन होता है, ये कथंचित सत्य है। जब इनमें परिवर्तन होगा, तो द्रव्य में परिवर्तन तो है ही, जीव वही है।

एकदिन में आप कितने परिणमन करते हो? जब मित्र से मिलते हो, तो कैसा बोलते हो? माँ से मिलते हो, तो कैसा बोलते हो? पिताजी से मिलते हो, तो कैसा बोलते हो? कोई विद्वान् मिल जाये, तो भाषा कैसी होती है? कोई नेताजी मिल जाये, तो कैसी भाषा होती है? और मुनिराज के सामने भाषा कैसी होती है? अर्थात् जीव बदलना जानता है। ये तो साक्षात् दिख रहा है लेकिन सूक्ष्म कितना है, वो तेरे ज्ञान में नहीं आ रहा।

आचार्य कुन्दकुन्द महाराज दर्पण का उदाहरण देंगें। जैसे–जैसे चेहरे आये, वैसा–वैसा प्रतिविम्ब हुआ; पर दर्पण जैसा है, वैसा है। प्रत्येक द्रव्य सामान्य– विशेषात्मक ही हुआ करता है। प्रत्येक जीव अपने आपमें टंकोत्कीर्ण है। क्योंकि परिवर्तन विशेष में हुआ है, जबकि सामान्य जैसा है, वैसा है। पर समझने के लिये, प्रज्ञा के लिये यही ठीक है। तो जो दिख रहा है, जान रहे हो, ये बहुत स्थूल चर्चा है। जो हो रही है, वह कुछ सूक्ष्म है। उस होने में जो हो रहा है, वो बहुतसूक्ष्म है। बस, ज्ञानीजीव बैठ जाये, चिन्तन करना प्रारंभ कर दे। यहीं जिनालय भवन में बैठे–बैठे कहाँ–कहाँ के पदार्थों की वंदना कर लेगा। संपूर्णद्रव्यों के बारे में आप समझ लेंगे, यह श्रुत की महिमा है। और जितना चिन्तन होता है, सब श्रुत से होता है। इसलिये आपलोग आश्चर्य मत करना, जंगल में एकान्त में बैठे मुनिराज पूरा जीवन कुछ न करते हुए भी निकाल देते हैं।

भो ज्ञानी! कदाचित आपको गपशप में समय महसूस हो जायेगा, लेकिन चिंता/चिंतन में जब बैठता है, तो उसे मालूम भी नहीं चलता कि कितना समय हो गया। अपने–आपमें रहते योगी का कोई परममित्र है, तो स्वात्म–चिंतन ही है। यदि इसका अभ्यास नहीं किया, तो मित्रों को खोजोगे और जहाँपर मित्र मिलेंगे, नियम से विसंवाद होगा। विसंवाद होगा, तो नियम से संक्लिष्टता बनेगी। संक्लिष्टता बनेगी, तो नियम से कर्म–आस्रव होगा। कर्म–आस्रव होगा, तो नियम से बन्ध होगा। बन्ध होगा, तो संसारभ्रमण भी होगा। इसलिये योगी के लिये कह दिया, कि तेरा स्वस्थ–चिन्तन ही तेरा परममित्र है।

जो साधु एकलविहारी होता था, वह परमोत्कृष्ट साधु कहलाता था। यह चतुर्थकाल की बात कर रहे हैं क्योंकि स्वयं में स्वयं से मिलने का पूर्ण मौका उनके पास था। और जहाँ दो होंगे, वहाँ तो बन्ध होगा क्योंकि बंध जब भी होता है, दो से ही होता है। हमने बन्ध तो बहुत भाया है, पाया है। योगेन्द्र होना है, तो एकत्व–विभक्त पर ही दृष्टि करना पड़ेगी। चूना दूर रहे, हल्दी दूर रहे, तो दोनों अपने वर्ण में रहते हैं और मिल जाते हैं, तो दोनों को अपना वर्ण बदलना पड़ता है। ऐसे ही साधक अपने–आपमें अकेला होता है, तो उसकी वाणी, वर्ण अपना होता है। यह निर्बंध होने की दशा है। एकत्व–विभक्तस्वरूप ही सबसे सुन्दर है।

एयत्तणिच्छयगओ समओ, सव्वत्थ सुन्दरो लोए।
बंधकहा एयत्ते, तेण विसंवादिणी होई।। स.सार 3।।

जहाँ बन्ध की कथा प्रारंभ हो जाती है, वहीं विसंवाद हो जाता है इसलिये पर्याय को देखो, तो पर्यायी को भी देखो। इसीलिये ऐसे स्वभावपर्याय की प्राप्ति के लिये हमें पुरुषार्थ करने हेतु पद्मप्रभमलधारि देव कह रहे हैं। हे भगवन्! जबतक स्वभाव नहीं मिल रहा, तबतक शुभ मेरे अन्दर से न जाये, शुभ से मैं सूना न हो जाऊँ। जिनके अंतरंग में प्रभुचरण नहीं हैं, उसका आँगन सूना ही है।

स्वर्गे वास्मिन्मनुजभुवने खेचरेन्द्रस्य दैवा–ज्ज्योतिर्लोके फणपतिपुरे नारकाणां निवासे। अन्यस्मिन् वा जिनपतिभवने कर्मणां नोऽस्तु सूतिःभूयो भूयो भवतु भवतः पादपङ्केजभक्तिः ।। कलश 28।।

आचार्य पद्मप्रभमलधारि देव बात कह रहे हैं कि मैं कहीं भी रहूँ, परन्तु मेरे कर्मों की उत्पत्ति न हो। मुझे नरक में निवास से भय नहीं है। मुझे स्वर्ग में निवास से भय नहीं है। धरणेन्द्र, नागेन्द्र के यहाँ बैठने से कोई डर नहीं लगता। निवासस्थानों से बन्ध नहीं होता। भो ज्ञानी! निवासस्थानों से बन्ध होने लग जाता, तो मुनिराज भी तो ये सभी जगह निकलते रहते हैं, उन्हें बन्ध क्यों नहीं होता है? जो निवासस्थान में निवास करने लगता है, वहाँ बन्ध होता है। योगी भवनों में तो रहते हैं, पर योगियों में भवन नहीं रहता है। इतना ही अन्तर योगी और भोगी में है। ये अन्दर के भवन की बात है। जबतक त्याग नहीं है, आप जंगल में 10 महीने बैठ जाना, पर आस्रव तो घर का ही होगा। यदि तेरा ममत्वभाव है, तो नियम से बन्ध होगा। इसलिये निर्ग्रन्थयोगी को 'षट्खंडागम' में सर्प की संज्ञा दी है क्योंकि सर्प कभी अपना भवन नहीं बनाता, बने–बनाये भवनों में ही रहता है । इसीप्रकार से दिगम्बर–मुनि कभी अपना भवन नहीं बनाता। अपने नाम के भवन खड़े नहीं करता, भवनों में रह जरूर सकता है। क्योंकि यहाँ निजभवन की तैयारियाँ है, ईंट–चूने

के भवनों की तैयारियाँ नहीं हैं। तो हे भगवन्! सर्वस्व नष्ट हो जाये, लेकिन प्रभु! आपके दोनों चरणकमलों की भक्ति मेरे अन्दर से विलय को प्राप्त न हो। हे जिनेन्द्र! आपके दोनों चरणकमल मेरे हृदय में निवास करें। मेरा हृदय आपके चरणों में निवास करे, जबतक निर्वाण की प्राप्ति न हो जाये।

भो ज्ञानी! वीतरागियों की भाषा को आप सरागता में मत लगा लेना, नहीं तो आप कहीं के नहीं बचोगे। वीतरागियों की भाषा को तो वीतरागी बनने के लिये समझना। सरागता की भूमिका में वीतरागता को प्राप्त किया नहीं है, यदि क्रिया वैसी करने लगे, तो कहीं के नहीं रहोगे। कारण निर्मल होंगे, तभी कार्य निर्मल होगा। कारण निर्मल नहीं, तो कार्य निर्मल कैसे संभव है? मोक्ष जाने का कारण परिणाम है। जब वे परिणाम ही तेरे निर्मल नहीं हैं, तो निर्मल मोक्ष कैसे मिलेगा?

ये खोज आप बाहर मत करना, स्वयं के अंदर करना। बेटे से कह रहे हो कि बीड़ी मत पीना और स्वयं सोच रहा था, कि बेटा यहाँ से खिसक जाये, तो मैं बीड़ी पी लूँ। आप कल्पना करो, जीव कितने छल के साथ जीता है स्वयं के साथ, तो दूसरे के साथ क्या करेगा? ये है अवस्था जीव की दशा की। कुछ लोगों का स्वाध्याय का नियम होता है। शास्त्र न मिले, तो स्वाध्याय नहीं करते हैं। बोले–ग्रन्थ नहीं मिला। उस समय आप अपने परिणामों को पढ़ लेना। जिनवाणी न मिल पाये, तो मात्र 24 घंटे में जो परिणाम किये हैं, उनको मात्र पढ़ लेना। अगर दिनभर के परिणाम न याद रहें, तो मैं उनकी भी नहीं कह रहा कि आप पढ़ो। जिससमय आप बैठे हो, उस समय मात्र के पढ़ लेना। सहजता में बैठ जाना। तब अनर्थ भी करने के विचार बन रहे होंगे, तो विराम लग जायेगा।

बड़े–बड़े विद्वान् होते हैं, सबकुछ जानते भी हैं, पर भाव क्यों निर्मल नहीं होते हैं? वे जीव अपने भावों को नहीं जान पा रहे। जो पढ़ा, वो कह दिया। पढ़–पढ़के वह जानते हैं। अनुभवन कर–करके कहोगे, तो आपको स्वयं आनन्द आयेगा। स्वयं खोज करोगे कि हमें सुधार करना चाहिये । शब्दागम भावागम बन जायें, तो चर्या बदलते देर नहीं लगेगी। शब्दागम को शब्दागम तक सीमित रखे हुये हैं। नियमसार को पढ़ा, नियमसार को सुना दिया, पर नियम के लिये नहीं सुनाया। इसलिये उसके संयम के परिणाम नहीं होते। इतने जो आप बदले हैं, किसी के प्रवचन से नहीं बदले। प्रवचन निमित्त बन गए होंगे। किसी के भी प्रवचनों से आप नहीं बदले हो। वे प्रवचन जो शास्त्रों में थे, वक्ता ने कहे । द्रव्यश्रुत को तुमने भावात्मक–दृष्टि से देखा, तब तुम बदले हो। जब भी बदलोगे, भावात्मक–दृष्टि से ही बदलोगे।

कितना ज्ञानी था गौतम? स्वामी नहीं थे और मानस्तंभ को देखा, वो द्रव्यश्रुत भावात्मक जैसे ही बना, कि 'स्वामी' संज्ञा लग गई और केशलोंच की तैयारी शुरू हो गई। अहो! क्या उथल–पुथल हो रही होगी। वो ऐसी मानके चलना, कि जैसे दूध में नीबू निचोड़ा, अब क्या होगा? कितने क्षण में हुआ? इसलिये ये मत सोचना, कि हम महीनों का अभ्यास करेंगे, वर्षों का अभ्यास करेंगे। सब ठीक है, कहते रहो, लेकिन जिसदिन वो रस की बूंद अंदर जायेगी, तो पानी–पानी तुरन्त अलग हो जायेगा और दुग्ध थक्का बन जाता है। जितनी शुद्ध–वस्तु होती है, उसका थक्का बन जाता है। ऐसे ही वीतरागवाणी नीबू के रस के समान अन्दर चली जायेगी, उसदिन विकारीभाव का पानी छूट जायेगा। तेरा जो शुद्धतत्त्व है, उसकी भावात्मक दृष्टि बनेगी।

कुछ लोग तो प्रवचन नहीं सुनेंगे, तत्त्व की बात नहीं करेंगे। क्यों? हम तो पढ़े बैठे हैं। तत्त्वज्ञों के पास नहीं बैठेंगे, क्यों? हम तो जानते हैं। भो ज्ञानी! उसके पास भावश्रुत था पर शुभ लेश्या नहीं बनी। वो जानता तो है पर जान नहीं रहा है। यदि जान रहा होता, तो कहता कि पता नहीं, कब कैसे परिणाम किस शब्द से बनें। कभी–कभी आपके द्वारा आपके भाव नहीं बन पाते हैं और दूसरे की बात सुनके भाव बन जाते हैं। निमित्त की महिमा देखो स्वयं के पादमूल में क्षायिक–सम्यक्त्व की बहुत कम चर्चा सुनी होगी। परन्तु केवली, श्रुतकेवली के पादमूल में पहुँचता है, तभी क्षायिक– सम्यक्त्व होता है, तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध होता है और जबतक केवली, श्रुतकेवली का पादमूल नहीं मिलेगा, तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध नहीं होगा। जबकि वे अत्यन्त भिन्न हैं। न कुछ स्पर्श किया, न कुछ किया, लेकिन देखते–देखते ही ऐसे भाव बनते हैं कि वैराग्य उमड़ पड़ता है। वे पौद्गलिक वर्गणायें आत्मा के स्वभाव पर घन पटक रही हैं। इसलिये जिनबिम्ब आराधना की, जिनवाणी सुनने की चर्चा, गुरु के पास बैठने की चर्चा, उसका उददे्श्य इतना ही है कि जो हमारी वर्गणायें अशुभ चल रही हैं, वे पुण्यवर्गणाओं से प्रभावित होकर परिवर्तित हो जायें, तो हमारे परिणाम भी शुभ बनने लग जायें। मंदिर क्यों आते हो? मंदिर के बनने में क्या अलग से कोई ईंट–चूना लगा है? भिन्न पत्थर हैं क्या? फिर यहाँ वहाँ में अन्तर कितना है? आपके मकान की कभी प्रतिष्ठा नहीं की गई है और मंदिर की प्रतिष्ठा की गई है। ''प्राण–प्रतिष्ठा'' यानि ऐसे प्राण भर दिये गये हैं कि जिनके माध्यम से कलुषितहृदय भी अपने–आपको परिवर्तित महसूस करता है। ये तरंगों का प्रभाव है। किसी के अन्दर लोभ लगा दो, तो समझ लो कि शान्ति गई। ईर्ष्या आ जाये तो न दिन में शांति, न रात में शांति मिलती है। चन्दन के छीटें भी काम नहीं करते हैं। ईर्ष्या बड़ी घातक वस्तु है।

लेकिन यहाँ पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं, अरे भाई! ईर्ष्या करना चाहते हो तो करो, भगवान् से करो। बताओ आपने क्या किया? हम भी वैसा करें।

अहो! इस जीव ने पूर्व में हमेशा ज्यादा तपस्या की होगी। मैंने मिथ्यात्व का सेवन किया, इन्होंने वीतरागमार्ग का सेवन किया था। इस मार्ग के प्रभाव से ये इतने ऋद्धिसम्पन्न हुये । ये जिनमार्ग सत्य है। जीव की दृष्टि है, देखने का तरीका है। 29वें कलश को अच्छी तरह पढ़ना। विभूति के पीछे मत पड़ो। विभूति जिससे मिलती है, उसके पीछे पड़ो। श्वान मत बनो, बनो तो शेर बनो। यदि श्वान को कोई लाठी मारे, तो वह लाठी को पकड़ता है और सिंह को कोई लाठी मारे, तो वह लाठी मारनेवाले को पकड़ता है। हमारी ये परिणति बन रही है। ये तो देखता नहीं है, कि लाठी कौन मार रहा है। पिट रहा है, कुट रहा है, फिर भी लाठी को पकड़े बैठा है। तू विभूति को पकड़ता है, ये नहीं देख रहा है कि विभूति मिल कहाँ से रही है। ये सब तुम्हारे पूर्वपुण्य/सुकृत का परिणाम था, उसे तो आप करना नहीं चाहते हो, विभूति की बातें करके रो रहे हो।

नानानूननराधिनाथ विभवानाकर्ण्य चालोक्य च
त्वं क्लिश्नासि मुधात्र किं जडमते पुण्यार्जितास्ते ननु।
तच्छक्तिर्जिननाथपादकमलद्वन्द्वार्चनायामियं
भक्तिस्ते यदि विद्यते बहुविधा भोगाः स्युरेते त्वयि।। कलश 29।।

आचार्य महाराज कह रहे हैं, हे जड़मति! तनक तो सोच। मिल जाए, लाते जाओ, धरते जाओ, मरते जाओ, कौन भोगेगा? जिनको नाग बनना हो, तो खूब रखो गाड़–गाड़के और नहीं तो दोनों हाथ से उलीच दो क्योंकि इसको नष्ट होना ही है। धन की तीन गति–दान, भोग और नाश। चक्रवर्ती जैसी विभूति आपके घर में नहीं है। पर चक्रवर्ती का बेटा कभी चक्रवर्ती नहीं हुआ। ये ध्यान रखना, भूले मत रहना। तुमको चिन्ता लगी है कि हम जितना रखेंगे, बेटा के काम आयेगा। नहीं आ सकता। जैसे ही चक्रवर्ती दीक्षा लेता है, अथवा मृत्यु हो जाये तो विभूति नहीं दिखती, नौ–निधियाँ, चौदह रत्न आदि सब विलीन हो जाते हैं।

मनीषियो! राजा भी किंकर हो जाता है, इसलिये कभी अहम् मत करना। इसलिये प्रभुभक्ति को कभी मत छोड़ो। कभी भी जड़द्रव्य के आधार पर अहम् मत करना, न ज्ञान का करना।

भो ज्ञानी! जीवन में कभी एक दूसरे की विभूति की परवाह भी मत करो। ध्यान रखना, चक्रवर्तीपद सामान्य लोगों को नहीं मिलता। प्रबल तपस्वी योगियों के द्वारा जो पुण्य अर्जित किया जाता है, वो पुण्य उदय में यहाँ आता है। आज ध्यान से समझना, कि जीवन में किसी के वैभव को देखकर न तो ईर्ष्या करना और न आश्चर्य करना। हमारे पुण्य से जो जितना मिला, उसको कोई टाल नहीं सकता है। जितना जैसा है, वो रहेगा आपके पास। लेकिन तुम लाख उपाय कर लेना, लाभ–अंतराय कर्म का क्षयोपशम नहीं है, तो आप कुछ नहीं कर सकते हो। तीनलोक की सम्पत्ति का आस्रव तो मत करना। क्यों लादे हो ये परिग्रह? सुनो, जिन–जिनको राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री नहीं बनना हो, तो कम–से–कम त्याग कर दो उस पद का परिग्रह तो हट जायेगा। अन्यथा परिग्रह तो चल ही रहा है। तीनलोक की संपदा मिलेगी क्या आपको? इस पर्याय में जब नहीं मिल रही, तो त्याग कब किया? आपने परिग्रह का परिमाण कब किया? भो ज्ञानी! मैं तुझसे नहीं छुड़ा रहा हूँ, कम–से–कम इतना कर लो कि मध्यलोक में जितना द्रव्य है, उतना उपभोग करूँगा। कम–से–कम नीचे तिर्यंच व नरक का और ऊपर स्वर्ग का परिग्रह तो बच गया।

मैं सामायिक कर रहा था और सामायिक के बाद बहुत जोर–जोर से फटाके फूटने लगे। हमने पूछा–आज क्या हो गया? नीचे से छोटे–छोटे लड़के हल्ला कर रहे थे। बोल रहे थे कि अपना देश जीत गया। अब बताइये, इनको क्या मिल गया? और जिस दिन हार गया था, उस दिन बिल्कुल शान्त थे। उस दिन नहीं बोले कुछ। तुम्हारा क्या चला गया? भो ज्ञानी! ये भाव– जन्म भाव–मरण तू करा रहा है। ऐसे ही रामायण–सीरियल देख रहे थे, वहाँ जब रावण के वध का समय आया, तो तुम्हारे परिणाम कैसे हुये? जैनसिद्धान्त कहता है कि वो नरक चला गया। फिर नरक की यात्राओं का वर्णन आया और आपको राम–सीता से राग था, सो आपने कहा कि अच्छा गया नरक में। नरक में वह कैसे कुट रहा होगा, पिट रहा होगा, परन्तु यहाँ तुम मध्यलोक में बैठे–बैठे नीचे पड़े नारकी की हिंसा कर रहे हो। क्या इतने सूक्ष्मविषय पर कोई दर्शन पहुचेंगे? आप कम–से–कम नरक के नारकी के वध का तो त्याग कर दो।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **कर्तृत्व और भोक्तृत्व के प्रकार।**

कत्ता भोक्ता आदा, पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारो।
कम्मजभावेणादा, कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो।।18।।

संस्कृत छाया : **कर्ता भोक्ता आत्मा पुद्गलकर्मणो भवति व्यवहारात्।**
कर्मजभावेनात्मा कर्ता भोक्ता तु निश्चयतः।।18।।

अन्वयार्थ : (आत्मा) आत्मा (व्यवहारात्) व्यवहारनय से (पुद्गलकर्मणः) पुद्गल कर्मों (कर्ता भोक्ता भवति) कर्ता और भोक्ता होता है (तु निश्चयतः) किन्तु निश्चयनय से (आत्मा) आत्मा (कर्मजभावेन) कर्मो से उत्पन्न हुये भावों के द्वारा (कर्ता भोक्ता) कर्ता और भोक्ता है।

मनीषियो! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने कर्मसिद्धान्त का कथन करते हुए संकेत दिया कि विश्व में प्रत्येक जीव का कर्म स्वतंत्र है। कर्मसिद्धान्त को जैनियों का सिद्धान्त न बनाकर, प्राणीमात्र का सिद्धान्त बनाकर विश्व में फैलाया जाये, तो ये मानकर चलो कि व्यक्ति का रोना समाप्त हो जाये।

भो ज्ञानी! पिता रोता है, कि मेरे घर में संतान खोटी है। संतान रोती है, कि मेरा पिता अच्छा नहीं है। दोनों का अशुभकर्म है। यदि माँ कहती है कि बेटा रोगी है, तो बेटे के अशुभकर्म का उदय है। बेटे का तो असातावेदनीय कर्म का उदय है ही, परन्तु रोगीबेटा तुम्हारे यहाँ जन्मा ही क्यों? क्योंकि आपने भी ऐसा बन्ध किया था। उसकी सेवा आपको करना है। अब बिलखो मत। ये बेटे की सेवा नहीं, कर्मों की सेवा है। दुहरे कर्म आपने किये हैं। यदि पहले ही आर्यिका दीक्षा ले ली होती, तो बेटा ही न होता। एक कर्म तो ये कर डाला कि शादी करा ली। वे पाप सब जायेंगे कहाँ? और पूर्व में बन्ध किया ही था, सो उदय में आ रहे हैं। जब हमने सबकुछ किया है, तो भोगने को क्यों रोते हो? रोने की याद तुम्हें आना थी, तो उस समय आती जब पाप प्रारंभ करने का विचार किया था। इसलिये अब मत रोओ, अब तो भोगो और शांति से भोगो।

अहो! उस दिन को याद करो, जब कोई अध्ययन कर रहा था, जिनवाणी मंदिर में एक थी, सो हमने छिपाकर दूसरी अलमारी में रख दी थी कि कल मुझे फिर पढ़ना है। उद्देश्य तुम्हारा भी पढ़ने का था, परन्तु याद रखो, दूसरा आकर खोजेगा तो शास्त्र नहीं मिलेगा। उसके हृदय से पूछना, कि क्या होगा? जिनवाणी छिपा दी, ये तो छोटी–मोटी बातें हुई।

आचार्य जिनसेनस्वामी ने लिखा है कि आठवर्ष तक का बालक जो पाप करता है, वो उसके माता–पिता को पाप लगता है। मंदिर में आये, बेटे को बगल में बिठाया। एक पन्ना आपने पढ़ा, दूसरा पन्ना बेटे ने फाड़ डाला। ज्ञानावरणीय अंतराय कर्म का उदय/बंध होगा कि नहीं होगा? ये यहाँ नहीं चलेगा, कि छोटा था अज्ञानी था। अज्ञान से भी बन्ध होता है। ऐसे अन्ध–भक्त आते हैं कि भगवान् के हाथों पर ही चावल चढ़ा गये। कुछ लोगों का विश्वास है, कि चावल दूर रखोगे तो भगवान् कम खुश होंगे, तो हाथ पर रख दो। अभी इतना विवेक नहीं है कि चिड़िया आयेगी, चुगेगी तो बीट करेगी। चूहे भगवान् पर चढ़ेंगे कि नहीं? आपको मोहनीय–कर्म का बन्ध हो गया। बंध नहीं होगा, तो क्या होगा?

अरे! प्रतिमा के साथ कुछ हो जाये, असादना हो जाये तो कर्म का बंध भोगेगा। ध्यान रखना, छोटी–छोटी प्रतिमाओं के चरण नहीं छूना चाहिये, कहीं खिसक जाये, कुछ हो जाये। अभिषेक करना ही था, तो ऐसे श्रीजी को विराजमान करते, जो आपके अभिषेक को झेल सकते और फिर एक विराजमान करते, दस विराजमान न करते। सोचो, एक थाली में दस प्रतिमायें विराजमान कर लिये और एक प्रतिमा खिसक जाये, तो तुमने तीनलोक के नाथ का अविनय नहीं किया क्या? माँ अपने बच्चे को संभालकर स्नान कराती है। ये तो तीनलोक के नाथ, बढ़िया गला पकड़ा और पोछने के चक्कर में उल्टा कर दिया। तुम कर क्या रहे हो? तुम तीनलोक के नाथ का गला पकड़ रहे हो, जबकि शीश पर विराजमान करके, सिंहासन पर आसीन करना चाहिये था। इसतरह कभी–कभी पुण्य करते–करते भी पाप कर लेता है।

भो ज्ञानी! ध्यान रखना, बंध आपने किया है, तो भोक्ता भी आप ही होगे, दूसरा कोई आयेगा नहीं। फिर क्रिया से कितना बन्ध किया है और भावों से कितना बन्ध किया है और वाणी से कितना बन्ध किया है? ये तो जैनसिद्धान्त है, केवल परिणाममात्र से बंध देता है, फल भी तो देता है। अरे भाई! नेवले ने कौन आहार दिया था, सिंह ने कौन आहार दिया था, पर फल मिला था। अनुमोदना से फल मिल सकता है, तो पाप की अनुमोदना करने से पाप का बंध मिलेगा कि नहीं?

जिस घर में पेट में ही संतान को काटकर फेंका जाता हो, उस परिवार को फल मिलेगा कि नहीं? उस बेटे–बहू के हाथ का पानी तुम कैसे पी रहे हो? क्यों पी रहे हो? जब तुम्हारी संस्कृति कहती है कि हत्यारे के हाथ का पानी नहीं पीना और उसके हाथों का भोजन कर रहे हो, धर्मात्मा बने बैठे हो। इतना विवेक तो रखो कि जिस घर में ऐसा कर्म भी हो जाये, वहाँ तुम कैसे क्या कर सकते हो? बिलकुल संयम नहीं है। जिनवाणी

घर में विराजमान है, चार दिन की शुद्धि का पालन नहीं करते हैं, अब बुद्धि कैसे बढ़े? पुद्गल बड़ी, पापड़ भी खराब हो जाते हैं, फिर आप बताओ ऐसे लोगों के स्पर्श का भोजन आप करोगे तो तुम्हारे भाव कैसे पवित्र होंगे?

लोग समझते है कि माँ जिनवाणी को पढ़ लिया, तो हम पूरे धर्मात्मा हो गये। भैया! धर्म तो प्रयोग/प्रेक्टीकल है, मात्र सिद्धान्त नहीं है। इसलिये अब ये ध्यान रखना, किसी के दरवाजे पर रोने मत जाना और किसी के द्वारे पर सुनाने भी मत जाना, कि मेरे घर में ये हो रहा है। आप रोते क्यों हो? कर्म का बन्ध पड़ोसी ने नहीं किया था, कर्म का बन्ध आपने किया था। सम्यग्दृष्टि सीता ने किसी से नहीं कहा था, कि राम ने जंगल दे दिया। यही कहा था, कि मेरे कर्म का विपाक था। कर्म का उदय तो कर्म के क्षय के लिये आया था। इसमें अज्ञानी अभिनव कर्म का बन्ध कर लेता है। आपको तो निर्जरा में खुशी होना चाहिये थी, कि एक कर्म निकल गया, लेकिन आप रोते हो और यहाँ तक कि दस–ग्यारह दिन तक तो कुछ करते ही नहीं हो। समाज में बहुत रुढ़ियाँ थी पहले। किसी स्त्री का पति खत्म हो गया, तो छह–महीने मंदिर के द्वार पर आने नहीं देते थे। वो तो वैसे ही दुःखी है, सो असाता का बन्ध कर रही है और आपने उसका धर्म और छुड़ा दिया, छह–महीने तक उसको भगवान् के दर्शन करने नहीं दिया। ये कौन–से आगम में लिखा है? आचार्य चन्द्रसागर जी, जो आचार्य शान्तिसागर परम्परा के थे, उन्होंने राजस्थान में इस प्रथा को बन्द कराया था। ये बात तो ठीक है, कि बारह दिन तक शुद्धि नहीं हुई, तो छुओ मत। लेकिन भगवान् के दूर से दर्शन करने में कौन–सा पाप है? भो ज्ञानी! आपको धर्म की बातें बताना चाहिये, तीर्थयात्रा कराना चाहिये, जिससे कम–से–कम उसकी मानसिकता निर्मल हो। परन्तु धुतकारो मत। अप्रेम की भाषा का उपयोग मत करना। भो ज्ञानी! जो भी काम करो, विवेक से करो, जिससे कर्म का बन्ध न हो।

कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सये।

कधं भुंजेज्ज भासिज्ज कधं पावं ण बज्झदि।। मूला0 1014।।

कैसे चलें, कैसे बैठें, कैसे खायें, कैसे बोलें, कैसे सोयें जिससे पापकर्म का बन्ध न हो।

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये।

जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झई।। मूला0 1015 ।।

यत्नपूर्वक बोलो, यत्नपूर्वक चलो, यत्नपूर्वक भोजन ग्रहण करो, यत्नपूर्वक बैठो जिससे कि पापकर्म का आस्रव–बन्ध न हो।

बुंदेलखंड में कहते हैं–कुत्ता भी पूछ हिलाकर बैठता है लेकिन आप लोग आये और सीधे बैठ गये फर्श पर, चटाई पर बैठ गये। आपको मालूम नहीं कि उसके नीचे कौन बैठा था! बिच्छू बैठा था, कि साँप बैठा था, कि छोटे छोटे जीव जंतु बैठे थे। वे कभी उड़ेंगे ही नहीं। बंध होगा कि नहीं? अब सोचो, छोटी–छोटी बातों से भी कर्मबन्ध होता है। छोटी–छोटी बातें कहकर तुम कर्म को नहीं टाल सकते हो। बन्ध तो होगा ही, क्योंकि उसके कर्ता आप थे। अच्छा एक बात बताओ, आपके घर में ऐसा कौन है जो कहता है कि मुझे अशुद्धभोजन ही कराना? कितना सुन्दर मार्ग है कि जब हम सोले का भोजन बनायें, रोज पड़गाहन करें। यदि आ गये तो ठीक है, नहीं–तो नवकोटि मुनियों को भोजन करायेंगे। नवकोटि मुनियों का रोज पड़गाहन करेंगे। यदि ऐसे शुद्धभोजन हो रहे होते, तो आपको ये नहीं कहना पड़ता, कि महाराज! चौका खाली गया।

जंगल में सीता, राम, लक्ष्मण ने महाराज के लिये नहीं बनाया था। उनके मन में विचार आया कि काश! आज अयोध्या में होता, तो मुनिराज को आहार दे देता। भाव तो देखो। उधर गुप्ति, सुगुप्ति मुनिराज आकाश से उतर पड़े और पड़गाहन हो गया। मालूम, बर्तन नहीं थे, मिट्टी की हंडियों में भोजन बना हुआ था पर आप मत बनाना, ध्यान रखना, वहाँ बर्तन उपलब्ध नहीं थे। मिट्टी के बर्तन एकबार ही काम आ सकते हैं, दुबारा नहीं आयेंगे। अभी कोई कह रहा था कि मुनि निर्वाणसागर जी महाराज हाथ की चक्की का आटा लेते हैं। अब इन भगवान्–आत्माओं से पूछो, कौन–से महाराज कहते हैं कि चक्की का आटा दो? ये गलती किसकी है? श्रावक की। महाराज तो अच्छे के लिये कह रहे हैं। बात को समझना। एक माँ जब दिन हो जाता है, तब चक्की के पाट को उठाकर साफ करती है, फिर आटा पीसती है और आपने बटन दबाया, चौबीस घण्टे में कितने जीव उत्पन्न हो चुके थे? सब पिस गये। एक में एक हो गये। अब बताओ, इस कर्म का बन्ध किसको होगा?

भैया! किसी ने पीने का पानी छाना, उसमें क्रिया हुई कि नहीं? बिलछानी की क्रिया हुई कि नहीं? स्वाध्याय किसे कहते हैं? बिलछानी कैसे की जाती है? तुमने नल की टोंटी में लगा दिया छन्ना, अब बिलछानी कब होगी? महाराज जी! जब वो सड़कर गिर जायेगा, तब हो जायेगी, फिर दूसरी थैली लगा देंगे। इसका नाम धर्म है क्या? एक बूंद पानी बिलछानी की गिर गई थी, तो सात सूकरी, सात कूकरी के भवों के दुःख प्राप्त किये थे। यह जलगालन की कथा में लिखा है।

भैया! अब आत्मतत्त्व की कथा इतनी प्रसिद्ध हो गई है कि लोगों ने पुरानी कथाओं को पढ़ना बन्द कर दिया है। पहले लोगों को लगता था, कि इसने ऐसा किया तो ऐसा हुआ, प्रथमानुयोग ये कहता है। भो ज्ञानी! वो भी समझो, और अब सोचो कि वो क्रियाकाण्ड था कि धर्म था? उस क्रियाकाण्ड में अहिंसा थी, वो धर्म था। परन्तु क्रियाकाण्ड के बिना अहिंसा पल नहीं सकती, इसलिये वो भी धर्म था। क्रियाकाण्ड में धर्म नहीं था, पर वह जीवों की रक्षा के लिये था, इसलिये धर्म था। उसके बिना धर्म पलेगा कैसे? इसलिये ये छन्ना का वस्त्र इतना मोटा होना चाहिये कि सूर्य की किरणें बाहर न फूटती हों और फिर उसे दोहरा करके छानो और बिलछानी विधिपूर्वक करें। ऐसा नहीं कि ऊपर से लुढ़का दिये। कड़े की बाल्टी कितने घरों में है? फिर नीचे कौन–कौन छोड़ने जाता है? अब सोचो कि हम कैसे श्रावक हैं? ध्यान रखना, पानी में पंचेन्द्रिय त्रस तक होते हैं, ऐसे जीवों का घात हो जाता है । सबसे ज्यादा करुणा तो वास्तव में पानी भरने और छानते समय आती है। देखना, चैत्र का महीना चल रहा है, इस समय कुयें से पानी निकालने में लाल–लाल जीव दिखते हैं।

भैया! एक काम करना, जो लाखों का दान देते हैं, आप कभी मत देना। आप तो जब भी जाना, एक मोटा कपड़ा खरीद कर लाना और सबके घर में दे आना, जो–जो नल में थैलियाँ लटकाये हैं। ज्यादा सामर्थ्य हो तो कड़ेवाली एक बाल्टी और दे देना। यही तो नियमसार है। जिस दिन सुनोगे नियमसार को, उस दिन आँखें खुलेंगी। अमृतचन्द्र स्वामी ने लिखा है कि जैसे ही मक्खन निकलता है, उसको अंतर्मुहूर्त में तपाना चाहिये! यदि अंतर्मुहूर्त में न तपाकर आठ–आठ दिन में तपाया जाता है तो तद् जाति के सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। शीतप्रदेश में शीतजाति के जीव उत्पन्न होंगे। यदि गाय के दुग्ध का घृत है, तो गायजाति के पंचेन्द्रिय–सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते हैं। भैंसजाति के जीव भैंस के दूध में उत्पन्न होते हैं। आपने भैंस का दूध लगवाया और घर लाते–लाते डेढ़ घंटा हो गया। जबकि अड़तालीस–मिनट में तपना चाहिये था। अब तुम किसको तपा रहे हो? जीवों के पिण्ड को तपाओगे।

भैया! कभी–कभी 'क्रियाकोष' भी पढ़ लिया करो। कभी श्रावकाचार भी पढ़ लिया करो। मालूम पड़ा कि हम उड़ान भरते रहे, श्रावक ही नहीं बचे। सूखा खाकर जी लेना, परन्तु ऐसी सामग्री का भोग मत करना, जिसमें ऐसे जीव बनते हों। भो ज्ञानी! आदमी विवेक से काम नहीं करना चाहता है और क्रिया छोड़ने को तैयार हो जाता है। नियम से रहोगे, इसका नाम नियमसार है।

भैया! जैसे अपन नय के चार्ट बनाते हैं, प्रमाण के चार्ट बनाते हैं, एक चार्ट अभक्ष्य का बनवा दो। प्रत्येक मुमुक्षु आत्मा जाने कि वास्तव में वस्तु का स्वरूप क्या है? एक चार्ट जिनवाणी से निकालकर टंगवा देना कि सामग्री की मर्यादा कितनी है? क्योंकि मर्यादा भंग हो गई, तो सब भंग हो गया। ज्ञानी! तुम सुधरो या न सुधरो किन्तु देख तो लो कि तुम भूल कहाँ कर रहे हो? भैया! आप समुद्र का नमक खा रहे हैं। आचार्यश्री बता रहे थे कि एकबार भावनगर में चातुर्मास किया। वहाँ नमक की क्यारियाँ हैं। गर्मी होने पर पानी सूखने लगता है, तो नमक जमा कर लिया जाता है। क्यारियों में मछली एवं अन्य जानवर गिर जाते हैं, उनकी हड्डी–पसलियाँ गलकर नमक बन जाती हैं। एकबार सोलहवर्ष का बालक मजदूर उसमें फिसल कर गिर गया । लोग काम में व्यस्त रहने के कारण देख नहीं पाये। खोजते रहे, फिर सोचा कि कहीं चला गया होगा। उन्हें क्या मालूम कि कहाँ गया? जब क्यारियाँ सूख गई और नमक की खुदाई की गई, तो उसमें बालक की कठोर हड्डियाँ थी, वे मिली। जो समुद्री नमक खा रहे हैं, उनके अहिंसा व्रत तो है ही नहीं।

ध्यान रखना, आज तो सामान्य बातें बताई हैं और जितने गहरे में जाओगे, उस दिन सोचोगे कि मैं जीवन कैसे जी रहा हूँ। अब सोचो, धर्म कितना है? क्रियाकांड कहकर टाल दोगे, मुझे पता है। भो ज्ञानी आत्माओ! उपयोग करो, पर कम–से–कम निरामिष पर तो दृष्टि डालो, इसका उपयोग मत करो। क्योंकि माँ जिनवाणी कहती हैं कि पक्व हो, चाहे अपक्व हो, उस जाति के निगोदिया उत्पन्न होते हैं। पढ़ने का निषेध नहीं है। पढ़ना तो चाहिये, परन्तु बढ़ना भी आना चाहिये। आप साधु के पास इसलिये नहीं बैठते हो कि सब छुड़वा देंगे। भो ज्ञानी! महाराज छुड़ा नहीं देंगे, आपको आपसे मिला देंगे। संयम छुड़ाता नहीं है, संयम मिलाता है। कर्तृत्व–भोक्तृत्व प्रकरण ही ऐसा है। आपके कर्ता आप हैं, तो भोक्ता भी आप हैं। जब जीव कर्ता है, तो उसके फलस्वरूप सुख–दुःख का भोक्ता भी ये जीव है।

एक पत्रिका में पढ़ रहा था कि अकबर के समय जैनियों की संख्या चारकरोड़ थी। कम होते होते कितने बच गये हैं? अब कल्पना करो, वास्तव में चर्या से हटते गये, तो कम होते गये। जिस दिन आप कहोगे–महाराज श्री! जैनियों की क्रिया बहुत कठिन है। जिस दिन इसमें ढ़ील आ गई, उस दिन नमोस्तुशासन, जैन धर्म समाप्त हो जायेगा। भैया बोले–महाराज जी! गर्मी के मौसम में एकबार पानी तो चल सकता है। भैया! बाल भी खींच लिये और भोजन भी नहीं लिया आपने, मालूम ये नमोस्तु कहना बन्द हो जायेगा, फिर कौन पड़गायेगा तुम्हें? इसलिये ध्यान रखना, कोई साधु कठिन–से– कठिन चर्या

का पालन करता हो, तुम कठिन चर्या के सहयोगी बनना। कभी मत कहना कि महाराज! जमाना बदल गया है, थोड़ा परिवर्तन कर लो। आप तो साधु की चर्या का पालन कराना, संयम में सहयोगी बनना, परन्तु अब कभी मत कहना–महाराज! ये तो पंचमकाल है, तनक शिथिलता लाओ।

एक सज्जन आए मेरे पास एक नगर के, बोले, महाराज! मेरी बहुत भावना है कि मैं दीक्षा ले लूँ, लेकिन उसमें इतनी छूट दिला देना कि सर्दियों में एक कम्बल, गर्मियों में दो टाइम का पानी। हमने कहा–भैया! सुनो। तुम्हारी भीड़ बढ़ाकर नमोस्तुशासन को शिथिल नहीं करवाना। ब्रह्मचारी बनकर घर में रहो। जैनमुनि संज्ञा तभी मिल सकती है, जब दिगम्बर भेष हो। जितना शिथिलाचार हो सकता था, पंचमकाल में है। इससे नीचे कहाँ ले जाओगे? इसलिये तुम ऐसे सहयोगी मत बनना, कि आडम्बर बढ़ जाये। फिर क्या करोगे? हम शिथिल हैं, इसलिये तो साधुओं के पास जाते हैं। चेहरा को देख सुधर तो जाओ। फिर कहाँ देखने जाओगे।

एक ब्रह्मचारी भैया आये थे छतरपुर चातुर्मास 1996 में। पुरानी पिच्छि ली और सामान्य ब्रह्मचर्य लिया था, कोई प्रतिमा नहीं ली थी। कुछ दिन बाद भैया जी पेन्टशर्ट में थे। एक ठेले पर पहुँच गये टिक्की खाने, मित्र साथ में था। दोनों ने दोना ले लिया। दूसरे ने दोना पकड़ लिया। जिसका कोई व्रत नहीं था, उसने कहा–'यह आपको शोभा नहीं देता है, क्योंकि आपने महाराज जी से पुरानी पिच्छि ली है आप ब्रह्मचारी हैं।' एक सामान्य व्यक्ति ऐसा कह रहा है कि आपको शोभा नहीं देता है। यह सुनकर भैया जी ने पहले ठेलेवाले को पैसा दिया, फिर वो दोना वापस पकड़ाया और वहीं कायोत्सर्ग कर लिया कि अब ठेले पर कभी नहीं आयेंगे। मित्र मिले, तो ऐसा मिले कि स्थितिकरण करे। एक निर्मलभेष में निर्मल काम ही शोभा देता है। मांगलिक भेष में अमांगलिक कार्य शोभा नहीं देता है।

साधु का काम क्या है? ''साधुकार्यं तपः श्रुताध्ययनम्:।'' तपस्या करो, श्रुत का अध्ययन करो, तीसरा काम शास्त्रों में लिखा ही नहीं हैं। गाथा संख्या अठारह में आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं– भो चेतन! ये जीव पौद्गलिककर्मों का कर्ता है व्यवहार से और अशुद्ध निश्चयनय से रागादिक भावों का कर्ता है और शुद्ध निश्चयनय से शुद्धभावों का कर्ता है। इसलिये जड़ कर्ता नहीं है, चैतन्य ही कर्ता है। समझना, शरीर का कर्ता कौन? आप हो। नामकर्म का बन्ध किसने किया? आपने किया। किसी का सुन्दर शरीर है, किसी का असुन्दर शरीर है, इसका कर्ता कौन है? कोई शरीर नहीं है,

आप ही हो। किसी को देखकर मुस्करा गये। ठीक है, अभी देख लो लेकिन यही आपके नीचगोत्र के आस्रव का हेतु बनेगा। क्योंकि पुण्य के फल में बड़ी दिक्कत होती है।

पुण्य के फल का आगम में जो निषेध किया है, लोग अर्थ नहीं समझते हैं। ध्यान रखना, निषेध किसी काम से किया था और अर्थ किसी काम में लगा दिया। बच्चा चूल्हे के सामने घूमे, तो आप मना करो। उसी काल में भोजन बनानेवाली माँ घूमने लग जाये चूल्हे के सामने, तो उठाकर अलग कर दोगे क्या? बिना पास में आये रोटी सिकेगी कैसे? लेकिन बच्चे को अलग क्यों किया था? क्योंकि वो जल सकता था। ऐसे ही पुण्य के फल का जो निषेध किया है, उसमें लीनता न हो जाये। पुण्य करने का निषेध नहीं किया था। पुण्य करने में लीन हो जाये, तो पाप को पाप नहीं समझता वो, इसलिये निषेध किया था पर आपने पुण्य करने का ही निषेध कर दिया।

'प्रवचनसार' में लिखा है—पुण्य के फल में लीन हो जायेगा, तो पाप का ही आस्रव होगा। इसलिये पुण्य के फल में लीन मत हो, परन्तु पापों से बचने के लिये पुण्य करो। पुण्य तो पुण्य है, पुण्य पाप नहीं है। पुण्य तो पुण्य है, पुण्य धर्म नहीं है। परन्तु पुण्य के बिना धर्म होता नहीं है। पुण्यक्रिया को व्यवहारनय से धर्म कहा जाता है, परन्तु धर्म तो आत्मा की विशुद्धि है, धर्म तो रत्नत्रय है। रत्नत्रय धर्म दिखेगा कैसे? इसलिये पुण्यक्रिया दिखेगी, तो धर्म दिखेगा। मार्ग ही छोड़ दो, तो मार्गी मिलेगा कैसे? ऐसा है भैया! कि एक कारण है, एक कार्य है। पुण्य 'कारण' है, धर्म 'कार्य' है, यदि निदानरहित किया है तो अन्यथा वो कारण भी नहीं बनेगा। सम्यग्दृष्टिजीव का पुण्य तो धर्म का निमित्त बनता है लेकिन मिथ्यादृष्टिजीव का पुण्य तो धर्म का निमित्त भी नहीं बनता है। व्यवस्थित चर्या करो। पुण्य तो पुण्य है, पुण्य पाप नहीं है। पुण्य धर्म का साधन है, पुण्य धर्म नहीं है, पर पुण्य के बिना धर्म नहीं है। जब भी धर्म करोगे, नियम से पुण्य होगा और पुण्य का आस्रव होगा। सुकृत करने को पुण्य कहा जाता है। आपने पाँच पाप छोड़े, हो गया पुण्य। भगवान् को नमस्कार किया, हो गया पुण्य। आप उसको छोड़ दोगे, तो बचोगे कहाँ? पहले विषयों का राग तो छोड़ दो। भो ज्ञानी! परमेष्ठी का राग तो पहले छोड़ना चाहता है, पर बेटे का राग नहीं छोड़ना चाहता। हम आपसे ये कहेंगे, आप धर्मात्मा से राग न करो, भगवान् से राग न करो, परन्तु पहले विषयानुराग छोड़ दो।

कोई मुनिराज कहें कि हमें अष्टद्रव्य से पूजा करना है, तो जिनवाणी कभी आज्ञा नहीं देगी, क्योंकि तुम षट्काय के जीवहिंसा के त्यागी हो, आप अष्टद्रव्य से पूजा नहीं

कर सकते। श्रावक को करना चाहिये, क्योंकि आप गृहस्थ हो, स्वालम्बन है और मुनि अवस्था में निरालम्बन है। स्वालम्बन गृहस्थ और निरालंबन मुनि। मुनि चाहे कि मैं अभिषेक कर लूँ, नहीं करेंगे। कोई बैठा हो, तो यह कहेगा कि देखो इन्होंने भगवान् के अभिषेक का निषेध कर दिया। भैया! जो अभिषेक से अतीत हो चुके हैं, उन्हें क्या आवश्यकता है? परन्तु जो अभिषेक करने के पात्र हैं, वे अभिषेक करें। हम तो कुछ श्रावकों को भी निषेध करते हैं, कि जब जुकाम है, नाक बह रही है, खांसी हो रही है, तो मत करो। जब स्वस्थ हो जाओ, तब कर लेना। तबतक अनुमोदना कर लो, कुछ मर्यादायें रखो।

भैया! कुछ व्यवस्थायें सामाजिक रहती हैं, कुछ व्यवस्थायें आपको करना चाहिये कि इतने समय तक अभिषेक कर लें। किसी का नियम है कि मैं अभिषेक करके ही भोजन ग्रहण करूँगा, तो उसको ये भी नियम बनाना चाहिये कि मैं नियत समय पर आकर अभिषेक करूँगा। परन्तु श्रीजी को बटैया मत बनाओ कि जो जब आ रहा है, ढ़ारता जा रहा है। कुछ नियम बनाओ, समय निश्चित कर लो, पर मर्यादा तो रखो।

अपि च सकलरागद्वेषमोहात्मको यः परमगुरुपदाब्जद्वन्द्वसेवाप्रसादात्।
सहजसमयसारं निर्विकल्पं हि बुद्ध्वा स भवति परमश्रीकामिनीकान्तकान्तः।। कलश 30।।

भावकर्मनिरोधेन द्रव्यकर्मनिरोधनम्।
द्रव्यकर्मनिरोधेन संसारस्य निरोधनम्।। 31/कलश।।

आचार्य पद्प्रभमलधारिदेव रागादि से सहित जीव को भी पंचपरमगुरु की भक्ति के प्रसाद से उत्तमफल की प्राप्ति होना बताते हुए कह रहे हैं कि सम्पूर्ण मोह राग–द्वेष से सहित है, तो भी जो पुरुष पंचपरमगुरु के चरणकमल की सेवा के प्रसाद से निर्विकल्परूप सहजसमयसार को जान करके अपने स्वस्वरूप में स्थिर होता है, वह निश्चय से मुक्तिश्रीरूपी स्त्री का स्वामी बन जाता है। आगे आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि भावकर्म के निरोध से द्रव्यकर्म का निरोध होता है। जीव पहले भाव बनाता है, फिर वह द्रव्यरूप परिणत होता है। भो ज्ञानी! द्रव्यकर्म का निरोध होने पर संसार का निरोध होता है। संसार संकुचित हो जाता है। इसलिये द्रव्यकर्म का निरोध करने के पूर्व भावकर्म का निरोध करो, तभी तुम्हारा संसार छूट पायेगा।

भो बन्धुओ! भगवन् पद्मप्रभमलधारि देव ने बहुत सुन्दर सूत्र कहा, कि यदि भावकर्म का निरोध हो जाता है, तो द्रव्यकर्म का निरोध स्वयं हो जाता है और जहाँ द्रव्यकर्म का निरोध हो जाता है, वहाँ कर्म–आस्रव का निरोध हो जाता है। जहाँ कर्म–आस्रव का

निरोध है, वहाँ संसार का निरोध स्वयं हो जाता है। इसलिये कर्म आस्रव जिन भावों से होता है, उन भावों को छोड़ने की आवश्यकता है। जिन भावों से कर्म आते हैं, वो भाव–आस्रव है और कर्मों का आना द्रव्य–आस्रव है। जिन भावों से कर्म बन्धें, वो भावबन्ध है। आत्मप्रदेशों व कर्मप्रदशों का संश्लेषित हो जाना, दूध–पानी की तरह एकमेक हो जाना, इसका नाम द्रव्यबन्ध है। यहाँ आस्रव की बात कर रहे हैं। आस्रव की बात संयम में मत लगाना।

भो ज्ञानी! भाव–आस्रव को समाप्त करने के लिये भावसंयम की आवश्यकता पड़ेगी और भावसंयम का उद्भव द्रव्यसंयम पूर्वक होगा। कारण, जो कहते हैं कि भाव मेरे पहले हुए, तब ही तो मैंने संयम धारण किया। जैसे पिच्छि से मार्जन करना, ईर्यापथ का शोधन करके चलना, ये द्रव्यक्रिया दिख रही आपको। द्रव्यक्रिया करने के परिणाम हुये, वो है तुम्हारा भाव और उस क्रिया में जो तुम्हारी जीवरक्षा की परिणति चल रही थी एक साथ, वो है भावसंयम।

भो ज्ञानी! भाव और भावना, इन दोनों में अन्तर समझना। भावना भाव के लिये की जाती है और भाव होगा ही, तो भावना नहीं होती, अनुभूति होती है। पदार्थ की प्राप्ति के लिये बार–बार जिसे भाया जाय, उसका नाम 'भावना' है। जैसे कि सम्मेद–शिखर जाने की भावना आ रही बार–बार। जब पर्वतराज पर पहुंचकर आपने वंदना प्रारंभ की, तो ये द्रव्यवंदना है और शुद्धवंदना में जो आत्म–आह्लाद है, उसका नाम है भाव भावना।

चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव को महाव्रती बनने के परिणाम हुये, तो भाव हुए उसके, भावना हुई। भावना के बाद उसे अनासक्ति हुई, सो वैराग्य हुआ। तो वो संयम धारण करने को चल देता है। अभी संयम में नहीं है और केशलुंचन हो गये, वस्त्र उतर गये। अभी वहाँ पर न द्रव्यसंयम है, न भावसंयम है। जब आचार्य परमेष्ठी ने 28 मूलगुणों के संस्कार उसको दिये, पिच्छि–कमण्डलु पकड़ाया, आप मुनिदीक्षा स्वीकार कर रहे हैं, इन महाव्रत आदि का पालन करना है। द्रव्यसंयम धारण किया, अभी छठवाँ गुणस्थान नहीं कहा आगम में। अन्य मुनिराज उन्हें नमोस्तु नहीं करेंगे। वहीं 16 संस्कार व 28 मूलगुणों का आरोपण हो गया। इसमें नामसंस्कार के बाद मुनिमहाराज कहलाये चरणानुयोग से। लेकिन द्रव्यानुयोग, करणानुयोग क्या कहेगा? जब वह जीव अनुभव ही नहीं ला रहा, कि मैं मुनि हूँ और कर्म की प्रकृतियाँ, सर्वधाती–प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय, देशघाती प्रकृति का नहीं और उन्हीं के सद्–अवस्था रूप उपशम। ये जब अवस्था जीव की बनेगी और निजस्वभाव में रमण के परिणाम होंगे, उसका नाम है–भावमुनि, भावसंयम। इसलिये जब भी दीक्षा होती है, तो सीधे छठवाँ गुणस्थान नहीं होता, सातवाँ गुणस्थान होता है। तो भावसंयम वहाँ लगाना।

एक भावसंयम सप्तम गुणस्थान अपेक्षा, दूसरी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि जीव का संयम भावसंयम और मिथ्यादृष्टिजीव का असंयम–संयम, ये सम्यक्त्व मिथ्यात्व की अपेक्षा से। इसलिये पहले द्रव्यसंयम होगा, इसके बाद भावसंयम बनेगा।

भो ज्ञानी! तो पहले होगी भावना, फिर होगा द्रव्य, फिर होगा भाव। भावना के अभाव में भावसंयम नहीं बनेगा। जबतक द्रव्यमुनि नहीं बनेगा, तबतक भाव– मुनि हो ही नहीं सकता, तो ये जिनवाणी का अवर्णवाद मत कर देना। जबतक परिग्रह का त्याग नहीं, तबतक अहिंसाधर्म नहीं आयेगा। और जबतक अहिंसाधर्म नहीं आयेगा, तबतक तू मनुष्य कैसे कहलायेगा? जबतक एक धागामात्र भी है, तो पूर्ण अहिंसा का पालन नहीं हो सकता । उसको धोने के परिणाम होंगे, पानी लगेगा, साबुन–सोड़ा लगेगा, जीव मरेंगे। बोले–मैं नहीं धोऊँगा। धुलवाओगे किसी से, तो कृत, कारित, अनुमोदना का दोष। दूसरी बात, पसीना आयेगा, कपड़ों में छपेगा, कपड़े खिसकेंगे, जीव मरेंगे।

भो ज्ञानी! पूर्व में ऐसे ब्रह्मचारी हुए हैं, जिन्होंने कभी सिले कपड़े पहने नहीं। बस, यूँ ही धोती लपेट ली, दुपट्टा डाल लिया। पहले सिला क्यों नहीं पहना? क्योंकि वस्त्र में जहाँ सिलाई है और बीच में धागा है। कपड़ों में जुआँ पड़ जाते हैं। कहाँ? सिलाई में क्योंकि वहाँ आर्द्रता रहती है। उस आर्द्रता में जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। इसलिये अब समझना, कि एक धागा भी जिसके पास है, वो अहिंसक नहीं हो सकता है। क्योंकि जहाँ वस्त्र होगा, वहाँ नियम से आरंभ होगा और जहाँ आरंभ है, वहाँ हिंसा है। इसलिये 'महाव्रती' निर्ग्रन्थ/दिगम्बर को ही कहा, सग्रन्थ को नहीं कहा।

भो ज्ञानी! जब तुझे मालूम है कि वस्त्रों में विकल्प–ही–विकल्प हैं, तो वस्त्र छोड़ क्यों नहीं देता। विकल्प किससे होते हैं? जब व्यक्ति वैद्य से पूछता है, कि कौन–सी सामग्री का उपयोग करूँ जिससे शरीर स्वस्थ्य रहे, तो आप हरप्रकार से साधन जुटायेंगे, उसीका सेवन करेंगे। जब निर्विकल्प, निर्भर में सुख है, तो आप भार को क्यों व्यर्थ में ओढ़े हो? पर के उपकार को छोड़ दो, स्वयं का उपकार ही श्रेष्ठ है। पहले अपनी आत्मा का सुख तो कर लो, फिर यदि सामर्थ्य है तो पर का हित भी करो। लेकिन आत्महित व परहित में कोई श्रेष्ठ है, तो आत्महित ही है। जो आत्महित की, आत्मकल्याण की चिन्ता करे, वो महापुरुष होता है। जिसको शरीर की चिन्ता है, वो मध्यम है। जिसको काम/विषय की चिन्ता है, वो अधम है। जिसको मात्र पर की चिन्ता है, वो अधमाधम है। अधम में भी अधम।

संज्ञानभावपरिमुक्तविमुग्धजीवः कुर्वन् शुभाशुभमनेकविधं स कर्म।
निर्मुक्तिमार्गमणुमप्यभिवांछितुं नो जानाति तस्य शरणं न समस्ति लोके।। कलश 32।।

भगवन् पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में कह रहे हैं कि विमुग्ध जीव अनेक प्रकार के शुभ–अशुभ कर्म करता है। नानाप्रकार के कर्मो को करते हुए मोक्षमार्ग के प्रति अणुमात्र भी चिन्तन नहीं करता । जिनवाणी पढ़ता है, व्रत कर लिए, उपवास कर लिया, कभी–कभी पूजा में खड़े होकर वाकायदा अभिषेक किया, पूजन किया, घर भी आ गये, भोजन करके दुकान भी चले गये, पर क्या करके आये हो, ये पता नहीं है। अपने दैनिक काम कर लिया।

भो ज्ञानी! षट्कर्त्तव्य कर्त्तव्य ही मत मानो। कर्त्तव्य यानि ड्यूटी। जब आप नौकरी करने जाते हैं, दुकान पर जाते हैं, सच बताना, कभी सिरदर्द करता? कभी अच्छा धार्मिक कार्यक्रम हो, स्वाध्याय/प्रवचन चल रहे, मंदिर में कुछ अच्छा काम चल रहा, तो ऐसा लगता है कि आज नहीं जाते, पर जाते हो। जाना पड़ता है, क्यों? बोले–आज हमारी ड्यूटी है। इसलिये महाराजश्री! आज नहीं आ पाऊँगा। भो ज्ञानी! जिनवाणी सुनना ड्यूटी नहीं है। इसलिये कोई भी धार्मिक अनुष्ठान करना, कर्त्तव्य मानकर मत करना। ये कर्त्तव्य नहीं, हमारा धर्म है।

एक व्यक्ति को किसी ने डाँट दिया। बोले–अब मैं मंदिर नहीं जाऊँगा। आपके पीछे 50 आदमी और थे उनकी भावना देखना। ये नहीं जायेंगे, तो मैं क्यों जाऊँ? यानि आपने अपना अपमान समझकर धर्म को छोड़ दिया। अपमान हुआ था पर्याय का, यहाँ लगाओ समयसार। अपमान किया पर्याय ने, धर्म मेरा द्रव्य है। धर्मद्रव्य कभी बदलता नहीं है। किसी भी काल में, किसी भी क्षेत्र में, किसी भी अवस्था में धर्मद्रव्य बदलनेवाला नहीं है। ऐसे धर्मद्रव्य के समान तुम धर्म करो। उसमें कर्त्ताभाव मत लाओ। अनुप्रेरितरूप से अपना काम करो, धर्मास्तिकाय के समान। धर्मद्रव्य किसी को चलाने का कर्त्ता नहीं है। धर्मद्रव्य किसी को चलाता नहीं है पर धर्मद्रव्य के बिना कोई चलता नहीं है।

जो चला, उसकी दशा चलती रहेगी। उपयोग की दशा तो लगी हुई है। योग की दशा चलेगी आपकी । पुण्य–आस्रव भी होगा, पर उपयोग की दशा अलग है और उपयोग से होता है स्वर्ग, नरक, मोक्ष । आपका योग मंदिर में था, उपयोग तुम्हारा ज्ञान–दर्शन में जा रहा, कि दुकान पर क्या हो रहा होगा? उपयोग अशुभ था। एक साधु का निवासस्थान गणिका के भवन के सामने था और वह जाप करता था। वहाँ ऐसा घटित हुआ कि एक ही

काल में दोनों की मृत्यु हो गई। गणिका के शव को लोगों ने उठाकर गढ्ढे में फेंक दिया, वह पापिनी थी, कौन उसकी क्रिया करे। साधु का जो शरीर था, उसे लेकर ढ़ोल–मजीरे के साथ तालाब के किनारे पहुँचे। चंदन की लकड़ियों का प्रयोग हो रहा है, जय–जयकार हो रहा था। दो देव देख रहे थे आकाश से कि ये क्या हो रहा है? वो गणिका का जीव स्वयं देव बनकर आ गया।

भो ज्ञानी! सुनो, इस साधु के शरीर ने धर्म किया था, इसलिये इसकी पूजा हो रही है। इस गणिका के शरीर ने पाप किये, तो नाली, गढ्ढे में फेंक दिया। परन्तु तेरे मन ने पुण्य किया था, तो तू देव बन गया, पर साधु के मन ने पाप किया था, वो दुर्गति को प्राप्त हुआ। इसलिये योग, उपयोग की ये दशा है। दृष्टान्त में दृष्टान्त समझना।

भो ज्ञानी! जीवन में ध्यान रखना। योग भी निर्मल रहे, उपयोग भी निर्मल रहे, तब कल्याण होगा। शुभ, अशुभ सभी प्रकार के कर्म करता, परन्तु जो मुक्ति का मार्ग है, उसको अणुमात्र भी नहीं सोचता। भव–के–भव बीत जाते हैं, क्योंकि हमारी कुल–परम्परा चली आ रही है। मंदिर आना, दर्शन करना, पूजा करना। लेकिन जिसको अणुमात्र भी अपने कल्याण की भावना नहीं है, उस जीव के लिये कहीं भी जगह नहीं है क्योंकि बिना वैराग्य के द्रव्यानुयोग टिकेगा कहाँ? वैरागी के अंदर ही तो द्रव्यानुयोग है। पात्र बने नहीं, तो नाटक कैसा? और नाटक होगा, तो पात्र बनोगे। ऐसे ही मुनि बने नहीं, तो निजनाटक कैसा? और निजनाटक है, तो मुनि हो।

भो ज्ञानी! ये रंगमंच आत्ममंच है। इसमें सात तत्त्व ही पात्र हैं। उनमें मुख्यद्रव्य आपका जीवद्रव्य है और नाटक करवा रहे हैं कर्म । वे ही संवर, निर्जरा, मोक्ष को, सब वो ही करा रहे हैं। इसलिये हे जीव पात्र! तू अपनी वास्तविकता को समझ। पर्दे के नाटक पर मत खेलो। संसार के नाटक को देखो। अंदर देखो पर्दे के राम अलग होते हैं और कौशल्या के राम अलग होते हैं। लक्ष्मण के वियोग में बाहर रो रहे थे और अंदर गये तो पान खा रहे थे, रावण के साथ, जिसने सीताहरण किया। वे कौशल्या के राम नहीं थे। वे रामलीला के पर्दे के राम थे।

भो ज्ञानी! यदि भावशून्य तेरी क्रिया है, तो तू कौशल्या का राम नहीं है, परदे का राम है। भैया! कौशल्या के राम बनने के लिए परदे के राम को छोड़ना पड़ेगा।

यःकर्मशर्म्मनिकरं परिहृत्य सर्वं निःकर्मशर्म्मनिकरामृतवारिपूरे।
मज्जन्तमत्यधिकचिन्मयमेकरूपं स्वं भावमद्वयममुं समुपैति भव्यः।।कलश 33।।

यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं कि इंद्रियों का जो सुख है, वो कर्मों के द्वारा प्राप्त सुख है। इसको तुम छोड़ दो यदि कर्म से रहित सुख प्राप्त करना चाहते हो, जो अमृत के समान सर्वपूरित है। कर्म से उत्पन्न सुख, वह द्वंद्व है। द्वंद्व का अर्थ है झगड़ा। जहाँ दो होंगे, वहाँ द्वन्द्व अवश्य होगा। इसलिये यदि द्वन्द्व से रहित होना चाहते हो, तो कर्मरहित जो सुख है, वह अद्वन्द्व है। जहाँ दो होंगे, वहाँ नियम से विसंवाद होगा। इसलिये कुन्दकुन्द भगवन् ने लिखा है ये आत्मा एकत्व– विभक्तस्वभावी है। आत्मा और कर्म न होते, तो संसारी कैसे कहलाते? आप दो हो। आत्मा का धर्म अद्वन्द्वस्वभावी है। भव्यजीव ऐसे अद्वन्द्व–स्वभाव को प्राप्त कर लेता है। कर्म के द्वारा प्राप्त सुख यानि इन्द्रियसुख और कर्मसमूह से रहित यानि सिद्धों का सुख, अतीन्द्रिय सुख है।

असति सति विभावे तस्य चिंतास्ति नो नः सततमनुभवामः शुद्धमात्मानमेकम्।
हृदयकमलसंस्थं सर्वकर्मप्रमुक्तं न खलु न खलु मुक्तिर्नान्यथास्त्यस्ति तस्मात्।। कलश 34।।

आचार्य महाराज लिख रहे हैं–कितनी दृढ़ श्रद्धा है? मैं तो अपने–आपको निर्बन्ध देख रहा हूँ, शुद्धदृष्टि है। मैं तो एक शुद्ध आत्मा हूँ कर्म का बन्ध किसमें है? मैं नहीं जानता हूँ। आत्मा सम्पूर्ण कर्मों से रहित है और निश्चय से जबतक इस सिद्धान्त–तत्त्व को नहीं जानेगा, नहीं मानेगा, तबतक कुछ भी कर लेना, लेकिन मुक्ति नहीं है।

भो ज्ञानी! सुख का मतलब समझना। कर्मों से प्राप्त सुख यानि इन्द्रियसुख और निष्कर्मसुख यानि सिद्धों का सुख। 'तत्त्वार्थ–सूत्र' में लिखा है ''अनादि सम्बन्धे च'' सोना किट्टिमा से युक्त क्यों है, कब से है? ''अनादि सम्बन्धे च।'' क्योंकि अशुद्ध–अवस्था जीव की अनादि से है। इस स्वर्ण में आप धोकनी धोकोगे, तो किट्टिमा पृथक् हो जायेगी। इसीप्रकार से आत्मा कर्मों से अनादि से ग्रस्त है, इसीलिये तो स्वभाव की खोज कर रही है। पुद्गलद्रव्य अशुद्ध से शुद्ध होता है। पुद्गलद्रव्य शुद्ध से अशुद्ध भी होता है। लेकिन जीवद्रव्य अशुद्ध से शुद्ध तो होता है, पर शुद्ध से अशुद्ध नहीं होता। जैसे जलाहुआ बीज कभी अंकुरित नहीं होता, इसीतरह जिनका कर्मबीज जल चुका है, वे अब भव के अंकुर को प्राप्त नहीं करेंगे।

भो ज्ञानी! किट्टिमा–युक्त सोना को जब धोकनी में धोंका जायेगा, तो शुद्धसोना निकल आयेगा। तो भैया! उसमें तर्क नहीं चल पाता है। आप भी यहाँ कब से हो संसार में? जिसका आदि नहीं हो, उसे अनादि कहते हैं। भो ज्ञानी! पारिणामिक–भाव को अब सिद्धान्त की भाषा से बताते हैं, समझ में आ जायेगा। जिसका उपशम, क्षयोपशम कुछ

नहीं होता है, उसे पारिणामिक कहते है। पारिणामिक–भाव छह द्रव्यों में होता है। पारिणामिक यानि स्वभाव। मैं मनुष्य हूँ, क्योंकि औदयिकभाव है। औदयिकभाव संसार है। पारिणामिक–भाव ही हमारी आत्मा का स्वभाव है। मनुष्य, तिर्यंच, देव, नारकी औदयिक भाव हैं। सिद्धभगवान् परम–पारिणामिकभाव है, इसका अभाव किसी ने उत्पन्न नहीं किया।

अरे! आप चिन्ता न करो, आप तो पुरुषार्थ करो। कुन्दकुन्द स्वामी ने भी कहा है कि जीव भगवत्–स्वरूप है। ये कहीं नहीं कहा कि मैं भगवान् हूँ। अरे! तू सिद्ध–आत्मा है। ये कोई दिक्कत नहीं है, पर तू उसे शास्त्रीयसंगीत मत बनाना। ध्यान रखना, जिनवाणी ये कह रही है कि आप तत्त्व की बात में भी तत्त्व को मिलाके कहोगे, सत्य को मिलाके कहोगे तो व्यक्ति समझेगा और आपकी बात मानेगा। यदि एक ही बात पर जोर दोगे, तो प्रश्न खड़ा हो जाता है कि इसी–इसी को क्यों कहा है?

भो ज्ञानी! शब्दशक्ति अभी आपको नहीं मालूम। जो वामी के अंदर बैठा साँप है, उसे किसने पकड़ा? जिनको समयसार पर शंका हो रही है, मैं उसका समाधान कर रहा हूँ कि समयसार की शक्ति कितनी बेजोड़ है। जब गाली की शक्ति इतनी प्रबल है, अभी तुम देके देखो। गाली भी शब्द ही है। जमीन के अंदर वामी में बैठा सर्प जैसे ही बीन की आवाज सुनता है, तो झूमने लगता है, बाहर निकल आता है, अपने–आपमें खो जाता है और बड़े आराम से टोकनी में बन्द हो जाता है। ऐसे ही आप इन शब्दों को किस रस में ढ़ालना चाहते हो। वक्ता के पास, लेखक के पास सबसे बड़ी कला ये है कि हजारों–लाखों जीवों को एकसाथ रुला दे, एकसाथ हँसा दे, ये सब क्या है? ये शब्द की शक्ति है।

भविनि भवगुणाः स्युः सिद्धजीवेऽपि नित्यं निजपरमगुणाः स्युः सिद्धसिद्धाः समस्ताः। व्यवहरणनयोऽयं निश्चयान्नैव सिद्धि–र्न च भवति भवो वा निर्णयोऽयं बुधानाम् ।।कलश 35।।

कलश में भगवन् पद्मप्रभमलधारि देव कह रहे हैं कि संसारीजीव में सांसारिक गुण होते हैं अर्थात् वो कर्मों से संयुक्त रहने के कारण विभाव में रहता है, शुद्धस्वभाव को प्राप्त नहीं कर पाता है। सिद्धजीव अष्टकर्मों से रहित होता है अर्थात् वह अपने शुद्धस्वभाव में हमेशा रहता है। वे सहज, स्वाभाविक दशा में रहते हैं, यह व्यवहारनय से कहा जाता है। निश्चयनय से न तो संसार ही है, न सिद्धि–मुक्ति है। ऐसा बुद्धिमान पुरुषों के द्वारा कथन किया गया है। यह उनका पक्का निर्णय है।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **दोनों नयों (द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक) की सफलता।**

दव्वत्थिएण जीवा, वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जाया।
पज्जयणयेण जीवा, संजुत्ता होंति दुविहेहिं।।19।।

संस्कृत छाया : **द्रव्यार्थिकेन जीवा व्यतिरिक्ता पूर्वभणितपर्यायात्।**
पर्यायनयेन जीवाः संयुक्ता भवंति द्वाभ्याम्।।19।।

अन्वयार्थ : (द्रव्यार्थिक नयेन) द्रव्यार्थिक नय से (जीवाः) जीव (पूर्वभणित पर्यायात्) पूर्वकथित पर्यायों से रहित हैं (पर्यायनयेन) पर्याय नय से (जीवाः द्वाभ्यां संयुक्ताः भवंति) जीव उन स्वभाव और विभावरूप दोनों प्रकार की पर्यायों से संयुक्त होते हैं।

भो बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी यहाँ पर 19वीं गाथा में इस अधिकार के समापन में सम्पूर्ण पर्यायों की चर्चा कर रहे हैं कि वे सब पर्यायें अपने–आपमें कह रही हैं कि हम भी अपना स्वार्थ चाहते हैं। स्वार्थ कौन नहीं चाहता है? कर्म का परिणमन अपने–आपमें हो रहा है और जीव का परिणमन अपने–आपमें हो रहा है। परन्तु रागादिकभावों में कर्म निमित्त बन रहा है। कर्म कभी नहीं चाहेगा कि जीव सिद्ध बन जाए। क्योंकि सिद्ध बन जायेगा तो मेरा साथ छूट जायेगा। इसीलिये स्वार्थ कौन नहीं चाहता है?

पूज्यपाद स्वामी 'इष्टोपदेश' में कह रहे हैं कि लोक में ऐसा कोई जीव नहीं है, जो अपना स्वार्थ नहीं देखते।

कर्म–कर्म हिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः।
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे, स्वार्थं को वा न वाञ्छति।। इष्टोपदेश 31।।

यहाँ कह रहे हैं कि ऐसा कोई कर्म नहीं है जो अपना स्वार्थ न देखता हो। कर्म का काम जीव को बांधना है। आप यह नहीं कहना कि कर्म ने छल किया है, क्योंकि वो तो अपना काम करेगा। इसलिये जितनी पर्याय हो रही है, वे सब पर्यायें द्रव्य का विकार हैं। परन्तु ये पर्याय अशाश्वत होने पर भी शाश्वत है और शाश्वत होने पर भी अशाश्वत है, क्योंकि प्रतिक्षण बदल रही है।

19वीं गाथा में कुन्दकुन्द महाराज कह रहे हैं कि द्रव्यार्थिकनय से जीव, जितनी पूर्वपर्यायों का कथन किया है, उन सभी पर्यायों से रहित है। इसका तात्पर्य द्रव्य पर्याय से रहित होना नहीं है क्योंकि यह कथन द्रव्यार्थिकनय को गौण करके किया गया है।

टीका में आचार्य पद्मप्रभमलधारि देव कह रहे हैं कि भगवान् अरिहंत परमेश्वर ने दोनों नयों का कथन किया है–पर्यायार्थिक, द्रव्यार्थिक। जिस नय का प्रयोजन द्रव्य है, उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। जिस नय का प्रयोजन पर्याय है, उसे पर्यायार्थिकनय कहते हैं। जब पर्यायार्थिकनय का कथन करेंगे, तो द्रव्य वहाँ गौण हो जायेगा, लेकिन द्रव्य का अभाव नहीं होगा। एक की मुख्यता है, दूसरे की गौणता है और जो मुख्यता/गौणता को अभाव मान लेता है, वो जीव संसार में नयविवक्षा से भटक जाता है।

भो ज्ञानी! यदि प्रमाणिकता आप नहीं देंगे तो रागी भोगी द्वेषी जीवों की बात माननेवाला कोई नहीं है और अर्हत्वचन का नाम लेकर एकबात भी कहे, वो स्वीकार है और अपना कह करके बड़ा–से–बड़ा विद्वान् आचार्य भी कहे तो स्वीकार नहीं क्योंकि सोचनीय हो जाता है। पद्मप्रभमलधारिदेव ने यहाँ लिखा है कि भगवान् जिनेन्द्र ने कहा है **'जिनोक्तं'** ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है, क्योंकि प्रमाणिक वो ही हैं। आप्त और आप्त की वाणी, गुरुओं की वाणी के अनुसार यदि कोई विद्वान् भी कहता है तो भी हमें प्रमाणिक है। लेकिन स्वतंत्र चिन्तन यदि कोई देता है, उसे भले आप्त की वाणी कहे, तो भी प्रमाणिक नहीं। क्यों? आपको विवेकपूर्वक मिलान करना चाहिये।

ये ध्यान रखना, मध्यकाल में ऐसी विडम्बना हुई है हमारे साथ, कि ग्रन्थ का जो लेखन होता था, छपाई तो होती नहीं थी, उतारे होते थे। उतारनेवाले कौन थे? तो उन लोगों ने कुछ अपने मन का भी मिलावट कर दिया। जब देखा कि हमारी बात कैसे पुष्ट हो, तो ग्रन्थ लिखा और ग्रन्थ पर नाम लिखा–आचार्य कुन्दकुन्द। अब कुन्दकुन्द स्वामी इतने प्रमाणित थे कि लोग नाम लेते ही विश्वास कर लें। उस व्यक्ति को अपने नाम से प्रयोजन नहीं था। लिखनेवाले का प्रयोजन था कि हमारे सम्प्रदाय का पोषण हो जाये। भगवान्जिनेन्द्र ने कहा वो तो देखने आ नहीं रहे और आपने लिखा, उसमें लिख दिया– जिनोक्तं। भैया! जिनदेव ने कहा है। क्या जिनदेव कहेंगे कि हमारी प्रतिमा का तुम गोबर से अभिषेक करो? एक ऐसा भी ग्रन्थ आपके यहाँ है, जिसमें तीर्थंकर की आरती, अभिषेक गोबर से करने का कथन है। ये क्या है? वहाँ विवेक भी लगाना उस शास्त्र का अन्य ग्रन्थों से मिलान करना। किसमें जिनवाणी कितनी और व्यक्ति का निजी क्या कथन है?

एक व्यक्ति भगवान् की पूजा कर रहा था, उसने प्रमादवश चंदोवा हटा दिया। अब सोचता है–कौन बांधे, कौन छोड़े। इसके बाद उसने प्रथा शुरू कर दी अब तो पक्का है, इसलिये मत लगाओ चंदोवा। परिणाम क्या हुआ? अब कहीं निर्वाणसागर जी यहाँ आ गये। उनने कहा–पहले आप चंदोवा लगाओ क्योंकि भगवान् का अभिषेक कर रहे हो

आप, कहीं कुछ गिर जाये तो....। बोले–महाराज अच्छे आ गये, पुरानी–पुरानी बातें सुनाते हैं, जमाना देखते नहीं हैं। आपने आगम के अनुसार चलने वाले को कह दिया अज्ञानी और आप स्वच्छंदी बन चुके थे।

ज्ञानी! आगम में शत जगह चंदोवे का विधान है। 'अब कौन बांधे, कौन छोड़े, पक्के तो हो गये मकान।' भो ज्ञानी! चक्रवर्ती के भवन खपरैल के नहीं थे। उनके यहाँ भी चंदोवे लगते थे। जिनालय भी विशाल बनते थे। होता यह है कि आगम की बात को रूढ़ि समझ लेता है और अपनी गलती को सुधारना नहीं चाहता है। मध्यकाल में ये बहुत हुआ। लोगों ने अपने मन की बातों को जिनवाणी में प्रवेश दिला दिया। ऐसा नहीं होना चाहिये।

आपको एक प्रमाण दे रहे हैं। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने वृहद् स्वयं– भूस्तोत्र में लिखा–

वृहत्फणामण्डल–मण्डपेन यं स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचोपसर्गिणम्।
जुगूह नागो धरणो धराधरं, विराग–सन्ध्यातडिदम्बुदो यथा।।132।।

'हे भगवान् पारसनाथस्वामी! आप वृहद्–फणा के मण्डप से मण्डित हैं।' उनका उद्देश्य फणों की वंदना नहीं। ये कहना चाहते हैं कि आप इतने घोर– तपस्वी थे, कि ओले–शोले सब गिरे, फिर भी आप–अपने संयम मार्ग से चिगे नहीं। देवों के आसन कम्पायमान हुए, तब उन्होंने आपका उपसर्ग दूर किया। ये साधक की दृढ़ता दिखाने के लिये कहा गया था कि आप भी ऐसे दृढ़ रहना। कोई बालक चौबीसी के दर्शन को गया। उसने पूछा–बाकी सब भगवान् पर फणा नहीं बना है, एक पर क्यों? उसकी जिज्ञासा होने के कारण आपको 'पार्श्वपुराण' सुनाना पड़ेगा। भगवान्–पार्श्वनाथ पर उपसर्ग हुआ था तो धरणेन्द्र ने आकर उनके उपसर्ग को दूर किया था। इसलिये भगवान् के ऊपर वो प्रतीक है।

गोम्मटेश–बाहुबली के शरीर पर बेलें लगी हुई हैं, तो बेलों को नमस्कार करेंगे आप? वीतरागी के ऊपर बेलें नहीं होती, लेकिन शिल्पकार आपको क्या संकेत करेंगे? वो दिखाना चाहते है कि ऐसी घोर तपस्या की, एक वर्ष तक खड़े रहे, बिच्छू सर्प घूमते रहे, फिर भी चलायमान नहीं हुए। ये दिखाने के लिये चित्रण किया है। परन्तु पं. सदासुखदास जी ने श्रावकाचार की टीका में इसको मिथ्यात्व कह दिया।

भो ज्ञानी! जिनधर्म आज्ञाप्रधानी शासन है। परीक्षाप्रधान नाम का कोई सम्यक्त्व नहीं है। सम्यक्त्व के दस भेद हैं। पहला सम्यक्त्व आज्ञा–सम्यक्त्व है। आचार्य गुणभद्र स्वामी ने 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ में लिखा है जो जिनदेव की आज्ञा है मुझे स्वीकार है। मध्यकाल की विडम्बना थी कि लोगों ने अपना मन का लिखना प्रारंभ किया और उसका परिणाम

यह निकला कि सामान्यलोग जैसा ग्रन्थ में लिखा है, आगे चलकर प्रमाणिक हो जाता है, वैसा करना शुरू कर देते हैं।

धर्म तो एक है, पर हर व्यक्ति बोले कि हमारा धर्म ऐसा चलता है। धर्म पूरे विश्व में एक है **''वत्थु स्वभावो धम्मो।''** कोई भी नहीं काट सकता, इस धर्म की परिभाषा को। बाकी के सब कषायस्थान हैं, सम्प्रदाय स्थान हैं। परन्तु ''वत्थु स्वभावो धम्मो'' वो जिनदेव ने कहा है, उसमें रत्नत्रय भी निहित है, उसमें दशधर्म भी निहित हैं यानि जितने आत्मा के गुण हैं, सभी निहित हैं। इसलिये ध्यान रखना, सब अहम्भाव है और अहम्भाव में धर्म पल नहीं सकता है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने तुम्हारी रूढ़ियों को नहीं माना हटके कह दिया। तुम्हारे कुप्रभाव को नहीं माना हटके कह दिया। वे सद्मार्ग पर चले थे। जब लोगों ने ऐसे ग्रन्थ गढ़ लिये कि मुनिमहाराज कपड़े रख सकते हैं तो कुन्दकुन्द आचार्य उसको स्वीकार कर लेते क्या? अब जिसने कपड़े पहन लिये हों, वो क्या कहेगा? एक सज्जन हमारे पास आये, बोले–हमें कम्बल रखने की छूट दे दो, गर्मियों में पानी पीने की छूट दे दो, मैं मुनि बनके आपके साथ चलता हूँ। हमने कहा, भैया! तुम घर में श्रावक बनके रहो, इसमें कोई दोष नहीं है। परन्तु कम्बल ओढ़के मुनि बनोगे, तो निगोद चले जाओगे। गृहस्थ को कम्बल ओढ़ने का निषेध नहीं किया है। परन्तु मुनि बनके एक सुई की नोक के बराबर परिग्रह रखोगे, तो निगोद के अधिकारी होगे, ऐसा कुन्दकुन्द महाराज ने 'अष्टपाहुड' में लिखा है।

भो ज्ञानी! जिनवाणी को छिपाना नहीं चाहिये, इससे शिथिलाचार बढ़ जाता है। जब एक सुई के नोक के बराबर भी परिग्रह रखेगा निर्ग्रन्थ साधु, उसे निगोद का पात्र कहा, वो निर्ग्रन्थमुद्रा को धारण करके भी निर्ग्रन्थस्वरूप में नहीं जी पायेगा। भो ज्ञानी! कहीं आपके दीक्षा के भाव बन जायें, तो ठोक–पीटके बनो। ऊपर के भाव तो बनाना, नीचे के भाव नहीं बनाना। आचार्य महाराज ने इसलिये लिखा कहीं आपको अहंकार न आ जाये कि अब तो हम दिगम्बरमुनि बन ही गये, अब हम कुछ भी करते रहें, अब तो सब क्षमा है।

'मनुस्मृति' में लिखा है कि विप्रराज कुछ भी करें तो सब क्षमा है। ये मान्यता कहीं तुम्हारे धर्म में प्रवेश न कर जाये कि कपड़े उतार लिये तो कुछ भी कर लो सब क्षमा हो गया। भैया! ऐसा नहीं है। यहाँ दण्डसंहिता है। उसमें यह लिखा है कि मुनिचर्या का निर्दोष पालन करें। वे अज्ञानी हैं जो इस बात को खिलवाड़ में उड़ाते हैं कि निगोद जायेंगे। मुनि कभी निगोद नहीं जाते। मुनि निगोद जाने लग जायेंगे तो सिद्ध कौन बनेगा?

भगवान् महावीरस्वामी की आम्नाय का कैसा दुरुपयोग कर डाला? बाजार का खा लेंगे और उद्दिष्ट के त्यागी हैं, बिस्कुट खा लेंगे। तीर्थंकर महावीर ने कहा था कि क्षुल्लक से लेकर मुनिमहाराज तक उद्दिष्ट त्यागी हैं। यदि कोई कह जाये–महाराजश्री! आप कल हमारे यहाँ पधारना तो महाराज बिलकुल नहीं जायेंग।

भक्ष्य, अभक्ष्य का जब तक विवेक नहीं होगा, तबतक साधुजीवन का भी पालन नहीं हो सकता। एक–दो दोष नहीं होते, छियालीस दोषों से रहित चर्या होती है साधु की।

हम तो अपना शुद्धभोजन करेंगे और जिसे करना हो तो करना, नहीं करना हो तो नहीं करना। जिसने सम्पूर्ण विकल्पों को छोड़ा है और फिर वो आपका विकल्प करे? नहीं। मेरे कहने का उद्देश्य यह है कि यह मत देखो कि हम कौन हैं और ये कौन। जैसे वैद्य रोगी को न देखकर व्याधि को देखता है, उसे हुये रोग को दूर करता है। धर्मात्मा/जैनाचार्य किसी जाति को नहीं देखते। वे उस जीव के जन्म–मरण के रोग को देखकर उसको जिनवाणी की औषधि पिलाते हैं। यह राजमार्ग है। इस मार्ग पर चलोगे तो सहीमार्ग मिलेगा, अन्यथा भटकते ही रहोगे।

भो ज्ञानी! जिसका पर्याय प्रयोजन है, वो पर्यायार्थिक है और जिसका द्रव्य प्रयोजन है, वो द्रव्यार्थिक है। न्याय में नयों का तो प्रयोजन है। नय तो नय है। आप एक नय का उपदेश ग्रहण नहीं करना, क्योंकि दोनों नय ही जिनागम हैं दोनों का ही उपदेश है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी, पद्मप्रभमलधारि देव के सामने भी इसप्रकार की समस्यायें खड़ी थीं और उन्होंने निराकरण विशेषरूप से किया है। श्रुतसागर सूरि ने 'अष्टपाहुड' की टीका में निराकरण किया है। जो शुद्धोपयोग वाली बात चलती है चौथे गुणस्थान में, यह भी पहले से प्रारम्भ हो चुकी थी। यह आज की नहीं है, आज तो पकड़ ली है। चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग, निर्विकल्पध्यान की चर्चा, ये वास्तव में आचार्य शुभचंदस्वामी एवं आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के काल में प्रारंभ हो चुकी थी। तभी तो कुन्दकुन्द स्वामी को स्पष्ट लिखना पड़ा 'प्रवचनसार' में–

सुविदिदपयत्थसुत्तो, संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो, भणिदो सुद्धोवओगो त्ति।। प्र.सार 14।।

जिन्होंने पदार्थों, सूत्रों को अच्छी तरह से जान लिया है ''संयम विगदरागो'' जो संयमी हैं, जिनका राग बीत चुका है जो सुख–दुःख में साम्यभाव रखते हैं, वे शुद्धव्यक्ति हैं। इसका तात्पर्य यह है कि गृहस्थों के शुद्धोपयोग माननेवाली प्रथा प्रारम्भ हो चुकी थी।

जब दिगम्बर–आम्नाय में वस्त्र ओढ़कर चलने लगे मध्यकाल में तो आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द ने लिखा–

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।

णग्गो विमोक्खमग्गो, सेसा उम्मग्गया सव्वे।। सूत्रपाहुड 23।।

वस्त्रधारी की सिद्धि नहीं होगी, भगवान्जिनेन्द्र के शासन में यदि तीर्थंकर भी क्यों न हो।

खपुष्पमथवा श्रृङ्गं खरस्यापि प्रतीयते।

न पुनर्देशकालेपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रये।। ज्ञाना0 17।।

भो ज्ञानी! आकाश के सुमन, गधे के सींग किसी भी देश में, किसी भी काल में नहीं होते हैं। माना कि गधा और सींग तो होता है, पुष्प और आकाश तो होता है, परन्तु गृहस्थ के निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि नहीं होती। ये विवाद पहले से चले आ रहे हैं, फिर से उखाड़ने की आवश्यकता नहीं है पर जिनवाणी समझो। 'भावसंग्रह' में आचार्य वामदेव ने लिखा है, कि निर्विकल्प ध्यान अप्रमत्त यतीश्वरों को ही होता है। जो बाह्य व्यापार से रहित हैं और निर्ग्रन्थलिंग से युक्त हैं, ऐसे यतियों के ही निर्विकल्प ध्यान होता है, ये जिनागम कहता है। वस्त्रधारण अवस्था में निर्विकल्प ध्यान विद्वानों ने अपने मन का लिखा है। ये परम्परा जैनियों में नहीं है। वैदिकदर्शन में भी जब उपनिषदों की चर्चा हो चुकी और उपनिषदों को गृहस्थों ने बहुत अंगीकार किया और वेदों के क्रियाकाण्ड छोड़े तो उस समय वैदिकदर्शन में दो खण्ड हो गये। एक साधक दूसरे साधक की कोठी पर चढ़ना पसन्द नहीं करता धर्म के नाम पर।

भो ज्ञानी! ऐसा ये वीतरागधर्म नहीं है। इसलिये लगता है कि कुन्दकुन्द आचार्य ने जिन ग्रन्थों का सृजन किया है, एकदम शुद्ध चर्चा की है। उन्होंने लिखा है कि शुद्धोपयोग भी अनुभूति है और अशुद्धोपयोग भी अनुभूति है। अनुभूति में दोनों आयेंगे। शुद्धात्म–अनुभूति यानि शुद्धोपयोग। पर अनुभूति मात्र कहेंगे, तो अनुभूतियाँ अनेकप्रकार की होती हैं। जो अनुभूति निर्विकल्प–अवस्था में सप्तमगुणस्थान की अनुभूति है, वो शुद्धोपयोग की अनुभूति नहीं है। इस अनुभूति को आप कहें सम्यग्दर्शनजन्य आत्मा ही अनुभूति है, ज्ञानमय आत्मा ही अनुभूति है, क्योंकि अनुभूति आत्मा का बाह्य विषय है ही नहीं। लेकिन उसे आप शुद्धोपयोग संज्ञा न दें, वह दर्शनानुभूति है, ज्ञानानुभूति है। कुन्दकुन्द स्वामी क्या कहेंगे? सम्यक्त्वाचरण चारित्र की अनुभूति है और संयमाचरण की अनुभूति नहीं है। वास्तव में 'संयम' संज्ञा छठवें–गुणस्थान से प्रारंभ होती है। उमास्वामी

महाराज ने पंचमगुणस्थान का नाम नहीं लिया। **'सामायिकच्छेदोपस्थापना– परिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराय– यथाख्यातमिति चारित्रं** कहा।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव उभयनय के अवलम्बन की सफलता को बताते हुए कलश कहते हैं। उनका उद्देश्य भव्य जीवों को परमत से निवृत्त करना है।

अथ नययुगयुक्तिं लङ्घयन्तो न संतः परमजिनपदाब्जद्वन्द्वमत्तद्विरेफाः।

सपदि समयसारं ते ध्रुवं प्राप्नुवन्ति, क्षितिषु परमतोक्तेः किं फलं सज्जनानाम्।।कलश 36।।

जो सज्जनपुरुष दोनों नयों (द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय) की युक्ति का उल्लंघन नहीं करते हैं तथा जिनेन्द्रभगवान् के चरणकमलों में मत्तभ्रमर के समान लीन रहते हैं, वे शीघ्र ही समयसार को प्राप्त कर लेते हैं, इसमें कोई शंका नहीं है। इस पृथ्वी पर जो विभिन्न–प्रकार के मतों का कथन हो रहा है, उससे उन्हें कोई प्रयोजन नहीं है।

भो ज्ञानी! जो जीव परमतों के कथन में उलझता रहता है, वो मात्र संक्लेशता को ही प्राप्त करता है। जिनका दृढ़श्रद्धान जिनेन्द्रभगवान् के वचनों पर होता है, वही वीतरागता को धारण करके, समस्त विकल्पों से रहित होकर, निज– स्वभाव में स्थिर होकर, अपने आत्मस्वरूप समयसार को प्राप्त करते हैं।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी रचित 'नियमसार' का प्रथम अधिकार 'जीवाधिकार' पूर्ण हुआ।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **पुद्गल द्रव्य के भेदों का कथन।**

अणुखंधवियप्पेण दु, पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्पं।
खंधा हु छप्पयारा, परमाणू चेव दुवियप्पो।।20।।

संस्कृत छाया : **अणुस्कन्धविकल्पेन तु पुद्गलद्रव्यं भवति द्विविकल्पम्।**
स्कन्धाः खलु षट्प्रकाराः परमाणुश्चैव द्विविकल्पः।।20।।

अन्वयार्थ : (अणुस्कंध विकल्पेन तु) अणु और स्कंध के भेद से (पुद्गलद्रव्यं) पुद्गलद्रव्य (द्विविधं भवति) दो प्रकार का होता है (स्कंधाः खलु षट्प्रकाराः) स्कन्ध निश्चितरूप से छह प्रकार का है (परमाणुः च एवं द्विविकल्पः) और परमाणु दो प्रकार का ही है।

भो ज्ञानी! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रथम अधिकार में जीवतत्त्व का विस्तार से वर्णन किया। षट्द्रव्यों में उपादेय कोई द्रव्य है, तो वह जीवद्रव्य है। इसलिये सर्वप्रथम जीवद्रव्य का वर्णन किया। जीवद्रव्य के विषय में जानकर ही हम इस द्रव्य को अन्य द्रव्यों से, विशेष रूप से पुद्गल द्रव्य से, अलग रखने का पुरुषार्थ कर सकते हैं। षट्द्रव्यों को जाने बिना, विशेष रूप से जीव और पुद्गल द्रव्य को जाने बिना, भेदविज्ञान संभव नहीं है।

भो ज्ञानी! अणु और स्कंध के भेद से पुद्गलद्रव्य दो प्रकार का होता है। अणु से तात्पर्य है, जिसका आगे विभाजन संभव नहीं है। अणुओं के समूह को स्कंध की संज्ञा दी जाती है। स्कंध छह प्रकार का निरूपित किया गया है। परमाणु दो ही प्रकार का है। पुद्गलद्रव्य के दो भेद हैं स्वभाव–पुद्गल और विभाव– पुद्गल। परमाणु स्वभाव–पुद्गल कहा जाता है। स्कन्ध की विभाव–पुद्गल संज्ञा है। विस्तार में जाने पर स्वभाव–पुद्गल के पुनः दो भेद कहे गये हैं, कार्य–परमाणु और कारण–परमाणु।

भो ज्ञानी! स्कन्ध के छह प्रकार कहे गये हैं पृथ्वी, जल, छाया, चार इंद्रियों (चक्षु को छोड़कर) के विषय, कर्म के योग्य स्कन्ध और कर्म के अयोग्य स्कंध। सभी पुद्गल वर्गणायें कर्मवर्गणाओं के रूप में परिवर्तित नहीं होती हैं। जो कर्मरूप परिणत होती हैं, वे कार्माण वर्गणाओं की संज्ञा को प्राप्त होती हैं। पुद्गल पदार्थ का बहुत महत्व है। इस पुद्गल पदार्थ के संयोग के कारण ही यह जीव अनादिकाल से संसार की यात्रा कर रहा है। संपूर्ण कर्म–पुद्गल से यह जीव रहित हो जाये, तो इस लोक की यात्रा की आवश्यकता नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि पुद्गलद्रव्य संसार की यात्रा कराने में मोटर, गाड़ी आदि के समान है। इसमें बैठकर हम पंचपरावर्तन रूप लोक की यात्रा कर रहे हैं। इसका विस्तार आचार्यभगवन् आगे की गाथाओं में कर रहे हैं। यह चेतन जिस यन्त्र को अर्थात् शरीर को चला रहा है, वह अचेतन ही है। अर्थात् जंगम ही अजंगम को चलाता है। कहा भी गया है **"अजंगमं जंगमनेय यन्त्रं, यथा तथा जीवधृतं शरीरम्।"**

❖ ❖ ❖

आचार्यभगवन् गाथा 21–.24 के माध्यम से पुद्गल का विस्तार से वर्णन करते हुए कह रहे हैं–

उत्थानिका : **विभाव–पुद्गल के स्वरूप का कथन।**

अइथूलथूल थूलं, थूलसुहुमं च सुहमथूलं च।
सुहुमं अइसुहुमं इदि, धरादियं होदि छब्भेयं।।21।।
भूपव्वदमादीया, भणिदा अइथूल थूलमिदि खंधा।
थूला इदि विण्णेया, सप्पीजलतेलमादीया।।22।।
छायातवमादीया, थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि।
सुहुमथूलेदि भणिया, खंधा चउरक्खविसया य ।।23।।
सुहुमा हवंति खंधा, पाओग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो।
तव्विवरीया खंधा, अइसुहुमा इदि परूवेंदि।।24।।

संस्कृत छाया : **अतिस्थूलस्थूलाः स्थूलाः स्थूलसूक्ष्माश्च सूक्ष्मस्थूलाश्च।**
सूक्ष्मा अतिसूक्ष्मा इति धरादयो भवन्ति षड्भेदाः।।21।।
भूपर्वताद्या भणिता अतिस्थूलस्थूलाः इति स्कन्धाः।
स्थूला इति विज्ञेयाः सर्प्पिर्जलतैलाद्याः।।22।।
छायातपाद्याः स्थूलेतरस्कन्धा इति विजानीहि।
सूक्ष्मस्थूला इति भणिताः स्कन्धाश्चतुरक्षविषयाश्च।।23।।
सूक्ष्मा भवन्ति स्कन्धाः प्रायोग्याः कर्मवर्गणस्य पुनः।
तद्विपरीताः स्कन्धाः अतिसूक्ष्मा इति प्ररूपयन्ति।।24।।

अन्वयार्थ : (अतिस्थूलस्थूलाः) अतिस्थूल–स्थूल (स्थूलाः) स्थूल, (स्थूलसूक्ष्माःच) स्थूलसूक्ष्म (सूक्ष्मस्थूलाः च) सूक्ष्म–स्थूल (सूक्ष्माः) सूक्ष्म और (अतिसूक्ष्माः) अतिसूक्ष्म (इति धरादयः षड्भेदाः भवंति) इस प्रकार से पृथ्वी आदि के छह भेद होते हैं।

(भूतपर्वताद्या) भूमि, पर्वत आदि (अतिस्थूलस्थूलाः इति स्कंधाः भणिताः) अतिस्थूल–स्थूल स्कंध कहे गये हैं। (सर्पिर्जलर्तेलाद्याः) घी, जल, तेल आदि को (स्थूलाः इति विज्ञेयाः) स्थूल स्कंध जानना चाहिये।

(छायातपाद्याः) छाया, आतप आदि (स्थूलेतरस्कंधाः इति) स्थूल–सूक्ष्म स्कंध हैं ऐसा तुम जानो (च चतुरक्ष विषयाः स्कंधाः) और चक्षु इंद्रिय के बिना चार इंद्रियों के विषयभूत स्कंध (सूक्ष्मस्थूलाः इति भणिताः) सूक्ष्मस्थूल इसप्रकार से कहे गये हैं।

(कर्मवर्गणस्य प्रायोग्याः) कर्मवर्गणा के योग्य (स्कंधा सूक्ष्माः भवंति) स्कंध सूक्ष्म होते हैं, (पुनः तद्विपरीताः स्कंधाः) पुनः उससे विपरीत स्कंध (अति सूक्ष्माः इति प्ररूपयन्ति) अतिसूक्ष्म इस प्रकार से प्ररूपित किये जाते हैं।

भव्य बन्धुओ! आचार्य पद्मप्रभमलधारि देव कलश नं. 37 में पुद्गल के कार्य को बताते हुए कह रहे हैं कि–

गलनादणुरित्युक्तः पूरणात्स्कन्धनामभाक्।
विनानेन पदार्थेण लोकयात्रा न वर्तते।। कलश 37।।

स्कंधों के गलन भेद से अणु कहलाता है और पूरण अर्थात् परमाणु या स्कधों के मिलने से स्कंध कहा जाता है। पुद्गल के साथ जीव संसार की यात्रा करता रहता है अर्थात् पुद्गलद्रव्य जीव के लिये मोटर गाड़ी के समान वाहन का कार्य करता है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी पुद्गल के छह भेदों का कथन कर रहे हैं। यह कहना चाहिये कि स्कन्ध के छह भेदों का कथन कर रहे हैं। पुद्गल–परमाणु पुद्गलद्रव्य का स्वभाव परिणमन है और स्कन्ध पुद्गलद्रव्य की विभाव अवस्था है। जैसे सिद्ध अवस्था जीवद्रव्य की शुद्ध अवस्था है और संसार अवस्था जीवद्रव्य की अशुद्ध अवस्था है।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव टीका में 'पंचास्तिकाय' की गाथा का उदाहरण दे रहे हैं–

पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसयकम्मपाओग्गा।
कम्मातीदा एवं छब्भेया पोग्गला होंति।। पंचा. काय।।

स्थूल–स्थूल व सूक्ष्म का दृष्टान्त दिया। पृथ्वी स्थूल–स्थूल, जल स्थूल, छाया स्थूल–सूक्ष्म, चार इंद्रियों के विषय सूक्ष्म–स्थूल हैं। कर्म के योग्य जो पुद्गल वर्गणा है, वो सूक्ष्म है और कर्म से रहित जो अवस्था है, वो सूक्ष्म–सूक्ष्म है।

आचार्य वट्टकेर स्वामी बहुत सुन्दर शैली में समझाते हैं कि आचारांग है क्या? क्या जीव की रक्षा करना आचारांग है? जब तुझे जीवस्थान ही मालूम नहीं है, तो जीव की रक्षा

क्या करेगा? आपको खुजली हुई और आपने धीरे से खुजा दिया। एक साधु को खुजली उठे, पहले तो खुजायेंगे ही नहीं। यदि कोई तीव्र वेदना हो रही हो, बार–बार परिणाम हो रहे हों, तो पहले पिच्छि से मार्जन करेंगे, फिर खुजायेंगे। पसीना छूट रहा था, आपने पोछ लिया। ओहो! सम्मूर्च्छन पंचेद्रिय संज्ञी मनुष्य बैठे हुए थे, पोंछने से इन सबका नाश कर दिया। एक योगी को छींक भी आती है तो कायोत्सर्ग करता है। जंभाई आए तो कायोत्सर्ग करो। छींक आई तो मल के कण बाहर गिरे, जहाँ गिरे वहाँ जीव का घात हुआ। तुरन्त कायोत्सर्ग करते हैं ये ही प्रायश्चित्त है।

भो ज्ञानी! लोक में छब्बीस प्रकार की पृथ्वियों का कथन है। आप लाल खेत से जा रहे हो और सामने काला खेत दिख गया, अब क्या करेंगे मुनिराज? ये सब कहने का विषय नहीं है, चर्या का विषय बनता है। वहाँ रुक जायेंगे, सर्वांग का मार्जन करेंगे, पैरों का मार्जन करेंगे। वो लाल खेत की मिट्टी को लाल खेत में छोड़ेंगे, फिर काले खेत में पैर रखेंगे क्योंकि लाल खेत की मिट्टी के जीवाणु भिन्न थे और काले खेत की मिट्टी के जीवाणु भिन्न हैं। धूप से छाया में, छाया से धूप में, आप तो देखते होंगे कि महाराज क्या नाटक करते रहते, घुमाते रहते हैं पिच्छि। ये आदान–निक्षेपण समिति है। जबतक आपको जीव की उत्पत्ति का ज्ञान नहीं होगा, तबतक जीव की रक्षा नहीं कर सकेंगे।

भो ज्ञानी! शीत, उष्ण, मिश्र, ये सब योनिस्थान हैं। ये नौ प्रकार की गुण योनियाँ होती हैं और तीन प्रकार की आकृति योनियाँ होती हैं। पूर्वोन्नत, वंशपत्र और शंखावत। अध्यात्मग्रन्थ में अजीवकाय का कथन क्यों ? द्रव्यानुयोग आत्मा मात्र नहीं है। छहों द्रव्यों का कथन जिसमें हो, उसका नाम द्रव्यानुयोग है। उसमें स्वभाव का स्वभावरूप कथन और विभाव का विभावरूप कथन है। यदि अजीवद्रव्य का कथन यहाँ नहीं करते, तो जीव नाम के द्रव्य को तुम कैसे जानते? कोई अजीव नाम की वस्तु है तभी जीव का सद्भाव होता है। पुद्गल जब इतना शक्तिसम्पन्न है, पुद्गल के इतने प्रभेद हैं तो आत्मा के भावों के कितने प्रभेद होंगे? लोग कहते हैं कि द्रव्यानुयोग सरल है। मात्र आत्मा आत्मा कहना सरल हो सकता है, पर द्रव्यानुयोग को समझना गहन है।

भो ज्ञानी! कोई जीव यों कहे कि हम तो अध्यात्मवादी हैं तो आप आध्यात्मिक हो गए। लेकिन अध्यात्म का जीवन जीना भिन्न है और अध्यात्म की बातें करना भिन्न है। अध्यात्म का जीवन बाह्य द्रव्यों प्रपंचों से तो नीरस है और जबतक बाहर में रहोगे, तब तक इसका रस मिलेगा नहीं। जो बाहर रहना चाहता है मेरा उससे कहना है कि आप

अध्यात्मशास्त्र मत पढ़ना क्योंकि आप कहीं के नहीं रहोगे। यदि आप अपने आपमें रहना चाहते हो, तो आपको अध्यात्मशास्त्र ही पढ़ना पढ़ेगा। इसके पढ़े बिना आप अपने आपमें नहीं रह सकते। जिसको बाह्य प्रपंच करने में तल्लीनता आ रही है, लोकाचार में जो जी रहा है, उससे कहा–भो ज्ञानी! ये सब परक्रिया में तू क्यों लगा है? पर के उपकार को छोड़, निज का उपकार कर। क्योंकि अध्यात्म लोकाचार नहीं है, अध्यात्म तो लोकोत्तराचार है, लोकोत्तराचार वृत्ति है। इसीलिये अध्यात्म में लीन जीव आपको पागल जैसा महसूस हो रहा है। हम अध्यात्म में लीन जीव का तात्पर्य अध्यात्म शास्त्र को पढ़ने वाला न समझें। जो जीव अपनी चर्या में निष्णात है, उसका नाम अध्यात्म है।

भो ज्ञानी! जिसे अभी तक तुम 'स्वयं' कहते रहे, उस 'स्वयं' से भी उदासीन है और पर से तो उदासीन होगा ही। स्वयं से उदासीन रहेगा, परन्तु स्वयं में कभी उदासीन नहीं रहेगा, उसका नाम अध्यात्मलीनता है। ये पर के उदासीन तो बहुत मिल जायेंगे, यहीं बैठे होंगे। बोले–हमें तुमसे कोई लेना–देना नहीं है। ये पर से उदासीन नहीं हैं, ये स्वार्थी हैं। अपनी इंद्रियों का पोषण हो रहा है, अपने अहम् का पोषण हो रहा है, अपनी कषायों का पोषण हो रहा है, ऐसे में मैं स्वयं में रहता हूँ परन्तु स्वात्मा में लीन होने वाले करोड़ों में एक–दो ही होंगे।

मनीषियो! विचार करना आत्मज्ञानी होने के लिये ये आवश्यक नहीं है कि द्रव्यानुयोग पहले चाहिये। आत्मलीनता के लिये द्रव्यानुयोग तो चाहिये परन्तु भेदविज्ञान तो पहले देव–शास्त्र–गुरु के श्रद्धान से होता है। जिनबिम्ब दर्शन, धर्मोपदेश, जातिस्मरण, ये मनुष्यपर्याय में सम्यक्त्व–उत्पत्ति के हेतु हैं, निमित्त कारण हैं। जिसके बाह्य/अंतरंग में तो कर्मप्रकृतियों का क्षय–क्षयोपशम होगा, वो ही सम्यग्दृष्टि है। सात–तत्त्व पर श्रद्धान हो गया, वही द्रव्यानुयोग है।

जब राम राज्य कर रहे थे, लोक अपवाद हुआ, तो सीता भी शत्रु–सी चुभने लगी। उस प्रसंग में नारी की कितनी आलोचना की है पद्मपुराण में। नागिन कह दिया सीता को। अहो! मैंने रख कैसे लिया? अब करो यहाँ भेदविज्ञान। संसार में राग था, तो तुम्हें सीता नजर आ रही थी और आज तुम्हें सीता नागिन–जैसी दिख रही है, क्योंकि लोक–अपवाद हो गया। अब दूसरी दृष्टि देखो, पुनः वनवास हो गया। पुत्रों का जन्म हो गया। लव–कुश का जन्म हो गया। पिता–पुत्र का युद्ध भी हो गया। फिर कह रहे, अग्निपरीक्षा दो। सोचो, इतने विशाल कुण्ड में राम ने प्रवेश करा दिया। वहाँ भेदविज्ञान

देखना। सीता ने क्या कहा था? 'हे प्रभु! हे पंचपरम् गुरु! मैंने जीवन में स्वप्न में भी शील में कोई दोष लगाया हो, पर–पुरुष पर दृष्टि डाली हो, तो ये अग्नि मुझे भस्म कर दे।' अन्त में शील की रक्षा हो गई।

भैया! आप लोग ज्यादा सुखी हो। आपको पिताजी ने कौन वनवास दिया। कोई जरा कह दे कि चलो भैया बाहर बैठो तो अभी मालूम चल जायेगा कि कितने आत्मा में लीन थे? आप बोले–हमारे लिये मंदिर से भगा दिया। जिनको चौदह वर्ष के लिये वनवास भेजा गया, कुछ नहीं। अब यहाँ लगाना अध्यात्म। जिस जीव को विश्वास हो चुका है कि मेरा पुण्य का बन्ध जितना होगा, उसे कोई छीन नहीं सकता। मुझे जंगल में भी छोड़ देंगे, वहाँ भी सुख मिलेगा। क्यों रोऊँ मैं? अब देखना, अग्नि का नीर हो गया। फिर क्या कहते हैं राम–'हे प्रिये! अब चलो भवन की ओर।' 'हे स्वामी! मैंने जीवन में चार भूलें की हैं, अब मैं पाँचवी भूल नहीं करना चाहती।' राम कहते हैं कि क्या भूल की है? पहली भूल ये की कि स्वयंवर शाला में जितने अनुराग से आपके गले में माला डाली थी, उतने अनुराग से अगर प्रभु की माला फेरी होती, तो आज ये दिन न देखना पड़ता। दूसरी भूल ये हुई कि आपके पिताजी ने वनवास मुझे नहीं दिया था आपको दिया था। आपके राग में इतनी बंधी रही कि जिसने कभी सूर्य को न देखा हो, वो जंगल–जंगल घूमी आपके साथ। ये मेरे जीवन की दूसरी भूल है। मैंने तीसरी भूल की, जब लंकेश ने मेरा हरण किया। उस समय अशोकवाटिका में बैठकर आपका स्मरण करती रही। मै स्वतंत्र थी, केशलुंचन करके दीक्षा ले सकती थी। मैंने आपके वियोग में उपवास करके मुँह में पानी भी नहीं डाला। उपवास करती तो कर्म की निर्जरा होती। यदि मैंने दीक्षा ले ली होती तो ये दिन देखने को नहीं मिलता। चौथी भूल ये हुई कि लंका विजय के पश्चात् जब आप मुझे अयोध्या लेकर आये, उससमय मैं गर्भवती नहीं थी। अयोध्या में प्रवेश करने के बजाय वन में प्रवेश कर जाती तो आज अग्नि में प्रवेश नहीं करना पड़ता।

मनीषियो! पंचमकाल में आप पहले मूलगुण पर दृष्टि डालें, फिर उत्तरगुण की बात करें। मूलगुण प्राण हैं। समता श्रेष्ठ कि उपवास श्रेष्ठ? सामायिक– संयम का नाम है अनशन तप करो। लेकिन अनशन नाम का कोई चारित्र नहीं है, वो तप अलग है। तप उत्तरगुण होता है और सामायिक मूलगुण है। जीवन में ध्यान रखना, साधु बनने की भावना हो, तो ऐसे लोगों की बातों में मत आ जाना कि मूलगुण से हाथ धो बैठो और उत्तरगुणों में लीन हो जाओ।

'आचारसार' में लिखा है कि प्रारंभ में मुनि बनने के लिये कोई अनुयोग न पढ़ें, पहले चरणानुयोग पढ़ें क्योंकि जब तुम्हें चर्या का ज्ञान होगा, तब ही तो तुम मुनिव्रत का पालन कर पाओगे। ध्यान रखना, अनुभवज्ञान और शास्त्रीयज्ञान में बहुत अन्तर होता है। एक माँ कहती है कि मैंने इक्कीस प्रसूतियाँ की, लेकिन जिससे कह रही थी उसने पूछ लिया कि वेदना कितनी हुई? वो मुस्करा गई ये व्यवहार की भाषा थी। इक्कीस प्रसूतियाँ की क्योंकि वो डाक्टर थी। उसने प्रसूतियाँ दूसरों की करवाई थी।

चक्रवर्ती की पटरानी के पास इतनी ताकत होती है कि वो हीरे को चूर कर सकती है, पर जाती कहाँ है? छठवें नरक। क्योंकि जिसके सन्तान नहीं है, उसके तीव्र वासना होती है, तीव्र ईर्ष्या रखती है। जब–जब दूसरे के लाल को देखती है, तब–तब ईर्ष्या दौड़ती है और वो ईर्ष्या के प्रभाव से नीचे चली जाती है।

ज्ञानी आत्माओ! उत्तरगुणों का निषेध नहीं करना । पर मूलगुणों को छोड़कर उत्तरगुणों में मत दौड़ जाना, अन्यथा कहीं के नहीं रहोगे। शीतकाल में फर्श पर लेट गये मुनिराज, तो आचार्य महाराज ने और मुनियों ने समझाया कि हम मानते हैं कि आप चटाई नहीं लेते हो, कम–से–कम पाटे पर लेट जाओ। वो नहीं माने। परिणाम ये निकला कि ठंड का मौसम नहीं निकल पाया, पसलियों में पानी भर गया, दीक्षा छोड़नी पड़ी क्योंकि उन्हें किसी विद्वान् ने समझा दिया था कि मुनि बनने पर चटाई मत लेना। अरे भाई! उन्हें तो कहना भर था, पर पालन तो तुम्हें करना था। चटाई नहीं लेते, घास ले लेते। घास नहीं लेते, तो पाटे पर बैठ/लेट जाते। शरीर का ध्यान नहीं रखोगे, तो मोक्षमार्ग की साधना नहीं होगी। **''शरीरमाद्यम खलु धर्मसाधनम्।''** परन्तु शरीर के पोषण के लिये उसका पोषण मत करो।

कुछ लोग मौखिक वैरागी ज्यादा होते हैं। बोले–'सब पुद्गल का परिणमन चल रहा है। भोजन मैं नहीं कर रहा हूँ, मैं तो पुद्गल को खिला रहा हूँ।' ये सब व्यर्थ की बातें हैं। स्वयं अंजुली बनाये हो, अच्छे से आहार कर रहे हो और कह रहे हो कि मैं थोड़े ही आहार कर रहा हूँ। मैं तो पुद्गल को पुद्गल में रख रहा हूँ। ये कभी–कभी अध्यात्म को हँसी में बहा देते हैं। वे स्वछन्दी बनने जा रहे हैं और छल कपट की भाषा बोल करके जिनवाणी का मिथ्या भाषण कर रहे हैं। स्वच्छन्दता आ जायेगी। आचार्य अमृतचन्द स्वामी ने 'अध्यात्म अमृतकलश' में स्पष्ट लिखा है कि स्वच्छन्दी/प्रमादी होकरके तू आवश्यक

कर्त्तव्यों को छोड़ रहा है और स्वरूप में जा नहीं रहा है। अमृतचन्द्र स्वामी जैसे अध्यात्म योगी ने लिखा है–जीव षट्आवश्यक करते हुए प्रभु से क्या प्रार्थना करता है? हे नाथ! आपका मैं स्तवन कर रहा हूँ। मैं कब स्तवनातीत हो जाऊँ और निज में निज का स्तवन प्रारम्भ हो जाये, ये भावना आपके चरणों में भा रहा हूँ। वही जीव लघुता में आयेगा। लघुता की अनुभूति कभी आप स्वयं वेदन करना तो नियम से प्रभुता मिलेगी, कोई टाल नहीं सकता।

सीता रामचन्द्र जी से कहती है कि अब मैं पाँचवीं भूल नहीं करना चाहती अपने जीवन में। वे दोनों लाल रो रहे थे, सभी देख रहे थे। जंगल में जब इतने दिन विपत्ति में रह सकती थी, अब मैं खुशी के साथ जा रही हूँ। सफेद साड़ी धारण कर ली केशलुंचन हो गये। राम खड़े –खड़े देखते ही रहे। देखना संसार की दशा। राम से राग हट गया और वो जीव समाधिमरण कर प्रतीन्द्र हो गया।

भो ज्ञानी! अब राम की दशा देखो। जब वे मुनिराज बनके खड़े हो गए, स्वयं दीक्षा ले ली तब राग हट गया। संसार की दशा देखते जाओ। सीता का जीव प्रतीन्द्र, सीता का रूप बनाकर खड़ा हो गया। कहने लगा–हे स्वामी! मुझ अबला ने, मुझ नारी ने विवेकहीनता में आपकी बात को स्वीकार नहीं किया। आखिर में स्त्रीबुद्धि तो मेरी कहलाई, मैं पागल बनकरके आप जैसे स्वामी को छोड़कर चली गई। हे स्वामी! आप आँखें खोलो, मुझे स्वीकार करो। अब राम को देखो। वे राम नहीं खोल रहे आँखें। देखो प्रथमानुयोग क्या कह रहा है? तुम स्थिर होओ, कितने होते हो? जब आर्यिका बनो तो सीता जैसी बनो। जब मुनि बनो, तो कितनी ही सीता आ जायें, तुम तो राम जैसे मुनि बन जाना। राम मनाये तो सीता न माने और सीता मनाये तो राम न माने, इसका नाम मोक्षमार्ग है।

भो ज्ञानी! भावों की दशा तो देखो। कुंभकरण, विभीषण सबने मुनिदीक्षा ले ली। मंदोदरी ने आर्यिका दीक्षा ले ली। जितनी महारानियाँ थी, जितनी रानियाँ थी, सबने आर्यिका दीक्षा ले ली। अन्तिम लक्ष्य यही है ये दिखाना चाहते थे कि इतना वैभव होने के बाद भी दृष्टि मोक्षमार्ग में लगी हुई थी। अरे ज्ञानी! हँसी–हँसी में मुनि बन गये। साले–बहनोई आ रहे थे। उन्होंने कहा कि देखो, कितने अच्छे मुनिराज खड़े हुये हैं ऐसा है तो मुनि बन जाओ। बोले जीजाजी! आप तो नहीं बन रहे हो। जीजाजी बोले आप ले जाना अपनी बहन को, हम मुनिराज बनने जा रहे हैं। वे मुनिराज बन गये। अब साला रो रहा है

कि हम पिताजी से क्या कहेंगे? साले ने भी दीक्षा ले ली। अब बहन अकेली बैठी थी। बोली मैं क्या करूँगी अकेली! वो भी बन गई आर्यिका। यह कथा पद्मपुराण में है।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी 'समयसार कलश' में कह रहे हैंः–

अस्मिन्नादिनि महत्यविवेकनाट्यं, वर्णादिमान् नटति पुद्गल एव नान्यः।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध–चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ।।44।।

आचार्य महाराज कह रहे हैं–इस अनादि संसार में विवेक से हीन जो नाटक हो रहा है। कौन कर रहा है? ये वर्णादि से युक्त पुद्गल ही नाटक कर रहा है, अन्य जीव आदि नहीं कर रहे क्योंकि मैं तो रागादि विकल्प पुद्गल विकार के विरुद्ध, शुद्ध हूँ। निश्चयनय से रागादिक भाव को ही पौद्गलिक कहा है, क्योंकि अशुद्ध अवस्था है। मैं तो चैतन्यधातुमय जीव हूँ। ये जो अनेक प्रकार के नाटक हो रहे हैं, ये मेरे नहीं हैं, ये पुद्गल के हैं।

इति विविधविकल्पे पुद्गले दृश्यमाने, न च कुरु रतिभावं भव्यशार्दूल तस्मिन्।
करु रतिमतुलां त्वं चिच्चमत्कार मात्रे भवसि हि परमश्रीकामिनीकामरूपः।। कलश 38।।

आचार्य पद्मप्रभमलधारि देव कह रहे हैं–अनेक प्रकार के विकल्प पुद्गलों को देखने पर उनमें रतिभाव मत करो। बोले बिटिया देखने गये थे, पर आज तक तुमने बिटिया देखी नहीं । बिटिया देख ली होती, तो कोई बिटिया देखनी नहीं पड़ती। पुद्गल देखने गये थे। श्री कामिनी कामरूपः। मुक्तिरूपी बिटिया को आज तक नहीं देखा तूने । पुद्गल की सड़ी–गली सृष्टि को देखता रहा। धिक्कार हो उस जीव की आँख को, उसकी दृष्टि ने कितनों को हँसाया है, कितनों को रुलाया है और स्वयं रोया है।

भो अज्ञानी जीव! धिक्कार हो तेरी परिणति को, कि उसमें तू धर्म मान रहा है। अब्रह्म भाव में भी तू धर्म मान रहा है। क्या अज्ञान दशा है, कन्या के पाँव पूजवें जा रहे हैं? पूजो पाँव । एक दिन में नौकोटि की हिंसा होगी, उसका पाप पड़ेगा तुमको, क्योंकि आपने अनुमोदना की है। जिनागम में कहीं नहीं लिखा कि कन्यादान कर दो, भूमिदान कर दो। ये समाजव्यवस्था तो ठीक है, पर ये धर्म नहीं है। ये समाजव्यवस्था हो सकती है, पर अब इसे मोक्षमार्ग में मत लगा बैठना, क्योंकि वहाँ नवकोटि जीवों की हिंसा का दोष लगेगा।

उत्थानिका : **कारणपरमाणु और कार्यपरमाणुरूप द्रव्य के स्वरूप का कथन।**

धाउचउक्कस्स पुणो, जं हेऊ कारणं ति तं णेयो।
खंधाणां अवसाणो णादव्वो कज्जपरमाणू।।25।।

संस्कृत छाया : **धातुचतुष्कस्य पुनः यो हेतुः कारणमिति स ज्ञेयः।**
स्कन्धानामवसानो ज्ञातव्यः कार्यपरमाणुः ।।25।।

अन्वयार्थ : (यः पुनः धातुचतुष्कस्य हेतुः) जो पुनः धातु चतुष्क – पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु का हेतु–कारण है (स कारणं इति ज्ञेयः) वह कारणपरमाणु है ऐसा जानना चाहिये (स्कंधानां अवसानः) स्कन्धों का अवसान/अंत को (कार्य परमाणुः) कार्यपरमाणु (ज्ञातव्यः) जानना चाहिये।

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने 'नियमसार' ग्रन्थ में कहा है कि कारणपरमात्मा के बिना कार्यपरमात्मा का भेदभाव नहीं है। इसे ही आप निमित्त–नैमित्तक संबंध कहते हैं। उपादान की योग्यता होने पर भी यदि योग्य निमित्त नहीं होगा, तो कार्य की सिद्धि संभव नहीं । जो उपादान के अभाव में निमित्त से कार्य सिद्ध करना चाहता है, वह ऊसर भूमि में बीज उत्पन्न करना चाहता है। परन्तु जो निमित्त के अभाव में कार्य सिद्ध करना चाहता है, वह बीज के बोये बगैर फसल उत्पन्न करना चाहता है, इसलिये निमित्त तो निमित्त है, उपादान तो उपादान है। जो कहा जाता है कि निमित्त उपस्थित हो जाता है, यदि उपादान में योग्यता होती है, ये बात पूर्ण सत्य नहीं है। कुछ निमित्त उपस्थित रहते हैं, कुछ निमित्त आपको उपस्थित करने पड़ते हैं। जैसे आप अध्ययन करना चाहते हैं। आपको उस अध्ययन में नेत्र निमित्त है, सहज–प्राप्त है, लेकिन ग्रन्थ आप लेने जायेंगे, ये आपको पुरुषार्थसाध्य निमित्त हुआ। गुरु की खोज कर रहे हैं, यह पुरुषार्थसाध्य–प्राप्त निमित्त है सहज–प्राप्त और पुरुषार्थसाध्य–प्राप्त दो निमित्त हैं। ये प्रश्न खड़ा हो जाता है कि निमित्त स्वयं प्राप्त हो जाते हैं, जुटाये नहीं जाते। कुछ ऐसा नियोग होता है कि जैसी भवितव्यता होती है, वैसे सहज निमित्त मिल जाते हैं।

गुणमाला गले में फाँसी का फंदा लटका रही है, क्योंकि उसने प्रतिज्ञा की थी कि मैं संबंध करूँगी तो सिर्फ लक्ष्मण के साथ करूँगी। पर मालूम चला कि दशरथ ने अपने बेटों को वनवास भेज दिया है और कई वर्षों से पता नहीं है। जब देखा कि लक्ष्मण का पता ही नहीं है, तो वृक्ष पर अपने वस्त्र को डालकर फाँसी पर लटकने ही वाली थी। उधर लक्ष्मण

ने राम से कहा–भैया! मैं थोड़ा घूमकर आता हूँ और घूमने गये, तो उन्होंने देखा कि एक कन्या फाँसी लगा रही है और कह रही है–हे लक्ष्मण! इस पर्याय में आप नहीं मिले, आप मेरी रक्षा नहीं कर पाये, अब अगली पर्याय में देखूँगी। ये शब्द कहे ही थे कि लक्ष्मण सामने खड़े हो गये। बोले–जिसके पीछे तू फाँसी लगा रही है, वो लक्ष्मण तो मैं ही हूँ। अब इसको आप क्या कहेंगे? यह सहज निमित्त मिल गया।

इस प्रकार प्रेरकनिमित्त और उदासीननिमित्त, ये निमित्त के दो भेद हैं। जो प्रेरित करके आपको निमित्त प्राप्त हो रहे हैं, जो प्रेरणा देते हैं, वे प्रेरक–निमित्त हैं। गमन करना चाहें आप, तो धर्मद्रव्य सहयोगी है, यह सहज उदासीन–निमित्त है। अध्ययन करना चाहें, तो पुस्तक उदासीन–निमित्त है और गुरु प्रेरक–निमित्त है। मछली के लिये पानी उदासीन–निमित्त है। लेकिन जहाज के लिये पानी, जहाज के लिए चालक प्रेरक–निमित्त है। जो कह रहा है कि निमित्त के दो भेद हैं, पर निमित्त कुछ करता ही नहीं है, निमित्त तो आ जाते हैं और निमित्त के बिना कुछ होता नहीं है। बस, तुम दोनों को समझ लो। प्रेरक की अपेक्षा प्रेरक है, उदासीन की अपेक्षा उदासीन है। एक कार्य की सिद्धि के लिये अनेक कार्य करने पड़ते हैं।

भो ज्ञानी! हलुआ कैसे बनता है? खाया तो है? खाने के लिये चम्मच निमित्त है, थाली निमित्त है। कड़ाही में बना था । जब खाने के लिये इतने निमित्त दिख रहे हैं, तो बनाने में कितने निमित्त लगे होंगे? आप कहेंगे आटा, बूरा, घृत आदि के माध्यम से बना है। तो आप आटा, बूरा, घी रख दो, बन जाये कैसे बनता है?उसके लिये अग्नि चाहिये, बरतन चाहिये, बनानेवाला चाहिये। और यदि बनानेवाले के पास विवेक नहीं है, तो कैसे बनेगा? हलवा बनायेगा, कि लपसी बनायेगा, कि कसार बनायेगा? प्रश्न यह है कि क्या आटे में पुड़ी बनने की योग्यता नहीं थी? एक बहुत बड़ा प्रश्न खड़ा है आपके सामने। जो कहता है कि इसका ऐसा ही होगा, तो फिर आटे की पुड़ी ही बनना चाहिये, रोटी बनना चाहिये । यदि निमित्त बदल गया है, तो उसी आटे से रोटी भी बना सकते हो और उसी आटे से रसगुल्ला बना सकते हो। ऐसे ही तेरे परिणामों की विधि बदल गई, तो तू नरक भी जा सकता है, निगोद भी जा सकता है और वो ही जीव भगवान् भी बन सकता है। इसलिये उपादान अपने–आपमें उपादेय जैसा है।

किसी की दृष्टि आटे से लड्डू बनाने की है, उपादेय उसका लड्डू दिख रहा है, तो वो उपादान तद्रूप परिणमित होगा; पर परिणमन वही होगा, अन्य रूप नहीं होगा, योग्यता बनाने वाले में नहीं है, योग्यता बनने की वस्तु में है, इस अपेक्षा से निमित्त कुछ

नहीं करता। भो ज्ञानी! गलत समझ लेते हो। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कुछ करता है क्या? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं करता, ये पूर्ण सत्य है। परन्तु एक द्रव्य के बिना दूसरे द्रव्य में परिणमन होता भी नहीं। समझना, कारण और कार्य की बात हो रही है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं करता, ये जो नहीं मानता है, वो मिथ्यादृष्टि है। क्यों? ये सिद्धान्त कारण, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं करता, किस रूप में? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के गुणरूप नहीं होता, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के पर्याय रूप नहीं होता, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के रूप नहीं होता, इस अपेक्षा से कुछ भी नहीं करता। पर एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के परिणमन में सहकारी कारण होता है जो इसे नहीं मानता वो भी मिथ्यादृष्टि है।

कालद्रव्य क्या कर रहा है? परिणमन करवा रहा है। धर्मद्रव्य क्या कर रहा है? गमन करवा रहा है। अधर्मद्रव्य क्या कर रहा है? ठहरा रहा है। आकाशद्रव्य अवगाहन दे रहा है। ये सब हो रहा है, तो भो ज्ञानी! आप कैसे कह सकते हो कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ करता नहीं है? ये कहने के पहले अब मेरा प्रश्न है–एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता, मैं ही बता रहा हूँ। सुनते सुनते– परेशान हो गये। कुछ नहीं करता, ये बताओ डॉक्टर साहब! जब आपने जन्म लिया, तो क्या सबकुछ सीख कर आये थे? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता, ये तूने जाना कहाँ से? जिनवाणी से सीखा। तो जिनवाणी सुनी, तबसे सीखा, तो जिनवाणी सुना रही थी या सुनानेवाला भी था? तो देखो, जिनवाणी को सुना और पंडित जी ने सुनाया, फिर इन्होंने माना कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता है। जिनवाणी पर–द्रव्य थी, सुनानेवाला पर–द्रव्य था, अब ये बताओ कि कैसे जान गये कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता?

भो ज्ञानी! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का उपादानरूप कर्त्ता नहीं होता, पर साधन रूप कर्त्ता होता है। निमित्तरूप बनता है, पर साध्य तो स्वयं ही होता है। साधन दूसरा बन सकता है। जो ये कहता है कि मैं कर्त्ता, मैं कर्त्ता, इसलिये 'समयसार' कहता है कि तू अज्ञानी है, क्योंकि परिणमन द्रव्य की स्व–योग्यता से होता है, पर परिणमन में तू निमित्त बन सकता है। कारण तब बनेगा, जब कार्य होगा और यदि उपादन में योग्यता नहीं है, तो कारण भी 'कारण' नहीं है। कोई 'कारण' 'कारण हो, कार्य में निमित्त है और जो कारण के लिये नियामक नहीं है, वो कारण तो 'कारण' नहीं है।

पुत्र उत्पत्ति में पुरुष कार्यकारी है पर जिस स्त्री में पुत्र उत्पन्न करने की योग्यता है, उसके लिये पुरुष कार्यकारी है। यदि निमित्त कुछ नहीं करता है, तो बिना सहयोग के संतान का जन्म होना चाहिये? इसी कारण बिना उपादान के निमित्त की सिद्धि नहीं है,

परन्तु फिर भी उपादान तो उपादान है और निमित्त तो निमित्त है। केवल निमित्त के आधीन होना, ये भी गलत है और केवल उपादान को मानना, ये भी गलत है। भो चैतन्य आत्मा! वही निमित्त 'निमित्त' है, जिससे कार्य की सिद्धि हो। यदि कार्य की सिद्धि नहीं है, तो निमित्त 'निमित्त' नहीं है। प्राक्भाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव, अत्यन्ताभाव, इन चार अभावों पर जब तक दृष्टि नहीं जायेगी, तब तक जैनसिद्धान्त को समझ नहीं पायेगा। उसमें पूर्व–क्षण कारण है, उत्तर– क्षण कार्य है। पूर्व–क्षण निमित्त है, उत्तर–क्षण कार्य। नैमित्तिक उपस्थिति है, कर्त्ता नहीं है। इस विषय को स्पष्ट कर लेना। उपस्थिति है, तो कर्ता कौन है? उस उपस्थिति को किस रूप स्वीकार किया है? ठीक है, एक काम करना भैया! घर जाकर कहना कि कल से रोटी मत परोसना। आटा रखना एक किनारे, भोजन की सामग्री सब एक किनारे रखना और चूल्हे में अग्नि मत डालने देना। बस, भैया से कहना कि सब निमित्त उपस्थित हो चुके हैं और फिर उस आटे में भी रोटी बनने की पूर्ण योग्यता भी है। अब उससे कहना, बनो। भो ज्ञानी! जिसे तू कह रहा है कि उपादान कर्त्ता है, निमित्त सहज खड़ा है, वो भी तू निमित्त से कह रहा है। यदि बाह्य वर्गणायें न होती, बोलने की सामर्थ्य न होती, तो आज तू ये नहीं कह सकता था। ये भी निमित्त ही है। जितने बाह्य द्रव्य हैं, वे सब निमित्त है।

आगम में बहिरंग–निमित्त और अंतरंग–निमित्त दो प्रकार के निमित्तों का वर्णन किया है। उपादान की योग्यता से ये अंतरंग निमित्त हैं और बाह्य आलम्बन से ये बाह्य निमित्त हैं। अज्ञानी निमित्त को ही कर्त्ता मान बैठता है, जिसका हमारे आगम में निषेध किया है। परन्तु ज्ञानी! कर्त्ता तो उपादान है, उपादान ही सहयोगी निमित्त है। भो ज्ञानी! अंतरंग योग्यता कब प्रकट होगी? निमित्त किसे कहते हैं? निमित्त की परिभाषा क्या है? ज्ञानी! बात ऐसी है, यदि कहीं गलत काम कर दिया, तो कारण– कार्य का विपर्यास हो जायेगा।

आप बालक के कर्ता नहीं हो, आप वासना के कर्ता हो । आपने बालक को जन्म नहीं दिया, आपने अपनी वासना का पोषण किया है। आप कहो कि बालक का कर्त्ता मैं और मेरी पत्नि है, तो भो ज्ञानी! तू चैतन्य रूप है, चैतन्य से जड़ का जन्म हुआ कैसे? वे पुद्गलवर्गणाएँ है, तू संतान का कर्त्त नहीं है, अपने विभाव–भाव का कर्त्ता है। आयुकर्म का बन्ध जीव ने किया, जिसने जन्म लिया और जो शरीर उत्पन्न हुआ है, वो रज–वीर्य से उत्पन्न हुआ है। रज–वीर्य जो है, वो जड़रूप है, चैतन्य नहीं है। तू किसका कर्त्ता बना खड़ा है? तेरे करने से होता, तो बाँझ के भी पुत्र उत्पन्न होना था। इसीलिये निमित्ताधीन बनकर स्वछंदी हो जाता है और उपादान के अधीन होकर परम–स्वछंदी हो जाता है।

अब देखो, आप बेटे के कर्त्ता हो, कि बेटा आपका कर्त्ता है? यदि आप कहो कि मैं बेटे का कर्ता हूँ, तो भो ज्ञानी! आप पिताजी हो न? जब पिताजी नहीं थे, तो पिताजी कौन कहता था आपसे? आपने बेटे को जन्म दिया, कि बेटे ने आपको जन्म दिया? अगर बेटे ने जन्म न लिया होता, तो पिताजी कौन कहता आपको? और पिताजी न होते, तो बेटा! तुम कहाँ से आते? आप लोग समझ नहीं पाये। देखो, बात वहीं निमित्त पर आकर खड़ी हो गई। अब देखो, सत्य तो सामने आ ही जाता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का उपादानकर्त्ता कभी नहीं होता, पर एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का निमित्तरूप कर्ता होता है।

कुंभकार कहता है कि मैंने घड़े को बनाया। भो ज्ञानी! आत्मभूत लक्षण और अनात्मभूत लक्षण, आगम दो चर्चायें करता है। वो चश्मेवाले भैया को बुला लाना, यानि किसी का नाम मालूम नहीं था तो चश्मेवाला कहा। चश्मे के माध्यम से वो आ जायेंगे कि नहीं ? भिन्न से भिन्न का ज्ञान करा देना, ये अनात्मभूत है। और आत्मभूत, जिसमें उष्णता हो उसको उठा लाओ। क्या है ये? अग्नि है, उष्णता कब अलग करोगे? कभी नहीं। अहो! जब तुम्हें अहंकार आये, तब आत्मभूत की दृष्टि रखना और जब तुम हीन बन जाओ तो अनात्मभूत की दृष्टि रखना, पर दोनों के बिना कार्य त्रैकालिक संभव नहीं है। वो मिथ्यादृष्टि है, जो दोनों लक्षणों को भूलकर बात करता है। कोई जीव समझकर भी नहीं समझना चाहता है। कुंभकार कहता है कि घट मैंने बनाया। जैनाचार्य कहते हैं कि तूने नहीं बनाया। घट फूट जायेगा, तो तू फूट–फूटकर रोयेगा क्योंकि रोने का कारण घट नहीं था। 'मैं कर्त्ता।' आपके घर में रोज लड़ाई होती है। महाभारत, उसका मुख्य कारण कुछ नहीं है। 'मैं कर्त्ता।' देश में, राज्य में, समाज में, आपके घर में, जहाँ देखो वहाँ 'मैं कर्त्ता' और जहाँ 'मैं कर्त्ता' आ जाता है, वहीं से दुःख भी प्रारंभ हो जाता है। इसलिये जिनवाणी कहती है कर्तृत्वभाव को छोड़ दो। कुंभकार कहता है कि घट का कर्ता मैं। अब पहले आत्मभूत की बात करें या अनात्मभूत की? पर एकसाथ नहीं कह सकते। कुंभकार! तूने घट कैसे बनाया? मिट्टी ने, मिट्टी को, मिट्टी के द्वारा, मिट्टी के लिये, मिट्टी से, मिट्टी में घट निर्मित हुआ है। ये आत्मभूत है, ये उपादानदृष्टि है। अब दूसरी दृष्टि अनात्मभूत दृष्टि कहेगी कि कुंभकार ने, मिट्टी को, चाक के द्वारा, पानी भरने के लिये, चीवर से, अपने मकान में, घट निर्मित्त किया। पूर्व के सभी कारक आत्मभूत हैं और उत्तर के सभी कारक अनात्मभूत हैं और जब तक ये दोनों कारक नहीं लगाओगे, तब तक कार्य–सिद्धि त्रैकालिक नहीं होगी। इसलिये आत्मभूतदृष्टि से देखोगे तो उपादानदृष्टि है और अनात्मभूतदृष्टि से देखोगे तो निमित्तदृष्टि है। निमित्त व उपादान की योग्यता से ही

कार्य की सिद्धि है। अब एक कार्य की सिद्धि के लिये अनेक कारण बन जायेंगे। परिणमन मिट्टी में हुआ, पर बिना पानी के बनाओ?

जैनदर्शन का रहस्यमय ज्ञान है। ये दुनियाँ तो मात्र आँखों की देखी– देखी जानती है, पर अन्दर की प्रक्रिया बता रही है–आत्मभूत। आपने नीबू को दूध में निचोड़ दिया, तो कहनेवाला क्या कहेगा? कि देखो इन्होंने दूध फाड़ दिया है ये निमित्त हो गया। अब देखो, बाह्य–निमित्त भी कितने प्रकार के होते हैं। नीबू क्या बाह्य–निमित्त नहीं था? वो कोई नहीं कर रहा है। पर बताओ दूध किसने फाड़ा? इसलिये जैनसिद्धान्त कहता है कि कथन करो, लेकिन व्यवस्थित करो, वो भी सत्य। अत्यन्त भिन्न का कथन करोगे, तो अमुक व्यक्ति ने दूध फाड़ दिया। फिर थोड़े सूक्ष्म में जाओगे, तो नीबू ने दूध फाड़ दिया। नीबू ने फाड़ा, तो क्या उस रस में पानी नहीं है? उस पानी को निकाल लो, फिर फाड़ क्या फाड़ता है ? उस नीबू के अन्दर अम्ल तत्त्व था, उससे दूध फट गया। फटने की योग्यता दूध में थी, पर फटा कब? अरे! वो मूल–वस्तु क्यों खो रहे हो? पकड़ो, फटा कब? मिलने के बाद कुछ हुआ कि नहीं? वो कब हुआ था? काललब्धि, उसको क्यों भूल रहे हो? बिना काल के कोई काम नहीं होता है। इसप्रकार कुछ निमित्त जुटाये जाते हैं और कुछ स्वयं जुट जाते हैं।

आत्मभूत दर्शन कहेगा कि ये द्रव्य की शक्ति है, नीबू की शक्ति थी फाड़ना और दूध की शक्ति थी फटना। इतना सबकुछ होने के बाद भी सभी स्वछन्द होते चले जाते हैं। अज्ञानी उस वाणी को समझ नहीं पाते, समझने में ही विवाद करते हैं।

भो ज्ञानी! एक निमित्त त्रैकालिक होता है और एक निमित्त कुछ समयभूत होता है। एक निमित्त था, भूत में गर्भाधान हुआ नौ महीने पूर्व और जन्म हुआ नौ महीने बाद। जन्म तो अपनी योग्यता से हुआ, पर जन्म के नौ महीने पहले का भूत का निमित्त न होता, तो ये संतान कहाँ से होती? अध्यात्म समझने के पहले न्यायशास्त्र का आलोड़न आवश्यक है। नहीं समझोगे तो स्वयं भटकोगे और दूसरों को भटकाओगे। ऐसे ही मुमुक्षु जीव विशाल–विशाल चर्चायें तो कर लेता है, लेकिन विषय की विशालता को कभी नहीं छोड़ता। भो ज्ञानी! ऐसा कोई द्रव्य भी नहीं है, जो निश्चय–व्यवहार से परे हो। ऐसा कोई निश्चय–व्यवहार नहीं है, जिससे कोई द्रव्य परे हो। और जो परे करके बात करे, वो न निश्चय का ज्ञाता है और न व्यवहार का ज्ञाता है। वह निश्चय व्यवहार को प्राप्त नहीं करेगा।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **यह परमाणु का विशेष कथन है।**

अत्तादि अत्तमज्झं, अत्तंत्तं णेव इंदिए गेज्झं।
अविभागी जं दव्वं, परमाणू तं वियाणाहि।।26।।

संस्कृत छाया : **आत्माद्यात्ममध्यमात्मान्तं नैवेन्द्रियैर्ग्राह्यम्।**
अविभागि यद्द्रव्यं, परमाणुं तद् विजानीहि।।26।।

अन्वयार्थ : (आत्मादि) स्वयं जिसका स्वरूप ही आदि रूप है (आत्म मध्यं) स्वयं जिसका स्वरूप ही मध्य रूप है (आत्मान्तं) स्वयं जिसका स्वरूप ही अंतरूप है (इंद्रियैः ग्राहयं न एव) जो इंद्रियों से ग्रहण करने योग्य नहीं है (यद् द्रव्यं) ऐसा जो द्रव्य (अविभागी) विभाग रहित है (तत् परमाणुं विजानीहि) तुम उसको परमाणु जानो।

भो ज्ञानी! आचार्य भगवन्त कुन्दकुन्द स्वामी ने 25वीं गाथा में पुद्गल के भेद की और स्कंध परमाणु की व्याख्या की है। इस पर पद्मप्रभमलधारिदेव कलश सूत्र में कह रहे हैं।

स्कन्धैस्तैः षट्प्रकारैः किं चतुर्भिरणुभिर्मम।
आत्मानमक्षयं शुद्धं भावयामि मुहुर्मुहुः ।। कलश 39।।

यह सब जानने के बाद भी हमारे स्वरूप की सिद्धि तो कार्य को जानने से होगी। संसार के चराचर द्रव्य ज्ञेय हैं, हेय हैं, परन्तु परम् उपादेयभूत कोई है, तो एक मेरी निज शुद्धआत्मा ही है। इसके अलावा संपूर्ण द्रव्य ज्ञेय तो हैं, कथंचित् उपादेय भी हैं, परन्तु पूर्ण उपादेय नहीं। पूर्ण उपादेय एक निजात्मा ही है। इन सबको जानने की आवश्यकता क्या है?

भो ज्ञानी! इन सबको जानने के लिये जान रहे हैं, स्वीकार करने के लिये नहीं। क्योंकि जब तक आप अलक्ष्य का ज्ञान नहीं करोगे, तब तक लक्ष्य का ज्ञान होगा भी नहीं। लक्ष्य–अलक्ष्य दोनों को समझने के उपरान्त मन लक्ष्य की ओर बढ़ता है और अलक्ष्य को छोड़ देता है। इसलिये आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने अजीव अधिकार का कथन किया है।

भो ज्ञानी! जब तू रूपी को इंद्रियों से नहीं जान पा रहा है, फिर अरूपी को तुम इंद्रियों से कैसे जानने की चेष्टा कर रहे हो? भो मुमुक्षु! परमाणु तेरी श्रद्धा का विषय है और केवली के ज्ञान का विषय है। परन्तु अनुभव का विषय तो योग अवस्था में ही संभव है। अतः ज्ञानदृष्टि को अनुभवदृष्टि मत कहो। जब भी अनुभव होगा, तो ज्ञानदृष्टि से ही होगा। लेकिन ज्ञानदृष्टि का नाम अनुभव नहीं है। ज्ञान के विषय अनंत हो सकते हैं, पर एक समय में अनुभव का विषय एक ही होगा। आत्मा तो अनुभव व ज्ञान दोनों का विषय है।

भो ज्ञानी! ऐसे ही तूने इतना असंयम सेवन किया कि अब उठते–चलते नहीं बन रहा है। अब कहो, पुद्गल का परिणमन चल रहा है। जिसका आदि, अन्त नहीं, ऐसे स्वभाव को तू भूला है। जिसका अंत भी है, आदि भी है, विनाश भी है, ऐसे इंद्रियसुखों को तू अपना मान रहा है।

आचार्यभगवन् 26–वीं गाथा में पुद्गल का कथन करते हुए समझा रहे हैं कि जो शुद्ध होता है, उसका आदि, अन्त, मध्य नहीं होता है। आप शुद्ध नहीं हो, क्योंकि आपका आदि भी बिगड़ा है, आपका मध्य भी बिगड़ा है और आपका अन्त भी बिगड़ा है। इसलिये आप शुद्ध नहीं हो। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने पूर्ण प्रयास किया है, कि जीव अज्ञानता से तो न भटके। असंयम के कारण तो भटक ही रहा है, कम–से–कम अज्ञानता से बच जाये।

आपको गुस्सा आ गया। गुस्से में पता नहीं क्या–क्या कह डाला और यहाँ तक हुआ कि घर के दो टुकड़े हो गये। फिर कहने लगा कि ऐसा हमने क्यों किया? सगा सगे से नहीं बोलना चाहता। शत्रु से बोलने को तैयार है, पर सगे से नहीं बोलेगा। ये है एक मुहूर्त की कषाय का परिणाम, कि जीवन पूरा निकल गया, पर मुँह से नहीं बोला और मालूम ये चला, कि पता नहीं कितने भव और चलेगा। इसलिये भैया! छोटे आप हो जाना, क्योंकि दशा हमें अपनी सुधारना है। चरण छू लेना, कि 'भाई! जो है, सो ठीक है। अब परिणाम दूषित मत करो।' वो उनकी भवितव्यता है कि क्षमा कर रहे हैं या नहीं कर रहे हैं। आप अपने परिणामों को कलुषित मत रखना, यदि व्यवस्था अपनी सुधारना चाहते हो तो।

ध्यान रखना, परिणामों को सुधारना बहुत कठिन है। टेढ़ी दीवार को तुम सीधा कर सकते हो, पर परिणामों की दीवार की दशा बड़ी विचित्र है। जीव से कहा–भैया! सल्लेखना ले लो। ऐसे जीव भी देखे गये हैं, कि बस चार घंटे बाद जानेवाले हैं, बोले–'मुझे मारना चाहते हो क्या ?' डॉक्टर ने बोल दिया, कि चार घण्टे अब शेष हैं। वो सज्जन कहता है, 'मुझे चमेली का तेल लगा दो।' देखना विचित्रता। मैं वहीं था । जबकि जीवन भर उसने 'समयसार' का पाठ किया है। कोई ये कहता कि मंदिरजी ले चलो, बड़ा भाई कहता है कि महाराज जी के पास ले चलें? बोले– 'नहीं। हॉस्पीटल ले चलो।' बड़े भाई को मालूम चल गया कि डॉक्टर ने कह दिया है कि बस चार घंटे हैं। तो बड़ा भाई क्या सोचता है, कि इनको तो जाना ही है और चले जायेंगे तो भोजन नहीं मिलेगा। सो उनकी पत्नि से बोला–आप इन्हें णमोकार सुनाना, मैं अभी आता हूँ। भैया हॉस्पीटल के बाहर के कुयें पर बैठकर भोजन कर रहा और पत्नि ने राग के वश होकर णमोकार भी नहीं सुनाया। भैया मुँह धोकर अन्दर पहुँचे, प्राणपखेरू उड़ चुके थे। भैया ने पूछा–आपने

णमोकार सुनाया था? बोली–मुझे तो रोना आ रहा था, तो मैंने कुछ नहीं सुनाया। जब वापस आये बड़े भैया, सुनाने लगे–महाराज जी! परिणामों की दशा देखो। मैं दो– दो उपवास कर लेता हूँ, पर उस समय मैं दो घण्टे भूख नहीं सहन कर पा रहा था, अपने भाई को मैं णमोकार नहीं सुना पाया।

भैया! जिस जीव की निर्मल दशा होती है, भवितव्यता परम निर्मल होती है, तो ऐसे योग–संयोग मिलते हैं कि केवली जैसे भी मिल जाते हैं। कई ऐसे उपसर्ग भी योगियों पर हुए हैं, जो तिर्यंचों ने किये हैं। पूर्व में उनके घर में तिर्यंच थे, पर उनका ध्यान नहीं रख पाये और आर्त्त–रौद्रध्यान से वह तिर्यंच मृत्यु को प्राप्त हुआ। मरकर व्यंतर बन गया वह तिर्यंच और जब मुनिराज साधना में थे, उस समय उपसर्ग किया।

यह जीव सम्यक्त्व साधना कर रहा था, परन्तु उस उपसर्ग से भयभीत होकरके मिथ्यात्व की ओर चला गया। कुदेवों की पूजा करने पहुंच गया कि हमें भूत सता रहे हैं, इसलिये आप हमारी झाड़ा–फूँकी कर दो। परिणाम देखना, दशा जीव की। इसलिये कभी बैर बांधके मत जाना जीवन में।

भो ज्ञानी! अपने परिणाम सुधारना है, दूसरे को नहीं सुधारना है। रागवश दूसरे के परिणाम बिगड़ रहे हों, तो उसकी चिन्ता भी मत करना। हमने कहा– दीक्षा ले लो। बेटे आ गये, रोने लगे फूट–फूटके, आप भी रोने लगे। बताओ, मोही किसको कहें? वे तो अंतिम समय तक मना करेंगे और निर्णय आपको करना है, कि हमें क्या करना है? बेटे ने दीक्षा के परिणाम किये, तो माता–पिता ने विषपुष्प सूंघ करके प्राण छोड़ दिये, ये राग की दशा है। अरे! आप हमारे वियोग में नहीं मरे हो, अपने राग में मरे हो। इसलिये जीवन में सरलता, सहजता और मृदुता, यही परम सत्य साधना है। ये नहीं आ पाई, तो साधुरूप में भी आकर के, भो ज्ञानी! साधुता नहीं प्राप्त कर सकोगे।

भो ज्ञानी! इसलिये ऐसे रहो तुम, जैसे सुमन स्वयं सुवासित रहता है। कोई तोड़ भी ले जाये, तो खशबू देता है, हर समय अपने आपको प्रसन्न रखता है। जहाँ तुम इसमें उलझ गये, कि ये हमारे और ये तुम्हारे, तो तुम्हारे फूल में कांटे शुरू हो गये। इतना राग छोड़ दो कि ये हमारी माता है, पिता है। ये तो संयोग है। ये भाव छूट गया, तो सब पंथ, वंश, आम्नायें, ये भी किनारे चली जाती हैं। अहो! तीर्थंकर –जैसों के शासन नहीं चल पाये और उनके शासन में तुम अपने शासन की बात कर रहे हो?

भैया! जितने साधु–संत हैं, उनके अपने–अपने धर्म। जितने साधु–संत हैं, सबके अपने–अपने संघ, सबकी अपनी–अपनी समाजें और कह रहे हैं कि हम समाज का सुधार

कर रहे हैं। तुम समाज का सुधार नहीं, सबसे बड़ा बिगाड़ कर रहे हो। जो पहले चार व्यक्ति आपस में मिलते थे, उन चार में से दो तुमने पकड़ लिये। अब उन चार का मिलना तुमने बन्द करा दिया, ये काहे का सुधार है?

जैनदर्शन विच्छेद को प्राप्त क्यों नहीं हो पाया? क्योंकि इसकी एक विशेषता रही है। कि जो जिनवाणी कहती है, वो सत्य है। इसलिये सम्प्रदाय तो इसमें भी जन्मे थे, लेकिन चल नहीं सके। जन्मते रहेंगे, पर चलेंगे एक भी नहीं। गारंटी से कह सकता हूँ, कि किसी भी व्यक्ति का जैनदर्शन में 'संप्रदाय' जीवित नहीं रहा सकता है। हाँ, अहंकार जीवित रह जायेगा। कोई भी संप्रदाय जन्म लेगा, वो 'संप्रदाय' संज्ञा को जन्म दे सकता है, पर सत्य को जन्म नहीं दे सकता है। सत्य जन्मता ही नहीं है, जिसकी मृत्यु नहीं होती, वो जन्मेगा क्यों? असत्य ही जन्मता है, असत्य ही मरता है। पुद्गल की पर्याय विनशती है, लेकिन पुद्गल नष्ट नहीं होता है। कभी मत कहना कि किसी की मृत्यु हो गई। पुद्गल की मृत्यु नहीं है, उसका भी परिणमन हुआ है। उस पर्याय के परिणमन को ही व्यवहार में जन्म–मरण कहा जाता है।

आचार्यभगवन् कह रहे हैं, कि जीवों की स्वभावदृष्टि बहुत निर्मल है। स्वभावदृष्टि कब आयेगी? जब माध्यस्थ भाव आयेगा। दो लोगों में झगड़ा हो गया, विसंवाद हो गया। आपको भेजा गया कि निपटारा करके आओ। तो यदि आपका एक पक्ष में राग है, अथवा जो जोश में था, अथवा जो शान्त बैठा था, उससे आप प्रभावित हो गये। अब जिसकी शक्ति है, वो चिल्ला रहा है। तो आप फैसला कैसे कर सकेंगे? विद्वान् यदि हैं आप, तो कुछ नहीं, वहाँ जाकर बैठ जायें शान्ति से और अनुभव करें थोड़ा विश्राम करके, कि यहाँ है क्या? कषायी का भी पुण्य होता है और तूफान में हीरे–मोती भी ढँक जाते हैं। मध्यस्थ होकर देखेंगे, तो समय तो लगेगा, लेकिन सत्य निकलेगा। ऐसे ही मुमुक्षु! जिसमें कषाय आ रहीं है, उसमें ज्ञाता–दृष्टा बनो, कि ये कैसे आ रही है? किस पर आ रही है? और क्यों आ रही है? इसमें दोष किसका है? बात समझना, स्वभाव की बात कर रहे हैं।

आत्मा कह रही है, कि चाहे तुम निगोद में डाल दो मुझे, चाहे नरक में डाल दो। मेरा द्रव्य तो मुझे दिख रहा है कि मैं हूँ, मेरा नाश नहीं है। ये स्वभावदृष्टि की चर्चा है। ये निश्चय कथन है। स्वरूपदृष्टि की बात है।

भो ज्ञानी! आप बैठे हो और बालक दौड़ता–दौड़ता आया, बोला–दादाजी! घर में आग लग गई है। 'अरे भाई! आग लग गई, तो जला क्या है?' सब जल गया, खाक हो गया। 'जिसमें आग लगी थी, वो पौद्गलिक थे कि जीव थे?' पौद्गलिक थे। पर्याय का

परिणमन जो धर्म है द्रव्य का, वो हो गया, द्रव्य का अभाव कहाँ हुआ है? वो तो पर्याय बदल गई। उसको बदलना ही था कभी–न–कभी। जिसमें एकक्षेत्रावगाह वास कर रहे हो, उसमें आग लगे, फिर क्या करोगे? ये विषय मौन हो करके सोचने का है। पूरे जीवन जागो, माला फेरो, पर समझना इसी को है।

भैया! परिणमन प्रत्येक द्रव्य का धर्म है, जो परिणत हो गया अपने समय पर। कोई स्वकाल में हुआ, अकाल में हो गया, पर अब हम क्या कर सकते हैं? तुम्हारे हाथ में कुछ भी नहीं है। जिसको इतनी दृढ़ता आ गई, मोक्ष उसी के पास है।

एक ग्वालिन रोज रास्ते में पानी मिलाकर दूध लाती थी। एक दिन रास्ते में बारिश होने लगी, तो रास्ते में फिसल न जायें, सो पानी मिलाना भूल गई। और फिर उसके मन में एक भाव और आया कि इतने दिन से पानी मिलाकर पिलाया है, आज शुद्धदूध पिला दें। मालूम चला कि दूसरे दिन बच्चे बीमार हो गये। पेट में गट्टे पड़ गये, क्योंकि भैंस का शुद्धदूध था। दूसरे दिन सेठजी उस ग्वालिन से बोले– क्या मिलाया था दूध में, मेरे बच्चे बीमार पड़ गये? वो ग्वालिन सिर ठोक रही। क्योंकि बात ऐसी है कि शुद्ध को पीने की सामर्थ्य नहीं थी। वैसे ही जो आत्मा का शुद्धधर्म है, दंदफंद से परे है। उसकी बात यहाँ करो अभी शुद्ध–शुद्ध, सो तुम सब उठके चले जाओगे। बोले–महाराज!हजम नहीं होगी पर सत्यता तो यही है।

मनीषियो! जैनदर्शन बहुत गहरा है। वो तो अच्छा हुआ कि साथ में षट्कर्तव्य आदि शुभोपयोग की व्यवस्था है, तो कम–से–कम तुम उसे पी–पी करके जी रहे हो। यदि वास्तव में ये व्यवस्था न की जाती, तो जैनधर्म पालनेवाले मुठ्ठी भर बचते। वैसे ही देखो, जो चरणानुयोग 'रत्नकरण्ड–श्रावकाचार' में श्रावकों का है, उतने कितने श्रावक बचे? जैनत्व भी छोड़ गये, वस्तुस्थिति ये है। किसी ने ऐसा नहीं किया कि जैनधर्म छुड़ाया हो, पाल नहीं पाये। जबसे आपके घर में बच्चे अनाचारी हो गये, धीरे–धीरे मालूम चला कि श्रावकाचार समाप्त हो गया।

'आत्मा' शब्द से यहाँ स्वयं को ग्रहण करना है। स्वयं ही आदि है, स्वयं ही अन्त है, स्वयं ही मध्य है। जिसका कोई परिणमन नहीं है, वह शुद्ध परमाणु है। ये परमाणु इंद्रियज्ञान के गोचर नहीं है। भो ज्ञानी! ऐसे स्कन्ध भी हैं, जो इन्द्रिय– ज्ञानगोचर नहीं हैं। कर्म स्कंध है।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **स्वभाव–पुद्गल के स्वरूप का कथन।**

एयरसरूवगंधं दोफासं तं हवे सहावगुणं।
विहावगुणमिदि भणिदं, जिणसमये सव्वपयडत्तं।।27।।

संस्कृत छाया : **एकरसरूपगंधः द्विस्पर्शः स भवेत्स्वभावगुणः।**
विभावगुण इति भणितो जिनसमये सर्वप्रकटत्वम्।।27।।

अन्वयार्थ : (एकरसरूपगंधः) जो एक रस, एक वर्ण, एक गंध वाला है, (द्विस्पर्शः) दो स्पर्श गुण वाला है (सः) वह (स्वभावगुणः) स्वभावगुण वाला है (सर्वप्रकटत्वम्) जिसमें सब गुण प्रकट हैं वह (विभावगुणः) विभावगुण वाला है (इति जिनसमये भणितं) इस प्रकार जिनशासन में कहा गया है।

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन्त कुन्दकुन्द स्वामी ने अजीव अधिकार में स्कन्ध और परमाणु का कथन किया है। पुद्गलद्रव्य की शुद्धअवस्था परमाणु है। परमाणु त्रैकालिक नहीं था । जब अशुद्ध था, तब स्कन्ध था। उस स्कन्ध का ही भेद हुआ, तब परमाणु बना। जब परमाणु अनादिसिद्ध नहीं है, तो जीव अनादिसिद्ध कैसा? जैसे परमाणु स्कन्ध से उत्पन्न होता है, इसीप्रकार से सिद्धभगवान् भी अशुद्धता से ही उत्पन्न होते हैं। स्कन्ध के अभाव में परमाणु का अभाव नहीं होता। जब भी परमाणु बनता है, स्कन्ध से ही बनता है। अणु से अणु की उत्पत्ति नहीं होती। अणु से स्कन्ध की उत्पत्ति तो होती है, लेकिन अणु से अणु की उत्पत्ति क्यों? जिसका कोई भेद ही नहीं है, उसका नाम परमाणु है। अब उत्पन्न करेगा किसे?

आचार्य पद्मप्रभमलधारि देव 40 वें कलश में परमाणुरूप पुद्गल और सिद्ध के स्वभाव का वर्णन कर रहे हैं–

अप्यात्मनि स्थितिं बुद्ध्वा पुद्गलस्य जडात्मनः।
सिद्धास्ते किं न तिष्ठंति स्वस्वरूपे चिदात्मनि।। कलश 40।।

जैसे जड़रूप पुद्गल अपने जड़स्वभाव को नहीं छोड़ता है, वह हमेशा जड़रूप ही रहा है, चाहे कितना भी काल व्यतीत हो जाये, वह अजीव से जीव नहीं होता है। इसीप्रकार से सिद्धभगवान् एक बार हो जाते हैं, वे फिर अशुद्धि को प्राप्त नहीं होते हैं। वे हमेशा शुद्ध स्वरूप में ही स्थित रहते हैं। उसीप्रकार से जब आत्मा की अशुद्धता नष्ट हो

जाती है, तब सिद्धत्व का उदय होता है। अब वह सिद्ध नहीं होगा। यदि आप संसार–अवस्था में आत्मा की शुद्धि मानते हो, तो फिर शुद्ध किसको करोगे? इसलिये **''भेदादणुः''** सूत्र कहता है, कि जैसे मेरी उत्पत्ति भेद से होती है, वैसे ही शुद्धात्मा की उत्पत्ति भेदविज्ञान से होती है। अतः जो परमाणु है, वो अनादि–सिद्ध नहीं है, वो कभी–न–कभी अशुद्ध था।

भो ज्ञानी! देखना, जो जितना हल्का होता है, वजन कम होता है, तो शक्ति बढ़ जाती है। जैसे ढेरसारा पानी रेलगाड़ी नहीं खींच पाती और उसकी भाप गाड़ी को खींचती है। इसी तरह यदि पुद्गल स्कन्धरूप में रहे, तो इतना गमन नहीं कर पाता। वो ही पुद्गल जब परमाणुरूप में होता है, तो एकसमय में तीव्र गति से गमन करे, तो चौदह राजू तक जा सकता है। इसीप्रकार ये जीव जब कर्मों से बद्ध होता है, तब गमन करे, तो इतना नहीं कर पाता। जब सिद्ध होता है, तब एक समय में सात राजू गमन करता है, क्योंकि कर्मों का संपूर्ण अभाव होने से हल्का हो गया। और जितना वजनदार होगा, उतना नीचे जायेगा। जब तूमड़ी पर मिट्टी का लेप था, तो तूमड़ी नीचे दबी हुई थी और जैसे–जैसे लेप हटता जाता है, तो तूमड़ी ऊपर की ओर आ जाती है। ऐसे ही जैसे–जैसे आत्मा का लेप हटता जाता है, वैसे–वैसे आत्मा उर्ध्वगमन करती जाती है।

मनीषियो! जब एक माँ मथानी से मक्खन निकालती है, तो मक्खन के गोले को मथते–मथते मठ्ठे में छोड़ देती है। लेकिन वो गोला न तो नीचे गिरता है, न ऊपर आता है। आधा भाग नीचे, आधा भाग ऊपर। क्योंकि मक्खन अभी पूर्ण रूप से शुद्ध नहीं है। जिस समय आप मक्खन को तपा देते हो, तो उसकी मरी/अशुद्धि निकल जाती है। फिर वह ऊपर ही रहेगा, नीचे जायेगा ही नहीं। ऐसे ही इस आत्मा में जबतक कर्म की मरी जमी हुई है, तबतक ये आत्मा नीचे रहती है और अरहंत अवस्था में आधे कर्म जब नष्ट हो जाते हैं, तो पाँच हजार धनुष ऊपर पहुँच जाते हैं। लेकिन सिद्धशिला पर नहीं पहुँचा, क्योंकि अभी आधे कर्म लगे हुये हैं। जब वे कर्म भी नष्ट हो जायेंगे, तो अब वो आत्मा कभी नीचे आने वाली नहीं है। इससे सिद्धान्त ध्वनित होता है कि जब तक वजन रहेगा जीव के साथ, पुद्गल के साथ, तब तक वो नीचे ही जायेगा। जितना हल्का होता जायेगा, उतना ऊपर– ही–ऊपर जायेगा। ये कर्म की दशा होती है।

भो ज्ञानी! अब अपनी विशुद्धि की चर्चा करो। जैसे–जैसे परिणाम निर्मल होते जायेंगे, वैसे–वैसे तुम्हारा गुणस्थान बढ़ता जायेगा। और जैसे–जैसे परिणाम तुम्हारे

कलुषित होंगे, वैसे–वैसे तुम्हारा गुणस्थान गिरता जायेगा। जब विकार मिट जाता है, तब महसूस होता है कि कहीं बहुत हल्का लग रहा है। ये हल्कापन यदि जीवन में आ जाये, तो सिद्ध बनने में समय नहीं लगेगा।

आचार्यभगवन् गाथा क्रमांक 27 में पुद्गल के स्वभाव का वर्णन कर रहे हैं, जो एक रस, एक वर्ण, एक गंध और दो स्पर्श गुण वाला है। जीव का स्वभावगुण केवलज्ञान व केवलदर्शन है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, ये सब विभाव हैं। जैसे स्कन्ध किंचित भी शुद्ध नहीं है, परन्तु उस स्कन्ध में शुद्धत्व सत्ता त्रैकालिक विराजमान है। पर परमाणु शुद्ध ही है, उसमें किंचित मात्र भी अशुद्धता नहीं है। इसी प्रकार से संसारी–आत्मा त्रैकालिक शुद्धसत्ता से युक्त है, परन्तु किंचित भी सिद्धत्व भाव नहीं है। सिद्धभगवान् त्रैकालिक शुद्ध ही हैं, परन्तु उनके अन्दर अशुद्धि लेश मात्र भी नहीं है, ये सिद्धान्त है।

भो ज्ञानी! ये उपयोग तेरा विशाल है। विषयों के विस्तार में न भटक जाये, इसलिये आचार्यों ने सिद्धान्त का विषय विस्तृत किया है। विषयों के विस्तार में न चला जाये, क्योंकि चौबीस घंटे तुम माला नहीं फेर सकते। चौबीस घंटे तुम पूजा भी नहीं कर सकते। चौबीस घंटे तुम एकान्त में स्वाध्याय भी नहीं कर सकते। पर विषय का इतना विस्तार कर दिए, अब तुम उलझ जाओ। मन बड़ा चंचल है, उसको वश में करने के लिये ये सबकुछ लिखा गया है, इसके साथ–साथ सिद्धान्तों को, रहस्यों को समझने के लिये भी लिखा गया है।

वीरसेन स्वामी के शिष्य हुए जिनसेन स्वामी और जिनसेन स्वामी के शिष्य हुये गुणभद्र स्वामी। जैसे कोई बेटा अपने पिता की बिखरी संपत्ति को संभालकर रखता है, ऐसा ही इन आचार्यों ने किया है। आचार्य भगवान् वीरसेन स्वामी की 'धवला टीका' पूरी नहीं हो पाई थी, कि काल ने निगल लिया। उस अधूरी टीका को पूरा किया आचार्य जिनसेन स्वामी ने। जिनसेन स्वामी एक ऐसे बहुप्रतिभाशाली निर्ग्रन्थ योगी थे, जिन्होंने जीवन में वस्त्र ही धारण नहीं किये, तन पर धागा ही नहीं पड़ा, ऐसे महान दिगम्बराचार्य हुये हैं। इतनी प्रभावशाली महान प्रतिभा। आदिपुराण ही नहीं, महापुराण जैसे चौबीस पुराण लिखने वाले थे। लेकिन मात्र भगवान् आदिनाथ स्वामी का ही वर्णन कर पाये, कि उनकी सल्लेखना हो गई। जब उनके शिष्य गुणभद्रस्वामी ने यह देखा, कि बहुत बड़ी क्षति हो गई, तो उन्होंने **'उत्तरपुराण'** लिखा, अपने गुरु के ग्रन्थ को पूर्ण किया। इन्हीं गुणभद्रस्वामी ने 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ लिखा है, अध्यात्मविद्या और चित्त की एकाग्रता के

लिये। इस मन को कैसे वश में करें? उन्होंने कहा कि मन तो मर्कट है, बन्दर है, उजाड़ करेगा। इसलिये इस मन–बन्दर को, भो चैतन्य! श्रुत–स्कन्ध पर चढ़ा दो, जिसमें नय और प्रमाण की शाखायें हैं, उपनयों की पत्तियाँ हैं जिसमें और सिद्धान्त का पिण्ड है, जिसमें भेद, प्रभेदों के पुष्प खिले हुये हैं और तत्त्व–निर्णय के फल लगे हुये हैं। ऐसे फल को चखाने में लगा दो, ये बंदर तेरा शांत होकर बैठ जायेगा। इसके अभाव में मन–मर्कट संभलनेवाला नहीं है।

भो ज्ञानी आत्माओ। संयम की रक्षा जिनवाणी के स्वाध्याय से ही संभव है। पंचमकाल में घनघोर तपस्या नहीं है, विशाल ध्यान नहीं है, इसलिये कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है, कि अध्ययन करो। 'रयणसार' ग्रन्थ में लिखा है कि पंचमकाल में सबसे बड़ी तपस्या है–स्वाध्याय। उसी से तुम्हारी रक्षा होगी। संयम को धारण करने के बाद परिणाम सुधारने का ये माध्यम है, नहीं तो तुम भटक जाओगे।

ये जो पाँच रस हैं–चरपरा, कडुवा, कषायला, खट्टा और मीठा। परमाणु में उनमें से एक रस होता है। श्वेत,पीत,हरित,लाल और कृष्ण, इन पाँच वर्णों में से परमाणु में एक वर्ण होता है। एक गंध होती है–सुगन्ध या दुर्गन्ध। आठ प्रकार का स्पर्श है–कठोर, कोमल, भारी, हल्का, ठंडा, गरम, चिकना और रूखा। इन आठ स्पर्शों में अंतिम चार में से अविरोधी दो स्पर्श परमाणु में होते हैं। इन्हें परमाणु के स्वभावगुण कहा है। जबकि संपूर्ण इंद्रियों को ग्रहण करनेवाले आप किसके भोगी हो? स्कंध के। आप परमाणु के भोक्ता नहीं हो। परमाणु किसी का भोज्य नहीं है। जो भी आप लोग भोग रहे हो, वह स्कन्ध ही है।

भो ज्ञानी! प्रत्येक द्रव्य की सत्ता स्वतंत्र है। शरीर जिन स्कन्धों से निर्मित है, वे स्कन्ध भी परस्पर में भिन्न–भिन्न हैं। परन्तु ध्यान रखना, सल्लेखना बिगाड़ने वाला सबसे बड़ा शत्रु यही है, शरीर है। अंतिम राग किससे? देह से तीव्र राग है। मल का कीड़ा भी शरीर को नहीं छोड़ना चाहता है। वो भी अपनी रक्षा की दृष्टि से मल में ही प्रवेश कर जाता है।

यो यत्र निवसन्नास्ते, स तत्र कुरुते रतिम्।

यो यत्र रमते, तस्मादन्यत्र स न गच्छति।। इष्टोपदेश 43।।

जो जहाँ निवास करने लगता है, वो वहीं राग को प्राप्त हो जाता है। इसलिये आप ये मत सोचना, कि महाराज श्री! मेरी गति ही श्रेष्ठ है। वो नालियों में घूमने वाला जीव भी मरना नहीं चाहता। उसको भी अपनी पर्याय में वो ही अनुभूति हो रही है, जो तुमको यहाँ

हो रही है। वो दुःख को दुःख नहीं मान रहा है, जैसे कि आप नहीं मान रहे हो। तुम्हें देखकर वे देव मुस्करा रहे होंगे कि देखो, कैसे पसीने में लथपथ हो रहे ये मनुष्य, कैसा कंठ सूख रहा, कैसे पानी पी रहे, और हमलोगों को देखो कितना सुख है? महीनों में नहीं, वर्षो में एक बार भोजन करना है। पर आप दुर्दशा को दुर्दशा नहीं मान रहे।

'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ में आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है–

एयरसवण्णगंधं दोफासं सद्ददकारणमसद्दं।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणु तं वियाणाहि।। पंचास्ति. 81।।

जो एक रस, एक वर्ण, एक गंध, दो स्पर्श वाला है, शब्द का कारण है और स्वयं अशब्द है, ऐसा स्कन्ध से उत्पन्न हुआ जो द्रव्य है, वह परमाणु है।

भो ज्ञानी! शब्द की शक्ति देखो। पूरा सिद्धान्त 'शब्द' से प्रतिपादित है, निर्ग्रन्थ बनाने वाला 'शब्द' है, सग्रंन्थ बनाने वाला 'शब्द' है। जो भगवान् की नहीं कहता, अपनी कहता है, वह श्रद्धा का पात्र नहीं बनता। 'शब्द' आकाश का धर्म नहीं है। 'शब्द' पुद्गल का धर्म है। अज्ञानी 'शब्द' को आकाश का धर्म कहते हैं। अरे भाई! अरूपी को कोई धर्म होता है क्या? आकाश तो अरूपी है और शब्द रूपी है। ''मार्ग प्रकाश'' ग्रन्थ में भी कहा है कि आठ तरह के स्पर्शों में अंतिम चार स्पर्शों के दो स्पर्श अर्थात् शीत–उष्ण में से कोई एक, स्निग्ध–रुक्ष में से कोई एक, ऐसे दो स्पर्श, एक वर्ण, एक गंध और एक रस, परमाणु में ये पांच गुण जानना। शेष अन्य गुण परमाणु में नहीं होते हैं।

आचार्य श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि परमाणु के स्वरूप को जानकर क्या करना चाहिये!

अथ सति परमाणोरेकवर्णादिभास्वन् निजगुणनिचयेऽस्मिन् नास्ति मे कार्यसिद्धिः। इति निजहृदि मत्वा शुद्धमात्मानमेकं परमसुखपदार्थी भावयेद्भव्यलोकः।। कलश 41।।

परमाणु में एक वर्णादिरूप भासमान अपने गुणों का समुदाय होने पर भी उसमें मेरे कार्य की सिद्धि नहीं है। इसप्रकार से अपने हृदय में समझकर भव्यजीव जो परमपद मोक्ष की इच्छा रखते हैं, एक अपनी शुद्ध आत्मा की भावना करे। जो जीव पुद्गल के विषयों में लगा रहता है, उलझता रहता है, वह मुक्ति–रमा का वरण नहीं कर सकता है। हे ज्ञानी! यदि तुझे मुक्तिरमा का वरण करना है, तो निज की शुद्ध आत्मा में ही रमण करना पड़ेगा।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **पुद्गल की पर्याय के स्वरूप का कथन।**

अण्णणिरावेक्खो जो, परिणामो सो सहावपज्जाओ।
खंधसरूवेण पुणो, परिणामो सो विहावपज्जाओ।।28।।

संस्कृत छाया : **अन्यनिरपेक्षो यः परिणामः स स्वभावपर्यायः।**
स्कंधस्वरूपेण पुनः परिणामः स विभावपर्यायः।।28।।

अन्वयार्थ : (अन्य निरपेक्षः) अन्य की अपेक्षा से रहित (यः) जो (परिणामः) परिणाम है (सः) वह (स्वभावपर्यायः) स्वभावपर्याय है (पुनः) और (स्कंध स्वरूपेण) स्कंधरूप से (परिणामः) जो परिणमन है (सः) वह (विभावपर्यायः) विभाव पर्याय है।

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने पुद्गल के स्कंध और अणु, स्वभाव–विभाव अवस्था का कथन किया है कि परमाणु शुद्धपुद्गल की अवस्था है और स्कंध अशुद्धपुद्गल की अवस्था है। परन्तु जीव व पुद्गल में इतना अंतर है कि पुद्गल शुद्ध होने के उपरान्त पुनः अशुद्ध हो जाता है, लेकिन जीव शुद्ध होने के उपरान्त पुनः कभी अशुद्ध नहीं होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने तो 'पुद्गल' संज्ञा वास्तव में परमाणु को ही दी है। स्कंध को उपचार से पुद्गल कहा है। परमाणु को मूलतः पुद्गल कहा है, क्योंकि ये पुद्गल की शुद्धदशा है। इस अपेक्षा से स्कंध को उपचार शब्द से जोड़ दिया है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव से लेकर पंचम गुणस्थान तक मोक्षमार्गी जीव कहा है और इसी बात को पंडित टोडरमल जी ने भी दोहराया है–''मोक्षमार्गी होसी'', क्योंकि पूर्ण रत्नत्रय नहीं है और जहाँ रत्नत्रय नहीं है, वहाँ मोक्षमार्ग नहीं है। यद्यपि वहाँ दर्शन–ज्ञान है, इसलिये अभाव भी नहीं है, अतः 'उपचार' शब्द जुड़ा हुआ है। चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव, पंचमगुणस्थानवर्ती जीव को उपचार से मोक्षमार्गी कहा है और जब धर्म्यध्यान की चर्चा करते हैं, तो छठवें गुणस्थान से उपचार धर्म्यध्यान कहा है। विषय को समझना। चौथे की तो बात छोड़ो, छठवें गुणस्थान तक उपचार धर्म्यध्यान । वास्तव में धर्म्यध्यान तो सप्तम गुणस्थान से होता है। क्योंकि शुद्ध धर्म्यध्यान का कहीं स्थान है, तो सप्तमगुणस्थान है। पूर्ण धमर्यध्यान नहीं है छठवें गुणस्थान में, क्योंकि आर्त्तध्यान का पाया रहता है। अतः जितने अंश में आर्त्तध्यान होगा, उतने अंश में

धर्म्यध्यान नहीं होगा। इसलिये यहाँ पर 'उपचार' शब्द है। सप्तम गुणस्थान में आर्त्त–रौद्र ध्यान का अंशमात्र भी नहीं होता है, इसलिये पूर्ण धर्म्यध्यान सप्तमगुणस्थान में होता है।

भो ज्ञानी! उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सिद्धान्त अपने आपमें अखण्ड है, क्योंकि जितने द्रव्य हैं, सभी में परिणमन चल रहा है। देखो, काल तीन होते दिख रहे हैं, पर काल तीन नहीं हैं। कार्य तीन होते दिख रहे हैं–उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, पर कार्य तीन नहीं लगते। एक ही समय में तीनों कार्य होते हैं। उत्पाद भी हो रहा है, व्यय भी और ध्रौव्यता भी। उत्पत्ति, विनाश, अखण्डता ये द्रव्य का धर्म है। सबकुछ बदलता है, पर धर्म कभी नहीं बदलता। ध्यान रखना, यदि धर्म कभी बदल गया, तो द्रव्य ही नहीं रहेगा। जिसमें नाश हो रहा है, जिसमें उत्पाद हो रहा, उसका नाम ध्रौव्य है। सत्ता ध्रौव्य है, लेकिन पर्याय का परिणमन ध्रौव्य नहीं है, वो परिवर्तनशील है। इस परिवर्तन का नाम ही संसार है, मोक्ष भी है। नहीं तो आप, संसार मात्र में ही लगा दोगे। परिवर्तन सर्वत्र है। परिवर्तन कोई रोक नहीं सकता, न किसी के रोकने के वश की बात है।

मनीषियो! ध्यान रखना, आप घबराते हो कि इनकी संख्या बढ़ गई, इनकी संख्या घट गई, जबकि ध्रौव्य को देखने वाला न कभी हँसता है और न कभी रोता है। क्योंकि जितने जीवद्रव्य हैं, वे निश्चित हैं, ये नियत हैं। अज्ञानी पर्याय के घटने–बढ़ने पर जीव के घटने–बढ़ने की बात करता है और ज्ञानी देखता है, कि कुछ नहीं है। संसारराशि से सिद्धराशि में प्रवेश हो गया है और निगोदराशि से त्रसराशि में प्रवेश हो गया है। हुआ कुछ नहीं है। क्योंकि तुझे देश का सम्राट बनके देखना पड़ेगा। मेरा म. प्र. से ट्रांसफर करके छत्तीसगढ़ भेज दिया। एक रो रहा है, कि मुझे राजस्थान भेज दिया। परिवार के लोग भी सोच रहे हैं, कि कितना परिवर्तन होता चला जा रहा है। परन्तु जो इनका स्वामी है, वो क्या सोचता है? कुछ नहीं है। हमारे देश में ही सबकुछ है। चाहे तू छत्तीसगढ़ में रहे, चाहे म.प्र. में रहे, चाहे राजस्थान में, वेतन मुझे देना है। यह भारत सरकार कह रही है और जितना देना है, उतना ही देना है। व्यवस्थायें सर्वत्र हम तुम्हारी जुटायेंगे, अंतर इतना है कि क्षेत्र बदल दिया। ऐसे ही मुमुक्षु जीव इन पर्यायों को देखकर सोचता है, कि कुछ नहीं है, क्षेत्र का परिवर्तन हो रहा है। द्रव्य तो ध्रौव्य है। संसार में जो आठ कर्मों की व्यवस्था है, वह मुझे यहाँ करना है। जिन परमाणुओं को तू यहाँ ग्रहण कर रहा है, वो ही तू निगोद में ग्रहण करेगा और सिद्ध भी बन जायेगा, तो तू ज्ञान–दर्शन का भोक्ता होगा। बताओ क्या बदला?

भो ज्ञानी! बताओ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सूत्र कितना गहरा है। जितनी चर्चायें आगम में हैं, सब उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य सूत्र पर ही हैं। चाहे पुद्गल की हो, चाहे जीव की हो, चाहे

शेष द्रव्य की हो। षट्गुण हानि–वृद्धिरूप परिणमन तो प्रत्येक द्रव्य में होता ही है, चल ही रहा है। बताओ, क्या विशिष्ट हो रहा है? क्या उत्पन्न हुआ, क्या नष्ट हुआ? उत्पाद, व्यय को गौण करके जब ग्रहण करता है, तो मात्र सत्ता दिखती है, ध्रौव्यता है। शान्ति ध्रौव्य में ही है, सुख ध्रौव्य में ही है, क्योंकि ध्रौव्य विनशता नहीं है, ये तो अक्षय है। इसलिये अब कहीं भी चले जाओ, कैसे भी रहो।

भैया! यह धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य में भी घटित होता है, मना नहीं करना। द्रव्य का स्वभाव जो है, उनमें स्वभावरूप परिणमन होता है और विभावद्रव्य जो है, उनमें विभावरूप परिणमन होता है। ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जिसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य न हो। क्या सिद्धपरमेश्वर वही–वही आनंद लूट रहे हैं? प्रतिक्षण नवीन–नवीन अनुभूतियाँ हैं। जो अनुभूति हो रही है, एक क्षण की अनुभूति नष्ट हुई, दूसरे क्षण की उत्पन्न हुई, और अनुभव नया। केवलज्ञान–दर्शन स्वभाव ध्रौव्य है। 'राजवार्तिक' ग्रन्थ में घोड़े का दृष्टान्त दिया है, कि जैसे एक घोड़ा बैठा हुआ था, वह खड़ा हुआ और दौड़ने लगा, तो स्थिर पर्याय का विनाश, गतिरूप पर्याय का उत्पाद, घोड़ा ध्रौव्य है। आप बैठे–बैठे खड़े हो गये, तो बैठी पर्याय का विनाश हो गया, खड़ी पर्याय का उत्पाद हो गया, लेकिन आप वही हो।

मनीषियो! धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इनमें भी घटित होता है, ऐसा जिनवचन है। तत्त्वार्थवार्तिक और सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थों में इनका विस्तृत कथन किया है। यदि और विस्तार से समझना हो, तो पंचास्तिकाय ग्रन्थ में आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने बहुत विस्तार से कथन किया है, सभी द्रव्यों के विषय में।

परपरिणतिदूरे शुद्धपर्यायरूपे सति न च परमाणोः स्कन्धपर्यायशब्दः।
भगवति जिननाथ पञ्चबाणस्य वार्ता न च भवति यथेयं सोऽपि नित्यं तथैव।। कलश 42।।

यहाँ कलशरूप में पद्मप्रभमलधारि देव कह रहे हैं कि पर की परिणति से दूर है, कौन? वह शुद्ध पर्यायरूप है। शुद्धपर्यायरूप में शुद्धपरमाणु, अशुद्धपर्यायरूप में अशुद्धपरमाणु होगा। शुद्धजीव शुद्धपर्याय में ही होगा, ये निर्विवादित है। जहाँ संयोग है, वहीं अशुद्धता है। जिन द्रव्यों में संयोग नहीं है, उन द्रव्यों में कभी अशुद्धता आती नहीं । संयोग ही सबसे घातक है। अनेक दुःखों का हेतु संयोग ही है। **''संयोग दुःखमनेक भेदम्''।**

भो ज्ञानी! **'भेदादणु'** का अर्थ यह है कि अणु की उत्पत्ति भेद से ही होती है। स्कंध का भेद होते–होते जब ऐसी अवस्था में पहुँच जाये, जहाँ भेद होना समाप्त हो जाये, अविभागी अवस्था, इसका नाम है परमाणु। वो शुद्ध–अवस्था है। अणु जब भी बनेगा, भेद से ही बनेगा। जीवद्रव्य की संसार–अवस्था हर प्रकार से हो रही है, पर शुद्ध–अवस्था

भेदविज्ञान से ही होगी। भो ज्ञानी! एक द्रव्य की दो पर्याय, दो द्रव्य की एक पर्याय नहीं होती। 'कथंचित' जोड़ दो, तो ठीक रहेगा। दो द्रव्यों के मिलने पर एक ही पर्याय बैठी हुई है। क्योंकि जो आप बोल रहे हो, जो पूछ रहे हो, वो एक द्रव्य नहीं बोल रहा, एक द्रव्य नहीं पूछ रहा । जब हम स्वभावदृष्टि से कथन करते हैं, तो यही कहेंगे कि तू सजातीय को भूला है व विजातीय में लीन है। अहो जीव! किसी ने विजातीय विवाह कर लिया हो, तो आप उसे कितनी हीनदृष्टि से देखते हो और तू विजातीय में कब से लिप्त है, फिर भी अपने–आपको हीन नहीं देख रहा। क्योंकि ये शरीर पौद्गलिक है, कर्म पौद्गालिक है, सो परद्रव्य विजातीय द्रव्य है और तू चैतन्य है, ये ही सजातीय भिन्न है, इसलिये दो विजातीय हो गये।

भो ज्ञानी! असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से दो भिन्न द्रव्य मिल करके एक द्रव्य कहला रहा है। मैं मनुष्य हूँ, इसमें सजातीयता–विजातीयता बैठी हुई है। 'मैं' जिस ओर इंगित किया जा रहा है, सजातीय की ओर किया जा रहा है, पर जिसको कह रहा है, वो विजातीय है। इसलिये भिन्न दो परमाणु के मिलने पर भी अखण्ड एक ही पर्याय उत्पन्न होती है। वह स्कन्ध द्वि अणु भी हो सकता है, पंचअणु भी हो सकता है। अब स्पष्ट होता है, जो महापिण्ड है, स्कंध है। परमाणुओं का पिण्ड, वो स्कंध है। उसका आधा स्कंध 'देश' संज्ञा कहलायेगी। उसका आधा **'प्रदेश'**। अब जिसका विभाग नहीं किया जा रहा, उसका नाम परमाणु है। पर ये सब पुद्गल ही है, सत्ता की अपेक्षा से। **'पुद्गल'** संज्ञा की अपेक्षा से एक है। पर सभी पुद्गल एक नहीं है, भिन्न–भिन्न हैं। ये सिद्धान्त केवल जैनदर्शन मानता है। ध्यान रखना, हम जीव हैं, आप जीव हैं, तो क्या हम दोनों एक जीव हैं? नहीं। जीवद्रव्य एक है, पर द्रव्य अनेक हैं। हमारी जीवत्व–सत्ता, आपकी जीवत्व–सत्ता की अपेक्षा एकरूपता है, पर द्रव्यत्व हमारा, आपका, सबका भिन्न–भिन्न है।

भो ज्ञानी! संपूर्ण दर्शनों का संपूर्ण पक्ष एक स्थान पर कहीं मिलता है, तो वो जैनदर्शन में। **'देवागम–स्तोत्र'** में जितने तात्कालिक मत, अभिमत थे, वे सब आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने बिना अभिमत के मात्र मतों पर चर्चा की है। आचार्य विद्यानंद ने **'सत्यशासनपरीक्षा'** ग्रन्थ में पहले पर पक्ष का पूर्ण कथन किया, इसके बाद स्वपक्ष का कथन किया।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने सप्तभङ्गी का कथन 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ में किया है, प्रवचनसार में किया है।

''प्रमाणनयैरधिगमः'' त. सूत्र (6/1) '' इस सूत्र से जैनन्याय विस्तृत होता चला गया। प्रमाण, नय की चर्चा कुन्दकुन्द स्वामी ने नहीं की। उन्होंने सप्तभङ्गी का कथन किया है, और उस विषय को लेकर उमास्वामी महाराज ने, जो आचार्य कुन्दकुन्द के शिष्य हैं, विस्तार से कथन किया है। प्रमाण, नय की गाथायें आचार्य समंतभद्र, पूज्यपाद स्वामी के काल में बहुत विस्तृत हुई।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं, विस्तार से तो सात भंग हैं और वैसे चार ही भङ्गी हैं। स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् अस्ति–नास्ति, स्याद् अवक्तव्य, ये चार हैं ओघ से यानि संक्षेप से। जब विस्तार करेंगे, तो आपको तीन और मिल जायेंगे, तब सात हो जायेंगे। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने स्याद्वाद शैली का कथन किया।

मनीषियो! पंचशील सिद्धान्तों पर भी आचार्यों के मतभेद हैं। श्वेताम्बर आम्नाय में चार शील माने जाते हैं। भगवान् महावीर से पंचशील सिद्धान्त का आरंभ हुआ, ऐसा उनका मानना है। दिगम्बर आम्नाय में मात्र अकलंकदेव ने इस बात को स्वीकार किया है 'राजवार्तिक' में । अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह। ब्रह्मचर्य नहीं लिया है। ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह में समाविष्ट कर लिया है। अब्रह्म को परिग्रह में ग्रहण किया है, क्योंकि जितने परद्रव्य हैं, वे सब अब्रह्म हैं। इसलिये चार का कथन किया है। आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने बंध के हेतुओं में चार गिनाये हैं, उमास्वामी महाराज ने पाँच। ये विवक्षा है।

भैया! ''द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः'', जो द्रव्य के आश्रित है और जिसका कोई गुण न हो, उसी का नाम गुण है। जो द्रव्य के आश्रय से ही रहता हो, उसे गुण कहते हैं, परन्तु उसका कोई गुण न हो। ये शब्द अभी समझ में नहीं आया होगा। उदाहरण के माध्यम से समझो। जैसे मिश्री का गुण मिठास है। वो मिठास किसके आश्रित रहता है? मिश्री के आश्रित। तो द्रव्याश्रित हो गया। ये बताइये, मीठे का गुण क्या है? द्रव्य का लक्षण गुण होता है और यदि गुण का कोई लक्षण बनने लगा, तो वो गुण नहीं होगा, द्रव्य हो जायेगा। इसलिये निर्गुणी–आत्मा द्रव्य है, ज्ञान–दर्शन गुण है।

भो ज्ञानी! वास्तविकता यह है कि साहित्य जरूर पढ़ना चाहिये, जिनका स्वसमय का अध्ययन हो चुका है, यदि हमारे आचार्यों ने विभिन्न साहित्य का अध्ययन न किया होता, तो खंडन भी कैसे हुआ होता? पर पहले स्वसमय का पूरा अध्ययन कर लो, अन्यथा मालूम चला कि दूसरे को समझाने गये थे और स्वयं समझ कर चले गये, उल्टा ही हो गया। इतनी ताकत बनाये रखना, कि मैं दूसरे को अपनी ओर आकर्षित कर लूँगा और

अपने सिद्धान्त में विफल नहीं हो पाऊँगा। जिसमें शक्ति के अंश अधिक होंगे, वो अपने रूप में परिणमन करा लेता है, तो आपका स्वसमय का शक्ति अंष इतना विशाल होना चाहिये कि दूसरे को अपनी ओर परिणमन करा ले। देखो, इंद्रभूति गौतम महावीरस्वामी को समझाने आये थे, शिष्य बनने नहीं आये थे। तीर्थंकर जैसी आत्मा को समझाने आये थे। जिनके बाद में एक दिन में 1503 चेला बने थे। अन्य भाई इसलिये गये थे कि मेरे भाई को रख लिया, वर्धमान को मैं देखता हूँ, मैं न्यायशास्त्र का ज्ञाता हूँ। एक ही तर्क में परास्त कर दूंगा और जैसे ही मानस्तंभ देखा, वे तर्क ही असफल हो गये। अतः ध्यान रखना जीवन में, आप जानते नहीं हैं, प्रश्न करने बैठ जाते हैं। इसलिये, 'हमसे नहीं बनता' यह तो कह देना, अथवा हम अपने किसी ज्ञानी से चर्चा करके आपको बतायेंगे। इतनी सरलता लाना, इससे तुम्हारी क्षति नहीं होगी। यदि किसी ने आपको झकझोर दिया, तो भो ज्ञानी! कुछ नहीं बचेगा। आज तक का इतिहास है कि तर्कशास्त्र में जैनाचार्यो से कोई विजयी नहीं हुआ है। पं. गोपालदास बरैया से अंतिम शास्त्रार्थ आगरा में हुआ, इसके बाद शास्त्रार्थ नहीं हुआ।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : पुद्गल द्रव्य के व्याख्यान का उपसंहार।

पोग्गलदव्वं उच्चइ, परमाणू णिच्छएण इदरेण।
पोग्गलदव्वोत्ति पुणो, ववदेसो होदि खंधस्स।।29।।

संस्कृत छाया : पुद्गलद्रव्यमुच्यते परमाणुर्निश्चयेन इतरेण।
पुद्गलद्रव्यमिति पुनः व्यपदेशो भवति स्कन्धस्य।।29।।

अन्वयार्थ : (निष्चयेन) निष्चयनय से (परमाणुः) परमाणु को (पुद्गल द्रव्यं उच्यते) पुद्गल द्रव्य कहा जाता है और (इतरेण) व्यवहारनय से (पुनः स्कन्धस्य) पुनः स्कंध को (पुद्गलद्रव्यं इति व्यपदेशः इतिः) 'पुद्गलद्रव्य' ऐसा नाम होता है।

भो मनीषियो! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी पुद्गलद्रव्य का कथन करते हुए कह रहे हैं, कि जो पुद्गलद्रव्य कहा गया है, निश्चय से तो परमाणु ही पुद्गलद्रव्य है और व्यवहार से स्कंध को भी पुद्गल व्यपदेशरूप में स्वीकार किया है। व्यवहारनय से विभाव–पर्याप्तक स्कंध, जो पुद्गलपिण्ड हैं, वह पुद्गल भी उपचार से सिद्ध होता है। पद्मप्रभमलधारिदेव यतियों की प्रधानता से बहुत गहरी चर्चा प्रारंभ कर रहे हैं कि जो मोक्षमार्ग में यत्न कर रहा है, वही यति है, श्रमण है। इसीप्रकार से जो आत्मसाधना में लवलीन हैं, वे साधु हैं। प्रपंचों में मौन हैं, वे मुनि है और सिद्धान्त से 12–वें गुणस्थान में मुनि कहे जाते हैं । 12–वें गुणस्थान में 'मुनि' संज्ञा हैं, तो क्या 6–वें गुणस्थान में मुनि नहीं है ? हाँ, छठवें गुणस्थान में मुनिराज नहीं हैं, वे सब अनगारी हैं। ऋद्धिधारी मुनिराज जो होते हैं, वो ऋषि कहलाते हैं। सामान्य मुनि ऋषि नहीं कहलाते।

इति जिनपतिमार्गाद् बुद्धतत्त्वार्थजातः त्यजतु परमशेषं चेतनाचेतनं च।
भजतु परमतत्वं चिच्चमत्कारमात्रं परविरहितमन्तर्निर्विकल्पे सामाधौ।।कलश 43।।

यहाँ पर पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि जो जिनों में पति हैं, उन भगवान्–जिनेन्द्रदेव के मार्ग को जानकर, तत्त्वार्थ के समूह को जानकर, जितने पर–द्रव्य हैं, संपूर्ण द्रव्यों को चाहे, वे चेतन हो या अचेतन हो, छोड़ दो। हे योगी! एकमात्र चेतन्य–चमत्कार जो स्वभाव है, उसकी ओर तुम पुरुषार्थ करो। ऐसी परम्–समाधि में प्रवेश करो, ये परमतत्त्व है। समाधि से तात्पर्य मृत्यु नहीं लेना। समाधि यानि निर्विकल्प–ध्यान, आत्मानुभूति, निज में स्थिर होना। परद्रव्यों में जो विकल्प है, वह रागरूप है, द्वेषरूप है। आचार्यभगवन् पुनः अगले कलश में कह रहे है–

पुद्गलोऽचेतनो जीवश्चेतनश्चेति कल्पना।

साऽपि प्राथमिकानां स्यान्न स्यान्निष्पन्नयोगिनाम् ।। कलश 44।।

हे योगिन्! आपने चरणानुयोग की जितनी भूमिका सीखना थी, सीख ली है। अब सप्तम गुणस्थान में ये समझने को समय नहीं है, यहाँ अनुभव का विषय है। सप्तम गुणस्थान, ये अनुभूति का गुणस्थान है। ये गृहीत है, ये अगृहीत है, ये विकल्प भी छठवें गुणस्थान तक। ये हेय है, ये उपादेय है, छठवें गुणस्थान तक। इसके बाद कुछ नहीं है। जो निष्पन्न योगी अपने स्वभाव में लीन हैं, उनके लिये अब कथन नहीं है, अब उन्हें समझने की आवश्यकता नहीं है। प्रारंभिक दीक्षाकाल में गुरु को समझाने की चिन्ता होती है, कि बेटा! तुम ऐसा करो, ऐसा मत करो। अब तो शिष्य अपने आपमें गुरुता को प्राप्त हो चुका है। अहो! ये मुनि की दशा जो पंच–परमेष्ठी रूप है, इन्हें अब कौन समझाये? ये विश्व को समझाने की ताकत रखते हैं। इसलिये शिष्य का दायित्व है कि मेरी चिन्ता के कारण मेरे गुरु को विकल्प होते हैं तो भो ज्ञानी! तू स्वयं की समाधि को भंग कर रहा है और गुरु की समाधि को भी भंग कर रहा है। श्रेष्ठ शिष्य तो वह है कि अपने निमित्त से गुरु को कोई विकल्प उत्पन्न होने न दे। गुरु के प्रत्यक्ष में अनुशासन मानना हर शिष्य का काम हो सकता है, पर गुरु के परोक्ष में भी अनुशासन में लीन होना, ये परम–शिष्य का काम होता है। इसलिए प्रारम्भ–अवस्था में षट्आवश्यक कर्त्तव्य करें और निष्पन्न–अवस्था में कर्तव्य–स्वभाव में लीन हो जाओ।

भो ज्ञानी! योगी को कृत्य–अकृत्य के विवेक का अभाव नहीं होता है। निज में लीन योगी के हेय–उपादेय के विकल्प का अभाव होता है। निष्पन्न योगियों को 'ये जड़ है, ये चेतन है,' ये विकल्प ही नहीं है। बस, वे निज–स्वभाव में लीन हैं। ध्यान में लीन योगी को मृग पाषाण समझकर खुजली खुजा रहे हैं, परन्तु वे हिल भी नहीं रहे। गोमटेश बाहुबलीस्वामी, जिनके कानों में पक्षियों ने घोंसले बना लिये, शरीर पर सर्प, बिच्छू रेंग रहे हैं, परन्तु वे निश्चल पाषाणवत् होकर ध्यान में खड़े हैं।

दियंबरो जो ण च भीइ–जुत्तो, ण चांवरे सत्तमणो विसुद्धो।

सम्पादि–जंतुप्फुसदो ण कंपो, तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं।।गो0 थुदि6।।

हे प्रभु! आप दिगम्बर मुद्रा से युक्त हैं। सर्पादि जन्तु फुंकार मार रहे हैं, परन्तु आप कंपित नहीं हो रहे हो। अहो! निर्ग्रन्थ की दशा, जो जीने के लिये खाते हैं, खाने के लिये नहीं जी रहे । ऐसे भगवान् गोमटेश बाहुबलीस्वामी, वे झूल रहे थे

सातवें–छठवें गुणस्थान में, लेकिन जरा से विकल्प ने केवली–अवस्था को रोक दिया। ये भूमि भरत की है। अहो! तृतीयकाल के महान योगी के लिये, जरा से विकल्प ने, परम शुद्धदशा की प्राप्ति में बाधा खड़ी कर दी।

भो पंचमकाल की तुच्छ आत्मा! तेरे लिये यदि नाना विकल्प रहे, तो कहाँ शुद्धोपयोग की भूमिका बन पायेगी? इसलिये शुद्धोपयोग तो छोड़ो, गृहस्थो! आप तो ये कहो–भगवन्! शुभोपयोग कितने दिन तक टिक सकता है? स्वाध्याय करते–करते ख्याल कहीं का होता है। पूजन करते–करते भाव बनते हैं कि कहीं मेरा श्रीफल न उठा ले। और–तो–और अनुभव की बात मैं बता रहा हूँ, मुनिराज को आहार देते–देते श्रावकों के मन में आता है कि अच्छी सामग्री हम देंगे और हम अपनी आँखों से देखते हैं, कि दूसरे के हाथों से छुड़ा लेते हैं।

एक निर्ग्रन्थ योगी जंगल में तपस्या कर रहे थे और एक मास का उपवास किये थे। एक व्यापारी बंजी याने पोटली को सिर पर रखकर गाँव–गाँव में बेचने जाता था। उस श्रावक का नियम था कि जहाँ सामायिक का समय होता था, वहीं पुटलिया रखके सामायिक करने लगता था। एक दिन जंगल में मार्ग भूल गया। मार्ग खोजते–खोजते उस झाड़ी की ओर चला गया, जहाँ मुनिराज ध्यान में मग्न थे। जिनके पास शरीर मात्र परिग्रह था, वो भी जीर्ण–शीर्ण। एक माह का उपवास। उस श्रावक ने देखा और सोचता है, महाराज से कुछ नहीं कहा, मन में सोच रहा, कि प्रभो! इनकी पारणा मेरे घर में हो तो कितना अच्छा हो? परन्तु तुरन्त एक विचार आया कि मैं गरीब हूँ। जब महाराज नगर में जायेंगे, तो बड़े–बड़े सेठ खड़े मिलेंगे, तो मेरे यहाँ आहार कैसे हो सकते हैं? फिर भी सोचता है कि पुण्य की परीक्षा में क्या दिक्कत? नगर के लोगों को मालूम नहीं था कि महाराज का एक महीने का उपवास है, पर उसको मालूम हो गया था। रोज बंजी को जाये, वहीं से निकले, महाराज के पास बैठकर सामायिक करे, फिर निकल जाये। वो गिनती गिनता गया और जिस दिन पड़गाहन का दिन आया, कलश लेकर पड़गाहन करने खड़ा हो गया। पर मन में क्या चल रहा था? क्या मालूम महाराज आयेंगे कि नहीं? परन्तु भक्ति में लगा हुआ था। होनहार थी, विधि थी कि एक श्रावक कलश लिये खड़ा मिल जाय तो मैं आहारचर्य्या करूँगा। सबसे पहले वो ही श्रावक मिल गया। आप उस श्रावक की अनुभूति का वेदन करो, कितना आनंद आया होगा उस जीव को। और जैसे ही प्रदक्षिणा दी, टप–टप आँसू टपकने लगे। चौके में ले गया, नवधाभक्तिपूर्वक पूजनादि करके आहार दिये।

अचेतने पुद्गलकायकेऽस्मिन् सचेतने वा परमात्मतत्त्वे।
न रोषभावो न च रागभावो भवेदियं शुद्धदशा यतीनाम्।। कलश 45।।

आचार्यभगवन् कह रहे हैं यह यतियों की शुद्धदशा है। पुद्गल रूप अचेतन में अथवा सचेतन परमात्मतत्त्व में न द्वेषभाव है, न रागभाव है। वैराग्य तो होना चाहिये, पर द्वेषभाव नहीं होना चाहिये। मुमुक्षु भोगों में भी विरक्त ही होता है। वे योगीश्वर जिनको परमार्थतत्त्व में राग नहीं है, उनको परतत्त्व में राग कैसे हो सकता है? आत्मा–आत्मा शब्द का राग भी तुझे नरक में ले जायेगा। अतः आत्मस्वभाव में लीन हो।

भो ज्ञानी! जिसने शुभोपयोग को नहीं समझा, अशुभोपयोग को नहीं समझा, उसे शुद्धोपयोग तो पचने वाला नहीं है। ये शुद्धदशा की बात चल रही है। जिसके रोषभाव भी नहीं है, रागभाव भी नहीं है, यह यतियों की शुद्धदशा होती है। अरे भाई! जब तुझे व्यवहार–सम्यक्त्व का तो श्रद्धान उत्पन्न नहीं हो रहा है और चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोगी बनना चाह रहा है। अरे, जो तेरे पास है नहीं, उसकी चर्चा करके अपने समय को और बर्बाद कर रहा है। मान लो कि आपको हो रहा है, तो भो ज्ञानी! चिल्ला क्यों रहा है ? अनुभूति करो। देखो, वास्तविकता में जियो। जो गुणस्थान क्रम हमारे आगम में है, उस गुणस्थान क्रम से चर्या करो और यदि सम्यक्त्व भी नहीं है, तो कम–से–कम व्यवहार सम्यक्त्व पर तो दृष्टिपात करो। आठ अंगों का तो निर्दोष पालन करो। 'आत्मा' शब्द तो भैया मिथ्यादृष्टि भी कह लेता है।

भो ज्ञानी! श्रावकाचार में यह कहा है कि जो तत्त्व की बात को प्रीतिपूर्वक सुनता है, वो भक्त है। ये बात तो तुम्हारी चौथे से लेकर छठवें तक चलेगी। प्रीतिपूर्वक जो शुभ राग है, वो धर्म का कारण नहीं है। तत्त्व में प्रीति, देव, शास्त्र, गुरु में प्रीति, धर्म में प्रीति, ये शुभ राग है। चलिये आत्मवादी की ओर, उसे मिथ्या–मद है। एक एकाकी आत्मवादी दर्शन हैं। आत्मा–ही–आत्मा, आगे–पीछे कुछ नहीं है और जबकि पुद्गल में लिपटा बैठा हुआ है।

आनंद ने बुद्ध से पूछा–भंते! स्वर्ग होता है कि नहीं? मोक्ष होता है कि नहीं? वह बोले–आनंद! तुझे इससे क्या लेना देना? आपने डाँट कर बिठाल दिया, मन से शान्त नहीं किया। कहा–शांत बैठ। आत्मतत्व को समझना प्रत्येक मुमुक्षु का कर्तव्य है, नहीं–तो मुमुक्षु ही नहीं है। आत्मतत्त्व को जानने में दोष नहीं है, आत्मतत्त्व को सुनने में दोष नहीं है, शब्दात्मक आत्मा–आत्मा चिल्ला रहा है और मुख में पान, गुटका दबाये बैठा है। अरे भाई! इतनी गहरी बात करो, तो गहरा संयम भी साधो।

भो ज्ञानी! जीवन में ये ध्यान रखना, ये मोक्षमार्ग है। चिन्ता का नहीं, चिन्तन का विषय है। यदि मैं आपको सिंघई कह रहा हूँ, तो इस शब्द पर ध्यान रखना। मैंने

अध्यापक कहा, तो शब्द का ध्यान रखना। सभा में मेरा नाम लिया था महाराज जी ने, तो कम–से–कम अब थोड़ी बात समझना, सहजता की। यदि आपको नाम की लज्जा बनी रहेगी, तो हमारे धर्म की रक्षा तो हो जायेगी। क्योंकि मेरा उद्देश्य धर्म का है, तुम्हारा भी कल्याण है। देखो, कैसे? आपकी पूजा के प्रति अनास्था हो गई, छोड़ दी पूजा, तो जिनवाणी क्या कहेगी आपसे? भैया! अनास्था हो, तो भी पूजा करते रहना। बोले–क्यों ? क्योंकि तुम्हारा तो अहित है, ये सुनिश्चित है, क्योंकि तुम्हारे अन्दर अनास्था उत्पन्न हो चुकी। फिर करने से क्या फायदा? फायदा ये है कि तुम धर्म के वेश में खड़े थे। दुनियाँ 50 साल से तुम्हारे श्रद्धान में थी और तुमने आज छोड़ दिया, तो करने वाले जीव कहेंगे, भैया! देख लिया, बुजुर्गों तक के भाव ऐसे हो गये। इसलिये जबरदस्ती तुम करते रहना, छोड़ना मत। दुकान में घाटा लगे तो लग जाने देना, दुकान बेचना मत, क्योंकि जब तक दुकान रहेगी, दुकानदार कहलाते रहोगे। कभी भाग्य चेतेगा, तो फिर से वहाँ बैठ जाओगे। यदि बेच ही दिया तो अब बैठने का सवाल ही नहीं।

भो ज्ञानी! मुनिवेश में संयम की दुकान खोली है। इसमें भावों का घाटा लग गया, असंयम के भाव आ गये, कोई देख रहा था, तो वेश मत छोड़ देना। क्योंकि भाव आने–जाने में देर नहीं लगती और तुमने कहीं वेश छोड़ दिया तो भो ज्ञानी! घाटा लग जायेगा भावों में। तेरी दुकान बनी रहेगी, तो नमोस्तु शासन की लाज बनी रहेगी और कहीं तू भाव से भी गिरा और द्रव्य से भी गिर गया, तो जगत में लोक–हँसी हो जायेगी।

भो ज्ञानी! घर में तो रात्रिभोजन करो, बाहर मत करना। क्योंकि हमने कुछ ज्ञानियों के मुख से सुना है कि महाराज! जब हम प्रवचन करने जाते हैं, तो लोग हमें महाराज–सा देखने लगते हैं, जबकि हम अव्रती हैं। भैया! एक बात का ध्यान रखना, जब तुम बाहर प्रवचन करने जाते हो, तो वे श्रावक आपको बहुत श्रेष्ठ मानते हैं और उनकी श्रद्धा होती है कि हम इस विद्वान् के श्रीमुख से जिनवाणी सुनेंगे। यदि तुम्हारे मुख में पान का बीड़ा देखा, तो जो तुम्हारे मुख से श्री जिनेन्द्रवाणी सुनने के भाव थे, वे वहीं मर गये। कम से कम इतना तो ध्यान रखना अपने जीवन में, कि सदाचार रहा तो सम्यक्त्वाचार आ सकता है। सम्यक्त्वाचार है तो संयमाचार और संयमाचार है तो स्वरूपाचरण। यदि ये भूमिका नहीं बन रही है, तो सब शब्दाचार है। न सदाचरण है, न सम्यक्त्वाचरण है, न संयमाचरण है, न स्वरूपाचरण है। ये तो शब्दाचरण चल रहा है और शब्दाचरण से मोक्ष नहीं होगा। ऐसी शुद्ध दशा यतियों की होती है, किसी से राग नहीं, किसी से द्वेष नहीं, आत्मस्वभाव में हैं।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य का कथन।**

गमणणिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीवपुग्गलाणं च।
अवगहणं आयासं, जीवादीसव्वदव्वाणं।।30।।

संस्कृत छाया : **गमननिमित्तो धर्मोऽधर्मः स्थितेः जीवपुद्गलानां च।**
अवगाहनस्याकाशं जीवादिसर्वद्रव्याणाम्।।30।।

आन्वयार्थ : (जीवपुद्गलानां गमननिमित्तः) जीव और पुद्गलों के गमन का निमित्त है (धर्म) धर्मद्रव्य (च) और (स्थितेः अधर्मः) स्थिति का निमित्त अधर्मद्रव्य है, (जीवादिसर्वद्रव्याणां) जीवादि सभी द्रव्यों के (अवगाहनस्य आकाशं) अवकाशदान देने का निमित्त आकाश द्रव्य है।

भो ज्ञानियो! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द देव ने पुद्गल–अस्तिकाय द्रव्य का कथन करते हुए कहा, कि जितने अचेतन द्रव्य हैं, इन सबको जानने से, स्वीकारने से आत्मा का हित संभव नहीं है, परन्तु उनको जाने बिना भी आत्मा को नहीं जान सकते। विपरीत धर्म के होने पर ही वास्तविक धर्म का ज्ञान होता है। क्योंकि विपरीत को हेयदृष्टि और समीचीन को उपादेयदृष्टि से जानते हैं। ज्ञानी–जीव चेतन में राग नहीं करता है, अचेतन में द्वेष नहीं करता, यही यतियों की सहज दशा है। हेय को हेय तो समझो, पर हेय में द्वेष मत करो। पाप को पाप समझो, पाप का त्याग कर दो, पर पाप में भी द्वेष मत करो।

भो ज्ञानी! हेय सहजदृष्टि है, द्वेष क्रोधदृष्टि है। द्वेष में कषायवृत्ति है, हेय में सहजवृत्ति है। राग करोगे तो बन्ध है। द्वेष करोगे तो बन्ध है। मध्यस्थ हो जाओ। मध्यस्थ–सूत्र कषाय से बचने का मार्ग है, बन्ध से बचने का मार्ग है। 'छहढ़ाला' में पं. दौलतराम जी कहते हैः–

'बिन जाने ते दोष गुणन को कैसे तजिये गहिये'

दोष–गुण जानोगे नहीं, तो कैसे ग्रहण करोगे, कैसे छोड़ोगे? उपेक्षा यानि उदासीनवृत्ति। द्वेषवृत्ति नहीं, उदासीनवृत्ति। यही मध्यस्थवृत्ति है। इसलिये पाप हेय है, पुण्य हेय–उपादेय है और शुद्धदशा उपादेय है। इसलिये यहाँ कहा है कि राग नहीं करो, द्वेष नहीं करो। प्रिय में राग नहीं, अप्रिय में द्वेष नहीं। माध्यस्थ भाव से जियो। जो प्राप्त है, सहज है, और जो अप्राप्त है, सहज है। मंद उदय में औषधि काम करती है, मंद उदय में

मंत्र काम करता है। तीव्र उदय में औषधि, मंत्र काम नहीं करता है। आपका समझाना/सलाह भी कषाय की मंदता में ही काम करती है। अपनी सहजता को मत खो देना।

भो मनीषियो! 'गति धर्मास्तिकायात्' जैसे धर्मद्रव्य कहता है कि चलना चाहते तो चलो, हम तुम्हारे चलने के लिये सहयोगी हैं। परन्तु बलात् नहीं, सहज। ऐसे ही मुमुक्षु जीव कहता है, कि आप हित की बात सुनना/समझना चाहते हो, तो हम आपके लिये सहयोगी हैं, परन्तु बलात् नहीं, सहज! क्योंकि बलात् करेंगे, तो मुझे कषाय उत्पन्न होगी। आप स्वीकार नहीं करेंगे, तो कषाय होगी। हर जीव चाहता है कि ये हमारे अनुसार चलें, लेकिन वो चलेगा नहीं। नहीं चलेगा, तो आपको कषाय होगी। इसलिये माध्यस्थ भाव रखो।

धर्मद्रव्य चलाता भी नहीं है, चलता भी नहीं है। परन्तु चलते हुए जीव व पुद्गल को चलने में सहयोगी होता है। यही उदासीन–निमित्त है। ये आत्मा सिद्धशिला तक ही क्यों जाती है? क्योंकि उसके आगे धर्मद्रव्य का अभाव रहता है। इसलिये सिद्धशिला पर ही सिद्ध विराजमान होते हैं। आचार्यमहाराज गाथा 30 में धर्म, अधर्म, आकाशद्रव्य का कथन कर रहे हैं, कि जो गमन में निमित्त है, वो धर्मद्रव्य है और ठहरने में निमित्त है, वो अधर्मद्रव्य है। मात्र जीव और पुद्गल के लिये, शेष द्रव्यों के लिये नहीं है। सूर्य पुष्पों को खिलाता है, वो कमल के लिये निमित्त है, सूर्यमुखी के लिये निमित्त है, परन्तु कुमुदिनी के लिये नहीं। जिसमें खिलने की योग्यता है, उसके लिये सूर्य निमित्त है। ये सम्यक् और समीचीन निमित्त को समझना। बिना सूर्योदय के कमल खिलता नहीं, परन्तु सूर्योदय होने पर सभी पुष्प खिलें, ऐसा नहीं है। धर्म–अधर्म जो द्रव्य हैं, वो जीव–पुद्गल के लिये ही सहयोगी हैं। क्योंकि क्रियावर्ती शक्ति मात्र दो ही द्रव्यों (जीव व पुद्गल) में होती है, शेष द्रव्य निष्क्रिय हैं। क्योंकि क्षेत्र से क्षेत्रान्तर, स्थान से स्थानान्तर होने की जो योग्यता है, वो मात्र जीवद्रव्य में है। आप कहें, कि इस पेन को उठाकर मैंने रखा है। आप रखने के निमित्त तो हैं, लेकिन क्रियावर्ती शक्ति इसकी स्वयं की है। इसकी निज की योग्यता न होती, तो आप उठाकर रख नहीं सकते।

भो ज्ञानी! आपको जिनालय में आपका वाहन लेकर आया है कि आपकी क्रियावर्ती शक्ति लेकर आई है? हाँ, क्रियावर्ती शक्ति आपकी भी थी, क्रियावर्ती शक्ति पुद्गल की भी थी और दोनों शक्तियों के सहयोग में धर्मद्रव्य भी साथ में था, तब आप आये हो, ये पूर्ण सिद्धान्त है। जब आप ठहरेंगे, तो वहाँ अधर्म द्रव्य भी होगा, वहाँ आकाश द्रव्य भी होगा। कितने समय तक ठहरेंगे वहाँ, कालद्रव्य भी होगा। कौन ठहर रहा है? वहाँ जीव भी है और किसके साथ ठहर रहा है? स्वशरीरी है, पुद्गल भी है। छहों द्रव्य एकसाथ काम कर

रहे हैं और छहों द्रव्य का भोक्ता ये जीव है। आप जीवद्रव्य क्या पुद्गलद्रव्य के साथ उपकार कर सकते हो? पुद्गल ने पुद्गल का उपकार कर दिया। धर्म, अधर्म, आकाश, काल इनके साथ आपका क्या उपकार है? आपका तो मात्र ''परस्परोपग्रहो जीवानाम्'' जीव तो जीव का उपकार कर रहा है, परन्तु शेष द्रव्य इस जीव का उपकार कर रहे है।

भो ज्ञानी! अब पुद्गल की शक्ति पर दृष्टिपात करो। वेदनीय कर्म की उदीरणा से क्षुधा सताती है, वो पौद्गलिक है। पकड़ना तत्त्व को। और जो भोजन है, वो भी पुद्गल है। जिससे स्वीकार कर रहा है, वो भी पुद्गल है। जिसमें रखा जा रहा है, वो भी पुद्गल है और जो अनुभव कर रहा है, वो जीव है। वेदना शरीर में हो रही है, पर शरीर को नहीं है। वो शरीर के माध्यम से वेदनीय कर्म का बन्ध आत्मा को है।

जो बच्चों का गुब्बारा होता है, वो फूल रहा है, फिर दब रहा है, फिर पिचक रहा है। आप क्या कह रहे हो? गुब्बारा फूल गया, गुब्बारा पिचक गया। उसका संकुचन–विस्तार हो रहा है। लेकिन वास्तव में क्या हो रहा है? वायु वृद्धि को प्राप्त है, फूल गया। वायु की हानि हुई, दब गया। लेकिन दिख क्या रहा है? इसीप्रकार से इस चैतन्यआत्मा में कषायभाव जैसे होते हैं, पुद्गल का वैसा परिणमन दिखता है। पर वास्तव में ये अवस्थायें आत्मा की हो रही है। शरीर तो प्रगटीकरण का केन्द्र है। आत्मा में वेदन कर रहा आत्मा, लेकिन जान रहे शरीर से। तो उद्गम स्थान को वस्तु मान लेना अज्ञानता है। बल्व विद्युत नहीं है। बल्व के माध्यम से विद्युत का प्रकाश हो रहा है। बल्ब में विद्युत की खोज मत करना। विद्युत तो कुछ और है। ऐसे ही ये जितनी इंद्रियाँ शरीरादि हैं, ये आपकी आत्मा की विषय–कषायजन्य क्रिया को प्रकटीकरण करने का स्थान है। पर विषय–कषाय शरीर में नहीं है, ये तो आत्मा में हैं, जो कि उद्गम स्थान है। ये तो उपकरण हैं और शरीरादि प्रकटीकरण कराने के स्थान हैं, परन्तु जिसमें उत्पन्न हो रहा है, वह आत्मा है।

भो चेतन! कषाय आत्मा में है, क्षमा आत्मा में है और एकसाथ दो धर्म, एक उदय में, एक सत्ता में। यदि कषाय सत्ता में न होती, तो एक क्षण में क्रोध आता नहीं तुम्हें और क्षमा तुम्हारी सत्ता में न होती, तो तुम शांत नहीं हो सकते । परन्तु उनका योग कब बनेगा? एक समय में एक काम। अब सामर्थ्य तुम्हारी है कि हम किसकी प्रधानता रखें। शक्तियाँ दोनों तुम्हारे पास हैं। यदि क्षमा की शक्ति तीव्र है तुम्हारे पास, तो क्रोध नहीं आ सकता । अब हम अपनी विभावसत्ता को कैसे दबायें और स्वभावसत्ता को कैसे प्रकट करें? जिस लकड़ी से प्रकाश हो रहा है, उसी लकड़ी में धुआँ है। पर धूम कब होगा? प्रकाश कब होगा? जितना ईधन गीला होगा, उतना धुआँ होगा और जितना सूखा होगा,

उतना ज्यादा प्रकाश होगा। समझो, जितनी तेरे अंदर कषाय की आर्द्रता होगी, उतना कर्म का धूम बढ़ेगा। जितनी तेरी कषाय शुष्क हो जायेगी, उतना चैतन्य प्रकाश बढ़ेगा। तीर्थंकर की माँ को सोलह स्वप्नों में निर्धूम–अग्नि दिखती है, उसमें धुआँ नहीं होता है। तो ऐसी भी अग्नि होगी, जिसमें धुआँ ही न हो। जब ये राग की आर्द्रता पूर्ण क्षीण हो जायेगी, तो केवली के कैवल्य का पूर्ण प्रकाश होगा। राग, मोह का धूम्र नहीं उठेगा।

भो ज्ञानी! कषाय भी आत्मा का ही धर्म है और अकषाय भी आत्मा का धर्म है। परन्तु यह है कि अकषाय आत्मस्वभाव है और कषाय धर्म है, वो पर–नैमित्तिक है। अकषाय धर्म है, वो स्वप्रत्यय है। जहाँ गीलेपन की उपाधि होती है, वहाँ धूम्र निकलने लगता है, वो कषाय है और जब भी दुःख होगा, तो उपाधि की अवस्था में ही होगा। जब भी विभाव बनेगा, तो स्वउपाधि की अवस्था में ही बनेगा।

आचार्यमहाराज धर्म, अधर्म, आकाश इन तीन द्रव्यों का संक्षेप में कथन कर रहे हैं। धर्म–अस्तिकाय स्वयं क्रिया से रहित है, गमन से रहित है, स्वयं गतिरूप क्रिया नहीं करता। जैसे–बाबड़ी का पानी। नदी का पानी गमन करता है, पर बाबड़ी का पानी स्थिर रहता है। उसमें कोई चलना चाहे तो चले, न चलना चाहे तो न चले, पर चलने में सहयोगी तो है। पर किसी को चलायेगा नहीं और स्वयं भी नहीं चल रहा है। जब भी अयोग–केवलीभगवान् सिद्धालय में गमन करते हैं, तब धर्मद्रव्य रहता है। स्वभावगति क्रिया में हेतु धर्म है। छह प्रकार के अपकर्म से जो युक्त हैं, ऐसे संसारी जीवों की विभावगति क्रिया में हेतु छह प्रकार के अपकर्म हैं। उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, ये चार दिशायें और ऊपर, नीचे (उर्ध्व और अधो) ये छह अपकर्म हैं। जैसे पानी मछली के गमन का कारण बनता है, उसी तरह जीव/पुद्गल के गमन में जो हेतु है, वह धर्मद्रव्य है। वह अमूर्तिक है। आठ प्रकार के स्पर्श आदि से रहित है। पाँच वर्ण, पांच रस, दो गंध इनसे रहित है। अगुरु–लघुगुण जिसका आधारभूत है। धर्मद्रव्य लोकमात्र एक अखंड पदार्थ है। ऐसा नहीं है, कि यहाँ का धर्म अलग हो, वहाँ का धर्म अलग हो। जैसे तिल में तेल है, संपूर्ण अंशों में तेल है। ऐसा मत कहना कि जल में तेल है क्योंकि जल का तेल तो ऊपर–ऊपर है।

धर्मद्रव्य और अर्धमद्रव्य ये पूरे लोकाकाश में भरे हुये हैं। लोक, अलोक का विभाग करने वाला धर्म व अधर्मद्रव्य ही है। क्योंकि जहाँ तक धर्मद्रव्य है, वहाँ तक अन्य द्रव्यों का गमन है। जहाँ तक अन्य द्रव्यों का गमन है, वहाँ तक अधर्मद्रव्य है, वहाँ तक ठहरना है और अधर्म/धर्मद्रव्य है ही नहीं, वहाँ तक किसी द्रव्य का गमनागमन भी नहीं है।

भो चेतन! जिस शब्द का जिनवाणी में कथन नहीं है, उस शब्द में विवाद मत करो। जो जिनवाणी में शब्द है, वो हमें स्वीकार है। अपन लोग हठग्राही नहीं, तत्त्वग्राही हैं। हमने इतने हठ किये कि पंचमकाल में आ गये। अब भी हठ से नहीं हटना चाहते, तो पता नहीं कौन से काल की ओर यात्रा करेंगे। जिनकी अवधारणा जैसी हो, वो जाने। मुझे तो दिगम्बराचार्यों ने जैसा कहा है, स्वीकार है। उससे मुझे द्वेष भी नहीं है, पर राग भी नहीं है, माध्यस्थ भाव है। क्योंकि मुझे मालूम है कि यदि आप हठग्राहिता में जी रहे हो, तो तुम्हारी होनहार बिगड़ गई है।

गुण सहभागी होते हैं। द्रव्य किसी भी अवस्था में रहेगा, लेकिन गुण साथ में हैं। परन्तु पर्याय क्रमवर्ती होती है, बदलती रहती है। यहाँ 'क्रमबद्ध' शब्द का प्रयोग किसी भी आचार्य ने किसी भी ग्रन्थ में नहीं किया। न समयसार में, न प्रवचनसार में, न नियमसार में। यहाँ तक कि कुन्दकुन्द महाराज के किसी भी ग्रन्थ में क्रमबद्ध शब्द का प्रयोग नहीं है।

यदि कोई यह पूछे कि दुनियाँ के आडम्बर यति का धर्म है क्या? तो मैं स्पष्ट कहूँगा, बिल्कुल नहीं है। सुई की नोक के बराबर मुनि परद्रव्य का संग्रह रखता है, तो निगोद का स्वामी होता है। ये आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी के शब्द हैं। अरे भाई! सुनने में बुरा नहीं लगना चाहिये, रखने में बुरा लगना चाहिये, जिससे कि हम निगोद के स्वामी न बनें। पिच्छि, कमंडलु, जिनवाणी ये तीन उपकरण तुम्हारे आगमानुसार हैं। अन्य उपकरण भौतिक सामग्रियां जो आप जुटा देते हो, नहीं देना चाहिये। उस द्रव्य को आप देंगे, तो पाप का बन्ध आपको भी होगा। कोई साधु आपसे लेने नहीं जाता। पर आप स्वार्थी भक्त ही होते हो, जो जुटाते हो। बोले–महाराज जी! कोई तंत्रमंत्र मिल जाये। कोई हमारा कार्य सिद्ध हो जाये। कर्म वो नहीं देखता है।

भो ज्ञानी! देने की किसकी सामर्थ्य? परन्तु किसी को कषाय आ गई, भावना हुई तो अपना भी कर्तव्य बनता है, उपगूहन–स्थितिकरण तुम्हारा अंग है। अपन उनको ये कहें–भगवन्! ये आपके पद के योग्य नहीं है। हम लोगों के पास भी बहुत से लोग सामान लेकर आते रहते हैं। एक सज्जन केसियो ले आये, बोले–महाराज! रख लो। अब विचार करो, कैसे अज्ञानी लोग होते हैं। जिनके यहाँ जो सामग्री होती है, बोलते हैं, बार–बार समझाना पड़ता है कि आवश्यकता नहीं है। जहाँ पहुंचो, श्रावक वहाँ घड़ी लगा देते हैं। चतुर्थकाल में मुनिराज जंगलों में रहकर सूर्य और तारों को देख करके अपनी समय पर क्रियायें करते थे। 'धवला' जी में इसी घड़ी की चर्चा की गई है। असमय में कभी स्वाध्याय नहीं किया जाता है, असमाधि का कारण होता है। अब तो श्रावक घड़ी, जिनवाणी आदि की व्यवस्था कर देते हैं। आज का साधक यदि चाहे तो अच्छी निर्मल साधना कर सकता

है। जब तक अध्ययन चल रहा है, शास्त्र अपने पास रखो। अध्ययन पूरा हो जाये, वापस भेज दो, कितनी अच्छी व्यवस्था है।

भो ज्ञानी! आगम में एक बात लिखी है, दाता तो बनना, पर सुपात्र को सुद्रव्य ही देना। ये आचार्यभगवन् अमृतचन्द्र स्वामी ने 'पुरुषार्थसिद्धुउपाय' में लिखा है। हम जब भी साधक को कोई सामग्री दें, तो वो कैसी हो ? जिससे उनके स्वाध्याय और तप में वृद्धि हो। परन्तु जिससे उनके मूलगुण में ही आंच आये, ऐसी सामग्री आप भेंट न करें। तर्क आगम की सिद्धि के लिये दिये जाते हैं, आगम के नाश के लिये नहीं दिये जाते। हमारे तर्कों से आगम ही विखंडित हो, तो वो तर्क नहीं, कुतर्क है। आगम में कोई तर्क नहीं चलता। आगम तर्क का विषय नहीं है, आगम श्रद्धा का विषय है। नहीं तो आप प्रश्न कर दोगे कि व्यक्ति सूर्य–चंद्रमा पर पहुँच गये, आगम नहीं मानेगा।

जब एक विद्याधर आगम की बात को झूठ करना चाहता था। अष्टाह्निका पर्व में इन्द्र नंदीश्वर द्वीप में जा रहे थे। एक विद्याधर के मन में आया, कि जब ये जा सकते हैं, तो मेरे पास विद्यायें और मणि (विमान) है। वो अपनी मणि को लेकर चल दिया। जैसे ही मानुषोत्तर पर्वत की सीमा में पहुंचा, टकराकर धड़ाम से नीचे गिर गया। ये सूत्र है कि मनुष्य का गमन मानुषोत्तर पर्वत के पहले तक है, उसके आगे गमन नहीं है।

भो ज्ञानी! श्रद्धा का विषय आगम का विषय बनाना ठीक है। किस सिद्धान्त से, किस सूत्र को प्रतिपादित किया गया है, कहाँ की गाथायें, कहाँ के दृष्टान्त कहाँ लगने वाले हैं, वो आपको स्वयं भी समझना पड़ेगा। यहाँ कह रहे हैं कि जो गुण होते हैं, वो द्रव्य के सहभागी होते हैं और पर्याय होती है क्रमवर्ती, क्रमभावी, क्रमनियत। ये तीन शब्द आये हैं आगम में। चौथे शब्द 'क्रमबद्ध' का उपयोग सिद्धान्त/आगम में बिल्कुल नहीं है। क्रम से नियत है, स्वीकार है। परन्तु ऐसा नहीं कहना कि पर्याय बदल नहीं सकती है, संक्रमण नहीं हो सकता, अपकर्षण नहीं हो सकता, उत्कर्षण नहीं हो सकता। दस करणों की व्यवस्था नहीं बनेगी यदि आपने यह कह दिया कि ऐसा ही होगा। आपके लिये केवलीभगवान् ने श्रुतज्ञान की चर्चा की है।

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने पुद्गल का कथन करने के उपरान्त अजीव अधिकार में धर्म, अधर्म, आकाशद्रव्य का कथन किया। प्रत्येक द्रव्य के धर्म का कथन किया। अवगाहन देना आकाश का धर्म है। स्थिति में सहयोगी होना अधर्मद्रव्य का धर्म है और गमन में सहयोगी होना धर्मद्रव्य का धर्म है।

आचार्य श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कलश 46 में इसी का विस्तार करते हुये कह रहे हैं–

इह गमननिमित्तं यत्स्थितेः कारणं वा यदपरमखिलानां स्थानदानप्रवीणम्।
तदखिलमवलोक्य द्रव्यरूपेण सम्यक् प्रविशतु निजतत्त्वं सर्वदा भव्यलोकः।। कलश 46।।

इस लोक में अर्थात् लोकाकाश में जीव और पुद्गल के गमन में उदासीन निमित्त धर्मद्रव्य है और स्थिति में सहयोग देने वाला अधर्मद्रव्य है। सभी द्रव्यों को स्थान देने में प्रवीण आकाशद्रव्य है। इन संपूर्ण द्रव्यों का अपना–अपना निज धर्म है। यहाँ धर्म से तात्पर्य पुण्य–पाप ग्रहण नहीं करना, क्रियाकाण्ड ग्रहण नहीं करना। यहाँ धर्म का तात्पर्य है, वस्तु का स्वभाव। धर्मद्रव्य एक संज्ञा है, अधर्मद्रव्य एक संज्ञा है। इनका जो धर्म है, वो स्वभाव है।

भो ज्ञानी! समझना, साधारण धर्म और असाधारण धर्म। अचेतनत्व और अमूर्तिक ये धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन सबका साधारण धर्म है। गति का हेतु धर्मद्रव्य का असाधारण धर्म है। स्थिति का हेतु अधर्मद्रव्य का असाधारण धर्म है। अवगाहन आकाशद्रव्य का असाधारण धर्म है। वर्तना कालद्रव्य का असाधारण धर्म है। लेकिन बिना साधारण के असाधारण होता नहीं है। साधारणधर्म का तात्पर्य, जो धर्म सभी द्रव्यों में समान हो और असाधारण जो शुद्धद्रव्य में ही हो, परद्रव्य में न हो। सजातीय अपेक्षा वह असाधारण भी साधारण धर्म है। जैसे जीवद्रव्य का दर्शन–ज्ञान साधारण धर्म है, स्वजातीय अपेक्षा, क्योंकि प्रत्येक जीव में समान होता है। लेकिन पुद्गल व अन्य द्रव्यों की अपेक्षा असाधारण है। ज्ञानी! दूसरी दृष्टि से देखो, जब भी सामान्य होगा, नियम से विशेष होगा। वृक्ष वृक्षत्व की अपेक्षा से सब सामान्य है। परन्तु शीशम, सागोन आदि विशेष हो गये। मनुष्य मनुष्यत्व की अपेक्षा से सभी सामान्य हैं, परन्तु कोई दक्षिणी है, कोई उत्तरी है, ये विशेष हो गया। विशेष सामान्य से रहित कभी नहीं होगा।

जीवतत्व की अपेक्षा सिद्ध संसारी सामान्य हैं और सिद्धत्व अपेक्षा विशेष हैं। विशेषण कब लगता है? जब विशेष होगा। विशेष के अभाव में विशेषण नहीं होता है। आचार्य देवसेनस्वामी ने 'आलाप–पद्धति' में उल्लेख किया है कि सामान्य "खरविषाणवत्" अर्थात् नहीं होते हैं। इसलिये पर्याय विशेष होती है, द्रव्य सामान्य होता है। दूसरी दृष्टि से लक्ष्य द्रव्य है, लक्षण पर्याय है। जो अनेक पदाथों में से एक पदार्थ को भिन्न करता है, उसका नाम लक्षण है। ये दो प्रकार का होता है–आत्मभूत व अनात्मभूत। ज्ञान, दर्शन ये जीवद्रव्य का आत्मभूत लक्षण है। दण्डी, छतरी आदि ये अनात्मभूत लक्षण है।

भो ज्ञानी! अग्नि की उष्णता को कब पृथक् करोगे? अग्नि में उष्णता धर्म है, ये आत्मभूत लक्षण है। पुद्गल का स्पर्श, रस, गंध, वर्ण ये आत्मभूत लक्षण है। विभावपर्याय अनात्मभूत है। स्वभावपर्याय आत्मभूत है।

सिद्धभगवान् पुरुषाकार तो हैं, परन्तु अमूर्तिक हैं। रूपी पदार्थ जो है, वो मूर्तिक है और अरूपी पदार्थ अमूर्तिक है। रूपी–धर्म पुद्गल का है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण जिसमें पाये जाते हैं, वह रूपी है। अमूर्तिक इन्द्रिय का विषय नहीं है, अरूपी आत्म–विषय है। अब यहाँ समझना, कोई व्यक्ति सामायिक करने बैठे और ये कहे कि अपने को आत्मा दिख रही है, तो तू अतत्त्वग्राही है। भो ज्ञानी! जिनवाणी का अवर्णवाद मत कर। तू कह रहा है कि मुझे आत्मा दिख रही है। वो असत्य भाषण कर रहा है। उससे बड़ा झूठ बोलनेवाला लोक में शायद कोई हो।

कुन्दकुन्द देव ने आत्मा का स्वरूप भिन्न कहा है। जो रूपी होता है, वह चाक्षुष होता है। आत्मा दिखने–दिखाने का विषय नहीं है। आत्मा अनुभवन का विषय है। आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द देव कह रहे हैं कि आत्मा अरस है, अरूप है, अगंध है, अवक्तव्य है, अलिंग है।

भो चेतन! तूने पुद्गल की छाया को देखा होगा। पुदग्ल के आकार को देखा होगा। इस विषय को समझना। यदि जीव के वास्तव में निर्मल/विशुद्ध परिणाम बन रहे हैं, तो आप ध्यान करने बैठना। आपके सामने कालिमा दिखेगी सबसे पहले। जितने परिणाम कलुषित होंगे, तो आपको महसूस होगा कालापन। उसी ध्यान की श्रृंखला में यदि वास्तव में ध्यान लग रहा है, तो ये महसूस होता है कि हमारे सामने एक सफेद आकार झलक रहा है, उड़ता दिखता है। उस शरीर की तरंगों को, शारीरिक वर्गणाओं को लेश्या ही मानना। लेश्या अवस्था को जीव ने आत्मा समझ लिया, वो आभामंडल था। तीर्थंकर की प्रतिमा के पीछे भामंडल बना होता है। जो लेश्या है, गुणस्थान है, वह सब मूर्तिक है।

वण्ण रस पंच गंधा, दो फासा अट्ठणिच्छया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारामुत्ति बंधादो।।द्रव्य सं. 7।।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि निश्चय से जीव के नहीं होते हैं; इसलिये अमूर्तिक, परन्तु बन्ध की अपेक्षा से जीव मूर्तिक है। यदि मूर्तिक नहीं स्वीकारोगे संसारिक अवस्था में, तो शुद्ध अवस्था में अमूर्तिक भी घटित नहीं होगा। ध्यान रखना, शुद्धद्रव्य की शुद्ध पर्याय होती है। शुद्धद्रव्य में कभी अशुद्धपर्याय नहीं होती है। अशुद्धद्रव्य में शुद्धपर्याय नहीं होती है। जब तक पुद्गल–परमाणु अवस्था में है, तब तक उस पुद्गल में ही शुद्धगुण, शुद्धपर्याय ही रहेगी और जिस दिन द्विअणु भी हो जायेगा, उसी क्षण विभावपर्याय, विभाव सब हो जायेगा।

भो ज्ञानी! जीव शुद्ध होने पर पुनः अशुद्ध नहीं होता है। पुद्गल शुद्ध होने पर भी अशुद्ध हो जाता है। द्रव्य/तत्त्व वस्तु के अन्दर है। द्रव्य परिणमनशील है और उस द्रव्य के परिणमन का नाम ही पर्याय है। अभी तक अपन द्रव्यदृष्टि को पकड़े रहे और पकड़ना

भी चाहिये, पर पर्याय को छोड़कर नहीं। आचार्य समन्तभद्र स्वामी 'स्वयंभू स्तोत्र' में सुमतिनाथ स्वामी की स्तुति करते हुए कह रहे हैं–

नैवासतो जन्म सतो न नाशो, दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति।। वृ.स्व.स्तो 24।।

प्रभो! असत् का उत्पाद नहीं होता और सत् का विनाश नहीं होता। विश्व में जितने द्रव्य हैं, वे त्रैकालिक हैं।

जिनसेन स्वामी ने महापुराण में लिखा है कि धर्म सनातन होता है। सनातन का तात्पर्य अनादि, अनिधन है। जो जीव मनुष्य है, आँखों से दिख रहा है, सत् है। मनुष्य पर्याय का विनाश होते दिखी, तो सत् का विनाष हुआ है और देव बन गया। यहाँ भी देवत्व उसके पास था। पर्यायदृष्टि से सत् का विनाश भी होता है, असत् का उत्पाद भी होता है। द्रव्यदृष्टि से ध्रौव्य जो मनुष्य है, वही देव बना है, इसलिये सत् का विनाश नहीं हुआ, असत् का उत्पाद नहीं हुआ। ये दोनों दृष्टियाँ सत्य हैं।

ज्ञानी! जब द्रव्य बदलेगा, नियम से गुण बदलेंगे। गुण बदलेंगे, तो पर्याय बदलेगी और तीनों एकसाथ बदलेंगे। गुण, पर्याय ही बदलती है। परिणमन का नाम ही बदलना है, इसी का नाम पर्याय है। गुणत्व सदा विद्यमान है। भूल यहाँ हो रही है कि हम पर्याय के बदलाव को तो मान रहे हैं, पर हम द्रव्य में बदलाव को नहीं देख रहे हैं। बिना द्रव्य के बदलाव के पर्याय बनेगी कैसे?

एक भैया ने मिट्टी का लौंदा लिया। वो मिट्टी की पर्याय इसमें लौंदे के रूप में है। द्रव्य क्या है? मिट्टी है। जब ये घट बनेगा, तो परिणमन किसमें– किसमें होगा? मिट्टी में परिणमन होगा। आप ये बताओ, ये घड़ा लौंदा–पर्याय बना हैं? मिट्टी द्रव्य बना है? समझना, मिट्टी द्रव्य में परिणमन न हुआ होता तो लौंदे की पर्याय मिटकर घड़ा कैसे बनता? जब लौंदे पर्याय का नाश हुआ, तब मिट्टी घट के आकार में परिणत हुई। अब आपने उसको अग्नि में डाल दिया, तो रंग भी बदल गया, पर्याय में भी परिणमन हो गया और द्रव्य जो कोमल था, कठोर हो गया। लेकिन द्रव्य वही है, मिट्टी वही है। मिट्टी मिटी, फिर भी नहीं मिटी, उसका नाम मिट्टी है। मिट्टी के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण जो धर्म हैं, उनमें भी परिणमन हुआ है। इसप्रकार से जिसे आप पर्याय का बदलना कह रहे हो, जिनवाणी उसे गुण का बदलना भी कह रही है। इसलिये जब ये जीवद्रव्य संसार से मोक्ष की ओर जायेगा, तब इसकी पर्याय भी बदलेगी, गुण भी बदलेगा।

केवली का ज्ञान ''दर्पण–तल इव सकला'' दर्पण के समान है। जीव वहाँ होगा तो जीव ही झलकेगा, वहाँ अजीव नहीं झलकेगा। भो ज्ञानी! पर्याय का बदलना ही तो

परिणमन है। अपने आपको सिद्ध मानता रहा जीव, तो सिद्ध नहीं बन पायेगा। 'परमात्म–प्रकाश' में आचार्य योगीन्दुदेव ने स्पष्ट कथन किया है कि निगोद अवस्था में शुद्धसत्ता तो है, पर सिद्धभगवान् नहीं है और न अनुभूति है। वो संज्ञी भी नहीं है। असंज्ञी जीव जब इंद्रिय–सुखों की अनुभूति नहीं कर पा रहा, तो अतीन्द्रिय सुख की क्या अनुभूति करेगा? इसलिये आप इस बात को स्वीकार कर लो, आगम की बात है कि द्रव्यदृष्टि से पुद्गल भी शुद्ध है और जीव भी शुद्ध है। परन्तु पर्यायदृष्टि से नहीं। यहाँ पर्यायदृष्टि का तात्पर्य द्रव्य गुण पर्याय है। ध्रौव्यत्व में भूल हो जाती है। लोग यह समझते हैं कि बिना बदले ध्रौव्य सत्य रहता है। आप इस सूत्र को ऐसा कहो–जिसमें उत्पाद होता है, जिसमें व्यय होता है, उसका नाम ध्रौव्य है। अब सब झंझट समाप्त हो जायेगी। ध्रौव्यत्व त्रैकालिक विद्यमान रहता है, परन्तु वो परिणमन ध्रौव्य में हो रहा है।

आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ में चेतना के तीन भाग किये–ज्ञानचेतना, कर्मचेतना, कर्मफल चेतना। सिद्धों की चेतना और निगोदिया की चेतना, चेतनत्व की अपेक्षा से एक है, पर चेतना एक नहीं है। एक की शुद्ध चेतना है और दूसरे की अशुद्ध। इसी विषय को तुम द्रव्यानुयोग की भाषा में बोलो। करणानुयोग की भाषा अलग कहेगी, पर द्रव्य वही होगा। करणानुयोग ज्ञानी कहेगा–तू श्रेणी के सम्मुख है, अप्रमत्त दशा में लीन है, तो ज्ञानी है। चरणानुयोग से पूछो–ज्ञानी कौन है? जो 28 मूलगुणों का निरतिचार पालन करे, वो ज्ञानी है। प्रथमानुयोग से और पूछ लो–ज्ञानी कौन? जो निर्वस्त्र, निर्ग्रन्थ, पिच्छिका–कमंडलु से युक्त हो, तो ज्ञानी। द्रव्यानुयोग से ज्ञानी कौन है? तो द्रव्यानुयोग कहेगा– जिसने अंतरंग, बहिरंग क्रिया का निरोध कर दिया, निर्विकल्प स्वात्मानुभव में लीन है, ऐसा जीव ही ज्ञानी है। वही सम्यक्चारित्र है। पर विषय क्या है? आगम की भाषा बदली है, पर आगम का भाव नहीं बदला है। ये आत्मा की सिद्धभूमि है, ये आत्मा ही सिद्धशिला है और ये आत्मा ही संसारशिला है। जो कहा जा रहा है, वो व्यवहार है। इसी में होते रहते हैं विवाद।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव पूरी कथा को अपनी व्यथा में ले जाते हैं। पूरा कथन कर दिया, अंत में बोले कि सब समझ लो, जान लो, फिर सुना, कि वो तुम्हारा स्वभाव नहीं है। कितनी सहजता में कह रहे है। ठीक है, गमन कराना है तो कराने दो, ठहराना है तो ठहराने दो, स्थान दे रहा है तो देने दो। उसमें अपना क्या सिद्ध हो रहा? अतः इन सभी को द्रव्यरूप से, सम्यक् प्रकार से देख जान करके, अपने आत्मतत्त्व में प्रवेश करो। अपने आत्मस्वरूप का अवलोकन करो।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **व्यवहार के स्वरूप का और उसके अनेक भेदों का कथन।**

समयावलि भेदेण दु, दुवियप्पं अहव होइ तिवियप्पं।
तीदो संखेज्जावलिहद सिद्धाणंप्पमाणं तु।।31।।

संस्कृत छाया : **समयावलिभेदेन तु द्विविकल्पोऽथवा भवति त्रिविकल्पः।**
अतीतः संख्यातावलिहतसंस्थानप्रमाणस्तु।।31।।

अन्वयार्थ : (समयावलि भेदेन तु द्विविकल्पः) समय और आवलि के भेद से काल दो प्रकार का है (अथवा त्रिविकल्पः भवति) अथवा त्रिभेद वाला–भूत, भविष्यत्, वर्तमान भेदवाला होता है। (अतीतः) भूतकाल (संख्यातावलिहतसंस्थान–प्रमाणस्तु) संख्यात आवलि से गुणित संस्थान प्रमाण है।

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य का कथन किया, अब कालद्रव्य का कथन कर रहे हैं। काल जो है, निश्चय व व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है। घड़ी, घंटा आदि ये व्यवहारकाल है और वर्तना जिसका लक्षण है, वो निश्चयकाल है। निश्चयकाल को परमार्थकाल कहते हैं और व्यवहारकाल को व्यवहारकाल कहते हैं।

द्रव्यों का परिणमन स्वयं की योग्यता से होता है। उस योग्यता के लिये परिणमाने में कारण कालद्रव्य होता है। बिना कालद्रव्य के ये ज्ञात नहीं होता कि ये अमुक द्रव्य इतना पुराना है या इतना नया है। इन सबका ज्ञान करानेवाला काल द्रव्य है। निगोद अवस्था से निकलकर 2000 सागरोपम त्रसपर्याय का काल मिला है। यदि इसमें नहीं चेत पाये, तो भो ज्ञानी! पुनः निगोद के लिये ही जाना पड़ेगा। ये सिद्धान्त का नियम है कि 2000 सागरोपम–काल के बाद नियम से निगोद जाना ही होगा।

भो ज्ञानी! आपने कितनी उत्कृष्ठ साधना की होगी त्रस पर्याय में, कि आप संज्ञी पंचेद्रिय मनुष्य बने बैठे हो और जागृत हो, कर्मभूमि में हो, देव–शास्त्र–गुरु के चरणों में हो, इससे बड़ा और क्या पुरुषार्थ? सबकुछ तुमको प्राप्त हो चुका है। यदि आपने अब पुरुषार्थ में कमी की, तो ये आत्मा पुनः निगोद चली जायेगी। सम्यक्पुरुषार्थ आप इस पर्याय में कर सकते हैं। कालद्रव्य आपसे कह रहा है कि मुझे पहिचानो, काल को समझो और काल समझ में आ गया, तो कार्य भी समझ में आ जायेगा। काल के अभाव में न कार्य

हुआ, न होगा। जब भी कार्य की सिद्धि होगी, पुरुषार्थ से होगी। परन्तु होगी तभी, जब काल तुम्हारा साथ देगा। काललब्धि के अभाव में किसी भी कार्य की सिद्धि न कभी हुई है, न होगी।

भो ज्ञानी! कालाश्रित नहीं बैठना। पुरुषार्थ करो, पर कार्य तो काल पर ही होगा। ये अज्ञानियों का कथन है, कि जब काललब्धि आयेगी तब कार्य हो जायेगा। जो पुरुषार्थ नहीं करता, उसके लिये काललब्धि कभी नहीं आयेगी। पुरुषार्थ करोगे, तभी काललब्धि आयेगी। जीव स्वयं की भूल को सुधारता नहीं और सिद्धान्त को दोष देने लगता है कि काललब्धि पर कार्य होगा। कितना ही गंभीर पुरुषार्थ कर लेगा, परन्तु फल तो काललब्धि पर ही प्राप्त होगा। इस सिद्धान्त को कोई मेट नहीं सकता।

ज्ञानी! कूकर में आप भोजन पकाने रख देते हो, अग्नि जला देते हो, सामग्री रख देते हो, एकसाथ सब क्रिया प्रारंभ हो चुकी है। अब बताओ, भोजन कब पकेगा? पुरुषार्थ किया, पर पुरुषार्थ करते ही कार्यसिद्धि नहीं होती । कर्म जड़ है। जड़कर्म भी कहता है, कि मैं भी काल लूँगा। जब कूकर की सीटी बजती है, तो तुम समझ जाते हो।

यदि आपने पकने में ठुर्रा मूँग डाल दी है, तो नहीं पकेगी। योग्य, काललब्धि भी चाहिये और निमित्त भी योग्य चाहिये। भो ज्ञानी! जब तक पाँचो समवाय सामने नहीं होगे, तब तक कार्यसिद्धि नहीं होगी। आपके हाथ में पुरुषार्थ है और पुरुषार्थ ही शेष की प्राप्ति करा देगा। जिस तरह फसल के पकने में समय लगता है। सिद्धान्त इसको कहेगा, अबाधाकाल । बिना अबाधाकाल के कोई कर्म फल को प्रदान नहीं करता। प्रत्येक कर्म की अबाधा होती है।

अबाधा के बीच में व्यक्ति भूल कर लेता है। पुण्य का प्रबल–काल चल रहा था। जितना पाप करता चला जा रहा था, उतना और तुझे वैभव मिलता जा रहा था। एक अज्ञानी पूजा–पाठ कर रहा था, पर कुछ प्राप्त नहीं हो रहा था। वह सोचता है, कि इन क्रियाओं से क्या फायदा? मुझे पूजा करते–करते जीवन बीत गया। अब पूजा छोड़ दी, उसने अपना बिगाड़ कर लिया। उसका अबाधाकाल चल रहा था पुण्य के पकने का और जो पुण्य को भोग रहा था, उसका अबाधाकाल चल रहा था पाप को पकने को। दोनों अबाधाकाल में भूल कर रहे थे। अबाधाकाल में पाप कर रहा था, परन्तु फलीभूत हो रहा था पूर्व का रखा हुआ पुण्य । उस बीच में भूल कर गया। देख लिया कि कुछ नहीं होता है। पर जैसे ही अबाधाकाल पूरा हुआ कि कुछ दिन में क्या से क्या हो गया। अब बिलखता है कि हाय, ये क्या हो गया?

भो ज्ञानी! कर्म की तीव्रता में अच्छे परिणाम नहीं बनते । जब कर्म का तीव्र विपाक आता है, वहाँ वर्तमान का पुरुषार्थ कार्यकारी नहीं होता है। ये तेरी भवितव्यता है। भवितव्यता भी पुरुषार्थ है। एक सेठानी मुनिराज के चरणों में रविव्रत लेकर आई और सेठजी से कहा–मैंने आज सुकृत किया है। सेठ वैभव के अहम् में बोला– ''व्रत वे करें, जो घास खोद सिर पे धरें''। उसको अबाधा नहीं दिख रही है, मात्र वैभव दिख रहा था। परिणाम क्या निकला? 56 करोड़ दीनार का स्वामी, ऐसी आग लगी घर में, देखते–देखते कुछ भी नहीं बचा। कहाँ गई विभूति ? अब व्रत करें, कि नहीं? अब घास खोदने का समय आ गया। लड़कों को काम करने भेजा तो घास खोदने का काम मिला। इधर सेठ–सेठानी मुनिराज के पास गये। कि भगवन्! ये सब क्या हुआ? हुआ कुछ नहीं है, व्रत की अवहेलना का परिणाम है कि ऐसा आस्रव हुआ है। फिर से व्रत प्रारंभ कर दो। पुनः आराधना किये, तो समय बदला। रविव्रत कथा में लिखा है कि उनने रविव्रत विधान कराया, ज्योनार कराई, जिसमें 80 मन मिर्च का उपयोग हुआ।

भो ज्ञानी! काललब्धि तो काललब्धि है, पर अन्तराल को मत भूल जाना। काललब्धि के बीच के काल में संभलने की आवश्यकता है। इस काल में संभल गये, तो काललब्धि अच्छी है और नहीं संभले तो काललब्धि बुरी है। वास्तव में काललब्धि न अच्छी है, न बुरी है। ये तो तुम्हारी कार्यप्रणाली है। कार्यप्रणाली अच्छी है, तो काललब्धि निश्चित अच्छी है। कार्यप्रणाली बुरी है, तो निश्चित काललब्धि आपकी बुरी है। काललब्धि को दोष मत दो, अपनी कार्यप्रणाली को बदलो।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं; कि व्यवहारकाल समय व आवलि के भेद से दो प्रकार का है। काल की सबसे सूक्ष्म इकाई समय है। भूत, भविष्य और वर्तमान के भेद से काल तीन प्रकार का है। एक निमिष अर्थात् पलक झपकने का काल। जितने में आपकी एक बार पलक झपकी, उसमें असंख्यात समय हो गये। एक समय में सिद्धों के अनंत भाग और अभव्य–सिद्धों के अनन्त–गुणे कर्म का बन्ध होता है।

जब तक अविपाक निर्जरा नहीं होगी, तबतक मोक्ष की सिद्धि नहीं होगी। समय पर आ रहे हैं, खिर रहे हैं, चल रहा काम, तो सब विपाक है। इसलिये जिनवाणी कहेगी, तुम भवितव्यता पर मत बैठो, पुरुषार्थ करो। अविपाक–निर्जरा भवितव्यता नहीं बुलायेगी, अविपाकनिर्जरा को तेरा पुरुषार्थ बुलायेगा। ''तपसा निर्जरा च'' बिना तप के निर्जरा नहीं है। बिना भट्टी में डाले स्वर्णपाषाण से सोना नहीं निकलता। ज्ञानी! कर्म तो किट्टिमा है, ध्यान अग्नि है। तपों में सबसे उत्कृष्ट कोई तप है, तो ध्यान है। बहिरंग में जितनी तपस्या

की जा रही है, ये सब ध्यान में प्रवेश करने के माध्यम हैं।

''स्वाध्यायः परम तपः'' चित्त की स्थिरता के लिये स्वाध्याय परम तप कहा है। परन्तु जिसने ध्यान की सिद्धि कर ली है, उसको स्वाध्याय का विकल्प नहीं करना चाहिये। अंतिम साधना और शुद्धोपयोग में बैठा जीव, वो कहे कि हमें जिनवाणी लाकर दो, हमें स्वाध्याय करना है तो नहीं, नहीं, आपका तो ध्यान ही स्वाध्याय है, ध्यान ही सामायिक है, ध्यान ही प्रतिक्रमण है, वही प्रत्याख्यान है। भगवन् कुन्दकुन्द देव 'समयसार' जी में लिखते हैं–

आदा खु मज्झ णाणं, आदा मे दंसणं चरित्तं च।

आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो।। स.सार 227।।

जो निजतत्त्व के ध्यान में लवलीन है, वहाँ कह रहे हैं कि आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही प्रत्याख्यान है, आत्मा ही चारित्र है, आत्मा ही दर्शन है, आत्मा ही संवर है, आत्मा ही योग है, ये परमशुद्ध निश्चयनय में लीन योगी की दशा है। कर्म से मुक्त होना चाहते हो, तो इसी में प्रवेश करना पड़ेगा। यदि समीचीनरूप से मुनि आत्मभावना में आचरण कर रहा है, तो वह शीघ्र ही दुःखों से मुक्त हो जायेगा और जबतक आत्मभावना नहीं है, तबतक शीघ्र दुःख से मुक्ति नहीं मिलेगी।

भो ज्ञानी! अध्यात्म जो है, जानने के लिये सभी का विषय हो सकता है, पर अनुभूति तो योगी का ही विषय है। अतः ध्यान का अभ्यास साधक को करना ही चाहिये, क्योंकि पूरी साधना इस ध्यान पर टिकी हुई है। आप जो ध्यान करेंगे– पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत जो ध्यान की अवस्था बनेगी, वो योगी–गम्य होगी। विशेषध्यान में गुरु का उपदेश अनिवार्य है। गुरु उपदेश के अभाव में अनर्थ भी हो सकता है। ध्यान जो है, चित्त की एकाग्रता का नाम है। जबतक चित्त में विकल्प है, तबतक चिन्तवन है, अनुप्रेक्षा है। योगी जब भी ध्यान में बैठेगा तोः–

मा चिट्ठह मा जंपह, मा चिन्तह किंचि जेण होई थिरो।

अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं।। वृ.द्र.सं. 56।।

कोई चेष्टा मत करो, कोई चिन्तवन मत करो, कोई जल्प मत करो, जाप भी मत करो। क्योंकि जाप तो जाप है, ध्यान तो ध्यान है। ध्यान जाप नहीं है, जाप में ध्यान नहीं है। आचार्य अकलंकदेव ने 'राजवार्तिक' ग्रन्थ में स्पष्ट कहा है कि जाप में विकल्प है और ध्यान स्थिरता का नाम है। ध्यान स्वोपयोग की क्रिया है, उस क्रिया में चित्त की जो निवृत्ति है, स्थिरता है, उसका नाम ध्यान है।

भो ज्ञानी! पहले सामग्री तो इकट्ठी करो। जब सामग्री होगी ध्यान के योग्य, तो घ्यान होगा। गृहस्थ अपेक्षा सविकल्प धर्म्यध्यान चतुर्थगुणस्थान से प्रारंभ हो जाता है छठवें गुणस्थान तक। सामग्री बुद्धिपूर्वक, पुरुषार्थपूर्वक इकट्ठी करेगा। पहली सामग्री परिग्रह का त्याग, दूसरी सामग्री कषायों का निग्रह, तीसरी सामग्री मन की स्थिरता और चौथी इंद्रियों पर विजय और व्रतों का धारण पांचवी सामग्री है। यदि व्रत नहीं है, तो अव्रती के ध्यान नहीं होता। सभी अध्यात्म–ग्रन्थों में 'योगी' कहा गया है। योगी से तात्पर्य दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनि ही योगी है। जो योग ध्यान कराते हैं, उन योगी को मत समझ लेना।

सविकल्प धर्म्यध्यान गृहस्थों का होता है। ध्यानी का भोजन अल्प, आहार अल्प होता है, निहार अल्प होता है। शारीरिक जो बाधायें बार–बार सताती हैं, यदि ध्यान करो, तो दुनियाँ की औषधि समाप्त। क्यों? जिस ध्यान के तेज से कर्म झुलस रहे हैं, तो ये नोकर्म क्यों नहीं झुलसेंगे? किसी के मन में कामविकार सता रहे हों, चिंतवन प्रारंभ हो जाता है, शरीर की धातु क्षीण हो जाती है। कोई चेष्ठा नहीं है, ये ध्यान चल रहा है। एक कामी को कामिनी के चिन्तन मात्र से, उसके शरीर की धातु क्षीण हो रही है। ऐसे योगी को, निज के चिंतनमात्र से योगविद्या की सिद्धि होकरके, सिद्धत्व की ओर ले जा रही है।

लोग गलत कहते हैं कि आज ध्यान नहीं होता। आपने समय और वीर्य– अंतराय के क्षयोपशम को ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम में लगा दिया और कार्य हल कर लिया। योगी उसी शक्ति को परमेष्ठी और निज की ओर ले जाता है। संपूर्ण साधनाओं में मुख्यसाधना कोई है, तो वो ध्यान है। हे प्रभु! आपने बहिरंग साधना की है, वो अंतरंग–ध्यानसिद्धि के लिये है।

ग्रन्थराज 'पुरुषार्थसद्धुपाय' में मुनियों की वृत्ति को अलौकिक–वृत्ति लिखा है। जो कर्मविधाचार से रहित है, यानि पापाचार से रहित है, ऐसे योगी की वृत्ति को अलौकिक कहा है। काललब्धि को हऊआ मत बनाओ। बिना काललब्धि के कोई भी कार्य न हुआ है, न होगा। परन्तु बिना पुरुषार्थ के काललब्धि न कभी आई है, न आयेगी।

आचार्य इंद्रनंदीस्वामी ने 'नीतिसार' में लिखा है कि नोट है, वो भी कागज है, पर मुद्रा लगी है। पिच्छि, कमंडलु, निर्ग्रन्थवेष ये अरहन्तदेव/जिनेन्द्र देव की मुद्रा है। ये जिनमुद्रा है और जिनमुद्रा के नियमों का पालन कर रहे हो, इसलिये हम आपकी बात मान रहे हैं। पर प्रमाणित छदम्स्थ की वाणी नहीं है, प्रमाणित तो केवली की वाणी है। जिनागम में सर्वज्ञ की वाणी को प्रमाणित कहा जाता है। व्यक्ति के अनुभव प्रमाण नहीं माने जाते । आगम के अनुसार तुम्हारा अनुभव है, तो स्वीकार है।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **मुख्यकाल के स्वरूप का कथन, कालादि शुद्ध अमूर्तिक अचेतन द्रव्यों का कथन, कालद्रव्य को छोड़कर पूर्वोक्त द्रव्य ही पंचास्तिकाय होते हैं।**

जीवादु पुग्गलादोऽणंतगुणा चावि संपदी समया।
लोयायासे संति य, परमट्ठो सो हवे कालो।।32।।
जीवादीदव्वाणं, परिवट्टणकारणं हवे कालो।
धम्मादिचउण्णाणं, सहावगुणपज्जया होंति।।33।।
एदे छद्दव्वाणि य, कालं मोत्तूण अत्थिकाया त्ति।
णिद्दिट्ठा जिणसमये, काया हु बहुप्पदेसत्तं।।34।।

संस्कृत छाया : **जीवात् पुद्गलतोनंतगुणाश्चापि संप्रति समयाः।**
लोकाकाशे संति च परमार्थः स भवेत्कालः।।32।।
जीवादिद्रव्याणां परिवर्तनकारणंभवेत्कालः।
धर्मादि चतुर्णां स्वभावगुणपर्याया भवन्ति।।33।।
एतानि षड्द्रव्याणि च कालं मुक्त्वास्तिकाया इति।
निर्दिष्टा जिनसमये कायाः खलु बहुप्रदेशत्वम्।।34।।

अन्वयार्थ : (सम्प्रति) अब (जीवात् पुद्गलतः च अपि) जीव और पुद्गल से भी (अनन्तगुणाः समयाः) अनन्तगुणे समय होते हैं (लोकाकाशे च संति) और लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर जो विद्यमान है (सः परमार्थः कालः भवेत्) वह परमार्थकाल होता है।

(जीवादि द्रव्याणां) जीव आदि द्रव्यों में (परिवर्तन कारणं) परिवर्तन का कारण (कालः भवेत्) कालद्रव्य होता है। (धर्मादि चतुर्णां) धर्म, अधर्म, आकाष और काल इन चारों में (स्वभावगुणपर्यायाः भवंति) स्वभावगुण और पर्यायें होती है।

(एतानि षट् द्रव्याणि च) ये छहों द्रव्य (कालं मुक्त्वा) कालद्रव्य को छोड़कर (अस्तिकायाः) अस्तिकाय (इति जिनसमये निर्दिष्टा) इसप्रकार से जिनशासन में कहे गये हैं (बहुप्रदेषत्वं खलु कायाः) क्योंकि निष्चित रूप से बहुप्रदेषी को 'काय' यह संज्ञा प्राप्त है।

भव्य बन्धुओ! कालद्रव्य की चर्चा करते हुए भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने संकेत दिया कि यदि कालद्रव्य नहीं होगा, तो परिणमन नहीं होगा और द्रव्य कूटस्थ हो जायेगा। तो संसारकी/मोक्षकी व्यवस्था ही भंग हो जायेगी। फिर अनाचार–अत्याचार की कोई सीमा ही नहीं बचेगी। यदि ये सिद्धान्त अंदर में बैठ गया कि प्रत्येक द्रव्य अपरिणामी है और परिणामी भाव को नहीं माना तथा मैं त्रैकालिक शुद्ध हूँ, ऐसा मान कर बैठ गया, तो फिर स्वछन्दता की सीमा नहीं होगी। यदि कालद्रव्य नहीं होगा, तो द्रव्य का परिणमन नहीं होगा। क्योंकि वर्तना लक्षण (परिणमन करना) ये कालद्रव्य का निजधर्म है। कील चलती नहीं है, पर कील के बिना चक्की चलती नहीं है। पाटा कील पर चल रहा है। कुंभकार चके को चला रहा है, चल रहा है चका, ये सब दिख रहा है। पर जिस पर चका चल रहा है, वो तू नहीं देख रहा है। उसका नाम है कील/धुरी। तो चका चला किस पर? इसका नाम है परमार्थकाल, निश्चयकाल और घड़ी, घंटा आदि ये व्यवहारकाल है। उस व्यवहारकाल का कारण निश्चयकाल है।

प्रश्न है कि परिणमन द्रव्य का धर्म है कि पर्याय का धर्म है? भो चेतन! एक समय में दोनों काम हो रहे हैं, कि नहीं? उत्पाद भी हो रहा है और व्यय भी हो रहा है और कूटस्थ भी बैठा हुआ है। द्रव्य के परिणमन का नाम ही पर्याय है और परिणमनशीलता द्रव्य का धर्म है। परिणमन में सहकारी कालद्रव्य है। जब पर्याय की दृष्टि से कथन करते हैं, वहाँ द्रव्य की प्रधानता रखते हैं। द्रव्य ध्रुव है, पर्याय बदल रही है। ये द्रव्य ध्रुव की प्रधानता से कथन है। उस द्रव्य के परिणमन धर्म को जानने के लिये हम पर्याय शब्द का उपयोग करते हैं। प्रतिक्षण षट्गुण हानि–वृद्धिरूप अर्थपर्याय का परिणमन, ये द्रव्य का ही होता है। अथवा ऐसा कहो कि द्रव्य में ही हो रहा है, पर हम समझेंगे पर्याय से। इसलिये कभी यह मत कह बैठना कि द्रव्य में परिणमन नहीं है।

कालद्रव्य की चर्चा कुन्दकुन्द महाराज ने 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ में की है। ये ध्यान रखना कि कुछ जीव ऐसा मान लें कि पर्याय तो घूम रही है और द्रव्य शान्त बैठा है, जैसे चक्की का ऊपर का पाटा घूम रहा है और नीचे का पाटा शान्त बैठा है। ज्ञानी कह रहा है कि पर्याय तो बदल रही है, द्रव्य कूटस्थ है। इससे सिद्ध हो रहा है कि पर्याय तो द्रव्य से भिन्न है और द्रव्य भी पर्याय से भिन्न है, पर ऐसा नहीं है, जैसे मटकी में मथानी। आप ये बताओ, वो नीचे की सतह घूम रही है, कि ऊपर की घूम रही है? ये चक्की का पाटा नहीं है, ये मटकी में घूमने वाली मथानी है। ये मथानी बीच से घुमाई जाती है। रस्सी कहाँ बंधी होती है, परन्तु घुमाती है पूरी।

अब दूसरी दृष्टि देखो। लोहे का एक सरिया आपने अग्नि में डाल दिया, बहुत बड़ा उसका एक हिस्सा अग्नि में है। आप ये बताइये, उसका शेष हिस्सा कितना गर्म है? जितना अग्नि में है, उतना तो गर्म है? ऊपर तो पकड़ सकते हो आराम से। भो ज्ञानी! जैसे कि एक हिस्सा नीचे पड़ा होने पर भी सर्वांग में गर्म है, ऐसे ही पर्याय को आप परिणमनशील मत कहना, द्रव्य को कूटस्थ नहीं कहना, उसका परिणमन सर्वांग में है।

भो ज्ञानी! दूसरा दृष्टान्त, एक जीव ने स्पर्शन इंद्रिय का भोग भोगा। वह स्पर्श तो मात्र एक अंश से किया गया था। परन्तु रोमाँचित कहाँ तक हुआ है? जयसेन महाराज का 'पंचास्तिकाय' का एक दृष्टान्त, कि एक इंद्रिय का विषय एक अंश से भोगा, परन्तु रोमाँचित सर्वांग में हो रहा है। इसीप्रकार से द्रव्य का परिणमन, पटल विशेष पर नहीं संपूर्ण पटलों में हो रहा है।

भो ज्ञानी! जो दृष्टान्त दिये हैं, वो इसलिये दिये हैं कि लोकाकाश में तो परिणमन हो रहा है, पर अलोकाकाश में परिणमन कैसे होगा? वहाँ तो कालद्रव्य है ही नहीं। परिणमन वहाँ पर भी है। वो यही दृष्टान्त लगाना कि एक लोहे की छड़ को नीचे अग्नि में डाला, पर सर्वांग में गर्म है। इसीप्रकार से लोकाकाश और अलोकाकाश में जो विभाग हैं, वह छह द्रव्यों के सद्भाव से हैं परन्तु वास्तव में आकाश अखंड है। इसलिये उसका परिणमन यहीं से चल रहा है। ऐसे ही आप कहो कि हमें पर्याय शुद्ध करना है और चाहे कहो कि हमें द्रव्य शुद्ध करना है, पर शुद्ध तो दोनों एकसाथ होंगे। भो ज्ञानी! ये भाषाशैलियाँ हैं, ये नय विवक्षा है। पर्यायार्थिक नय भी शुद्ध होता है और द्रव्यार्थिक नय भी शुद्ध होता है। द्रव्यार्थिक नय भी अशुद्ध होता है और पर्यायार्थिक नय भी अशुद्ध होता है। द्रव्यार्थिक नय से सभी जीव शुद्ध हैं, क्योंकि वो अशुद्धपर्याय को गौण करके देखता है और पर्यायार्थिकनय भी अशुद्धद्रव्य को गौण करके देखता है। इसलिये पर्याय की प्रधानता से जब कथन होता है, तो द्रव्य को गौण कर दिया जाता है और द्रव्य की प्रधानता से कथन होता है, तो पर्याय को गौण कर दिया जाता है, परन्तु अभाव किसी का है नहीं । आप मुख से कर भी दो, लेकिन अभाव होगा नहीं।

लोक में ऐसा कोई द्रव्य नहीं है, जिसका अभाव हो । जितने द्रव्य हैं, उनमें लेशमात्र बढ़ेगा नहीं, लेशमात्र कम नहीं होगा, परिणमन हो रहा है। कभी निगोद की राशि बढ़ रही है, तो कभी त्रस की राशि बढ़ रही है। पर जीवद्रव्य घट–बढ़ नहीं रहा। आपके यहाँ चार व्यक्ति स्टाफ में थे, आवश्यकता पड़ गई दूसरे की, तो पांच और मिला दिये, तो आपने कहा कि हमारी संख्या बढ़ गई। सामनेवाला कह रहा था कि हमारी संख्या कम हो गई।

पर आदमी बढ़े कितने? ऐसे ही कभी सिद्धों की वृद्धि हो जाती है, तो संसार के लोग सोचते हैं कि अब इतने जीव कम हो जायेंगे। जीव कम नहीं हुए, कुल जीवराशि निश्चित है। जिस दिन आप कम और ज्यादा कहने लगोगे, उस समय इन शब्दों का उपयोग करो– 608 त्रस जीव मोक्ष को चले गये, परन्तु निगोदियाराशि से निकल कर आ गये, फिर कम कहाँ हुये? आप कहो कि निगोद राशि के कम हो गये, तो वहाँ अक्षय अनंत हैं। फिर भी कम तो हुये हैं, परन्तु अन्त नहीं होगा। राशि वहाँ की कम हुई है, न कि जीवराशि कम हुई है। ये सूत्र आपने बना लिया कि जीव कम हो गये, तो फिर वो सूत्र बदल जायेगा। फिर सत् का विनाश मानना पड़ेगा, असत् का उत्पाद मानना पड़ेगा, परन्तु सत् का विनाश नहीं होता है।

भो ज्ञानी! रोज पूजा कर रहा है, रोज त्यागियों को आहार दे रहा है, रोज उपवास कर रहा है, फिर भी अशुभगति में जा रहा है। क्योंकि सिद्धान्त के श्रद्धान में कमी थी। वो मान रहे हैं कि ये तो अच्छी क्रियायें हैं। परन्तु ध्यान रखना ,नीचे ही जाना पड़ेगा। कारण क्या? सिद्धान्त का श्रद्धान तेरा विपरीत था।

योगीन्दुदेव स्वामी ने **'परमात्म–प्रकाश'** में करुणापूर्वक लिखा है कि कहीं मेरे यति–संघों में धारणा न बन जाये कि द्रव्य तो त्रैकालिक शुद्ध है, पर्याय अशुद्ध है। परिणमन पर्याय में होता है, द्रव्य ध्रुव है। विक्षा न लगा करके एकान्त ही लगा बैठा, तो ये जीव भी श्रद्धान से अपनी गति को बिगाड़ लेगा। वास्तविकता यह है कि आप पर्याय को द्रव्य से भिन्न देख रहे हो, इसलिये आप ऐसा कह रहे हो। उत्पाद–व्यय जो द्रव्य में चल रहा है, ध्रुव में वो कोई ऐसा नहीं चल रहा है कि ऊपर काई लगी हुई है, नीचे से पानी बह रहा है। ऊपर से पर्याय चढ़ी हो और नीचे से द्रव्य बह रहा हो, ऐसा परिणमन नहीं है। ये परिणमन तो युगपत चल रहा है। क्या होता है कि आप समझने के लिये नये शब्द का उपयोग कर लेते हैं और वास्तव में कहीं लिपिबद्ध हो गया, तो सिद्धान्त बन जाते हैं।

भो ज्ञानी! वो सत् क्या है? सत् यानि अस्तित्व। द्रव्य यानि जिसकी सत्ता हो। तो द्रव्य का लक्षण सत् है। बिना संज्ञा के पदार्थ का ज्ञान नहीं होता है और बिना पदार्थ के संज्ञा नहीं होती है। सत् संज्ञा है, तो कोई द्रव्य होगा। द्रव्य है, तो उसका लक्षण भी नियम से होगा और लक्षण के अभाव में कोई लक्ष्य हो ही नहीं सकता। लक्षण नहीं है, तो लक्ष्य क्या? जो अन्य पदार्थ से अन्य पदार्थ में भिन्नता दिखा दे, उसका नाम लक्षण है। ये 'न्यायदीपिका' का सूत्र है। ध्रुव मौजूद है, जो वस्तु का स्वभाव है। यह सब समझने के लिए आलापपद्धति, न्यायदीपिका, नयविवरण का स्वाध्याय बहुत जरूरी है।

जो परिणमन हो रहा है, वास्तव में ये सब द्रव्य में ही हो रहा है। यानि परिणमन द्रव्य में, उत्पाद द्रव्य में, द्रव्य ध्रुव है। इसलिये द्रव्य को ध्रुव से भिन्न मत कर देना। ध्रुव अपने–आपमें परिणमनशील है अर्थात् जिसमें परिणमन चल रहा है, वो ही ध्रुव है। जो ध्रुव है, उसी की सत्ता का नाम द्रव्य है। लेकिन विजातीय को विजातीय समझना, स्वजातीय को स्वजातीय समझना।

आप भटक यहाँ जाते हैं कि आप विजातीय सम्बन्ध किये बैठे हो। इसलिये जो पुद्गल सामने आ जाता है, उसे आप पर्याय मात्र मानते हो। ये शरीर पौद्गलिक है। सो आप लोगों ने मान लिया कि पुद्गल ही पर्याय है, पर ऐसा नहीं है। ये पुद्गलद्रव्य की विभावपर्याय है। शरीर स्कंध है, इसमें भेद कर दो एक समय के लिये। क्योंकि सामान्य लोग इसमें भेद नहीं कर रहे हैं। पुद्गल जो शुद्ध होता है, वो अपने–आपमें कोई जीव को लिये नहीं बैठा है। इसमें ये परिणमन चल रहा है। इससे तुम्हारे साथ धोखा ये हो जाता है कि मैं इसे जीव कहूँ, कि इस मैं पुद्गल कहूँ, ये मेरा धर्म कैसा? मेरा धर्म तो जीव है, क्योंकि ये विजातीय अवस्था है और शरीर मेरा है। क्यों है? इसमें नय लगा दो। कौन सा नय? संश्लेष सम्बंध सहित अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय। इसका तात्पर्य है कि यह मेरा स्वरूप नहीं है, वो स्वयं नय कह रहा है–अनुपचरित। क्योंकि मैं मिला हुआ हूँ, नीर–क्षीरवत्। परन्तु फिर भी मेरा जो भाव है, वो तो राग–द्वेष परिणाम है, मनुष्यजाति गति सम्बन्धी परिणाम है। उन परिणामों के साथ ये जो शरीर है, वो भिन्न है, उसमें मेरी आत्मा का अत्यन्ताभाव भी है। इसलिये द्रव्य कूटस्थ नहीं है, द्रव्य परिणमनशील है।

भो ज्ञानी! परिणमन किसमें हो रहा है? और परिणमन कौन करा रहा है? उपादानदृष्टि से स्वयं ही परिणमन करा रहा है, परन्तु निमित्तदृष्टि से कालद्रव्य इसमें सहयोगी है। जीवद्रव्य का अपने वर्तना स्वभाव के द्वारा नाना गतियों में भ्रमण कालद्रव्य से हो रहा है। जीवद्रव्य में परिणमन कराया है। ये व्यवहार षट्कारक है। ये अनात्मभूत दृष्टि है। परन्तु दोनों वस्तुधर्म से भिन्न नहीं हैं। भो ज्ञानी! काल अपना काम करता ही रहेगा, वो बन्द होनेवाला नहीं है पर आप कर्मों से बंध करके और काल के काल में ही चलते रहोगे। इसलिये अच्छा ये है कि जो आगम है, मात्र समझने के लिये है। ज्ञानी! विशेष ध्यान रखना कि हम कभी सिद्धान्त से विपरीत न चले जायें, अन्यथा एक क्षण की अश्रद्धा तुमको नीचे ढकेल देगी और आप यही कहते रहेंगे कि हम तो पूजा–पाठ करते थे।

देखो, देव–शास्त्र–गुरु के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है। जो देव–शास्त्र– गुरु की पूजा कर रहा है, फिर भी मिथ्यात्व रह जाये और मुनि बनने के बाद ग्यारह अंग का पाठी हो जाये, फिर भी मिथ्यात्व रह जाये, ये क्या रहस्य था इसमें? क्योंकि ये जड़रूप, प्रवृत्तिरूप परिणमन था पर अंतरंग में, सिद्धांत में आपके विकल्प था।

भव्यसेन महाराज ने नदी से कमंडलु में पानी भर लिया, मिट्टी सूखी नहीं मिली तो गीली मिट्टी ले ली। क्षुल्लक जी बोले–महाराज! इसमें जीव नहीं है क्या? बोले–शास्त्रों में लिखा तो है, कि जीव होते हैं। परन्तु क्या मालूम होते हैं कि नहीं, लेकिन लिखा है। यानि ज्ञान था, परन्तु श्रद्धान नहीं था। कह दिया क्षुल्लक विद्याधर जी ने, इसीलिये हमारे गुरु ने आपको नमोस्तु नहीं भेजा। भव्यसेन! आप अभव्यसेन हो। विषय को समझना कि ग्यारह अंग का ज्ञाता होकर भी तत्त्व का श्रद्धान नहीं है, मात्र तत्त्वश्रद्धान चिल्लाने वाले हैं। तत्त्वश्रद्धान कोई आत्मा भर नहीं है। कोई छह–द्रव्यों को न माने, पाँच को समाप्त कर बोले, बस, एकमात्र जीव है, तो कहता रहे। जिसे सात तत्त्वों पर श्रद्धान नहीं है, हम कैसे उसको सम्यग्दृष्टि कह सकते हैं?

अरे भाई! जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा क्यों नहीं कहते हो? जड़ को जड़ कहो, उसका भी अभाव मत करो। चेतन को चेतन कहो, उसका भी अभाव मत करो। ये ही होगा तुम्हारा श्रद्धान। 'समयसार' में कर्त्तृ–कर्म अधिकार में कहा है कि जबतक भेद नहीं जानता है, तबतक वो ज्ञानी कैसा? आत्मभाव को कब जानेगा? जब जीव पुद्गल इन सबका ज्ञाता होगा, तभी तो जानेगा। कर्म पर श्रद्धान नहीं, आत्मा–परमात्मा पर श्रद्धान रख रहे हो, तो भी सम्यक्त्व नहीं होगा। कर्म पर कर्मरूप श्रद्धान करो और आत्मा पर आत्मारूप श्रद्धान करो।

'परमात्म–प्रकाश' की टीका में ब्रह्मदेव सूरि ने जगह–जगह इसका खुलासा किया है। इन सबको जानने के बाद भी तेरे पास अनेकान्तदृष्टि है, तो तू जैन है। मुनि नहीं, जैन है। इन सबको जानने के बाद, श्रद्धान के बाद, तेरा वीतराग चारित्र का जैसा कथन है, यदि उसका आचरण कर रहा है, तो तू निर्ग्रन्थ मुनि है। भो चेतन! सम्बन्ध तुम्हारे घर का होगा। रिश्ता तुम्हारा घर का होगा। यहाँ कोई रिश्ता नहीं चलेगा।

भो ज्ञानी! पाँच द्रव्यों को छोड़कर नहीं चलना। कन्या का सम्बन्ध तो एक ही से हुआ है, सैकड़ों बरातियों से नहीं हुआ है। ऐसे ही मुक्ति–वधू का सम्बन्ध तेरी आत्मा से ही होगा। परन्तु बरातियों को जाने बिना मजा भी तो नहीं आता। ठीक है न? विसंवाद का विषय नहीं है।

'पंचास्तिकाय' में कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं–

समओ णिमिसो कट्ठा कला य णाली तदो दिवारत्तो।
मासो दु अयणसंवच्छरोत्ति कालो परायत्तो।।पञ्चा. काय 25।।

समय, निमिष, काष्ठा, कला, घड़ी, दिन–रात, मास, ऋतु, अयन और संवत्सर अर्थात् साल, इस प्रकार का काल पराश्रितकाल कहा जाता है। यह परमाणु के मन्दगति से गमन और सूर्योदय–सूर्यास्त आदि पर आधारित होने के कारण पराश्रितकाल होता है, इसे व्यवहारकाल भी कहते हैं। ये सब व्यवहारकाल की अवस्थायें हैं, पर्यायें हैं, पराश्रित हैं। निश्चयकाल स्वाश्रित है। ये मनुष्यपर्याय भी पराश्रित है, स्वाश्रित नहीं है। एकमात्र जो चैतन्यद्रव्य है, वह स्वाश्रित है। आपके मन की नहीं, वास्तविक तत्त्व की बात कह रहे हैं।

समयनिमिषकाष्ठा सत्कलानाडिकाद्याद् दिवसरजनिभेदाज्जायते काल एषः।
न च भवति फलं मे तेन कालेन किंचिद् निजनिरुपमतत्त्वं शुद्धमेकं विहाय।।कलश 47।।

यहाँ आचार्यमहाराज पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि इन समय, निमिष, काष्ठा आदि कालद्रव्य के भेदों को जानने से मेरा कोई कार्य सिद्ध नहीं होता है। निजरूप तत्त्व में जो शुद्धात्मतत्त्व है, उसको छोड़ कर और–कोई मेरे प्रयोजन की सिद्धि करानेवाला नहीं। ये सब व्यवहार से जानने के मार्ग तो हैं, परन्तु प्राप्ति का मार्ग एक मेरी शुद्ध–आत्मा है। एकमात्र शुद्ध–आत्मा ही मेरा शरण है। ये ही कार्यकारी है। अन्य सबको जानो, मानो, पर उपादेय तो एक विशुद्ध–आत्मा ही है।

जीव, पुद्गल ज्यादा हैं कि काल ज्यादा है? भैया! जीव पुद्गल ज्यादा नहीं है, कालाणु ज्यादा हैं। ये कालाणु एक प्रदेश पर असंख्यात कहे हैं। लोकाकाश के प्रदेश में भिन्न–भिन्न ठहरते हैं। एक में एक होकर नहीं ठहरते हैं। जैसे कि चावल के बोरे में चावल भरे हुये हैं, पर प्रत्येक चावल अपने आप में स्वतंत्र है। अपने चतुष्टय में है। ऐसे ही प्रत्येक कालाणु स्वतंत्र है। जीव की सत्ता भी इसीप्रकार स्वतंत्र है। एक निगोद में अनंत निगोदिया, एक सिद्ध में अनंत सिद्ध, फिर भी एक नहीं हैं, वे अनंत ही हैं।

जैनदर्शन की ये मूल विशेषता है कि हम सबके अन्दर ईश्वरशक्ति तो है, प्रभु बनने की सामर्थ्य है, वही प्रभू बनेंगे। लेकिन हम प्रभु की सत्ता नहीं हैं क्योंकि मैं पराधीन नहीं हूँ, मैं स्वतंत्र हूँ। प्रभु बनने की सामर्थ्य है, पर मैं प्रभु का अंश नहीं हूँ। जैसे कालाणु निश्चयकाल है। भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने 'प्रवचनसार' में कहा है–

समओ दुअप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स।

वदिवददो सो वट्टदि पदेसभागासदव्वस्स।। प्र.सार 138।।

काल तो अप्रदेशी है प्रदेशमात्र पुद्गल परमाणु आकाशद्रव्य के प्रदेश को मंदगति से उल्लंघन कर रहा हो तब वह वर्तता है अर्थात् निमित्तभूततया परिणमित होता है।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारि देव इसका समर्थन करते हुए श्लोक कह रहे हैं–

वर्तनाहेतुरेषः स्यात् कुम्भकृच्चक्रमेव तत्।

पञ्चानामस्तिकायानां नान्यथा वर्तना भवेत्।। कलश 48।।

कालद्रव्य के अभाव में पदार्थो का परिणमन नहीं हो सकता है और परिणमन के बिना न तो द्रव्य ही रह सकता है और न पर्याय ही रह सकती है। भो ज्ञानी! इसप्रकार तो द्रव्य का अभाव ही हो जायेगा। कालद्रव्य का अस्तित्त्व नहीं मानोगे, तो किसी भी वस्तु का परिणमन हो ही नहीं पायेगा। वस्तु का परिणमन संभव ही नहीं होगा। परिणमन के अभाव में द्रव्य और पर्याय दोनों का अस्तित्त्व समाप्त हो जायेगा।

यह कालद्रव्य कुम्भकार के चक्र के समान पाँचो अस्तिकाय–(जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश) के वर्तना में हेतु है। इसके बिना वर्तना नहीं हो सकती है। यह कालद्रव्य अन्य द्रव्यों के परिणमन का कारण है। यदि कालद्रव्य नहीं होगा, तो किसी भी द्रव्य में परिणमनरूप परिवर्तन नहीं हो पायेगा। वैसे तो प्रत्येक द्रव्य स्वभाव से परिणमन में सहकारी कारण है। मिट्टी से कुंभकार कलश तो बनाता है, मिट्टी कलशरूप स्वयं परिणमन करती है, परन्तु चक्र सहकारी कारण है।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव आगामी कलश में यह संकेत दे रहे हैं कि जीव और पुद्गलद्रव्य इनके विषय में तो मुख्यरूप से कथन होता है, पर धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये भी सिद्धान्त–पद्धति से सिद्ध हैं अर्थात् इनको जानना भी आवश्यक है।

प्रतीतिगोचराः सर्वे जीवपुद्गलराशयः।

धर्माधर्मनभः कालाः सिद्धाः सिद्धान्तपद्धतेः।। कलश 49।।

भो ज्ञानी! जीव और पुद्गलद्रव्य का सदैव मुख्यता से कथन किया जाता है। जीवद्रव्य कर्मरूपी पुद्गलद्रव्य से संश्लेष सम्बन्ध को प्राप्त करने के कारण अनादि काल से संसार में भटक रहा है। जन्म, जरा, मृत्यु के दुःखों को सह रहा है। परन्तु धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य अमूर्तिक होने के बाद भी सिद्धान्त– सिद्ध हैं, इनका अस्तित्त्व है। ये हमेशा शुद्धदशा में रहते हैं। किसी भी प्रकार की अशुद्धि को प्राप्त नहीं होते हैं।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने गाथा संख्या 33 में इस बात को पुनः कहा है कि जीवादि जो पाँच द्रव्य हैं, उनमें परिवर्तन का कारण कालद्रव्य ही है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चारों में स्वभाव गुण और पर्यायें होती हैं।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव इस बात की पुष्टि करते हुए कह रहे हैं, कि काल आदि शुद्ध अमूर्तिक अचेतन द्रव्यों के निजस्वभाव गुण और पर्यायों का कथन है यहाँ पर। मुख्य कालद्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पांच द्रव्यों के परिणमन का हेतु होने से परिवर्तन लक्षणवाला कहा गया है। भो ज्ञानी! धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्यों में स्वजातीय बंध का अभाव होता है तथा इनमें विजातीय बंध का अभाव होता है, इस कारण से विभाव गुण–पर्यायें नहीं होती हैं। ये चारों द्रव्य सदैव स्वभावगुण में ही रहते हैं। टीकाकार पद्मप्रभमलधारि देव इन छह द्रव्यों का महत्व बता रहे हैं और कह रहे हैं कि इनको जानना क्यों आवश्यक है?

इति विरचितमुच्चैर्द्रव्यषट्कस्य भास्वद् विवरणमतिरम्यं भव्यकर्णामृतं यत्।
तदिह जिनमुनीनां दत्तचित्तप्रमोदं भवतु भवविमुक्त्यै सर्वदा भव्यजन्तोः।।कलश 50।।

यह छह द्रव्यों का वर्णन अत्यन्त रमणीय है। जो भव्यजीव इसको सुनते/पढ़ते हैं, वह कानों के लिये अमृततुल्य है अर्थात् अत्यन्त सुखदायी है, कर्णप्रिय है। इन षट्द्रव्यों का जो विस्तार से वर्णन किया है, वह निर्ग्रन्थ मुनिराजों को अत्यन्त आनन्द प्रदान करने वाला है। इन द्रव्यों के विषय में विस्तार से जानने पर हेय, उपादेय का ज्ञान होता है। इससे ये जीव संसार के दुःखों से छुटकारा पा सकता है। जीव के लिये स्व–आत्मा ही उपादेय द्रव्य है । पुद्गलद्रव्य जो कर्मरूप भी होते हैं, उनके संपर्क के कारण यह जीव विभाव में रहता है। जबतक कर्म पृथक् नहीं होंगे, तबतक यह जीव स्वभाव में नहीं आ पायेगा अर्थात् सिद्धत्व को प्राप्त नहीं कर पायेगा। षट्द्रव्यों का विस्तार ही मार्ग भी बताता है। संसार से मुक्ति का हेतु भी बनता है। भो ज्ञानी! जब यह जीव इन षट्द्रव्यों को जानकर उनपर दृढ़ श्रद्धान करेगा, शुद्ध रत्नत्रय को धारण करेगा, तभी मुक्तिरमा का वरण कर पायेगा।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 34 में पंचास्तिकाय के विषय में कथन कर रहे हैं। जो छह प्रकार के द्रव्य कहे गये हैं, उनमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पंचद्रव्य ही अस्तिकाय हैं एवं छटवाँ द्रव्य कालद्रव्य अस्तिकाय नहीं है। जो द्रव्य बहुप्रदेशी होता है, उसे अस्तिकाय की संज्ञा दी जाती है। कालद्रव्य बहुप्रदेशी नहीं

है, अतः इनकी गणना अस्तिकाय में नहीं होती है। कालद्रव्य द्वितीय आदि प्रदेशों से रहित होता है। समयकाल अप्रदेशी है। काल को मात्र द्रव्यत्व ही है। शेष पाँच द्रव्यों में कायपना है। बहुत प्रदेशों का समूह होने से 'काय' संज्ञा है। यह काय के समान ही काय है अर्थात् शरीर है। भो ज्ञानी! जैसे शरीर में बहुत से प्रदेशों का समूह रहता है, उसीप्रकार से इन द्रव्यों में भी बहुत से प्रदेश रहते हैं। इसीलिये इन पाँच द्रव्यों को अस्तिकाय कहा जाता है।

भो ज्ञानी! अस्तित्व नाम सत्ता का है। यह सत्ता कैसी है? यह सत्ता अपने विरोधी असत्ता से युक्त है। सत्ता के दो भेद कहे गये हैं। अवान्तर सत्ता और महासत्ता। समस्त व्यापक रूप में व्याप्त रहने वाली महासत्ता है और प्रतिनियत एक रूप को व्याप्त करने वाली अवान्तर सत्ता है। अनन्त पर्यायों में व्याप्त होने वाली महासत्ता है और प्रतिनियत एक पर्याय को व्याप्त करने वाली अवान्तर सत्ता है। अस्ति शब्द का अर्थ है–होता है। इसके भाव को अस्तित्त्व कहते हैं। इस अस्तित्त्व और काय से सहित पाँच अस्तिकाय हैं। कालद्रव्य में अस्तिपना तो है, किन्तु कायपना नहीं है क्योंकि काय बहुत प्रदेशों के समान है। कालद्रव्य रत्न की ढेरी के समान है।

भो ज्ञानी! सत्ता का अर्थ है विद्यमानता, मौजूद रहना। यह सत्ता सामान्य की अपेक्षा एक है। संपूर्ण चेतन–अचेतन आदि पदार्थ लोकाकाश और अलोकाकाश भी सभी इसी के अंदर हैं। अस्तित्व सामान्य से सभी वस्तुयें सत् हैं संग्रहनय के अनुसार। महासत्ता सत् सामान्यरूप है। अवान्तर सत्ता प्रत्येक वस्तु की अलग– अलग है, जैसे हमारा पेन, आपका पेन अर्थात् सबकी अपनी–अपनी सत्ता पृथक्– पृथक् है। भो ज्ञानी! पाँच द्रव्य अस्तिकाय तो हैं, परन्तु कुल द्रव्य छह ही हैं, यह श्रद्धान करना।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **छहों द्रव्यों के प्रदेश के लक्षण और संभव के प्रकार का कथन तथा उपसंहार।**

संखेज्जासंखेज्जाणंत पदेसा हवंति मुत्तस्स।
धम्माधम्मस्स पुणो, जीवस्स असंखदेसा हु।।35।।
लोयायासे ताव, इदरस्स अणंतयं हवे देसा।
कालस्स ण कायत्तं, एयपदेसो हवे जम्हा।।36।।
पुग्गलदव्वं मुत्तं, मुत्तिविरहिया हवंति सेसाणि।
चेदणभावो जीवो, चेदणगुणवज्जिया सेसा।।37।।

संस्कृत छाया : **संख्यातासंख्यातानंतप्रदेशा भवन्ति मूर्तस्य।**
धर्माधर्मयोः पुनर्जीवस्यासंख्यातप्रदेशाः खलु।।35।।
लोकाकाशे तद्वदितरस्यानंता भवन्ति देशाः।
कालस्य न कायत्वं एकप्रदेशो भवेद्यस्मात्।।36।।
पुद्गलद्रव्यं मूर्तं मूर्तिविरहितानि भवन्ति शेषाणि।
चैतन्यभावो जीवः चैतन्यगुणवर्जितानि शेषाणि।।37।।

अन्वयार्थ : (मूर्तस्य) मूर्तिक पुद्गलद्रव्य के (संख्याता– संख्यातानंतप्रदेशाः) संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश (भवंति) होते हैं (धर्माधर्मयोः) धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य (पुनः जीवस्य) और जीवद्रव्य के (खलु असंख्यात प्रदेशाः) निश्चित रूप से असंख्यात प्रदेश है।

(लोकाकाशे तद्वत्) लोकाकाष में इन्हीं धर्मादि तीनों के सदृश असंख्यात प्रदेश होते हैं। (इतरस्य अनंताः प्रदेशाः) अन्य अलोकाकाश में अनन्तप्रदेश होते हैं। (कालस्य कायत्वं न) कालद्रव्य के कायपना नहीं है (यस्मात्) इसी हेतु से (एक प्रदेशः भवेत्) एक प्रदेश वाला होता है।

(पुद्गलद्रव्यं मूर्तं) पुद्गलद्रव्य मूर्तिक है (शेशाणि) शेष पाँच द्रव्य (मूर्ति– विरहितानि) मूर्तिक अवस्था से रहित अमूर्तिक हैं (जीवः चैतन्यभावः) जीव चैतन्य स्वभाववाला है (शेषाणि) शेष द्रव्य (चैतन्यगुण–वर्जितानि) चैतन्य गुण से वर्जित हैं।

मनीषियो! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने अजीव अधिकार में पंचास्तिकाय, षट्द्रव्य का विस्तार से कथन किया। यहाँ आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि ये षट्द्रव्य एक रत्न की माला है। जब तू संसार की वधु से संबंध करता है, तो पहले वरमाला ही तो डाली जाती है। इसीप्रकार श्रेष्ठ छः द्रव्यरूपी रत्नों से गुंथित ये वरमाला है। छः द्रव्यों का श्रद्धान ही सम्यक्त्व है और सम्यक्त्व की माला तेरे पास है, तो मुक्तिवधु के साथ तेरा सम्बन्ध हो जायेगा। और यदि सम्यक्त्व की माला नहीं है, सम्यक् दर्शन–ज्ञान–चारित्र के मोती उसमें नहीं पिरोये हैं, तो मुक्ति वधु से तेरा वरण होने वाला नहीं है। इसी बात को कलश रूप कह रहे हैं–

इति जिनमार्गाम्भोधेरुद्धृता पूर्वसूरिभिः प्रीत्या।
षड्द्रव्यरत्नमाला कण्ठाभरणाय भव्यानाम् ।।कलश 51।।

भो ज्ञानी! जबतक प्रीति नहीं होगी, तबतक प्रतीति नहीं हो सकती। प्रतीति यानि अनुभूति और प्रीति यानि प्रेम, अनुराग। किसी विषय में अनुराग होगा, तभी तुम उसके प्रति अनुभूति कर सकते हो और जबतक आप देखना ही पसंद नहीं करते हो, तो अनुभूति क्या करोगे? जिस व्यक्ति को अरिहन्तदेव के दर्शन करने से काँटे चुभते हों, उस व्यक्ति को अरिहन्त की मुद्रा का क्या भान होगा? जिस व्यक्ति को जिनवाणी सुनने में शूल चुभते हो, उसे जिनेन्द्र की वाणी की क्या अनुभूति होगी? आत्मा शब्द पर ही जिसको चिढ़ छूटती हो, उसे आत्मा की क्या अनुभूति होगी?

हे योगी! अब तूने व्यवहार की पूर्णता को प्राप्त कर लिया, क्योंकि छठवां गुणस्थान व्यवहार की पूर्णता है, निष्चय की पूर्णता नहीं। निश्चय की पूर्णता तो 14वें गुणस्थान में होगी। हे योगी! कम–से–कम छह माह तो अभ्यास कर निज आत्मा का, तुझे आत्मा की प्रतीति हो जायेगी और अभ्यास वही करेगा, जिसे प्रीति होगी। जिसे प्रीति नहीं है, वो प्रतीति के लिये अभ्यास कभी नहीं करेगा। जिस विद्या में जिसकी रुचि होती है, तभी तो डॉक्टर, इंजीनियर उसका अनुभव कर रहे हैं।

आचार्य परमेष्ठियों ने प्रीतिपूर्वक षट्द्रव्य रत्नमाला को कण्ठ का आभूषण बनाया। अब प्रीति, प्रेम कब और किससे– ये परमार्थ विषय है। यहाँ प्रीति से तात्पर्य लोगों के प्रति अनुरागपूर्वक तत्त्वदृष्टि। भव्य जीवों के कल्याण के उद्देश्य से आचार्यमहाराज ने करुणादृष्टि से इस षट्द्रव्य की रत्नमाला को गुंथित किया है।

आचार्यभगवन् कुंदकुंद स्वामी गाथा 35,36 में कह रहे हैं कि प्रत्येक द्रव्य प्रदेश है और किस द्रव्य में कितने प्रदेश हैं? भो ज्ञानी! आचार्यों की अपनी–अपनी विधा है कि जितने कम शब्दों में विशाल बात हो जाये, उसे ही श्रेष्ठ सूत्र कहा जाता है। एक सूत्रकर्त्ता

को जितने कम अक्षर लगते हैं, उसको उतना सुख होता है, जैसे कि बंध्या स्त्री को पुत्र की प्राप्ति हो जाये। सूत्र का अर्थ आचार्यो ने कहा–जिसमें अक्षर अल्प हों और सारभूत हो, सार से भरा हो, जो गूढ़ रहस्य का कथन करने वाला हो। कुन्दकुन्द स्वामी की दृष्टि से जो गणधर परमेष्ठी द्वारा कथित है, वो सब सूत्र हैं। परन्तु हमारे आचायों ने वही कहा है, जो गणधर– परमेष्ठी ने कहा है, इसलिये सूत्र है। 'सूत्र' जिसमें अक्षर कम हों, असंदिग्ध होना चाहिये, किसी प्रकार का संदेह नहीं होना चाहिये। संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय आदि तीन दोष से रहित तुम्हारा ज्ञान है, तो सम्यग्ज्ञान है। संदिग्धता नहीं होना चाहिये, विपरीतपना नहीं होना चाहिये, उसका नाम सम्यग्ज्ञान है।

प्रत्येक जीवद्रव्य असंख्यातप्रदेशी है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, लोकाकाश असंख्यातप्रदेशी है। अलोकाकाश अनंतप्रदेशी, पुद्गल संख्यात–असंख्यात प्रदेशी है, परन्तु प्रत्येक कालाणु एकप्रदेशी है, फिर भी सबसे भिन्न है, स्वतंत्र है, एक दूसरे में मिश्रित नहीं है, रत्नों की राशि के समान। एक–एक प्रदेश पर एक–एक कालाणु अवस्थित है। एक शुद्ध पुद्गलपरमाणु आकाश के जितने क्षेत्र को घेरता है, उसका नाम प्रदेश है।

पदार्थरत्नाभरणं मुमुक्षोःकृतं मया कण्ठविभूषणार्थम्।
अनेन धीमान् व्यवहारमार्गबुद्ध्वा पुनर्बोधति शुद्धमार्गम्।। कलश 51।।

कितना सुन्दर कलश है, याद कर लेना। हे मुमुक्षु! जो मोक्ष की इच्छा नहीं करता, जो मोक्षतत्त्व को ही नहीं पहचानता, मोक्षतत्त्व को ही नहीं मानता, उसके लिये क्या तत्त्व की चर्चा की जाये?

'मुमुक्षु' जिनवाणी का शब्द है, इसे किसी समूहविशेष में नहीं लगाना चाहिये। आप लोग मुमुक्षु तो हो ही नहीं? तो नरक–इच्छु हो क्या? हे मुमुक्षु आत्माओ! इस शब्द पर मत चिढ़ो, अर्थ को समझो। मुमुक्षु शब्द से चिढ़ोगे, तो नियमसार, समयसार ग्रन्थों से मुमुक्षु शब्द हटाना पड़ेगा और जो तुमने ये शब्द हटा दिया, तो तुम्हारा आगम खोखला हो गया। कभी–कभी लोग रहस्यों को नहीं समझते। एक गीदड़ चिल्लाये जंगलों में, देखना एक दिशा से आवाज आये, तो सभी दिशाओं से वही आवाज निकलती है, हुआ–हुआ। क्या हुआ, किसी को कुछ पता नहीं। हुआ–हुआ चिल्लाते हैं। अरे भाई! ये तो समझो कि हुआ क्या? इसलिये हम शब्दों में न अटकें, भावों की ओर बढ़ें। मुमुक्षु कौन है?

लक्ष्मी–विभव सर्वस्वं मुमुक्षोश्चक्र–लाञ्छनम्।
साम्राज्यं सार्वभौमं ते जरत्तृणमिवाभवत्।। वृ.स्व.स्तो.।।

वैराग्य की बात समझना, बैण्ड बज रहा है। जिनके तन पर धागा नहीं, उसके लिये

बैण्ड बज रहा है। एक दृश्य सामने, नीम के वृक्ष के नीचे बैठा एक व्यक्ति भीख माँग रहा था। देखने वाले देखते, पर ज्ञानी तो अपने आप में हर वस्तु को देखता है अपनी दृष्टि से । पैसा माँगने के लिये उसके पास हाथ नहीं था, कर्मों ने उसको गिरा दिया था, गलित कुष्ठ था उस हाथ को, तो पूरा टपक गया था, यानि बेचारे के पास माँगने तक को हाथ नहीं था। वो बेचारा मुँह से कह रहा था, कुछ डाल दो। मैंने कहा–देखो ये दशा भिखारी की, कह रहा है कुछ डाल दो। एक वह दृष्टि देखो, जिनको डालने के लिये आप तड़पते हो, कि कब डालने का अवसर मिल जाये।

अरे ज्ञानी! साधु को कुष्ठ नहीं होता है। शरीर को कुष्ठ हुआ था, क्योंकि सत्ता का अवाधाकाल इसी समय आना था। अब अज्ञानी इसमें ऊँगली उठाने लगेंगे। बोले–क्या तपस्या इनकी? अरे! ये ही तो तपस्या है, कि बाइस–परीषहों में एक 'रोग' नाम का परीषह होता है, वे कभी मुख से नहीं कहते, शरीर की अवस्था भी नहीं दिखाते, चेहरा भी नहीं बनाते। सौभाग्य समझते हैं, कि हमारा परीषह–जय है। ध्यान रखना, उपसर्ग–परीषह देख करके किसी यति की यतिचर्या पर प्रश्नचिह्न मत लगा देना। जीवन में जो समता है, उसका नाम चारित्र है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी से पूछा कि आत्मा का ध्यान जंगल में बैठकर करें, कि नगर में, कि ग्राम में? वे तो अदभुत आचार्य हैं, जिन्होंने समयसार ग्रन्थ/अध्यात्म पर लेखनी चलानेवाले कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थों का निचोड़ लिखा है। आचार्य देवसेन स्वामी ने तो बाद में लिखा। आचार्य पूज्यपाद स्वामी रचित अध्यात्म की अनुभूतियाँ लेना है, तो 'समाधि–शतक' और 'इष्टोपदेश' दो ग्रन्थ हैं। पूज्यपाद स्वामी कह रहे हैं कि ग्राम और अरण्य में निवास करूँ? कोई कह रहा है कि नहीं–नहीं, मुझे जंगल में जाना है। नहीं, मुझे नगर में जाना है। ऐसा विचार कर रहा है, इतने में आयु क्षीण हो गई तो तू ध्यान कब कर पाया? इसलिये ध्याता के लिये तो ग्राम और अरण्य की भाषा छोड़ करके, जहाँ मौका मिले, बैठकर ध्यान में लीन हो जाना चाहिये, क्योंकि समय को मत टालो।

भो ज्ञानी! आचार्य महाराज 52 नं. के कलश में बड़ा स्पष्ट कथन कर रहे हैं कि पहले षट्द्रव्य, नौ पदार्थ, सात तत्त्व आदि को जानो, श्रद्धा करो और तदनुसार व्यवहार का आचरण करो। उस रूप जब होगा, तो शुद्धमार्ग को प्राप्त कर लेगा।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्दस्वामी गाथा 37 में पुनः स्पष्ट कर रहे हैं, कि छह द्रव्यों में मूर्तिक मात्र पुद्गल है। जीव स्वभाव से अमूर्तिक ही है, पर बन्ध अपेक्षा यह मूर्तिक है। मूर्त धर्म है, वो मात्र पुद्गल का ही है। शेष जो द्रव्य हैं, अमूर्तिक ही हैं। मात्र जीव के साथ थोड़ा विकल्प इसीलिये है, ''अनादि सम्बन्धे च'' कि अनादि से कर्म का सम्बन्ध है।

वण्णरसपंच गंधा, दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे।

णो संति अमुत्ति तदो, ववहारा मुत्ति बंधादो।। वृ.द्र.सं. 7।।

निश्चय से वर्ण, रस, गंध, स्पर्श आदि ये जीव के नहीं होते हैं। व्यवहार से, बन्ध की अपेक्षा, जीव मूर्तिक है। आचार्य नेमीचन्द्र स्वामी ने एक ही गाथा में, निश्चय–व्यवहार का कथन किया है। जैसे आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने 'रयणसार' ग्रन्थ में एक ही गाथा में यतिधर्म और श्रावकधर्म का कथन किया है।

आप लोगों की अनधिकृत चेष्टायें चल रही हैं कि दानपूजा में लग जायें मुनिराज और ध्यान–अध्ययन में लग जायें श्रावकगण। अपना–अपना काम करो।

दाणं पूया मुक्खं, सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।

झाणाज्झयणं मुक्खं, जादि–धम्मे तं विणा तहा सो वि।। र.सार 11।।

दान देना, पूजा करना ये श्रावक का मुख्य धर्म है। यदि वो ऐसा नहीं करता, तो श्रावक कहलाने का पात्र नहीं है। ध्यान करना, अध्ययन करना, ये यति का मुख्य धर्म है। यदि यति इन दोनों कर्मों से विमुख हो रहा है, प्रपंचों में पड़ा है, तो आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि तुम शोभा को प्राप्त नहीं होते हो। एक गाथा में दोनों का कथन हो रहा है। कुन्दकुन्द महाराज ने अच्छी मीठी–मीठी डाँट लगाई हैं मधुर डाँट है।

'रयणसार' ग्रन्थ के लिये विद्वानों में मतभेद है। अपन तो ये मानो कि दिगम्बर आचार्य का ग्रन्थ है। दिगम्बर–आम्नाय के विपरीत एक भी गाथा नहीं है उसमें। पूर्ण दिगम्बर–आम्नाय का पोषण करने वाली गाथा है। शुद्धमार्ग, शुद्धआगम का कथन कर रही है। अध्यात्म का बहुत अच्छा कथन किया है। बोले–ओ मुनि! मेरा संघ, मेरा गण, मेरा गच्छ इसमें बड़ा है, तो हो गया तेरा मोक्ष? अहो! तू कैसी बात कर रहा है? योगी का रत्नत्रय ही गण है और दशधर्म ही गच्छ है, उसको संभाल। कहाँ, तू गण–गच्छों में पड़ा है? ये मधुर–मधुर भाषा है कुन्दकुन्द स्वामी की । रयणसार यानि रत्नों का पिटारा। आप अपने को संभालो, गण–गच्छ में न जाओ। यदि गमन करना है तो सिद्धभक्ति की ओर ये निश्चयदृष्टि है। व्यवहार से आप शिष्य आदि को शिक्षा, दीक्षा आदि दें । ऐसा 'प्रवचनसार' में लिखा है। नहीं तो आप सब व्यवस्थायें भंग कर दोगे।

'प्रवचनसार' की चरणानुयोग चूलिका वास्तव में पठनीय, चिन्तनीय, अनुकरणीय है। कुन्दकुन्द महाराज ने अन्त में लिख दिया कि माना कोई अभव्य जीव मुनिमहाराज हैं। अब मिथ्यादृष्टि कहने लगे, कि आवश्यकता नहीं है कि अभव्य ही है। परन्तु जैनतत्त्व का महाज्ञानी है। ऐसा योगी नगर में पधारे, तो आप नमोस्तु करोगे कि नहीं? कुन्दकुन्द

स्वामी कह रहे हैं। रहस्य समझना पहले। अभव्य है, परन्तु ज्ञानसम्पन्न है, तो नमोस्तु करोगे कि नहीं? कदाचित् आपको मालूम हो गया किसी केवली के माध्यम से अथवा उनकी क्रियाओं से, फिर भी कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि नमोस्तु कर लेना, क्यों? पहला प्रश्न तो यह है कि ये आपकी परीक्षा का विषय बनता नहीं, ये गौण विषय है। आप विद्वान् हैं, बुद्धि/धी के पीछे किसी की श्रद्धा को डाँवाडोल मत करा देना। फिर से समझना। उस जीव के पास श्रुत निर्मल है। जब हम एक विद्वान् का सत्कार कर सकते हैं, तो हम उनको भी नमस्कार करें। उनके अंदर जो सम्यग्ज्ञान भरा हुआ है, उसकी वंदना कर लें। क्योंकि वंदना नहीं करेंगे, तो उनसे कुछ प्राप्त नहीं कर सकेंगे। सम्यग्ज्ञान कहा है हमने, जान कर कहा है। क्योंकि वे मिथ्यादृष्टि हैं, पर ज्ञान मिथ्या नहीं है, क्योंकि श्रुत है। उनके लिये तो मिथ्याज्ञान है और उन्हीं का ज्ञान तुम्हारे लिये मिथ्या नहीं है। हाँ, श्रुत की बात कर रहे हैं, उनके लिये तो वो मिथ्या है स्वयं के लिये। पर उनका ज्ञान सम्यक् है, क्यों? वो मनवाणी की बात नहीं बोल रहे, श्रुत की बात कर रहे हैं।

जब जड़ से हम श्रुतज्ञान खोज लेते हैं, वो तो चेतनद्रव्य है। उनकी श्रद्धा में कमी करने से, जो सामने खड़े अनेक जीव हैं, उनकी जिनमुद्रा के प्रति अश्रद्धा हो जायेगी। उस अश्रद्धा में तू कारण बनेगा। इसलिये नमस्कार करना। मैं कह रहा हूँ, ऐसे त्यागी–व्रती भी तुम्हें मिल जायें, जो ये कहें कि हमें भर करना, इन्हें नहीं करना। ऐसी भावना किसी के मन में आ जाये, बोले–हमीं सब कुछ हैं। उनको कहना–नहीं, भैया! हम तो जिनवाणी को मानते हैं, अतः जो निर्ग्रन्थ योगी दिखेंगे, उनको नमस्कार करेंगे। उनकी वो जाने। हमें निगोद नहीं जाना पड़ेगा, उन्हें जाना पड़ेगा, यदि उनमें कमी होगी तो, जिनवाणी कह रही है। हम क्यों परेशान हों। हम तो जब जड़ प्रतिमा को नमस्कार करके अरहंत की वंदना का फल प्राप्त कर लेते हैं, तो हम जिनमुद्रा को नमस्कार करके निर्ग्रन्थ के फल को ही प्राप्त करेंगे। पर यदि वे निर्ग्रन्थ अन्दर से नहीं होंगे, तो वे निगोद के पात्र बनेंगे। अपना भी कर्तव्य बनता है, कि कोई कमी दिखती है, तो एकान्त में ही सलाह देना चाहिये। ये तुम्हारा कर्तव्य है। आज मैं यहाँ हूँ, मेरे से कोई गल्ती हो रही है, आप सब पचाते जाओ। कल दूसरे गाँव में जायेंगे, तो ये गल्ती पुनः दोहराई जायेगी। इससे जिनशासन की हँसी नहीं होगी क्या? आपको एकान्त में हमसे भी कहना चाहिये। एकान्त का ध्यान रखना, स्थितिकरण का भी ध्यान रखना। सब व्यवस्था हमारे आगम में है।

भो ज्ञानी! आयतन जहाँ पर हो, उनका विनय करो। अनायतन जहाँ हो, उनपर मध्यस्थ रहो, अविनय मत करना। ध्यान रखो जीवन में, जिनवाणी अविनय की बात कभी नहीं करती है। आयतन है, विनय करो, अनायतन है, मध्यस्थ रहो। किसी का अविनय मत करो।

''वंदे तद्गुण लब्धये'' गुणों की वंदना हमारे आगम में है। गुणी ही वंदनीय है। श्रमण हो या श्रावक, गुणहीन की वंदना नहीं होती है, गुणों की वंदना होती है। अपन को नमोस्तु शासन पर दृष्टि डालना है। ये छोटे–छोटे विवाद कभी समाप्त नहीं होंगे। ये चलते आये हैं और चलते रहेंगे। परन्तु आप अपने–आपको संभाल लो, इसी में कल्याण है। हम चाहते हैं कि हम इनको सुधार दें और वो कहते हैं कि हम महाराज को सुधार दें। सुधर गये दोनों। अरे! तुम दोनों अपना–अपना सुधार कर लो, तो सुधर गये। जो कमी तुम्हारे अन्दर हैं, तुम सुधार लो और उनके अंदर जो हैं, वे सुधार लें। दोनों का सुधार हो गया।

भैया! प्रेम की भाषा का उपयोग कर लो। धीमान, श्रीमान, चारित्रवान ये तीन में सामंजस्य बैठ जाये, तो हमारी समाज एक है। सामान्य लोग इन प्रपंचों में पड़ते नहीं हैं। धीमान, श्रीमान और चारित्रवान इन तीनों में सामंजस्य होना चाहिये और तीनों में सामंजस्य है, तो हमारी समाज निर्मल है, कोई दिक्कत नहीं है। श्रीमान का तात्पर्य धनवान। मद तो तीनों में आ रहा है और मद ही तो मिलने नहीं दे रहा है। पर जब उन सबका मद गलित हो जायेगा, तो सब एक हो जायेंगे।

भो ज्ञानी! लोहा कितना कठोर होता है। प्रत्येक वस्तु के टुकड़े करने में काम आता है। लोहा सब वस्तु को काटने में काम आता है। ऐसा लोहा भी अग्नि के सहयोग से पानी जैसा तरल हो जाता है। तो तुम ध्यान और जिनवाणी के सहयोग से पानी नहीं हो सकते क्या? लोहे–जैसे कठोर नहीं हो, आप तो चेतन हो।

भो ज्ञानी! शांति से जीना चाहते हो, तो अंतिम बात समझना । पर को सुधारने के चक्कर में मत रहना, नहीं तो स्वयं का बिगाड़ हो जायेगा।

इति ललितपदानामावलिर्भाति नित्यं वदनसरसिजाते यस्य भव्योत्तमस्य।
सपदि समयसारस्तस्य हृत्पुण्डरीके लसति निशितबुद्धेः किं पुनश्चित्रमेतत्।।कलश 53।।

आचार्य पद्मप्रभमलधारि देव इस कलश के द्वारा अजीव अधिकार का उपसंहार कर रहे हैं। इसप्रकार ललित पदों की आवली यानि पंक्तियाँ शोभायमान हो रही हैं भव्य जीवों के मुख रूपी सरोवर में। भगवान् जिनेन्द्र की वाणी, वह समयसार, जिसके हृदयकमल में शोभायमान हो रही है, वह तीक्ष्ण बुद्धिवाला है। उसको ही समयसार शोभता है, क्योंकि वह तीक्ष्णबुद्धि के कारण समयसार को शीघ्र प्राप्त कर लेता है, इसमें किसीप्रकार का आश्चर्य नहीं है। इसीलिये मनीषियो! अपने हृदय को सरोज बनाकर चलो, कल्याण निश्चित है। इस प्रकार अजीव अधिकार नाम का द्वितीय श्रुतस्कन्ध पूर्ण हुआ।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **शुद्धभाव अधिकार में हेयोपादेय तत्त्व के स्वरूप का कथन।**

जीवादिबहित्तच्चं, हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा।
कम्मोपाधिसमुब्भव, गुणपज्जाएहिं वदिरित्तो।।38।।

संस्कृत छाया : **जीवादि बहिस्तत्वं हेयभुपादेयमात्मनः आत्माँ**
कर्म्मोपाधिसमुद्भवगुणपर्यायैर्व्यतिरिक्तः।।38।।

अन्वयार्थ : (जीवादि बहिस्तत्वं) जीवादि बाह्यतत्त्व (हेयं) छोड़ने योग्य हैं (कर्मोपाधि समुद्भवगुणपर्यायैः) कर्मों की उपाधि से उत्पन्न हुये गुण और पर्यायों से (व्यतिरिक्तः) रहित (आत्मा) आत्मा (आत्मनः उपादेयं) आत्मा को उपादेय है।

भगवन्तों! जीव–अधिकार, अजीव–अधिकार के उपरान्त तृतीय–अधिकार है, शुद्धभाव अधिकार। इसको बहुत संभलकर सुनना, क्योंकि ये अंतिम–अधिकार है। परन्तु सहजता में समझना। एक–एक बात का स्पष्टीकरण भी होगा। इस अधिकार में आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी यह भी कहनेवाले हैं कि आत्मा त्रैकालिक अशुद्ध है ही नहीं, आत्मा त्रैकालिक शुद्ध ही है। अब यदि आपको पूरा पक्का विवेकज्ञान नहीं होगा तो एक एकान्त में चला जायेगा और दूसरा चिढ़ करके भाग जायेगा।

आत्मा त्रैकालिक शुद्ध है, ये शुद्ध निश्चयनय है क्योंकि भले ही आत्मा बद्धरूप है, भले ही आत्मा कर्मों से बन्धी है, परन्तु आत्मा में कर्म किंचितमात्र भी नहीं है। आत्मा ज्ञान–दर्शन स्वभावमय है और कर्म स्पर्श, रस, गंध, वर्णमय है। आत्मा में कर्म का लेशमात्र भी प्रवेश नहीं है। जैसे कि सरिता के मध्य पड़ी पानी में पड़ी पाषाणशिला। उस शिला पर ऊपर से पानी बह रहा है, पर शिला के अन्दर लेशमात्र पानी नहीं है। शिला तो शिला है और जल तो जल है। ऐसी व्यवहार–अवस्था में कर्म आत्मा में चिपके कहे जा रहे हैं।

भो ज्ञानी! कितना ही प्रबल प्रकाण्ड वक्ता हो, पर बिना दृष्टान्त के कोई चर्चा नहीं करता, क्योंकि सभा सब श्रेणी के लोगों की होती है और विद्वत्ता की बात नहीं रखोगे, तो भी तुम शोभाहीन होगे, वो भी जरूरी है। परन्तु सामान्य लोग भी समझते जायें, इस बात का ध्यान रखना। क्योंकि विद्वान् तो पढ़े–पढ़ाये बैठे हैं, उनको तो विषय का दुहराना है, परन्तु अध्ययन तो आप सामान्य लोगों को करवा रहे हो।

भो ज्ञानी! हमारे आचार्यों ने बड़ी कृपा की। उन्होंने विद्वत्ता को खूँटी पर टाँग दिया और सरलभाषा में इतना कथन किया कि बालगोपाल भी समझ जाये। जैन–आचार्यों ने भाषा व्याकरण पर ध्यान नहीं दिया। जैन–आचार्यों ने भावों पर ध्यान दिया। हमारे आचार्य जटिल–से–जटिल लिख सकते थे, परन्तु नहीं । जहाँ उपयोग दिखा, वहाँ लिखा है। जैनदर्शन में आचार्य अमृतचन्द्र की भाषा विद्वत्भाषा है। सोमदेव सूरि के महाकाव्यों/शास्त्रों की भाषा बहुत क्लिष्ट भाषा है। जटिलभाषा से तुम्हारी विद्वत्ता तो झलक जायेगी, पर सामान्य लोगों को लाभ नहीं मिलता। इसीलिये हमारे आचार्यों ने टीकायें लिखी, भाष्य लिखे। जब भी वक्ता कथन करे तो श्रोताओं को एकबार जरूर देख ले, कि किस श्रेणी के श्रोता हैं? इनकी क्षमता कितनी है? जब किसान अपनी मिट्टी को परख लेता है, विचारता है कि इस मिट्टी में कौन–सा बीज डाला जाए और कितना खाद पानी दिया जाये। क्या तुम उस किसान से भी गये–बीते हो? आपको इन चेतन मिट्टी को देख लेना चाहिये कि यहाँ पर किसप्रकार का खाद–पानी पड़ा है और कैसे बीज का वपन किया जाय। तत्वज्ञान का विस्तार तो होना चाहिये। यदि विस्तार नहीं होगा, तो साढ़े अठारह हजार वर्ष तक कैसे चलेगा? शास्त्रों को अभी से तुम अलमारियों में बन्द कर दोगे, तो क्या होगा? अतः तत्त्वज्ञान का प्रचार करो।

भो ज्ञानी! अमरीका में क्या हुआ, इंगलैण्ड में क्या हो रहा है? इससे मोक्ष– मार्ग नहीं खुलेगा। त्रेसठ शलाकापुरुष हैं। कहानी सुनाना ही है, तो इनकी सुनाओ। कथा करना है, तो इनकी करो। ये धर्मकथायें हैं और ये तत्त्वचर्चा है। एक नियम ले लेना कि कभी भी प्रवचन सुनने जाओ तो वक्ता को सुन लेना पहले और सुनने के बाद गुनना भी, कि कहाँ ले जा रहा है और क्यों ले जा रहा है? और ये किस विषय का व्याख्याता है? यदि कहीं चूक होती है, तो आपको भी उपगूहन, स्थितिकरण का ध्यान रखना चाहिये। एकान्त में जाकर बोलना चाहिये कि ये शब्द यहाँपर छूट गया है।

भो ज्ञानी! श्रोता भी इतना परिपक्व हो गया है, कि आपकी चूक को समझ जायेगा। ये श्रोता सब सुन रहे हैं शांति से बैठे–बैठे, जरा भी कहीं कमी होगी तो कल आप मंच पर व्याख्यान नहीं कर पाओगे। पर अन्दर– ही–अन्दर चर्चा शुरू हो जायेगी। इतना समझदार श्रोता है और होना ही चाहिये। सभी नहीं होते, कुछ होते हैं। पर उसका तरीका यही है, कि ज्ञान में यदि दोष आ रहा है, तो उस ज्ञान को निर्दोष बनायें। दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों में सम्यक् शब्द जुड़ा है और सम्यक् शब्द का अर्थ है निर्दोष।

भो चेतन आत्मा! हमारे आगम में वक्ता का विशेषण पहले दिया, फिर श्रोता का दिया है। वक्ता की प्रमाणिकता ही वचन की प्रमाणिकता है। वक्ता को प्रमाणित कहना चाहिये। मूलग्रन्थकर्ता सर्वज्ञदेव, उत्तरग्रन्थकर्ता गणधरदेव, प्रतिगणधरदेव, आचार्यपरमेष्ठि तीन ही प्रवक्ता हैं। इनके विरुद्ध जो बोले, वो वक्ता नहीं होते। इन तीनों के अनुसार जो कह रहा है, वो वक्ता है। यदि जिनवाणी नहीं है, तो उसे वक्ता हमारे यहाँ नहीं माना गया है। चरणानुयोग, करणानुयोग वक्ता किसे कहेगा? भो ज्ञानी! दो इंद्रिय से वक्ता शुरू हो जाता है। एक इंद्रिय वक्ता जरूर नहीं होता और दो इंद्रिय जीव वक्ता होता है। ये सिद्धान्त का वक्ता है। दो इंद्रिय जीव वक्ता है, बोलता है।

आप कितने इंद्रिय हो ? कौन–सी जाति के हो? बोले, मैं जैन हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ। ये सब पंचेन्द्रिय जाति है। बस, और–कोई जाति नहीं। ये जातियाँ तुम्हारे देश, प्रदेश, भाषा से बनी हुई हैं और सिद्धान्त की जाति तो एक ही है। ये पाँच जातियाँ है। एक इंद्रिय जाति, दो इंद्रिय जाति, तीन इंद्रिय जाति, चार इंद्रिय जाति और पाँच इंद्रिय जाति। अपन तो पाँच इंद्रिय जाति के हैं, बाकि जाति अपन नहीं जानते। उनमें जाओगे तो लड़ोगे। बस, एक ही जाति सीख लो आप लोग। आपकी सिद्धान्त की जाति है पाँच इंद्रिय।

भो ज्ञानी! परद्रव्य उपादेयभूत नहीं है। आत्मसहज वैराग्य के भवन में शिखर का चूड़ामणि, ये कलश, पंच–इंद्रियों के विषयों से रहित है।

भो ज्ञानी! मूल जो संयम है, वह छठवें गुणस्थान से प्रारंभ होता है। परम जिन–योगीश्वर जिनकी तीक्ष्णबुद्धि यानि निजद्रव्य में ही तीक्ष्ण है पैनीदृष्टि, वो ही आत्मा उपादेय है। औदयिक आदि जो चारभाव हैं, इनसे रहित जो आत्मा है, वही कारणपरमात्मा है। द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म इनसे रहित है जो आत्मा, वही कारणपरमात्मा है। फिर कार्यपरमात्मा कौन होगा? द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित देख रहा है शुद्ध–उपयोग में, वो है कारणपरमात्मा और द्रव्यकर्म, भावकर्म से रहित है जो आत्मा, वह है कार्यपरमात्मा, सिद्ध–भगवान्। ये व्याख्यान निश्चयनय की दृष्टि से है। ध्यान रखना, निश्चय व निश्चयनय में अंतर है। 'निश्चयनय' होता नहीं है, कहता है और 'निश्चय' होता है। निश्चयनय कारण परमात्मा है और निश्चय कार्यपरमात्मा है।

भो ज्ञानी! निश्चयनय जो भी शुद्ध की बात कर रहा है, वो वास्तव में कारणपरमात्मा है। भैया! ज्यादा शब्दों का परिग्रह न बढ़ाओ। कभी–कभी शास्त्रीय संगीत में क्या होता

है? बस, आ..... आ..... । घंटों–घंटों उसीमें लगे हैं । पूरा समय निकल जाता है । भो चेतन! शास्त्रीय संगीत न बनाओ । इसमें तो जितने शब्द लगा दोगे, उतना ही आप समय बर्बाद करोगे । इन्हीं अल्प से शब्दों से काम कर लो । हाँ इतना समझना है कि द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित है आत्मा । ये निश्चयनय से संसार–व्यवस्था यानी कारणपरमात्मा और निश्चय यानी जब सिद्ध बन गये । अब निश्चय है, नय नहीं लगाना है, वो नयातीत हैं । अब नय शब्द नहीं जुड़ना । स्वभाव जो द्रव्य का है, वो निश्चयनय नहीं है, वो निश्चय है । पानी शीतल है, निश्चयनय से नहीं, निश्चय से है । पानी उष्ण भी है, इसमें नय लग जायेगा । पानी शीतल भी है, इसमें नय लग जायेगा । पर पानी शीतल है, इसमें कोई नय नहीं है । अग्नि उष्ण है, अरे! अब क्या नय लगाओगे? वो तो उष्ण है ही । अच्छा, ये बताओ, आप जीव हैं, किस नय से? व्यवहारनय से जीव नहीं हो यानि जीव हो । जीव हो, कि भगवान्–आत्मा हो? ठीक है, ''जो है, वही है'' । अच्छा शब्द आचार्यों ने चुन करके दे दिया है, सो आनंद लूट रहे हो ।

भो मनीषियो! ये अंतिम शब्द को पकड़ना । समझने का विषय है । प्राप्ति का मार्ग भी यही है । औदयिकभाव, औपशमिकभाव, क्षयोपशम, यहाँ गति के अपेक्षा से, गति की प्रधानता रखी गई है । गति चल रही मनुष्यगति, इसलिये इसे रख दिया । निज–परमात्मतत्त्व को छोड़कर किंचिंतमात्र भी उपादेय नहीं है । ये 'नियमसार' है । मनीषियो! ध्यान रखना, ये सब व्यवहार है, पर उसके बिना नियमसार भी नहीं है ।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **निर्विकल्प तत्व के स्वरूप का कथन।**

णो खलु सहावठाणा, णो माणवभाणभावठाणा वा।
णो हरिसभावठाणा, णो जीवस्साहरिसठाणा वा।।39।।

संस्कृत छाया : **न खलु स्वभावस्थानानि न मानापमानभावस्थानानिवा।**
न हर्षभावस्थानानि न जीवस्याहर्षस्थानानि वा।।39।।

अन्वयार्थ : (जीवस्य खलु स्वभावस्थानानि न) जीव के वास्तव में स्वभावस्थान नहीं है (मानापमानभावस्थानानि वा न) और मान–अपमान भाव के स्थान भी नहीं है (हर्ष भावस्थानानि न) हर्षभाव के स्थान नहीं है (वा अहर्षस्थानानि न) और अहर्ष–विषादभाव के स्थान भी नहीं हैं।

भव्य बंधुओं! आचार्यभगवन्त कुन्दकुन्द स्वामी ने शुद्धभाव अधिकार में बहुत सुन्दर चर्चायें की, कि निश्चयनय से क्षायिकभाव भी जीव का भाव नहीं है। मैं तो पारणामिकभाव से युक्त हूँ। भो ज्ञानी! अब प्रतिपक्ष की बातें छोड़ दो। वो व्यवहारदृष्टि थी कि जहाँ शुद्ध है, वहाँ नियम से अशुद्ध था। जो अशुद्ध था, वही शुद्ध हुआ है। ये कर्मबन्ध विवक्षा है, पर पारिणामिकभाव क्या कहता है? जीवत्वभाव में कोई कर्म नहीं है, सम्पूर्ण कर्मों से निरपेक्ष व्यवस्था है। जीवत्वभाव अपने–आपमें शुद्ध है और वो त्रैकालिक शुद्ध है। कर्मबन्ध अपेक्षा अशुद्ध है। संसार अपेक्षा अशुद्ध है, पर स्वभाव अपेक्षा वह शुद्ध है।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि जो शुद्ध समयसार है, वही परम उपादेय है। यह समयसार शब्द में समयसार ग्रन्थ को मत स्वीकारना। यहाँ समयसार से तात्पर्य आत्मा के स्वभाव की बात है। इसलिये कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने ग्रन्थ का नाम 'समयपाहुड' लिखा है। अमृतचन्द्र स्वामी ने समयसारभूत आत्मा को नमस्कार किया है। उन्होंने भी समयसार–ग्रन्थ को नमस्कार नहीं किया है।

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे।।1।।

(स्वानुभूत्या चकासते) जो ज्योतिरूप भगवान् आत्मा है, उस समयसार को मेरा नमस्कार हो। (नमः समयसारः) जो आत्मा की अनुभूति से पुष्पित है। (चित् स्वभाव भावाय) जो चैतन्यस्वभाव है, वही पदार्थ है, न कि ग्रन्थ। चैतन्यस्वभाव पदार्थ है, उस

चैतन्य स्वभाव पदार्थ को यहाँ (नमः) नमस्कार हो, वही समयसार है। उस समयसार का कथन करनेवाला ग्रन्थ द्रव्यश्रुत है, इसलिये वो भी वंदनीय है।

जो चैतन्यस्वभाव पदार्थ है, वो भाव है, इसलिये वो चित्स्वभाव कारण– परमात्म चैतन्यद्रव्य है। उस चैतन्यद्रव्य में शुद्ध परिणाम है। दोनों अर्थ लगाओ। तो कारणपरमात्मा चैतन्यभाव और कार्यपरमात्मा चैतन्यस्वभाव। कारणपरमात्मा चैतन्यभाव यहाँ परिणाम है और कार्यपरमात्मा चैतन्यस्वभाव, कोई दिक्कत नहीं है। एक ही विषय है, चाहे भाव कहो, चाहे स्वभाव कहो। वे परिणाम, परिणामी के अभाव में नहीं होते। इस दृष्टि से तो उसी समयसार को यहाँ पद्मप्रभमलधारि देव नमस्कार कर रहे हैं और कह रहे हैं कि –जयवन्त हो वह समयसार। इस शब्द में चौबीसों तीर्थकर को, अनन्तानन्त सिद्धों को जयवंत कह दिया। आचार्य, उपाध्याय, साधु को भी जयवंत कह दिया। जिनवाणी माँ को भी जयवंत कह दिया।

अध्यात्म अमृतकलश पर अध्यात्म तरंगिणी ग्रन्थ है। उस ग्रन्थ में आचार्य भगवान् ने आठप्रकार से समयसार को नमस्कार किया है। पंचपरमेष्ठी को, रत्नत्रय धर्म को उन्होंने आठप्रकार से नमस्कार किया है। अनंत ज्ञानादिक आत्मा का स्वभाव, उसको जिसने प्राप्त कर लिया है, ऐसे सिद्ध परमेष्ठी ही समयसार हैं, उन्हें मेरा नमस्कार हो। केवलज्ञानपुंज से युक्त आत्मा ही समय है, ऐसे समय को जिसने प्राप्त कर लिया है, ऐसे अरहन्त की आत्मा ही समयसार है।

रत्नत्रय–पंथ, भेदाभेद–पंचाचार, ऐसे भेदाभेद पंचाचार से युक्त जो है, वही समयसार है, ऐसे आचार्यपरमेष्ठी ही समयसार हैं। उन्हें मेरा नमस्कार हो। द्रव्यश्रुत व भावश्रुत में जो लीन है, तो द्रव्य–भावश्रुत ही समय है। आगम समय है। ऐसे समय को जिसने समझा है, ऐसे उपाध्याय–परमेष्ठी की आत्मा ही समयसार है। संसार असार है। विषयों की लिप्सा को छोड़कर जिन्होंने निज–आत्मा की लीनता को साधा है, ऐसे साधुपरमेष्ठी की आत्मा ही समय है और उन्होंने रत्नत्रय को प्राप्त किया है, वही सार है। ऐसे साधुपरमेष्ठी की आत्मा समयसार है। जिस सरस्वती के प्रसाद से लोकालोक का ज्ञान होता है, आत्मा के शुद्धतत्त्व का भान होता है, ऐसी सरस्वती ही सारभूत है, वही जिनागम समय है। बस, वही समयसार है। वही जिनवाणी–माता को मेरा नमस्कार हो।

मनीषियो! यहाँ पद्मप्रभमलधारि देव समयसार को नमस्कार कर रहे हैं। वह ग्रन्थ को नमस्कार नहीं कर रहे हैं, वो समयसारभूत आत्मा को ही नमस्कार कर रहे हैं। आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी ने समयसार ग्रन्थ की टीका 'अध्यात्म–अमृतकलश' में ग्रन्थ को

नमस्कार नहीं किया है। उन्होंने वास्तव में निर्ग्रन्थ आत्मा को ही नमस्कार किया है क्योंकि स्वानुभूति ग्रन्थ में नहीं होती है। स्वानुभूति निर्ग्रन्थ–आत्मा में ही होती है। ग्रन्थ तो द्रव्यश्रुत है। इसकी विनय आप अवश्य करें, क्योंकि यह भावश्रुत का जनक है। इसका अवर्णवाद नहीं करना, इसका अविनय मत करना। परन्तु समयसार भावश्रुत नहीं है।

भो ज्ञानी! **'ज्ञान'** शास्त्र में नहीं होता है, **'ज्ञान'** शास्त्र का धर्म नहीं है। ज्ञान तो आत्मा का धर्म है। वो आत्मधर्म को प्रकट करने का साधन हो सकता है। यदि आत्मधर्म शास्त्र होता, तो हमारे आचार्य इसे परिग्रह की संज्ञा न देते। **'परमात्मप्रकाश'** में आचार्य योगीन्दुदेव ने लिखा है–हे मुनिराज! ये पोथी भी तेरे काम नहीं आयेगी। चट्टे– बट्टे, कुंडी, चेला–चेली तेरे कार्यकारी नहीं हैं। निश्चय से तो स्वानुभूति ही तेरा सर्वस्व है। उसी स्वानुभूति को यहाँ नमस्कार कर रहे हैं।

जयति समयसारः सर्वतत्वैकसारः सकलविलयदूरः प्रास्तदुर्व्वारमारः।
दुरिततरुकुठारः शुद्धबोधावतारःसुखजलनिधिपूरः क्लेशवाराशिपारः।। कलश 54।।

मनीषियो! आचार्यभगवन् पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि समयसार जयवन्त हो। जिनशासन की दृष्टि से जिनशासन ही जयवन्त हो, क्योंकि जिनशासन को स्वसमय कहा जाता है। जो स्वसमय में लीन होता है, वही सुसमयसार है। किसी को मिथ्यादृष्टि कहना हो तो मधुरभाषा में ''तू परसमय'', तूने समय को नहीं समझा। देखो, अध्यात्म की लीला, गाली को भी क्या शुद्धदशा का उपभोग किया जाता है। एक सज्जन बोले–आपमें बहुत लोकेषणा है। अहो ज्ञानी! लोकेषणा नहीं होगी, तो सम्यग्दृष्टि नहीं होगा। आप मेरी भाषा को समझना, आप अपनी भाषा का उपयोग मत करना। लोकेषणा उसी को होती है, जो सम्यग्दृष्टि जीव हो। लोक उसे कहते हैं, जिसमें छह–द्रव्य विराजे हों और एषणा यानि इच्छा नहीं है, तो वह सम्यग्दृष्टि नहीं है।

'पंचास्तिकाय' में जयसेनस्वामी ने लोक यानि आत्मा कहा। 'राजवार्तिक' में बड़ी गजब की व्याख्या है। यदि तू लोक में निवास नहीं करता है, तो अनवस्था दोष आ जाता है। कैसे आयेगा? तीन वातवलयों के आधार पर लोक टिका हुआ है। ये किसी कछुये की पीठ पर नहीं है। ये लोक किसी शेषनाग की पीठ पर नहीं है। इसको कोई थामे नहीं है। इसका कोई कर्त्ता नहीं है, इसका कोई रक्षक भी नहीं है। द्रव्य 'विष्णु' है, व्यय 'शंकर' है, उत्पाद 'ब्रह्मा' है। आचार्य महाराज का चिन्तन तो सुनो। व्यवहारदृष्टि से लोक तीन

वातवलयों से वेष्ठित है। तू कहता है कि मैं लोक में प्रतिष्ठित हूँ। पुनः प्रश्न हुआ, यदि तीन वातवलयों पर लोकप्रतिष्ठित है। तीन वातवलय किस पर प्रतिष्ठित हैं? यदि आप कहें कि शेषनाग पर विष्णु के अवतार, तो उनसे भी प्रश्न हो जायेगा कि वो कहाँ पर विराजे हैं? इसलिये अन्त में कहना पड़ेगा कि प्रत्येक द्रव्य स्वप्रतिष्ठित है और अपने चतुष्टय में है। अन्त में निश्चय की भाषा ही तुम्हारे दोष को टाल सकती है।

अब लोकेषणा। तो मैं अपने लोक में स्थित हूँ और मेरा लोक जो है, वो ज्ञान–दर्शनस्वभावी है। उस ज्ञान–दर्शनस्वभाव की इच्छा किसको नहीं होगी? जिसको ज्ञान–दर्शनस्वभाव की इच्छा है, वो ही सच्ची मुमुक्षु लोकेषणा है। व्यवहारिक दृष्टि में लोकेषणा यानि लोक की वस्तु मुझे मिल जाये। पर मिलेगी कब? प्रसिद्धि–विशेष का नाम लोकेषणा नहीं है। प्रसिद्धि–विशेष की कामना का नाम लोकेषणा है। यश की कितनी ही कामना रख लेना, पर यशःकीर्ति नामकर्म का उदय नहीं है, तो कामना कभी कार्यकारी न हुई है, न होगी। जैनदर्शन को माननेवाला इन सब प्रपंचों से परे है।

कहाँ विराजे हैं आप लोग? व्यवहार से लोकाकाश में और निश्चय से निजलोक में। इसके सिवाय तुम कहीं नहीं विराज सकते हो। प्रत्येक द्रव्य स्वचतुष्टय में ही प्रतिष्ठित है। मनीषियो! जयति समयसारः, वह समयसार जयवंत हो। ऐसा सम्पूर्ण विशेषण ऐसे योगी को ही घटित होगा, जो बिल्कुल निर्विकल्प दशा में लवलीन हैं। पाँचपापों के जो पाँच वृक्ष खड़े हुए हैं, इनको मूलरूप से नष्ट करके। व्यवहारदृष्टि से छठवें गुणस्थान के पहले पांच–पापों का त्याग नहीं होता है, इसको कोई टाल नहीं सकता है और वास्तव में संयम की पूर्णता यदि कहीं है, तो उसका नाम चौदहवाँ गुणस्थान है। निरास्रवभाव चौदहवें गुणस्थान में है। इसके पहले आस्रव–ही–आस्रव है। इसलिये समयसारभूत परम शुद्धआत्मा चौदहवें गुणस्थान में विराजे हैं।

भो ज्ञानी! वीतरागी स्नातक मुनि कौन? स्नातक महामुनिराज तेरहवें गुणस्थान में पूर्ण शुद्धचारित्र में हैं, फिर चौदहवें की बात? क्योंकि फिर भी चारित्र पूर्ण नहीं है। ईर्यापथ आस्रव चल रहा है तेरहवें तक। पूर्ण शुद्धचारित्र क्यों नहीं है? भो ज्ञानी! तस्कर के साथ रहनेवाला तस्कर ही कहलाता है। ये वही योग है, जिस योग के द्वारा पांचों–इन्द्रियों के भोग किये गये थे। वो योग जबतक समाप्त नहीं होगा, तबतक पूर्ण शुद्धोपयोग की दशा यानि परम–यथाख्यात चारित्र नहीं होगा।

आचार्यभगवन्त नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती देव ने लिखा है–

सीलेसिं संपत्तो, णिरुद्धणिस्सेस आसवो जीवो।

कम्मरय विप्पयुक्को, गयजोगो केवली होदि।। गो.जी.कां 65।।

जिन्होंने शील की संपदा को प्राप्त कर लिया है, जिन्होंने संपूर्ण आस्रव का अभाव कर लिया है, कर्मरज से विमुक्त होने वाले हैं, वे योग से रहित केवली हैं अयोगकेवली। ये विवक्षा समझना।

ध्यान रखना, यहाँ पर्यायदृष्टि का कथन नहीं है, यहाँ पूरा द्रव्यदृष्टि का कथन है। गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि, ये जीव का धर्म नहीं है, ये शरीर का धर्म है। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय नाम का कोई जीव नहीं होता है। यदि आपने व्यवहारदृष्टि को नहीं समझा, तो अनाचारी बन जाओगे। पर ये समयसार अनाचारी बनाने के लिये भी नहीं है। ये सदाचारी बनाने के लिये भी नहीं है। भो ज्ञानी! ये अनाचार व सदाचार से परे है। शुद्धोपयोग में वो नहीं मिलेगा। यदि आपसे कहा गया कि एकेन्द्रिय नाम का जीव नहीं है, दो इंद्रिय नाम का जीव नहीं है, ये पुद्गल की व्यवस्था है, तो आप क्या जीवरक्षा बन्द कर दोगे? जीवों को कुचल दोगे? नहीं। फिर यही कहोगे कि ये जीव हैं। इसलिये 'गोम्मटसार–जीवकाण्ड' तो अशुद्ध– जीवकाण्ड है और 'समयसार' शुद्ध–जीवकाण्ड है।

भो ज्ञानी! 'जीवकाण्ड' में जो कथन है, वहाँ अशुद्ध–जीवों के समूह का वर्णन है और 'समयसार' में जो कथन है, वहाँ शुद्ध–जीवों के समूह का वर्णन है। विवक्षा आपको समझना है। एकेन्द्रिय–जाति का कोई जीव नहीं है, उसको भी समझो कि क्यों कहा था? भो ज्ञानी! जो शरीर है, वह जड़ है। जो इंद्रियाँ हैं, वो शरीर में हैं। जीव इनसे रहित है। इसलिये जीव एकेन्द्रिय, दो इंद्रिय आदि नहीं है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से इंद्रिय, शरीरादि जीव है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 39 में कह रहे हैं, कि निश्चय से आत्मा का स्वभाव स्थापित नहीं है। जब तक स्वभाव की चर्चा है, तब तक स्वभावलीनता नहीं है। ये सब विषय वास्तव में यतियों के बीच का है। जब सराग–अवस्था में हो, तो कुन्दकुन्ददेव 'प्रवचनसार' में लिखते हैं–कि तुम दान, पूजा आदि का भी उपदेश करो, परन्तु उसके भी कर्ता मत बनो। हे यति! श्रावक को भी उसके धर्म का उपदेश करो,

परन्तु निज की भूमिका में हो तो उसे भी तुम भूल जाओ। श्रद्धा तो भइया! त्रैकालिक रखना पड़ेगी। एक समय को भी श्रद्धा नहीं झुकना चाहिये। एकदिन आपको उदाहरण दिया था, जैसे पनघट से आई दो पनहारिन, सिर पर कलश रखे हुये हैं। मार्ग में चर्चा प्रारंभ हो गई । एक घंटे तक चलती रही, परन्तु कलश फिर भी नहीं गिरा। हाथ छोड़े थी, सिर पर कलश रखा है। बड़ी चर्चायें चल रही हैं, हाथ भी फटकारे जा रहे हैं, फिर भी कलश सिर पर रखा है।

हे यति! उपदेश भी करो, प्रवचन भी करो, सबकुछ करो, पर निज–अध्यात्म को मत भूल जाना, नहीं तो नीचे गिर जाओगे। इसका नाम दृष्टि है। इन रागियों के बीच में जी रहे हो मुनिराज! फिर भी सरल बनो, सहज बनो, सत्य बनो, लेकिन संयम के लिये नहीं । संयम के लिये कठोर बनो। सरल, सहज किसके लिये? दूसरे के लिये। पर अपने संयम में सरलता नहीं लाना, वो कठोर ही होना।

हम लोग जब क्षुल्लक थे, महाराजजी सब पूछते थे–अच्छा बताओ, आहार कहां हुये? तुमने आहार में क्या–क्या लिया? अरे भैया, बड़ी शर्म लगती थी, क्योंकि वहीं श्रावक बैठे। सब बाले–महाराज! कढ़ी, दाल, भात, आदि। सब पूरा व्याख्यान सुन लेते। इसमें कितना बड़ा रहस्य था कि गुरु देख रहे हैं कि एक श्रावक के यहाँ इनके कितने बार आहार हुये, क्योंकि तुम्हें बताना है। क्योंकि रागदृष्टि बन गई तो तुम घूम–फिरकर वहीं पहुँच जाते हो। और जहाँ अच्छा भोजन मिलेगा, तुम आहार करने वहीं जाओगे। गुरु तुम्हारा ध्यान रख रहे हैं कि तुम्हारा क्या हो रहा है? महाराज जी सबके बीच पूछते हैं कि क्या लिया ? बोले–रसगुल्ले लिये, पेड़े लिये, लड्डू लिये, सबकुछ लिये, और आचार्य महाराज सबकुछ सुन रहे हैं। चार दिन एक सा भोजन बता रहा है, इसका तात्पर्य है कि इसके अंदर इस वस्तु की गृद्धता है। बोले–बेटा! तुम पाँच दिन के लिये रसगुल्ले का त्याग ले लो। यह अभी भी कुछ संघों में चल रहा है। उसे अपन रुढ़ि समझते थे, लेकिन वो रुढ़ि नहीं है, वो बहुत अच्छी व्यवस्था है।

भो ज्ञानी! पूर्व–आचार्यों की दृष्टि कितनी विशाल होती है। संघ का इतना ध्यान रखने के बाद भी समयसार–कलश नहीं गिरना चाहिये। आप अनुभव करो, आज ज्ञान तो बढ़ रहा है, परन्तु सहजता कम दिख रही है, पाप–पटुता बढ़ रही है। आज से 50–60 वर्ष पूर्व सहजता थी, महाराज के आने पर ऐसे विशाल मंच नहीं लगते थे। जहाँ आहार हुये, वहीं एक कुर्सी/तखत रख दिया। महाराज चार बातें सुना दो। वहीं प्रवचन हो गया और विहार भी कर गये।

एक मुनिराज मुरैना में सामायिक करने बैठे। ठंड का मौसम था। किसी श्रावक ने सोचा–बहुत ठंड पड़ती है। दया आ गई, पर अज्ञानतापूर्वक दया थी। घास रखी थी, उसमें मुनिराज सामायिक कर रहे थे बैठे–बैठे। पाटे के नीचे, सामायिक के बीच, कोई सिगड़ी रख गया और चला गया। रात्रि में सिगड़ी झुलसी, घास में आग लग गई। यतिराज सामायिक में लीन रहे। सुबह मात्र हडिड्याँ ही मिली। वो आकार भी वैसा था, जैसे सामायिक में बैठे थे। तब लगा कि पाण्डवों ने कैसे ध्यान किया होगा? आवाज दे देते , किसी को बुला लेते, लेकिन नहीं। जो हमारा लक्ष्य था, पूर्ण हो रहा है। समाधि का लक्ष्य था और समाधि सहित जा रहा हूँ। सामायिक में थे, समाधि क्यों भंग करें, शरीर तो जल ही गया। तुम भगोगे, तो संयम और चला जायेगा। अब गहरे में जाओ, शरीर तो जल ही गया और उठे, तो संयम गया। अब तो तुम ठीक तो हो नहीं सकते हो। उपचार कराओगे, तो संयम छूटेगा। ऐसे जीव भी इस काल में हुये हैं। कितनी गहन श्रद्धा होगी रत्नत्रयधर्म के प्रति। ऐसे मुनियों/साधुओं की चर्चा भी हमारी समाधि का हेतु बनती है।

भो ज्ञानी! इसलिये प्रथमानुयोग में यतियों के उपसर्ग/परीषह का कथानक पढ़ते ही रहना चाहिये। क्योंकि अपना धैर्य बढ़ता है, क्षमता बढ़ती है। छतरपुर के एक श्रावक भैया हैं, आप ही जैसे गृहस्थी का काम करते हैं, दो प्रतिमाघारी हैं। एकदिन विहार में सुनाने लगे–महाराज जी! छतरपुर में डेरा पहाड़ी है एक तीर्थ। एकदिन हमने प्रतिज्ञा कर ली कि डेरापहाड़ी पर सामायिक करेंगे। सामायिक करते समय एक पटार जंधा पर चढ़ गयी और चिपक गयी। ऐसा चिपकी कि खून का बहना चालू हो गया। मैंने पूछा–आपने क्या किया? बोले–कुछ नहीं किया। मैं तो एक घंटे की प्रतिज्ञा लेकर बैठा था। हमने कहा–कि ये पटार खून पीना नहीं छोड़ सकती। इतना कुधर्म कर रही है, तो मैं अपनी सामायिक कैसे छोड़ सकता हूँ? एक श्रावक, और इतनी दृढ़ता, कि एक घंटे तक वो पटार खून पीती रही, वो भैया सामायिक करते रहे। आज भी ऐसे लोग हैं, एकदम सीधे, सहज।

भो ज्ञानी! जो सहज होता है, वही सहजता को प्राप्त होता है। जहाँ दिखावा होता है, वहाँ सहजता फीकी पड़ जाती है। ये निर्विकल्प ध्यान का व्याख्यान है। समाधि से तात्पर्य मृत्यु नहीं लगाना। यहाँ समाधि यानि ध्यान। वो तो सल्लेखना है। जिसकी समाधि निर्विकल्प रहती है, उसीकी सल्लेखना निर्विकल्प होती है। जिसके पास समाधि नहीं है,

उसके पास सल्लेखना नहीं है। अंतर ये है कि सल्लेखना यानि जब प्राणों का अभाव है और समाधि परिणामों की निर्मलता का नाम है। इसलिये सत्–लेखन, समीचीनरूप से कृश करना। किसको? शरीर और कषाय दोनों को, उसका नाम सल्लेखना है। पर वो समाधि सहित हों यानि परिणामों की निर्मलता। बस, अंतिम दशा का ध्यान रखना। अंतिम दशा तेरी समाधि है। समाधि का लक्ष्य यदि भूल गये, तो न जिनवाणी काम आयेगी, न जिनदेव काम आयेंगे। जो है, सो बिलकुल सत्य है। समाधि के लिये ही गुरुमहाराज हैं, क्योंकि अंतिम लक्ष्य तो समाधि है। संयम का सोपान है सहजता और संयम का शिखर है समाधि।

भो ज्ञानी! जबतक ये दृष्टि है कि इसने मेरा सम्मान किया, इसने मेरा अपमान किया, तो अभी तुम पुद्गल में हो। 'महाराज! हम तो गृहस्थ हैं।' ओहो, इसके लिये तुम गृहस्थ बन जाते हो और वैसे कहते हो कि हम भगवान्–आत्मा हैं। ऐसा नहीं है। कोई ऋृषिराज थे, मुनिराज थे, आपने चौकी लगा दी, तो क्या आपने उनका गुणस्थान बढ़ा दिया? एक ने मुनिराज को बैठने के लिये चौकी रखी थी और दूसरा उस चौकी को उठाकर ले गया, तो उसने गुणस्थान गिरा दिया क्या महाराज का? अरे अज्ञानी! चौकी–पाटे में गुणस्थान नहीं था। गुणस्थान परिणामों में है। उसे तुम न बढ़ा सकते हो, न घटा सकते हो। तुम्हारी पूजा किसी मुनिराज के गुणस्थान को बढ़ा नहीं सकती है और तुम्हारी अवहेलना गुणस्थान घटा नहीं सकती है। ये मुनि का धर्म है, स्वभाव। संसार के सुख, संसार के दुःखभूत, उनमें हर्ष–विषाद परिणाम को स्थान नहीं है। दुःखों के अभाव से हर्षित होता है और सुख के अभाव से दुःखित होता है। परन्तु भो ज्ञानी! सुख–दुःख के स्थान ही तेरे नहीं हैं, इसलिये हर्ष स्थान भी नहीं है, विषाद स्थान भी नहीं है। इसप्रकार जानना चाहिये।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : बन्धस्थानों और उदयस्थानों का समूह जीव के नहीं है।

णो ठिदिबंधट्ठाणा, पयडिट्ठाणा पदेसठाणा वा।
णो अणुभागट्ठाणा, जीवस्स ण उदयठाणा वा।।40।।

संस्कृत छाया : न स्थितिबंधस्थानानि प्रकृतिस्थानानि प्रदेशस्थानानि वा।
नानुभागस्थानानि जीवस्य नोदयस्थानानि वा।।40।।

अन्वयार्थ : (जीवस्य) जीव के (स्थितिबंधस्थानानि) स्थितिबन्ध स्थान (प्रकृतिस्थानानि प्रदेशस्थानानि वा न) प्रकृति स्थान और प्रदेश स्थान नहीं है (अनुभाग स्थानानि न) अनुभाग स्थान नहीं है (उदयस्थानानि वा न) और उदय स्थान भी नहीं है।

भव्य बंधुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने शुद्धभाव अधिकार में जीव के शुद्धस्वभाव का संकेत दिया। यह जीव औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक, यहाँ तक कि क्षायिक, इन सौपादिक भावों से रहित है। पारणामिक–स्वभाव इसका वास्तविक स्वभाव है। शुभाशुभ आस्रवभाव जीव का आत्मभाव नहीं है। आत्मभाव पर जबतक दृष्टि नहीं जायेगी, तबतक योगी निर्ग्रन्थता को प्राप्त नहीं करेगा। क्योंकि आस्रव प्रतिक्षण/प्रतिपल अशुचिमय ही है।

भो ज्ञानी! अशुचिता को समझो। 'समयसार' में कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं कि आस्रव अशुचिमय है, बन्ध का हेतु है। जब–जब आस्रव होगा, तब–तब बन्ध होगा, भले एक–समय का हो। जबतक योगी–अवस्था नहीं बनती है, तबतक पूर्ण निरास्रवभाव प्रारम्भ नहीं होता। उस निरास्रवभाव की सिद्धि के लिये आचार्य महाराज कह रहे हैं, कि अभी से अभ्यास करने की आवश्यकता है। जैसे सल्लेखना के लिये अंतिम–समय की तैयारी का इंतजार नहीं करना चाहिये। जब सल्लेखना के लिये अंतिम–समय की तैयारी नहीं है, तब भगवान् बनने के लिये अंतिम–समय का इंतजार कौन करेगा?

समरभूमि में युद्ध हो या न हो, लेकिन योद्धा प्रतिक्षण अपने अस्त्र–शस्त्रों को व्यवस्थित रखता है। घुड़सवार घोड़े को दौड़ाते हैं। अस्त्रशस्त्र वाले अस्त्रशस्त्र को देखते हैं। क्योंकि पता नहीं कि शत्रु किस दिशा से कब आक्रमण कर दे। इसीप्रकार से साधक के लिये आयुकर्म किस समय क्षीण हो जाये, हम नहीं संभल पाये। बंध तो बाद में होगा, वो सुनिश्चित है, परन्तु क्षीणता कब होगी? ये आपको मालूम नहीं है। आयु का बन्ध जब

भी होगा, त्रिभाग में ही होगा, प्रतिपल नहीं होता है। एक समय में सात–कर्म का बन्ध एक–साथ चलता रहता है, परन्तु आयुकर्म का बन्ध त्रिभाग में ही होता है। जब आयुकर्म का बन्ध होता है, उस समय एकसाथ आठ–कर्म का बन्ध होता है।

कोई भी शुभाशुभ–कर्म आप करेंगे, तो सात–भागों में विभाजित हो जाता है, पर प्रधानता उसकी रहती है, जिस कर्म के कार्य की प्रचुरता होती है, उस कर्म की प्रधानता होती है। किसी की जिनवाणी को आपने उठाकर छिपा दिया, तो ज्ञानावरणीय–कर्म की प्रधानता से बन्ध होगा। परन्तु जो द्रव्य आया है, वह सात भाग में विभाजित होगा। जैसे व्यक्ति भोजन करता, कभी रोगी भी हो जाता, कभी औषधि का भी सेवन करता, वह औषधि उस रोग के लिये स्थायीरूप से प्रतिकार कर ही रही है। उस औषधि से जो द्रव्य बनेगा, उससे सात धातु बनती हैं। भोजन एक मुख से होता, पर कार्य सात होता है। रस, रक्त, माँस, मज्जा, मेघा, अस्थि, शुक्र इन सात–धातु का निर्माण होता है। इसीप्रकार से किसी भी कर्म का आस्रव करेंगे, वो आस्रव का द्रव्य वहाँ विभाजित होता है।

भो ज्ञानी! इसीप्रकार से कर्मसिद्धान्त कहता है कि भले ही आप योग से करें, उपयोग से करें। चाहे मनयोग से करें, चाहे वचनयोग से करें, चाहे काययोग से करें, कर्म का बन्ध/विभाजन तो सात में होना है। तद्नुकूल द्रव्य जब निर्मित होगा, तो उदय में भी आयेगा, वो सात ही प्रकार से उदय में आयेगा और आयुकर्म साथ होगा, तो आठ जगह उदय में आयेगा। भो चेतन! कर्म का उदय में आना, ये बन्ध का कारण नहीं है। कर्मोदय में पुनः रागादिकभाव करना, ये बन्ध का कारण है। उदय में तो आयेंगे, क्योंकि बन्धे थे, उदीरणा भी हो सकती है। क्योंकि जब तपस्या करेंगे, तब उदयावली में समय के पहले कर्म को खिराया जा सकता है। लेकिन उसकेलिये निर्मल पुरुषार्थ चाहिये। जैसे पुण्य के द्रव्य को जीव उदयावली के पहले खिरा लेता है, पाप के द्रव्य को भी खिरा लेता है। पुण्य का द्रव्य आपका दसवर्ष तक चलनेवाला था। उसका आपने इतना उपभोग किया, दुरुपयोग किया कि वो सारा–का–सारा द्रव्य आपका कुछ ही दिन में समाप्त हो गया। लोग सहज में कहने लगते हैं, कि कुछ समय तक मेरे दिन बहुत अच्छे थे और अचानक पता नहीं क्या हो गया। कुछ दिन जो द्रव्य सत्ता में रखा था, या तो आपने उसका दुरुपयोग किया, या तो आपने तीव्र पाप का संचय किया। जैसे आपके घर में रखा गुड़ बारिश में पिघल जाता है। उसमें धूल–कण आदि–आदि ये सब मिलकर उसकी सीमा बढ़ गई और पता चलता है कि दस किलो का ग्यारह किलो हो गया। वही धूल मीठे के रूप में संक्रमित हो गई, या मिट्टी गुड़ के रूप में संक्रमित हो गई तो गुड़ का क्या

करोगे? कचड़े के साथ ही फेंकोगे। जो पुण्य का द्रव्य था, पापरूप में संक्रमित हो गया, वो भी आपको कचरे के रूप में ढ़ोना पड़ेगा।

भो ज्ञानी! दूसरे के लिये तो बहुत ज्ञानी हो। आप छोटे से बालक को यदि मिट्टी खाते देखते हो तो जहाँ मिट्टी पड़ी होती है वहाँ मिर्ची डाल देते हो, कि मुँह चिरपिरा जाए उसका और मिट्टी न खाये। परन्तु अपने–आपसे पूछो कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग में कितनी प्रकार की मिट्टी पड़ी हुई है और फिर भी आप बार–बार वहीं जाते हो। उसमें और मिर्ची डाल दो। और क्या कहूँ? गलती तो कर ली है, लेकिन गलती को सुधारा भी तो जा सकता है। उस गलती को सुधार लेंगे तो आप भगवान् बन जायेंगे। उसी बात को कलश में आचार्य पद्मप्रभमलधारि देव कह रहे हैं।

प्रीत्यप्रीतिविमुक्तशाश्वतपदे निःशेषतोऽन्तर्मुख–
निर्भेदोदितशर्मनिर्मितवियद्बिंबाकृतावात्मनि।
चैतन्यामृतपूरपूर्णवपुषि प्रेक्षावतां गोचरे
बुद्धिं किं न करोषि वांछसि सुखं त्वं संसृतेर्दुःकृते।। कलश 55।।

आप बात आत्मभाव की करते हो और क्रिया आस्रवभाव की करते हो। ''पुण्य फलम् इच्छति, पाप फलम् न इच्छति'' पुण्य के फल को चाहता है, पाप के फल को नहीं चाहता है। पर पुण्य नहीं करना चाहता है, पाप के फल को नहीं चाहता है, लेकिन प्रतिदिन पाप करता है।

मनीषियो! आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जो शाश्वत चैतन्य पद है, वह प्रीति और अप्रीति से विमुख है। जहाँ प्रीति है, वहाँ भी राग है। जहाँ अप्रीति है, वहाँ द्वेष है। रागी–द्वेषी आत्मानंदभोगी कैसा? इसलिये एक–एक शब्द पर दृष्टिपात करना। सिद्धों के सुख में प्रीति नहीं है, अप्रीति भी नहीं है। चैतन्यात्मकपूर्ण ही जिसका शरीर है। जो अज्ञानियों के गोचर नहीं है, विद्वानों के गोचर है। ऐसे शाश्वत–सुख के लिये तेरी बुद्धि आगे क्यों नहीं बढ़ती है? इसकी आकांक्षा क्यों नहीं करता है?

वास्तव में धर्म तो बहुत सहज है। जोड़ने का स्थान नहीं है और छोड़ने से आपको कष्ट होता है, तो जोड़ना बन्द कर दो और हटना प्रारंभ कर दो। वास्तविकता यह है कि आप सहजता में हटते जाओगे, तो वे भी आपसे हटते चले जायेंगे। कुछ दिन अनुभव कर लो आप, कुछ अभ्यास करो। यदि यहाँ वाचना न होती, तो इस समय आप दुकान पर होते। आप दुकान से यहाँ आये कि नहीं और लगातार महीनों से आ रहे हैं, तो क्या बेटे नहीं समझ रहे हैं कि पिताजी जा रहे हैं, इतना समय आपने निकाला। बच्चों को स्वयं

मालूम है कि पिताजी इस समय कहाँ होंगे? आप स्वाध्याय में गये, तो वो बालक पहले से ही व्यवस्था कर लेता है कि इतने समय तक अपने को अपने अनुसार देखना है। विवेकी यही तो देख लेता है कि पानी को निकालने के लिये कितना स्थान चाहिये पड़ता है। जरा–सी दरार मिल जाये, फिर तो उसके हाथ में है।

भो ज्ञानी! तुझे छिद्र दिख गया, निकलने को स्थान दिख गया। बेटा! जब मैं सुबह एक घंटे नहीं आता हूँ, मध्याह्न में नहीं आता हूँ, तब काम चला कि नहीं? इसके आगे भी काम चलेगा। आप तो व्यर्थ में पकड़े बैठे हो, जबरदस्ती बैठे हो। इसका तात्पर्य यह है कि पर मुझे नहीं पकड़ता है, मैं पर को पकड़े हूँ। जब कभी आप यात्रा को जाते हो, तब भी तो आप महीनों–महीनों घर छोड़ देते हो, सब व्यवस्था छोड़ देते हो।

मनीषियो! वास्तव में तो सत्य है कि देहमात्र परिग्रह ही तेरा अवशेष है। हे योगी! गात्र मात्र परिग्रह है तेरा, शेष तेरा कुछ नहीं और वो स्वभाव भी तेरा नहीं है, वो भी अत्यन्ताभाव है। इसलिये जिस कर्म में तुम बंधे हो, कुन्दकुन्द महाराज कह रहे हैं, वो भी तेरा नहीं है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्दस्वामी 40वीं गाथा में कह रहे हैं कि गति बंध– स्थान भी मेरा नहीं है, क्योंकि जिसकी स्थिति हैं, वो मैं नहीं हूँ, और मेरी कोई निश्चित स्थिति नहीं है, मैं अनादि अनिधन हूँ। जो बन्ध हुआ है, वो कर्म का हुआ है। जो बन्ध है, वो नोकर्म के साथ द्रव्यकर्म जो है, वो भावकर्म से युक्त है। भावकर्म है, वो रागादिकभाव है। पर मेरा ज्ञान दर्शन स्वभाव तो नहीं है, यहाँ लगाना। क्योंकि यह शुद्धभाव अधिकार है। आप शुद्धसत्ता को भी देख लें, इसलिये इसमें मत बिलखो कि मेरे 70 कोड़ाकोड़ी का बन्ध हो गया। अब तो वो हो ही गया, उदय में आयेगा। हाँ, विवेक लगाना था, तो उसदिन लगा सकते थे।

जब जीव समझता है कि मैंने आपकी आलोचना की तो आपको बन्ध होगा कि मुझे होगा? कितनी अज्ञानता छाई होती है, कि हम दूसरों के बारें में कितना सोचते हैं? 70 कोड़ाकोड़ी स्थिति का बंध तो किया, पर क्यों? इतना समय हम स्वयं के लिये दे देते, तो बन्ध न होता, न तो उदय में आकर भोगना पड़ता। किससे हुआ था बन्ध? केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव इनका अवर्णवाद करने से दर्शनमोहनीय कर्म का आस्रव होता है। और दर्शनमोहनीय कर्म की सर्वाधिक स्थिति 70 कोड़ाकोड़ी सागर है।

मनीषियो! कितनी अज्ञानता में जी रहे हैं? एक पुष्प चढ़ाकर भगवान् को प्राप्त करना चाहता है, दूसरा पुष्प हटाकर भगवान् को प्राप्त करना चाहता है। अरे, दोनों अज्ञानी हैं। कषाय को हटाओ, तो भगवान् मिलेंगे। ये नहीं देख रहे हो कि कर्मों के फूल, इनको

हटाओ। एक कह रहा है कि हम तो महावीरस्वामी की आराधना करते हैं, हम तो पारसनाथ की आराधना करते हैं। अरे भाई! वे तो आराधना करके सिद्ध बन गये, पर तुम दोनों की आराधना में मत लड़ो। जिनकी करना हो, उनकी कर लो। इसमें समय बरबाद मत करो। ध्यान रखो, समय निकला जा रहा है। इसलिये स्थिति–बन्ध कह रहा है कि जिस कर्म की जितनी स्थिति है, अपनी स्थिति पूर्ण करके खिरेगा। चाहे शुभ की स्थिति हो, चाहे अशुभ की। शुभ भी खिरेगा, अशुभ भी खिरेगा। पुरुषार्थ ये है, कि समय के पहले आप क्या सोचते हो? उसका नाम निर्जरा है।

भो ज्ञानी! प्रकृति–बन्धस्थान भी मेरा स्वभाव नहीं है। इसको भी समझो। व्यर्थ में कर्म का बन्ध भी मत करो। अब बिलखता है, कि मुझे याद नहीं होता, मैं बहुत पढ़ता हूँ, मेरी समझ में नहीं आता। ठीक है, इसमें भी मत रोओ, क्योंकि तुमने जो बन्ध किया था, उदय में तो आ ही रहा है। लेकिन एक बात का ध्यान रखना, जीवन में किसी के सम्यग्ज्ञान में दोष मत लगाना। दो विद्वान एकसाथ उपदेश करने आये। दृष्टि तुम्हारी क्या बनती है? वो क्या कहेगा कि वे तो हमसे पढ़े थे। भले पढ़े हों, आगे भी बढ़ सकते हैं। जब एक तीर्थंकर के रहते–रहते अनेक केवली मोक्ष जा सकते हैं, तो हे गुरुदेव! तुम्हारे बैठे होने पर भी अनेक शिष्य ज्ञानी भी हो सकते हैं। आप अपने–आपको गुरु मानकर मत बैठो। अहंकार में मत फूलो। किसी के निर्दोष ज्ञान में दोष लगाना, तत्त्वदोष है। मात्र ईर्ष्या है। जिनवाणी का नाम छुपा रहा है, गुरु का नाम छुपा रहा है। ठीक है, अभी तो तुम पूजा को प्राप्त कर लोगे, यश चल रहा होगा, लेकिन ये भी ध्यान रखो, कि आगे भी कुछ हो रहा है कि नहीं? सिद्धान्त देखना और ध्यान रखना।

भो ज्ञानी! छोटा–सा बालक भी यदि कुछ जानता है, उसकी पीठ ठोकने में तुम्हारा क्या जाता है? उसका उत्साह बढ़ा दो, बेटा! और अध्ययन करो, जिनवाणी पढ़ो। लेकिन किसी के ज्ञान में दोषारोपण मत करो, महाअविनय है। गुरु और शास्त्र का नाम भी मत छिपाओ। गुरु कैसे भी हों, परन्तु अपने गुरु का नाम मत छिपाना। बहुत बड़ा दोष है। यदि नहीं, तो उमास्वामी महाराज को क्या पड़ी थी लिखने की? प्रश्न करना हो, तो उमास्वामी महाराज से पूछना। मैं तो उनकी बात को ही कह रहा हूँ। मैं ग्रन्थकर्ता नहीं हूँ, ग्रन्थवाचक हूँ। जो उनने कहा है, वही मैं कह रहा हूँ।

जो ज्ञान के साधन हैं, उनकी अविनय करना, तोड़ना, फोड़ना, विघात करना, इससे ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय दोनों का एकसाथ आस्रव होता है। इनका जैसा स्वभाव होगा, वैसा ही फल देगा। जिस कर्म की जो स्थिति है और जो प्रकृति है, उतना और वैसा

ही फल देगा। ये भूल मत जाना और एक बात का ध्यान रखना कि जो आपने पापबन्ध किया, पूर्व में आस्रव कर लिया और वर्तमान में छोड़ दिया, तो इतने में खुश मत हो जाना। आपने छोड़ दिया तो अच्छा किया, परन्तु बन्ध किया। ऋृण लेना आपने बन्द कर दिया, अच्छा किया, परन्तु जो ऋृण ले चुके थे, उसको चुकाना होगा। जो पूर्व में बन्ध कर चुके हो, उसकी व्यवस्था और करिये। इसमें संतुष्ट मत हो जाओ, कि अब तो मैंने ऋृण लेना बन्द कर दिया है। अब तो रोज कमाता हूँ, रोज खाता हूँ। लेकिन कमाने–खानेवाले! दुगना कमाइये, आपको तो पहले का चुकाना भी है।

जो आप पुण्य कर रहे हो, वो पुण्य तो ठीक है। पर दुगना पुण्य चाहिये, क्योंकि आपको पूर्व का भी चुकाना है। धन का ऋृण तो बेटे भी चुका सकते हैं, पर कर्म के धन को बेटे भी नहीं चुका सकते। यहाँ तो स्वयं की व्यवस्था होगी। भो ज्ञानी! जितना तीव्र बन्ध किया था, उतना पुण्य तो करना होगा। इसके साथ ही प्रायश्चित भी करना होगा। स्वयं के किये कर्म का फल तुझे स्वयं ही भोगना होगा, दूसरा नहीं भोगेगा। दूसरा कर्म करे और तीसरा भोगे, तो स्वयं के कर्म व्यर्थ हो जायेंगे। जैन–सिद्धान्त ही व्यर्थ हो जायेगा।

भो ज्ञानी! आप पुण्य किसे कहते हैं जो पश्चाताप है, वही तो पुण्य है। यदि पुण्य आपने किया और पश्चाताप नहीं है, तो भी कटने वाले नहीं है। ठीक है, जो आपने पुण्य किया है। पुण्य के साथ आप 'तपस्या' शब्द जोड़ दीजिये। जितने घोर अनाचार आपने किये हैं, उतनी घोर साधना करना पड़ेगी। आप कहें कि हमने अच्छे दुर्व्यसनों का सेवन किया और फिर एक बहुत बड़ा विधान करा दिया। इतने से काम नहीं चलेगा। वो विधान तुम्हारी विभूति का कारण बन जायेगा। नवीन पुण्यास्रव का कारण तो बन जायेगा, लेकिन अंतरंग के परिणाम तुमने कितने किये, प्रश्न ये है।

भो ज्ञानी! कितने ही अनाचार कर लो और मंदिर में एकलाख रुपया दान कर दो। ये दण्ड–व्यवस्था, सामाजिक–व्यवस्था कहलायेगी। ये प्रायश्चित–व्यवस्था नहीं है। चित्तशुद्धि कहाँ हुई? वो तो आप और अहंकार में आ गये। प्रायश्चित का अर्थ दण्ड नहीं है। प्रायश्चित का अर्थ चित्तशुद्धि है। जो बंध कर लिये हैं, उनको छुड़ाने के लिये वंदना है। पर जान–जान कर करो, फिर कहो कि मैं वंदना करने जा रहा हूँ, तो इससे बन्ध हल्के होनेवाले नहीं हैं। चित्तशुद्धि नहीं है, तो प्रायश्चित नहीं है। ये सिद्धान्त का नियम है।

भो ज्ञानी! गुरुमुख से प्रायश्चित क्यों लिया जाता है? अपने लिये व्रत भी अपने द्वारा नहीं लिये जाते हैं, अपने द्वारा प्रायश्चित भी नहीं लिये जाते। गुरुमुख से ही प्रायश्चित, व्रत लिये जाते हैं। जिनविम्ब के सामने प्रायश्चित का विधान नहीं है, कुछ विशेषस्थिति

को छोड़कर। प्रायश्चित वास्तव में गुरु के नजदीक ही होगा, ये उनका विषय है कि क्या प्रायश्चित देना है। आपका विषय है कि आप पहले मायाचारी को छोड़कर बालकवत् दोषों का वर्णन करें। प्रायश्चित का निर्णय गुरु पर छोड़ दें।

भो ज्ञानी! कोई बिना गुरु–आज्ञा के दूसरे के शिष्य को स्वीकार कर रहा है, तो आपके अचौर्य–महाव्रत का पालन नहीं हो रहा है। जिनवाणी कहती है, कि यदि मुझे आचार्य से अध्ययन करना है, तो मुझे अपने गुरु से अनुमति लेना चाहिये।

मनीषियो! निश्चय से जीव के अनुभागस्थान भी नहीं है। जीव के उदयस्थान भी नहीं है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश बंधस्थान का जो समूह है, वो जीव के नहीं है, ऐसा कहते हैं। राग से रहित, कर्मोपाधि से रहित, जो निरंजन निज–परमात्मतत्त्व है, उनके निश्चय से जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं है। योग से प्रकृति, प्रदेश बंध होता है और कषाय से स्थिति, अनुभाग बन्ध होता है। जैसी कषाय होगी, वैसा स्थिति, अनुभाग बढ़ेगा। जैसा योग होगा, वैसा प्रकृति, प्रदेश बंध होगा। प्रकृति बंध, उसका जैसा नाम है, वैसा काम है।

भो ज्ञानी! निश्चयनय की भाषा को समझ करके कहीं नीचे मत चले जाना। मेरे स्थिति–बंधस्थान नहीं है। मेरे योगस्थान नहीं है। ये शुद्धोपयोग की भूमिका की चर्चा चल रही थी और तूने योग का दुरुपयोग आज से करना चालू कर दिया। मालूम चला कि बन्ध करके नीचे टपक गया।

भो ज्ञानी! देखना, रागदृष्टि मिथ्यादृष्टि कैसे बनाती है? आपको मालूम है कि बेटा मेरा धर्म नहीं है। पर बेटे के राग के पीछे आप कुदेव की उपासना करने चले जाते हो। जैनसिद्धान्त है कि कर्मबन्ध का कारण बेटा नहीं, कर्मबन्ध का कारण पदार्थ नहीं। फिर इनको छोड़कर मुनि जंगलों में क्यों भागते हैं? कर्मबन्ध का कारण भवन नहीं, कर्मबन्ध का कारण स्त्री नहीं, कर्मबन्ध का कारण पुत्र नहीं, तो फिर इनको छोड़ने की बात क्यों? ये कर्मबन्ध के कारण नहीं हैं, परन्तु कर्मबन्ध के कारण के कारण यही हैं। कर्मबंध का कारण तो नियम से राग ही है और राग तब होगा, जब पदार्थ होगा। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी, जयसेन स्वामी 'समयसार' की टीका में लिख रहे हैं कि कारण नहीं है, तो कार्य नहीं है। कैसे? बंध्या के पुत्र को मारने के लिये किसने तलवार फेकी। जब पुत्र ही नहीं है, तो बध करने का प्रश्न कहाँ उठता है?

भो ज्ञानी! बात को समझना। पदार्थ है, तो वो राग का कारण है। इसलिये पदार्थ को छोड़ो। ठीक है? ये भूल पदार्थ की नहीं है, तेरे परिणामों की है। और परिणाम क्यों हुये?

क्योंकि पदार्थ है। भो ज्ञानी! वस्त्र गीला क्यों हुआ? पानी से युक्त होने के कारण । पानी नहीं होता, तो वस्त्र गीला होता क्या? पदार्थ नहीं होता, तो राग किसमें? आपने शादी नहीं कराई, तो पत्नि के वियोग में रोओगे क्या? इसलिये पदार्थ नहीं है, तो तेरा राग नहीं है। और तू पदार्थ को स्वीकार करके अब कहता है कि पदार्थ पड़ा है, मुझे राग नहीं है। ये मिथ्या आचरण करके जिनवाणी के साथ वंचना मत करो। फिर आपमें और वस्त्रधारी–मुनि में कोई अंतर नहीं है। वो भी यही कहते हैं कि वस्त्र तो वस्त्र में है, मैं तो शुद्धजीव हूँ। ''मूर्च्छा परिग्रहः'' सूत्र का कितना दुरुपयोग कर दिया। इस सूत्र का दुरुपयोग करनेवाले आपके बीच आ गये और आप भी ऐसी बातें करने लग गये। प्रथमानुयोग में स्पष्ट लिखा है कि भरतेश ने विधिपूर्वक दिगम्बर दीक्षा धारण की, इसके बाद अन्तर्मुहूर्त ध्यान किया, तब कैवल्य प्रकट हुआ। न कि कपड़े उतारते–उतारते कैवल्य प्रकट हो गया। फिर कपड़े उतारने की क्या आवश्यकता है? ये वीतराग मार्ग का दृष्टान्त नहीं है।

भो ज्ञानियो! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने बंधस्थान का कथन किया। प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध । यह बंधव्यवस्था जैनसिद्धान्त की अनुपम व्यवस्था है। योग से प्रकृति, प्रदेश बन्ध होता है और कषाय से स्थिति व अनुभाग बन्ध होता है। कभी–कभी देखा जाता है कि कर्म का उदय तो प्रचुरता में होता है और समय अल्प लगता है। कभी समय लम्बा खिचता है, परन्तु फल कम होता है। पूरी व्यवस्था कर्मसिद्धान्त से घटित होती है।

दो शिष्यों ने एकसाथ एकसा दोष किया, परन्तु एक को उपवास दिया गया और दूसरे को धूप में खड़े होकर एक घंटे की सामायिक का आदेश दे दिया। सामने वाला देखता है, कि आचार्य महाराज को ऐसा नहीं करना चाहिये। आपलोग आवेश में आचार्य पर भी अंगुली उठा देते हो कि आचार्यमहाराज को तो ऐसा नहीं करना चाहिये था। प्रश्न ये है कि आचार्य आप थे, कि वो थे? प्रायश्चित का विधान क्या आपके द्वारा निर्मित किया गया? सभी ग्रन्थ आपको सर्वत्र उपलब्ध हो जाते हैं, लेकिन प्रायश्चित ग्रन्थ नहीं। प्रायश्चित ग्रन्थ सभी मुनि नहीं पढ़ते हैं।

आगम में आचार्य पद की व्यवस्था है, वो यह है कि 12 वर्ष की सल्लेखना जब आचार्यपरमेष्ठी ले लेते हैं, तो अपने सम्पूर्ण संघ की एक गोष्ठी करते हैं और उसमें योग्य शिष्य को चुनते हैं। उसकी निजी–योग्यता के साथ–साथ, संघ के साधु चाहते हैं कि नहीं उन्हें, यह भी ध्यान रखा जाता है, क्योंकि पूरी व्यवस्था दी जा रही है। वे पहले बालाचार्य पद देते हैं, इसके उपरान्त जो आचार्यमहाराज थे, वे योग्य स्थान पर, योग्य

तिथि देखकर, मुहूर्त देखकरके उनको प्रायश्चित–ग्रन्थ पढ़ाते हैं। पढ़ाने के उपरान्त उनको आचार्य की व्यवस्थाओं का निर्देशन देते हैं।

भो ज्ञानी! आपके धर्म के यदि कोई मार्गदर्शक होते हैं तो वे हैं आचार्य परमेष्ठी। जिनशासन को किस दृष्टि से कहांतक ले जाना है, ये उनका दायित्व होता है। वे पंचाचार का पालन स्वयं करते हैं और अन्य यतिगणों से कराते हैं। वे ही आचार्य परमेष्ठी होते हैं। बालाचार्य को प्रायश्चित–ग्रन्थ का अध्ययन करा देंगे, फिर आचार्य पद सौंपते हैं। आचार्य दीक्षासंस्कार के बाद जो उस गण के मुख्य आचार्य थे, वे सामान्य पद में आ जाते हैं और अपने संघ को छोड़कर परगण में चले जाते हैं। ये सल्लेखना और आचार्य पद की विधि है। स्वगण में नहीं रहते, क्योंकि जो सिंहासन पर विराजते थे, वे अब नीचे आ जायेंगे। कभी मान भी खड़ा हो सकता है और जो नवीन आचार्य बने हुऐ हैं, उनके मन में भी भावना रहेगी कि मैं इनको कैसे डाँटू? ये तो मेरे गुरु थे। सल्लेखना के काल में शिथिलाचार न बढ़ जाये, इसलिये परगण में जाते हैं। भो ज्ञानी! प्रायश्चित–ग्रन्थ की मर्यादा आजतक मौजूद है।

आचार्य परमेष्ठी ने शिष्य को प्रायश्चित दिया, एक को ज्यादा दिया और दूसरे को कम दिया। जिनको ज्यादा दिया, आप उनके भक्त थे, तो मालूम चला कि आपने गुट बना डाला। उन मुनिराज को संयम से च्युत करा लिया। आपने आचार्य के प्रति श्रद्धा भी भंग करा दी। अहो! दण्डव्यवस्था उनकी है, अपन को तो मुनि–भक्ति से प्रयोजन था। क्या उनकी शुद्धि आप नहीं चाहते थे? प्रायश्चित के बिना कभी भी चित्त की शुद्धि नहीं हो सकती और चित्त की शुद्धि के बिना सल्लेखना नहीं हो सकती।

भो ज्ञानी! अब देखना है कि एक शिष्य को लघु–प्रायश्चित और दूसरे को अधिक क्यों? दण्ड में अंतर क्यों? पहले उस व्यक्ति को सामने बुलाकर पूछते हैं, कि आपसे अपराध हुआ कैसे? यदि दण्ड देने के पूर्व अपराध–बोध करा दिया, तो अपराधबोध के पश्चात दण्ड सहर्ष स्वीकार करेगा शिष्य और अपराधबोध कराया नहीं, आपने पहले से दण्ड दे दिया तो भो ज्ञानी! वो कभी आपकी बात को स्वीकार नहीं करेगा। इसलिये आचार्य के आठ विशेष गुण होते हैं। आचार्यों का एक गुण होता, कि शिष्य ने अपने हृदय की बात को चरणों में निवेदित किया, तो उसको पी जाते हैं। बगल में बैठे दूसरे शिष्य को भी मालूम नहीं चलता। इस गुण के अभाव में आचार्य अपने संघ का नाश कर देता है। यदि ये गुण नहीं होगा, तो जिस शिष्य का दोष था, वह सुनेगा कि महाराज ने हमारा दोष अमुक से कह दिया। हर व्यक्ति की मान–सम्मान की दृष्टि होती है, वह स्वछंदी हो

जायेगा। आपके ऊपर हावी भी हो सकता है, तुम्हारा संघ छोड़ करके गृहस्थ बनके संघ पर उपसर्ग भी कर सकता है।

'आत्मानुशासन' ग्रन्थ में आचार्य गुणभद्रस्वामी लिखते हैं कि सर्प ने आपकी अंगुली डस ली। यदि आप अपना जीवन बचाना चाहते हो, तो अंगुली को काटकर फेंक दो। अन्यथा अन्तर्मुहूर्त में जहर चढ़ेगा, पूरा जीवन बर्बाद हो जायेगा। ऐसे ही संघ में कोई एक त्रुटि होती है, आप कुछसमय के लिये तुरन्त उसको पृथक् कर दो, अन्यथा उनके संस्कार दूसरे शिष्यों में जायेंगे। परिणाम ये निकलेगा कि संघ की कोई व्यवस्था ही नहीं होगी। ऐसे स्थान पर भी बिठाला जाता है, जहाँ आप बैठना भी पसंद नहीं करोगे। पूरा संघ यहाँ विराजा है, उनको द्वार के बाहर बैठाया जायेगा। ये गणपरिहार नाम का प्रायश्चित होता है। परन्तु उन मुनि की क्या ऋृजुता होगी, कि ऐसा होने पर भी साधना में लीन हैं। हो गया दोष, वो प्रायश्चित था गणपरिहार, संघपरिहार। गणपरिहार, संघ से निकाल दिया है और आप जाओ अमुक आचार्य के पास। लेकिन मर्यादा ये होगी कि वे आचार्य रखेंगे नहीं और वो कहेंगे–तुम दूसरी जगह जाओ। उस यति की ऋृजुता देखो। सात संघों में जायेगा, लेकिन कोई भी नहीं रखेंगे। जब सातवें संघ में जायेंगे, तो वे कहेंगे कि आप–अपने गुरु महाराज के पास जाओ। फिर वो लौटकर अपने गुरु के पास आयेंगे। फिर वे गुरु देख लेंगे कि अहो, शिष्य का अंतरंग ऋृजुता से भरा हुआ है। दोष तो हुआ है, लेकिन करुणा है। उसके अंदर संयम के प्रति ललक है, वो उसको स्वीकार करेंगे। फिर प्रायश्चित देंगे और शुद्धि करके अपने संघ में समाविष्ट कर लेंगे।

छेद–प्रायश्चित। कोई मुनि दसवर्ष से दीक्षित थे, पर पाँच वर्ष पीछे दीक्षा के जो छोटे मुनिराज थे, वे पहले आहार को निकलेंगे। वे आगे बैठेंगे, प्रायश्चित वाले पीछे बैठेंगे। यदि ये व्यवस्था नहीं होगी, तो अंकुश नहीं होगा, तो स्वच्छन्द वृत्ति प्रारंभ हो जायेगी। इतना सब आगम में वर्णित है। ये आचार व्यवस्था हुई आचारांग की ।

अब कर्मसिद्धान्त की व्याख्या देखो। शासन की आँखों पर पट्टी बांधी जा सकती है, पर जिनषासन के कर्मसिद्धान्त पर कोई कालीपट्टी नहीं है। एकसमय को भी तुमने अपने परिणाम विकृत किये हैं तो उस परिणाम के विकार में कषाय कौन–सी थी? अनंतानुबन्धी थी, प्रत्याख्यान थी, अप्रत्याख्यान थी, संज्जवलन थी, उसमें इनका योग क्या था? अपन को तो कहने में समय लग रहा है। अपन जो कहेंगे, क्रम से कहेंगे लेकिन वहाँ काम युगपत् हो रहा है। जैसे थ्रेसर मशीन। देखो, पूली भी कट रही है, उड़ाई भी हो रही है, सफाई भी हो रही है और भूसा भी जा रहा है, एकसाथ सब काम हो रहे हैं। ऐसे

ही आपने भाव किये तो एकसमय में प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश सभी बन्धों की प्रक्रिया शुरू है और वहाँ बंध भी गया, कहीं आयु भी बन्ध गई, पर हम सोच रहे थे कि हमें पता ही नहीं है।

भो ज्ञानी! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्दस्वामी ने जो बंध का कथन किया है, उसको समझना, कि निर्बन्धता का जबतक तुझे भान नहीं होगा, तबतक बन्ध के छूटने के परिणाम भी नहीं करेगा और धारणा बन जायेगी कि बन्ध तो होना ही है, तो फिर निर्बन्धता का पुरुषार्थ क्यों करूँ? अहो! निर्बन्ध स्वरूप का कथन स्वछन्द वृत्ति के लिये नहीं है, निर्बन्धता के पुरुषार्थ के लिये है। 'समयसार' का कथन स्वछंदता के लिये नहीं है। एक प्रश्न है कि पुरुषार्थ क्यों करें अपन? जो होनहार है, वही होगा। अरे! होकर ही होनहार आती है। होगा नहीं, तो होनहार कभी नहीं आयेगी। क्योंकि होनहार कोई वस्तु नहीं। काललब्धि कोई वस्तु नहीं । जिससमय कार्य हो, वही काललब्धि है। इसलिये अब अपन को संभलना है। अब यह देखना है कि मेरा गतिबन्ध तो नहीं हो रहा, प्रदेशबन्ध तो नहीं हो रहा, स्थिति–अनुभागबन्ध तो नहीं हो रहा है।

मनीषियो! निमित्त हजारों मिलेंगे, पर निमित्तों का कुछ बिगड़नेवाला नहीं। अपन प्रभावित होंगे, तो बिगाड़ अपना होगा। मूल बात को समझना। निमित्तों पर मत जियो, उपादान को समझो। भो चेतन! जिस शब्द पर विवाद हो, अपन उसकी चर्चा क्यों करें? अपन तो आगम को समझें। आगम में जो कहा है, उसका उपयोग करो। शब्दों में उलझने से प्रयोजन की सिद्धि नहीं होगी, आप तो अर्थ को देखो। आपने 'द्रव्यसंग्रह' में पढ़ा, कि जहाँ तत्त्वचर्चा है, वहाँ परिणामों की निर्मलता है। यदि तत्त्वचर्चा से ही विसंवाद हो, तो भो ज्ञानी! विसंवाद में नियम से कषाय आयेगी और जहाँ कषाय आयेगी, तो कषाय से स्थिति–अनुभाग बंधेगा और बंध होगा। इसलिये अपन तो उतनी बात कर लो, जिससे आपके परिणाम निर्मल हों और सुनने–सुनाने वाले दोनों के परिणाम निर्मल हों।

एक बार किसी का प्रश्न था–कितना पढ़ूँ? बिल्कुल सही प्रश्न था। दोहा पाहुड़ में लिखा है–

अंतो णत्थि सुदीणं, कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।
तण्णवरि सिक्खि याव्वं, जं जरमरणं स्वयं कुणइ।। दोहापाहुड 46।।

काल थोड़ा है, बुद्धियां अब दुर्बुद्धियाँ हो गई हैं। अतः उतना सीख लो, उतना पढ़ लो, जिससे जन्म–मरण का क्षय हो जाये। अतः आप तो यह देख लो कि हमारी आत्मा में विशुद्धि किससे बढ़ती है। इन शब्दों के जालों में न पड़ें। भो चेतन! एक आचार्य महाराज ने 'श्रावक–प्रदीप' ग्रन्थ लिखा और उसकी टीका में लिखते हैं कि क्षुल्लक उत्कृष्ट श्रावक है, उनके पाद–प्रच्छालन आदि होना चाहिये। सतना में प्रसंग फिर से आया उनके सामने, सो

बोले–मैंने लिख दिया था। अरे! प्रवचन–विषय अलग हो सकता है, पर लेखन संभलकर ही करना चाहिये। पर हमारे दिगम्बर आचार्यों ने जो लिख दिया है, फिर ये नहीं कहा कभी, कि मैंने लिख दिया था। जिनवाणी भावुकता की कलम नहीं है, जिनवाणी भावों की कलम है।

पंडित दौलतराम जी कितने विवेकशील विद्वान् हुये। उनको स्वयं मालूम था, कि यदि मैं कहता हूँ, कि मैं कह रहा हूँ, तो कोई 'छहढ़ाला' नहीं पढ़ेगा। अतः जैसा पूर्व–मुनियों ने कहा है, वैसा मैं कह रहा हूँ। और हम लोगों ने मिलान किया 'छहढ़ाला' कई ग्रन्थों की गाथा का पद्यानुवाद है। ग्रन्थ की गाथा में, उदाहरण के तौर पर–''ज्ञानी के छिन माही, त्रिगुप्ति ते सहज टरें जे'' यह 'प्रवचनसार' की गाथा का पद्यानुवाद है, कि जितनी कर्मों की क्षपणा (निर्जरा) अज्ञानीजीव करोड़ों वर्षो में करता है, उतनी कर्मों की क्षपणा तीन गुप्तियों से युक्त ज्ञानी (मुनिराज) क्षणमात्र में कर लेते हैं। आज 'छहठाला' इतना प्रसिद्ध ग्रन्थ इसलिये हो गया, क्योंकि विद्वान् ने विद्वता को स्थान न देकर आगम को स्थान दिया है।

आप बिना आगम को सामने रखे कलम न चलायें। यदि तुम जो भी लिखोगे आगम से लिखोगे, तो कुछ नया होगा नहीं और जो नया होगा, वो आगम का होगा नहीं। इसलिये मुझे आगम प्रमाण है। एक आये मेरे पास, बोले– महाराज श्री! हम एक श्रावकाचार लिखना चाहते हैं। मैंने कहा–ठीक है, लिखो। पर मैंने पूछ लिया–क्यों आवयकता पड़ गई? बोले–मैं सोचता हूँ कि दिगम्बरों का श्रावकाचार और श्वेताम्बरों का श्रावकाचार, इन दोनों का मिलान करके मैं लिख रहा हूँ, जिससे कि दोनों में सामन्जस्य बैठे। मैंने कहा–ये बताओ, यदि दिगम्बर शास्त्रों के अनुसार चले, तो आपके ग्रन्थ की कोई कीमत होगी और श्वेताम्बर शास्त्रों के अनुसार चल रहे, तो तुम्हारे शास्त्र की कीमत होगी? तो तुम व्यर्थ में कागजों को बढ़ाते हो। बोले–महाराज जी! बात तो बिल्कुल सही है। मैंने कहा– भाव तो तुम्हारे मन में आ गये, तो ठीक है, लेकिन ध्यान रखना, ग्रन्थों के नीचे नाम जरूर लिख देना।

अमितगति स्वामी ने अमितगति–श्रावकाचार लिखा है, दिगम्बर–आम्नाय का महानग्रन्थ है। मध्यकाल तक अमितगति स्वामी के ग्रन्थ का स्वाध्याय नहीं किया जाता था, कि ये माथुरसंघ के आचार्य हैं। यही अमितगति हैं, जो राजा भोज की सभा में नवरत्नों में थे। एक अमितगति और हुये हैं, वे संस्कृत–साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् थे। 'मरणकंडिका' ग्रंथ अमितगति स्वामी ने लिखा था। मरणकण्डिका ग्रंथ 'भगवती–आराधना' के ऊपर लिखा हुआ ग्रन्थ है। पढ़ते समय लगता है, कि बस अब तो समाधि लेना है। लेकिन वो बन्द रखा था इस चक्कर में, कि ये अमितगति आचार्य का है।

कभी–कभी आप लोगों के बीच में ऐसा हो जाता है, कोई विद्वान् आया या कोई मुनिसंघ आया तो अपन को नहीं जाना,क्यों? अमुकसंघ के आये हैं, अमुक पंडितजी हैं। तुम पास में गये नहीं, तुमने देखा है नहीं, अनुभव किया है नहीं। प्रभाचन्द्र नाम के बहुत विद्वान् हुये, वे सब प्रकांड विद्वान् हुये। प्रभाचन्द्र आचार्य ने 'प्रमेयकमल मार्तण्ड' ग्रन्थ को लिखा। कभी–कभी क्या होता है, कि व्यक्ति, गण, संघ के चक्कर में वास्तविकता का ज्ञान नहीं ले पाता। ये भूल लोगों की आजतक चली आ रही है। 'भगवती–आराधना' को लोग पहले नहीं मानते थे। बोले–उसमें भोजन की चर्चा लिखी है। आर्यिका को निर्ग्रन्थ–दीक्षा देना लिखा है। सुना–सुना बोल दिया, पर ये नहीं समझा कि कब लिखा और कैसा लिखा? उनका उद्देश्य ये नहीं था, कि स्त्री को दिगम्बरी –दीक्षा देना। उनका उद्देश्य है कि यदि कोई आर्यिका यह भावना भावे, कि मेरी निर्विकल्प सल्लेखना हो, एक धागा भी मेरे शरीर पर न रहे, तो आर्यिकाओं के बीच में ही, वहाँ कोई पुरुष नहीं जायेगा, मुनि नहीं जायेंगे। वो अपनी संपूर्ण आरम्भ–परिग्रह का त्याग करके घास का उपयोग करेगी। उस समय मात्र एक क्षण की व्यवस्था थी।

'पंचास्तिकाय' में स्थावर के दो भेद किये हैं–त्रसस्थावर और स्थिर स्थावर। त्रस का अर्थ लेना चलना, विचरण करना। तो वह त्रस–स्थावर है और स्थिर–स्थावर वनस्पतिकायिक और पृथ्वीकायिक है। ये पूरा कथन श्वेताम्बर– आम्नाय में भी है।

अब विचार करना, एक–एक विषय को लेकर पूरी जिनवाणी छोड़ते चले जाओगे तो परिणाम ये निकलेगा कि साहित्य नहीं, तो दर्शन नहीं। कुछ भी नहीं बचेगा। इसलिये इन छोटी–मोटी बातों में प्रवेश करके आगम मत खो देना। अब मुनिभक्तों की अज्ञानता देखो, कहीं 'मुमुक्षु' शब्द लिखा मिल गया, तो आप बोले–ये शास्त्र अपना नहीं है। यानि आपने 'समयसार' को ही छोड़ दिया। अध्यात्म–शास्त्र कहाँ जायेंगे? अब पढ़ो आप, तीन अनुयोग बचे। अब तो ऐसी भूलें मत करो, विषय को समझने का प्रयास करो। ये बात ध्यान रखना कि हम निश्चय और व्यवहार की बात में इतने उलझ गये कि जिस उद्देश्य से निश्चय और व्यवहार समझना था, उस उद्देश्य का तो पता ही नहीं है।

निश्चयवाला, व्यवहारवाला से समाज का उत्थान होगा, कि पतन होगा? कम–से–कम बुद्धिजीवी लोगों को तो इन विवादों में नहीं पड़ना चाहिये। एक अंतिम बात आपको बता रहा हूँ कि दिगम्बर–आम्नाय जैसी भोली–समाज कहीं नहीं मिलेगी। बड़े भोले विद्वान् तुम्हारे यहाँ हैं। इतनी भोली समाज, कि कुन्दकुन्द की देशना को तुम भूल गये तो वैदिक–संस्कृति और तुम्हारी संस्कृति में क्या अन्तर बचेगा? कल एक साधु

विद्वान् हुआ, उसकी सल्लेखना हो गई। उसका चबूतरा बन गया। अब उस चबूतरे की पूजा शुरू हो गई। और चबूतरे के नाम से एक सम्प्रदाय बन गया। तत्त्वज्ञानी होकर भी भगवान् कुन्दकुन्द की, महावीरस्वामी की वाणी को हम एक व्यक्ति विशेष में न लगा दें। ये तो माना जा सकता है कि हमारे लिए उसने ग्रन्थ का ज्ञान कराया है, इसमें कोई दिक्कत नहीं। परन्तु उपकारी तो उपकारी है, उपकारी तो परमात्मा नहीं हो जाता। बात को समझना। यदि उपकारी को आप परमात्मा मानते रहोगे तो पता नहीं परमात्मा कितने होंगे? भो चेतनआत्मा! ज्ञानी तो ज्ञानी है। परमेष्ठी तो परमेष्ठी है। बस, इतना ध्यान रखो।

जो आचार्य वीरसेन स्वामी ने 'षट्खंडागम' प्राकृत में कहा है, उसकी हिन्दी टीका जो है, वो मान्य है। उसमें अपनी कहीं एक भी लाइन लिखी, वो मान्य नहीं है। टीका भी जरूरी है, क्योंकि अपना उद्देश्य ये होना चाहिये कि जीव का मोह विगलित हो। समीचीनता जितनी हो, उस ओर आप बढ़ो, कोई दोष नहीं है। पर असमीचीनता मुनिराज में भी स्वीकार नहीं है। अब मुझसे कोई कहने लगे कि भगवन्! आप ही तो अरिहन्त हो, तो इस बात को मैं नहीं मानता। मैं तो मुनि हूँ, अरिहन्त की योग्यता मेरे अन्दर है। प्रत्येक जीव को बहुमान तो आप दें, परन्तु उसकी सीमा हो। जिस पद के योग्य ही नहीं है, तो आप कैसे कहेंगे? आगम में आचार्य वीरसेनस्वामी को सर्वज्ञ लिखा है, परन्तु उसमें एक शब्द जुड़ा है। उसमें कोई शंका नहीं कर सकता। उस पर ''कलिकाल'' शब्द जुड़ा हुआ है, क्योंकि वे सर्वज्ञ नहीं हैं। कलिकाल में सर्वज्ञ होते नहीं।

भो ज्ञानी! हम इष्टों की पूजा तो करें, आराधना तो करें, परन्तु विवेक खोकर न करें। कभी–कभी आराधना विराधना का कारण बन जाती है। पूज्यता तो पूज्यता होना चाहिये। पूज्यता में अंधविश्वास नहीं होना चाहिये। आप बहुमान दें, परन्तु आगम को खोकर न दें।

प्रदेशबन्ध की चर्चा कर रहे हैं। शुद्धात्मा में कोई बन्ध नहीं होता है। कर्म भी अशुद्ध है और आत्मा भी अशुद्ध है। जब दोनों की अशुद्ध दशा होती है, तो जैसे नीर में क्षीर प्रदेश एक में एक हैं कर्म के और आत्मा के, उसका नाम बन्ध है। जो आपने शुभाशुभ कर्म का बन्ध पूर्व में किया था, उसकी निर्जरा के काल में, उदय के काल में वो जो आपको सुख–दुःखरूपी फल मिल रहा है, इसका नाम अनुभागबन्ध है। आज किसी जीव के परिणाम निर्मल हो गये, तो भो ज्ञानी! श्रेणिक महाराज सातवें से पहले में आ गया, जो आपने आगम में पढ़ा होगा। यदि किसी जीव ने भवनत्रिक का बन्ध कर लिया और पुनः परिणामों में विशुद्धि बनी, तो स्वर्ग में भी जा सकता है और यहाँ तक कि सर्वार्थसिद्धि तक भी पहुँच सकता है।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **चार विभाव–स्वभावों के स्वरूप के कथन द्वारा यह पंचमभाव के स्वरूप का कथन है।**

णो खइयभावठाणा, णो खयउवसमसहावठाणा वा।
ओदइयभावठाणा, णो उवसमणे सहावठाणा वा।।41।।

संस्कृत छाया : **न क्षायिक भाव स्थानानि न क्षयोपशमस्वभावस्थानानि वा।**
औदयिक भाव स्थानानि नोपशम स्वभाव स्थानानि वा ।।41।।

अन्वयार्थ : (क्षायिक भाव स्थानानि च) जीव के क्षायिक–भावस्थान नहीं है (क्षयोपशम स्वभावस्थानानि वा न) क्षयोपशम स्थान भी नहीं है (औदयिक भाव स्थानानि न) औदयिक–भावस्थान भी नहीं है (वा उपशमभावस्थानानि न) और उपशम–भावस्थान भी नहीं है।

भव्य बंधुओं! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने नियमसार की 40वीं गाथा में बंध का कथन किया है। पद्मप्रभमलधारि देव ने अपनी टीका में उसका विस्तार कर लिखा है, कि आत्मा निर्बंध–स्वभावी है। परन्तु ''अनादि संबंधे च'' सूत्र कहता है कि इस जीव का अनादि से विभाव होने के कारण कर्म का बन्ध अनादि से है। इस दृष्टि से आत्मा अशुद्ध है। अतः स्वभावदृष्टि से आत्मा शुद्ध है। बंध दृष्टि से आत्मा अशुद्ध है, इसलिये संसार में भटक रही है। दोनों दृष्टियों को समझने के उपरान्त ज्ञानी निर्बंधता की ओर अग्रसर होता है और बंध के निमित्तों से दूर हटता जाता है।

हे जगत के जीवो! चारों ओर से प्रकाशवान जो आत्मा है, आप उसीका सम्यक् समीचीन भाव से अनुभव करो, बाहरी द्रव्यों की अनुभूति को छोड़कर। हे योगी! जबतक तू उद्योतमान निज–आत्मा पर लक्ष्य नहीं करेगा, तबतक तू बहिर्भूत प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभागबंध के बंधन से मुक्त नहीं हो सकेगा।

नित्यशुद्धचिदानन्दसंपदामाकरं परम्।
विपदामिदमेवोच्चैरपदं चेतये पदम्।। कलश 56।।

यहाँ पद्मप्रभमलधारि देव कह रहे हैं–हे ज्ञानी! तू नित्य शुद्ध चिदानन्द सम्पदा का खजाना है, खान है। ऐसी श्रेष्ठ आत्मा तो तेरी है। हे योगी! तू अरहन्त के पद का भी विकल्प मत कर। सिद्ध पद का भी विकल्प मत कर। क्योंकि विकल्पों से सिद्ध नहीं होता है, निर्विकल्प से सिद्ध होता हैं। साधु पद का भी विकल्प मत कर। तुम साधना करो।

इसका तात्पर्य यह मत समझना कि साधु पद छुड़वा रहे हैं। साधु पद में यदि नानाप्रकार के विकल्प आ रहे हैं, तो मैं उन विकल्पों का त्याग करता हूँ। क्योंकि एक स्वपद ही मेरा निजपद है, बाकी सब अपद हैं। जो चैतन्य पद है, वह तेरा स्वभाव पद है।

भो चैतन्य ! यदि किसी को सुख का अभाव कराना है अथवा किसी का मुख बन्द करवाना है, तो उसको व्यवस्था सौंप दो, अपने–आप ठंडे हो जायेंगे। परन्तु शान्ति चाहते हो, तो व्यवस्था से परे हो जाओ। ये जैनीवृत्ति स्वतंत्रवृत्ति तो है, पर स्वछन्दवृत्ति नहीं है। सम्पूर्ण स्वेच्छाचार का जहाँ विसर्जन हो जाता है, वहाँ से जैनयोगी की साधना प्रारंभ होती है। इसलिये तुम व्यवस्थाओं में नहीं, निज की अवस्था में जियो। निज अवस्था व्यवस्थित है, तो संसार की व्यवस्था की कोई आवश्यकता नहीं है।

चित्तवृत्ति की निवृत्ति जहाँ हो जाती है, वहाँ से चेतन प्रभु की झलक प्रारंभ हो जाती है। गहरे नीर में भी मोती दिखने लगता है। कब? जब लहरों की धारा शान्त हो जाती हैं। ऐसे चैतन्य के मन में विकल्पों की लहरें जो हैं, ये शांत हो जाये तो चैतन्यमणि भी झलकना प्रारंभ हो जाये। इसमें संशय मत करना।

यः सर्वकर्मविषभूरुहसंभवानि, मुक्त्वा फलानि निजरूपविलक्षणानि।
भुङ्क्तेऽधुना सहजचिन्मयमात्मतत्त्वं प्राप्नोति मुक्तिमचिरादिति संशयः कः।।कलश 57।।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि सर्वकर्मरूपी वृक्ष से उपजे निजात्म तत्त्व से विलक्षण फलों को छोड़कर जो सहज–आत्मतत्त्व का अनुभव करता है, वह शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त करता है। इसमें संशय करने की आवश्यकता नहीं है।

मनीषियो! जितनी खाज में खुजली नहीं होती, उतनी खुजाने में खुजली होती है। क्योंकि खाज में खुजली नहीं होती है, खुजाने के बाद खुजली होती है। किसी कर्म के उदय में इतनी वेदना नहीं होती है, जितना कर्म के पोषण करने में वेदना आपको सहन करनी पड़ती है। भो ज्ञानी! अब समझ लो कि विकारों की खुजली को जितना खुजाओगे, उतनी खाज बढ़ेगी। प्रत्येक रोग अपनी सीमा में आता है। आप छेड़ते हो, तो बढ़ जाता है। छेड़ो नहीं, तो शान्त हो जाता है। ये सिद्धान्त है। उदय का आना वासना नहीं है। उदय का उपभोग कर लेना, वासना का पोषण है। सूत्र समझना। उदय आने में विपाक था, वो तो निर्जरित हो गया, तूने सहज कर लिया। और उदय को तूने भोग बना लिया, तो नवीन कर्मबन्ध हो गया। उदय को उदय के रूप में देखो।

भो ज्ञानी! जिस पदार्थ की जैसी उपादान की योग्यता है, अनुकूल–निमित्त तदनुकूल प्राप्त होता है, उसके अनुसार कार्य की सिद्धि होती है। आचार्यभगवन् कह रहे

है कि जो सम्पूर्ण कर्मरूपी वृक्ष से उत्पन्न हुए विषफल हैं, वे आपको क्या देंगे? ऐसे फलों को तू छोड़ दे। ये फल विषफल हैं, जो निजरूप से विपरीत है, आत्मस्वरूप से विपरीत है। सहज जिनमत आत्मतत्त्व फल है, तू इनका उपयोग करेगा, तो मुक्ति को प्राप्त कर लेगा। इसमें कोई संशय नहीं है। भगवन्जिनेन्द्र देव के वचन जन्म–मरण का क्षय करनेवाले हैं और विषयों का विरेचन करनेवाले हैं। आपने विषफल खा लिये हैं, अब विरेचन कर दो, कोई दवा ले लो या वमन कर दो। यदि नहीं करोगे, तो ज्ञानी! विकार–ही–विकार बढ़ेंगे।

भो ज्ञानी! जबतक भोग भोग रहे, तबतक रोगी। योगी बनो। जबतक योगी नहीं बनोगे, तबतक चैतन्यप्रभु नहीं मिलेंगे। भगवान् बनने के पूर्व का भगवान्– आत्मा को देखने का जो पुरुषार्थ है, वो योग है। आप अपने मन, वचन, काय को स्थिर कर लोगे, तो जिनवाणी की औषधि काम कर जायेगी और योग नहीं बनेगा, तो औषधि काम नहीं करेगी । विकारी आत्मा में ही निर्विकारी चैतन्य–प्रभु का चिन्तवन होता है। वैराग्य योगी को नहीं होता है, वैराग्य भोगी को होता है। योगी वैराग्य को सुरक्षित रखते हैं। वैराग्य योग को सुरक्षित रखता है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी 41वीं गाथा में निश्चयनय की दृष्टि से कह रहे हैं, कि क्षायिकभाव स्थान भी आत्मा का त्रैकालिक धर्म नहीं है। क्योंकि ये कर्म के क्षय से होता है। स्वभावदृष्टि से मेरे स्वभाव का बन्ध ही नहीं है, तो क्षय किसका? मैं तो निर्बन्ध हूँ।

तुम कहते हो, कि मैं ज्ञाता–द्रष्टा हूँ। जिससमय विपत्ति आती है, उससमय ज्ञाता–द्रष्टा भग जाता है और कर्ताभाव सामने खड़ा हो जाता है। जबकि कर्ताभाव भागना चाहिये था और ज्ञाता–द्रष्टाभाव सामने खड़ा होना चाहिये था। ये द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता थी, जब परिणमन स्वतंत्र मानते हो।

भो ज्ञानी! आप नियमसार सुन रहे हो और अभी सिरदर्द करने लग जाये तो सब सार भूल जाते हो। बोले–लाना, मैं थोड़ा बाम लगा लूँ। कहाँ गया तुम्हारा सिद्धान्त? औषधि कह रही है, कि यदि तेरे कर्म का मंद–विपाक है, तो मैं सहयोगी हूँ। कर्म का तीव्र विपाक है, तो औषधि कुछ भी नहीं करेगी।

मुनिराज सनतकुमार के शरीर में गलित कुष्ठ था, क्या कह रहे थे–

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं, न युवैतानि पुद्गले।। इष्टो 29।।

जब मेरी मृत्यु ही नहीं है, तो मुझे व्यथा किस बात की ? भय किस बात का? मुझे कोई भय नहीं। व्याधि तो तन में है, चैतन्य में कहाँ है? मैं क्यों बिलखूँ? मैं बाल नहीं हूँ, मैं वृद्ध नहीं हूँ, मैं युवा भी नहीं हूँ। ये दशा मेरी नहीं हो रही है। ये दशा देह की हो रही है।

मनीषियो! उस व्यक्ति से पूछिये, जिसने पद्मपुराण सुनते–सुनते जैनत्व को स्वीकार कर लिया। ललितपुर में उनके फोड़ा हो गया। जब वर्णीजी के फोड़े की शल्यक्रिया करने वैद्य आया, बोला–बाबाजी! आप इसको नहीं निकलवायेंगे तो सारा शरीर गल जायेगा। लेकिन इतनी गंभीर अवस्था है कि आपको बेहोशी का इंजेक्शन देना पड़ेगा। बोले–क्यों? बोले–इस स्थिति में ठीक नहीं हो सकता है। बोले–भाई! तू अपना काम करना, दो मिनट रुक जाओ। समयसार सामने रखा और यह गाथा खोलकर बैठ गये।

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणुमित्तंपि।। स. सार 38।।

भैया! आप काम करो। वैद्य बोले–बाबाजी हो गया पूरा। ठीक है, ग्रन्थ बन्द कर दिया। आचार्य विमलसागर जी ने ग्रन्थ भी नहीं खोला। बस, आसन लगा कर बैठ गये और सामायिक करने लगे। वैद्यराज ने बिना इन्जेक्शन के शल्यक्रिया पूरी कर ली। उनकी चेतना नहीं गई थी, जड़ नहीं हो गये थे, चैतन्य में रमण कर रहे थे।

भो ज्ञानी! कर्म की मंदता में आज आप वर्तमान की पर्याय में सुखी महसूस कर रहे हो, इसलिये हमें सुन रहे हो। यदि कोई विकल्प मन में आ जाये, तो आप नियमसार सुनने नहीं बैठोगे, धीरे से हट जाओगे। ज्ञाता–द्रष्टा भाव कहाँ? जब बेटा का शव पड़ा हो, फिर कहना ज्ञाता–द्रष्टाभाव। ज्ञाता–द्रष्टाभाव उस श्रावक में था, जिसका बेटा मंदिर में पड़ा था। पत्नि ने कितने समाचार भेजे कि स्वामी! बेटे को कालिया–नाग ने डस लिया है, आप जल्दी आओ। फिर भी पूजा में लगे हैं। क्या सोच रहे थे, कि हे नाथ! कामपुरुषार्थ का फल तो चला गया, मैं धर्म पुरुषार्थ से क्यों अलग होऊँ? पत्नि से सहन नहीं हुआ। बेटे को उसी अवस्था में लाकर मंदिर में पटक दिया और बोली, लो कर लो पूजा, रखे रहेंगे भगवान्। बेटा चला गया, फिर भी पुजारी पूजा में लगा रहा। गई एक दृष्टि जिनदेव की ओर, देखा बेटे की ओर, अरे! मरा कहाँ है, ये तो मूर्छित है। अब कहता है–प्रभु! बेटे का राग नहीं, पर आपके चरणों के प्रति लोगों की अनास्था न हो जाये। लोग यह न कहने लगें कि जिनपूजा कुछ नहीं करती, धनंजय के बेटे को साँप ने डस लिया, कुछ नहीं कर सका। उसने गंधोदक उठाकर बेटे के मस्तक पर लगाया और बेटा उठकर बैठ गया। बोला–माँ! मुझे मंदिर में क्यों लाई? कालिया नाग का जहर भी भाग गया। कवि धनंजय ने 'विषापहार–स्तोत्र' की रचना की थी, और जहर से मूर्च्छित बेटे को ठीक किया था।

भो ज्ञानी! परिस्थितियाँ सामने आयें, तो तत्त्व के साथ समझौता करके जियो। इसका नाम है भेद–विज्ञान, इसका नाम है ज्ञाता–द्रष्टाभाव। कर्म के क्षय से जो भाव होते

हैं, आगमदृष्टि से उनका नाम बंध है, इसलिये क्षय है। दूसरी धारणा से देखो, अपने–आपको निर्बंध मानकर मत बैठ जाना। वो स्वभावदृष्टि थी, ये दृष्टि आपकी विभावदृष्टि है। बंध का अभाव करेंगे आप, तभी स्वभाव की प्राप्ति होगी। कर्म के क्षय के जो भाव हैं, वह क्षायोपशमिक भाव हैं। कर्म के उदय से जो भाव होते हैं, वे औदयिकभाव हैं। कर्म के उपशम से जो भाव है, वो औपशमिकभाव है। सकल कर्मों की उपाधि से रहित जो परिणामी भाव है, वे पारिणामिक भाव हैं। जहाँ किसी कर्म का उपशम, क्षय क्षयोपशम आदि की विवक्षा नहीं होती है, उसका नाम पारिणामिकभाव है। यही स्वभाव है।

स्फटिकमणि के सामने जपा पुष्प रखा, पीत पुष्प रखा, रक्त पुष्प रखा, स्फटिक कैसी झलक रही है? तद्रूप। ऐसे ही भो चैत्न्य! इस आत्म–स्फटिक के सामने कर्म–नोकर्म के पुष्प रखे हुए हैं, इसलिये तेरी आत्मा नानारूपों में दिख रही है। पुष्प हटा दो, स्फटिक तो स्फटिक ही है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने गाथा संख्या 41 में कथन करते हुए कहा है, कि जीव के क्षायिक भावस्थान नहीं है, क्षयोपशम भावस्थान भी नहीं है तथा औदयिक भावस्थान भी नहीं है तथा उपशम भावस्थान भी नहीं है। अर्थात् क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और उपशम भावस्थानों से रहित है। आचार्यभगवन् का अभिप्राय चार विभाववभावों के स्वरूप के कथन के माध्यम से पंचमभाव के स्वरूप का कथन अभीष्ट है।

भो ज्ञानी! कर्मों के क्षय होने पर जो भाव होता है, वह क्षायिकभाव है। कर्मो के क्षयोपषम होनेपर उत्पन्न हुआ भाव क्षायोपशमिक संज्ञा को प्राप्त होता है। कर्मों के उदय आने पर हुआ भाव औदयिकभाव है तथा कर्मों के उपशम होने पर हुआ भाव औपशमिकभाव कहा जाता है। संपूर्ण कर्मो की उपाधि से रहित ऐसा जो परिणाम में हुआ भाव है, वह पारिणामिकभाव है। इन पाँच भावों में औपशमिकभाव दो प्रकार का, क्षायिकभाव नौ प्रकार का, क्षायोपशमिकभाव अठारह प्रकार का, औदयिकभाव इक्कीस प्रकार का है। पारिणामिकभाव के तीन भेद कहे गये हैं।

भो ज्ञानी! औपशमिकभाव के उपशम–सम्यकत्व और उपशम–चारित्र दो प्रकार हैं। क्षायिकभाव के क्षायिक–सम्यक्त्व, यथाख्यात चारित्र, केवलज्ञान और केवलदर्शन ये चार तथा अन्तराय कर्म के क्षय होने से उत्पन्न होने वाले दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच मिलाकर कुल नौ भेद हो जाते हैं। क्षायोपशमिकभाव के मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ये चार प्रकार के ज्ञान, कुमति, कुश्रुत, विभंगावधि के भेद से तीन अज्ञान चक्षु,

अचक्षु और अवधि ये तीन दर्शन। काल, करण, उपदेश, उपशम और प्रायोग्यता ये पाँच लब्धि। वेदक–सम्यक्त्व, वेदक–चारित्र और संयमासंयम ये तीन। कुल मिलाकर अठारह भेद हैं।

औदयिकभाव के इक्कीस भेदों में नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार गति; क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय; स्त्री, पुरुष, नपुंसक ये तीन लिंग; सामान्य–संग्रहनय की अपेक्षा से मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व, शुक्ल, पद्म, पीत, कापोत, नील, कृष्ण ये छह लेश्या हैं।

पारिणामिकभाव के जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन भेद हैं। भो ज्ञानी! जीवत्वभाव सभी जीवों में समान है, चाहे वो भव्य हों, चाहे अभव्य हों। भव्यत्व–पारिणामिकभाव मात्र भव्य जीवों में ही होता है और अभव्यत्व– परिणामिकभाव सिर्फ अभव्यों में ही होता है। इन पाँच भावों में क्षायिकभाव कार्य–समयसाररूप है। औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिकभाव संसारी जीवों में ही होते हैं, मुक्त जीवों के नहीं होते हैं।

टीकाकर्ता पद्मप्रभमलधारिदेव पंचम भाव के महत्व को कलश के माध्यम से दर्शा रहे हैं।

अञ्चितपञ्चमगतये पञ्चमभावं स्मरन्ति विद्वान्सः।
सञ्चितपञ्चाचाराः किंचनभावप्रपञ्चपरिहीणाः।। कलश 58।।

सुकृतमपि समस्तं भोगिनां भोगमूलं त्यजतुपरमतत्वाभ्यासनिष्णातचित्तः।
उभयसमयसारं सारतत्त्व स्वरूपं भजतु भवविमुक्त्यै कोऽत्र दोषो मुनीशः।। कलश 59।।

भो ज्ञानी! जिन्होंने परिग्रह का त्याग नहीं किया है, गृहस्थ हैं, वे इसका श्रद्धान तो कर सकते हैं, लेकिन पंचमभाव का आश्रय लेकर निर्विकल्प ध्यान नहीं कर सकते हैं। निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिराज जो समस्त प्रकार के अंतरंग, व बहिरंग परिग्रह से रहित हैं तथा पाँच प्रकार के आचारों से सहित हैं, ऐसे योगीगण पंचमगति को प्राप्त करने के लिये पंचमभाव का आश्रय लेते हैं। मोक्षगति पंचमभाव के आश्रय से ही प्राप्त होती है। जो योगी निज–आत्मतत्त्व के अभ्यास में लगे हुए हैं, उनके लिये आचार्यभगवन् उपदेश दे रहे हैं, कि आप समस्त पुण्य को भी छोड़ो। कारणसमयसाररूप शुद्धोपयोग को प्राप्त करके, कार्यसमयसाररूप शुद्धात्मा को प्राप्त करो। भो ज्ञानी! ध्यान रखना, जो पापक्रिया से निवृत्त नहीं हुये हैं, उनके लिये पुण्यक्रिया छोड़ने का उपदेश नहीं है।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **शुद्ध निश्चयनय से शुद्धजीव के समस्त संसार के विकारों का समूह नहीं है।**

चउगइभवसंभ्रमणं, जाइजरामरणरोगसोगा य।
कुलजोणिजीवमग्गणठाणा जीवस्स णो संति।।42।।

संस्कृत छाया : **चतुर्गतिभवसंभ्रमणं जातिजरामरणरोगशोकाश्च।**
कुलयोनिजीवमार्गणस्थानानि जीवस्य नो सन्ति।।42।।

अन्वयार्थ : (चतुर्गतिभवसंभ्रमणं) चार गतियों के भवों का परिभ्रमण (जातिजरामरण– रोग शोकाश्च) जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक (कुलयोनि जीव मार्गणस्थानानि च) कुलयोनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान (जीवस्य नो संति) जीव के नहीं होते हैं।

भो मनीषियो! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने यह संकेत किया कि कारण–समयसार का आश्रय लेकर कार्य–समयसार को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिये। कहने का तात्पर्य है कि पहले भेद–रत्नत्रय होता है, उसके बाद अभेद–रत्नत्रय होता है। भो ज्ञानी! भेद–रत्नत्रय के बिना अभेद–रत्नत्रय नहीं हो सकता है, आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि शुद्ध–निश्चयनय से शुद्धजीव के चारों गतियों के भवों का परिभ्रमण जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, कुल, योनि, जीवस्थान, मार्गणास्थान नहीं होते हैं।

भो ज्ञानी! शुद्धजीव के द्रव्यकर्म और भावकर्म को स्वीकार करने का अभाव होने से नारक, तिर्यंच, मानुष और देव लक्षणवाली चारों गतियों का परिभ्रमण नहीं होता है। नित्य, शुद्ध, चिदानन्दमय कारण–परमात्मास्वरूप जीव के द्रव्यकर्म, भावकर्म के ग्रहण योग्य विभाव–परिणति का अभाव होने से जन्म, जरा, मरण, रोग और शोक नहीं हैं। चार गति जीवों के कुल, योनि भेद नहीं है। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीइंद्रिय, तीनइंद्रिय, चारइंद्रिय और पंचइंद्रिय तथा नारकी, देव सबकी मिलाकर एक सौ साढ़े निन्यानवे लाख करोड़ कुल होते है।

भो ज्ञानी! पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, नित्य– निगोद, चतुर्गति–निगोद, वनस्पतिकायिक, दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चारइंद्रिय, तिर्यंच, मनुष्य, देव,

नारकी इन सबकी मिलाकर 84 लाख योनियों हैं। बादर–एकेन्द्रिय और सूक्ष्म–एकेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चारइंद्रिय ऐसे सातों के पर्याप्तक और अपर्याप्तक भेद होने से जीवसमास के चौदह–भेद कहे गये हैं। गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, संयम, ज्ञान, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहार भेदरूप चौदह–मार्गणास्थान होते हैं। ये सभी भगवान् के शुद्ध–निश्चयनय से नहीं हैं, ऐसा आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी का अभिप्राय है।

भो ज्ञानी कुन्दकुन्दस्वामी के समयसार की 'तात्पर्य–वृत्ति' टीका के कलश में यही कथन आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने किया है।

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।
इममुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात् कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम्
।। स.सार–कलश 35।

हे भव्य आत्माओ! अपने एक केवल–आत्मा को आत्मा में ही अभ्यास करो, अनुभव करो। यह आत्मा अनन्त तथा अविनाशी है। यह आत्मा परमार्थ से समस्त अन्य–भावों से रहित चैतन्य शक्तिमात्र है। चैतन्य के अलावा सभी शरीर आदि पदार्थ पौद्गलिक हैं।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव निर्विकल्प समाधि की महिमा बताते हुये कलश कह रहे हैं–

अनवरतमखण्डज्ञानसद्भावनात्मा व्रजति न च विकल्पं संसृतेर्घोररूपम्।
अतुलमनघमात्मा निर्विकल्पः समाधिः परपरिणतिदूरं याति चिन्मात्रमेषः।।कलश 60।।
इत्थ बुद्ध्वोपदेशं जननमृतिहरं यं जरानाशहेतुं भक्ति प्रह्वामरेन्द्र–प्रकटमुकुट–सद्रत्नमालार्चितांघ्रेः।
वीरात्तीर्थाधिनाथाद्दुरितमलकुलध्वांतविध्वंसदक्षं एते संतो भवाब्धेरपरतटममी यांति सच्छीलपोताः
।। कलश 61।।

जो आत्मा सतत्रूप से अखण्ड–ज्ञान की भावना करता है, वह संसार के महादुःखरूप विकल्प को प्राप्त नहीं होता है। विकल्पों से रहित होने के कारण निर्विकल्प समाधिरूप यह आत्मा चिद्स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। वह कैसा है? अतुल है, निर्दोष है, पर–परिणति से शून्य है। जब यह आत्मा शुद्ध–निश्चयनय का आलम्बन लेता है, तो अखण्ड ज्ञानधारा में लीन हो जाता है, जिससे संसार के दुःखरूप जन्म, मरण, कुल, योनि

आदि विकल्पों को नहीं करता है। इस कारण से निर्विकल्प समाधि में लीन होकर भगवान्–आत्मा को प्राप्त कर लेता है।

अगले कलश संख्या 61 में वीर भगवान् के गुणों के गान करके उनकी महिमा का वर्णन कर रहे हैं। भगवान् महावीर के चरण–कमलों की पूजा चारों निकायों के देव करते हैं और भक्ति से प्रभु के चरण–कमलों में अपना मस्तक झुकाते हैं। महावीर प्रभु वर्तमान जिनशासन नायक हैं अर्थात् प्रभु का शासनकाल चल रहा है। ऐसे धर्मतीर्थ के नायक तीर्थंकर महावीर भगवान् के आदेश को सुनने एवं धारण करने से जन्म, जरा, मरण के जो घोर दुःख हैं, उनसे छूट जाता है। कौन? जो रत्नत्रयरूपी नौका में बैठता है। वह संसाररूपी सागर से पार हो जाता है, तिर जाता है। यहाँ पर टीकाकार कह रहे हैं कि जो निश्चयनय और व्यवहारनय अर्थात् उभयनय से गुंथित उपदेश को सुनकर सम्यक्चारित्र को धारण करता है, वह संसार–समुद्र से पार हो जाता है। यहाँ सम्यक्चारित्र से आचार्य महाराज का अभिप्राय सम्यग्दर्शन–ज्ञान चारित्र की एकता से है, अभेद रत्नत्रय से है।

भो ज्ञानी! व्यवहार–रत्नत्रय ही निश्चय–रत्नत्रय का साधन है। कोई सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन से युक्त है, तो आवश्यक नहीं कि वह सम्यक्चारित्र से भी युक्त हो। परन्तु जब सम्यक्चारित्र से युक्त कहा जायेगा, तो वह सम्यग्दर्शन और सम्यक् ज्ञान से भी युक्त है। क्योंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यग्चारित्र होता नहीं है। आचार्य उमास्वामी महाराज ने भी सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता को ही मोक्षमार्ग कहा है। एक एक से मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं है।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **निश्चित रूप से शुद्धात्मा के सम्पूर्ण विभावों का अभाव है।**

णिद्दंडो णिद्दंदो, णिम्ममो, णिक्कलो णिरालंबो।
णीरागो णिद्दोसो, णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा।।43।।

संस्कृत छाया : **निर्दण्डः निर्द्वन्द्वः निर्ममः निःकलः निरालंबः।**
नीराग : निर्दोषः निर्मूढ़ः निर्भयः आत्मा ।।43।।

अन्वयार्थ : (आत्मा) आत्मा (निर्दण्डः) दण्डरहित–मन वचन काय की प्रवृत्ति से रहित (निर्द्वन्द्वः) द्वन्द्वरहित (निर्ममः) ममतारहित (निःकलः) शरीररहित (निरालम्बः) आलम्बनरहित (नीरागः) रागरहित (निर्दोषः) दोषरहित (निर्मूढ़ः) मूढ़तारहित और (निर्भयः) भयरहित है।

भो ज्ञानी! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा के माध्यम से बता रहे हैं, कि शुद्ध–आत्मा के संपूर्ण प्रकार के विभाव का अभाव हो जाता है। यह कथन निश्चय है, इसमें कोई शंका की आवश्यकता नहीं है। यह निश्चित रूप से ही है कि यह आत्मा दण्ड से रहित है। इसमें किसीप्रकार का द्वन्द्व नहीं है, क्योंकि द्वन्द्व हमेशा दो के बीच होता है, शुद्धात्मा एक है। यह सब प्रकार के मोह, राग आदि से रहित है। आस्रव के कारण जो शरीर है, सिद्धभगवान् उससे भी रहित हैं। इसीलिये निकल–परमात्मा कहलाते हैं। यह जीव पुद्गल–कर्म–नोकर्म के संयोग से संसार में भ्रमण करता है, क्योंकि ये वाहन के समान कार्य करते हैं। उससे रहित हो जाने से वह संसार–भ्रमण से रहित हो जाता है। जबतक यह जीव संसारी रहता है, तब तक शरीर आदि के आलम्बन से रहता है। शुद्ध–आत्मा निरालम्ब है। सब प्रकार के राग, द्वेष आदि से रहित है। सभीप्रकार के दोषों से मुक्त है और जो लोकमूढ़तायें आदि कही गई हैं, उनका भी अभाव हो चुका है। यह जीव भय आदि के कारण असत्य आचरण करता है। शुद्धात्मा इससे भी रहित अवस्था को प्राप्त हो चुकी है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने कथन किया है, कि निश्चयनय से जीव वर्ण आदि से रहित है और रागादिक भावों से रहित है। परम पारणामिक–स्वभाव ही इस जीव का वास्तविक–स्वभाव है। एकमात्र विशुद्धात्मा ही परम उपादेयभूत है। आचार्य योगीन्दुस्वामी ने 'अमृताशीति' ग्रन्थ में कहा है–

स्वरनिकर विसर्गव्यंजनाद्यक्षरैर्यद्, रहितमहितहीनं शाश्वतं मुक्तसंख्यम्।
अरसतिमिररूपस्पर्शगंधाम्बुवायु–क्षितिपवनसखाणुस्थूलदिक्चक्रवालम्।।

जो आत्मा है, वह स्वर से रहित है; विसर्ग, व्यंजनादि अक्षरों से रहित है। ये भी आत्मा का धर्म नहीं है। अहित से रहित है, शाश्वत है। संख्या,रस,अंधकार से रहित है। रूप से भी रहित है, स्पर्श से रहित है, गंध से रहित है, वायु से रहित है, जल से रहित है, पवन, पृथ्वी से रहित है। अणु, स्थूलता से रहित है। दिशाओं के समूह से भी रहित है।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव शुद्ध आत्मतत्व का वर्णन करते हुए कह रहे है–

दुरघवनकुठारः प्राप्तदुःकर्मपारः परपरिणतिदूरः प्रास्तरागाब्धिपूरः।
हतविविधविकारः सत्यशर्माब्धिनीरः सपदि समयसारः पातु मामस्तमारः।। कलश 62।।

आत्मा पापरूपी वन के लिये कुठार है। उसको नष्ट करने के लिये कुल्हाड़ी के समान है। हे ज्ञानी! तेरा स्वभाव परपरिणति से भिन्न है। अनुभव करो, कि आप परपरिणति से दूर हैं। और रागरूपी जल का जो पूर है, उसको समाप्त करनेवाला ऐसा सत्य–सुखरूपी जो नीर है, ऐसी आत्मा ही है। जिसने कामदेव को समाप्त कर दिया है, ऐसा शुद्धआत्मा का स्वरूप है।

जयति परमतत्त्वं तत्त्वनिष्णात पद्म–प्रभमुनिहृदयाब्जे संस्थितं निर्विकारम्।
हतविविधविकल्पं कल्पनामात्ररम्याद् भवभवसुखदुःखान्मुक्तमुक्तं बुधैर्यत्।। कलश 63।।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं, जो तत्त्वविकार से रहित है और जहाँ संपूर्ण विकल्पों का हनन हो चुका है। जीवन में ये ध्यान रखना, साधना तभी संभव है, जब विकल्प समाप्त हों। जिस साधक के अंतरंग में नानाप्रकार के विकल्पजाल चल रहे हैं, वर्तमान के सुखों को उसने बुद्धिपूर्वक नहीं छोड़ा है, साधना में निर्मलता है नहीं, इसलिये आगे भविष्य में सुख मिलने वाले नही हैं। उसने उभय लोक के सुखों का नाष कर लिया। इसलिये हे योगी! जो वर्तमान के सुखों को तूने छोड़ा है, तो दुःखों की प्राप्ति के लिये नहीं छोड़ा है, परमानन्द सुख की प्राप्ति के लिये छोड़ा है। जिस निर्विकार के वेश को तूने प्राप्त किया है, वैसे निर्विकार भाव भी बनाने होंगे। जबतक निर्विकार भाव नहीं होंगे, तबतक निर्लिप्त आत्मतत्त्व प्रकट नहीं होगा और उस परमानन्द–सुख की प्राप्ति नहीं होगी। ओहो! उतना दुःख आने पर दुःख नहीं होता है जितना दुःख के बारे में विकल्प करने में दुःख होता है। जितनी विषयों के सेवन में सुखानुभूति नहीं, उतनी विषयों की कल्पना में सुखानुभूति है। यदि सुखमय जीवन जीना चाहते हो, तो गंभीर–से–गंभीर बात को समान्यता में ले जाओ, आप सुखी रहोगे।

भो ज्ञानी! एक सामान्य बात को, कुछलोगों की आदत होती है, उसको बहुत गंभीरता में डाल दिया, तो गये काम से। इस पर्याय में मृत्यु से गंभीर बात क्या है? ज्ञानी उसे भी

सामान्य मानता है। यह कुछ नहीं है। मरण क्या है? निश्चित है। वृक्ष उखड़ कर गिर गया। अरे भाई! जड़ कमजोर हो गई थी, सो गिरना ही था, तो गिर गया। अब हल्ला करने से लग सकता है तो आप करो। ऐसे ही जो पत्ता वृक्ष से पतित हो चुका है, वह पुनः लगनेवाला नहीं है। ऐसे ही जो पर्यायें विलीन हो चुकी हैं, वह वैसी पुनः मिलनेवाली नहीं हैं। अब विकल्प किस बात का? व्यर्थ के विकल्प ज्यादा होते हैं, वे कार्यकारी नहीं हैं। इसलिये इन्द्रियविषय विषफल के तुल्य हैं, सुहावने लगते हैं, पर कोई कार्यकारी नहीं हैं। ऐसा ही अनुभव करो, कि वास्तव में लालसा में लिप्त है व्यक्ति, परन्तु भोग में लेशमात्र सुख नहीं है। ये ध्यान रखना जीवन में, कल्पना में सबसे ज्यादा सुखानुभूति कर लेता है। चिंतवन करना कि तन से आस्रव कितना होता है, वचन से कितना होता है और फिर मन से कितना होता है? भोग भोगने में समय कम लगता है, भोगों की चर्चा में समय ज्यादा लगाते हो और चर्चायें भी छुपकर कर पाते हो। परन्तु कल्पना कहाँ–कहाँ नहीं कर लेते हो। चर्चा में ये तो ध्यान रखते हो कि ये मंदिर है, धर्मशाला है, पर कल्पना में किसी को नहीं देखते कि मंदिर है, कि तीनलोक के नाथ विराजे हैं। अहो! तू चर्या से जितना बंध नहीं कर रहा है, उतना कल्पना से बन्ध हो रहा है।

अनिशमतुलबोधाधीनमात्मानमात्मा सहजगुणमणीनामाकरं तत्त्वसारम्।
निजपरिणतिशर्माम्भोधिमज्जन्तमेनं भजतु भवविमुक्तयै भव्यताप्रेरितो यः।। कलश 64।।

आचार्यभगवन् भव्य जीवों को प्रेरणा दे रहे हैं, कह रहे हैं कि यह आत्मा तो आत्मा के द्वारा गम्य है और सहज गुणों की मणियों का खजाना है, तत्त्व का सार है। भो ज्ञानी! तू भव से मुक्त होना चाहता है तो, तुम आत्मतत्त्व को भजो, परतत्वों को छोड़ दो।

भवभोगपराङ्मुख हे यते पदमिदं भवहेतुविनाशनम्।
भज निजात्म निमग्नमते पुन–स्तव किमध्रुववस्तुनि चिन्तया।। कलश 65।।

आचार्यमहाराज सुन्दर सम्बोधन दे रहे हैं–हे यति! किसको कह रहे हैं, हे यति? साधुपरमेष्ठी भगवन्! भव–भव से पराङ्मुख! 'यति' नाम तो बहुत सारे जीवों के हैं। पर जिनका निर्मल यत्न है मोक्षमार्ग में, वे ही यहाँ यति हैं। जो यति– वेश को प्राप्त करके भी प्रपंचों में जी रहे हैं, उनका नाम यहाँ नहीं है। वैसे 'यति' संज्ञा तो श्रेणी पर आरूढ़ मुनि की होती है। सामान्य अपेक्षा से तपसी, यति, मुनि, विद्वान्, वर्णी ये 'नाममाला'–ग्रन्थ में साधु के ही नाम है। 'नाममाला' महाकवि धनंजय कृत है। इसमें एक शब्द के अनेक नाम हैं–पर्यायवाची। यति सामान्य रूप से मुनि को ही कहा है और सिद्धान्त कहेगा कि जो श्रेणी–आरूढ़ हो रहे हैं, ऐसे मुनि ही यति हैं। अथवा जो मोक्षमार्ग का निर्विकल्प/निर्मल

पुरुषार्थ कर रहे हैं, वे यति हैं। कैसे? जो भव के भोगों से पराङ्मुख हैं, जिन्होंने पीठ कर ली है भोगों से। यह मुनि–पद ख्याति, पूजा के लिये नहीं है। यह मुनिपद तो भव के हेतु का विनाश करने का पद है और इस पद में भी भव के हेतु को नहीं विनाश कर पाये, तो विश्व में अब कोई पद नहीं बचा है। यहीं तुम निर्विकल्प नहीं रह पाये तो, अब तो तुमको कहीं भी निर्विकल्प होने का स्थान नहीं मिलेगा। इतनी स्वतंत्र सहज जीवनशैली कहां मिलेगी?

भैया! बाल कटवाना हो, तो चार–बार नाई के घर जाते हो। यहाँ जब समय हो गया, तो निकाल कर रख दिये, कितनी स्वतंत्रता है। परन्तु ध्यान रखना, ''जैनीवृत्ति स्वेच्छाचार विरोधिनी'' यह सूत्र वादीभसिंहसूरि 'क्षत्रचूड़ामणि' ग्रन्थ में लिख रहे हैं। यह निर्ग्रन्थ जैनीवृत्ति स्वेच्छाचार का विराध करने वाली है। स्वतंत्र मार्ग तो है, पर ये स्वच्छंद मार्ग नहीं है। ऐसा नहीं कि मैं यति हूँ, मुनि हूँ, गुरु हूँ सो कुछ भी कर लो। नहीं, सबके लिये एक संविधान है। आप श्रावकों को समझा सकते हो, तो आपमें भी जिनवाणी विराजमान है। गुरु तुम्हारे सामने हैं और गुरु के लिये जिनदेव की आज्ञा विराजमान है। यदि ये नहीं होता, तो पता नहीं क्या हो जाता।

भो ज्ञानी! यदि चरणानुयोग की व्यवस्था को इधर–उधर कर दोगे, तो द्रव्यानुयोग तुम खोजना, कहाँ मिलेगा? ग्रन्थों में मिलेगा, पर निर्ग्रन्थों में नहीं मिलेगा। आचारांग को खोखला कर दिया, तो ये द्रव्यानुयोग की बातें ग्रन्थों में तो पढ़ने को मिलेगी, पर द्रव्यानुयोग का वेश निर्ग्रन्थ है, वो नहीं दिखेगा। इसीलिए ग्रन्थों की बातें हम निर्ग्रन्थों में देखना चाहते हैं, तो ठीक है। ग्रन्थों में तो सत्य लिखा है, पर निर्ग्रन्थों में उतर कर आना चाहिये इसलिये यह पद ''भव हेतु विनाशनम्'' भव के जितने हेतु हैं, उनके विनाश का है। इसलिये अपनी मति को निज–आत्मा में निबद्ध कर दो।

यथार्थ यह है कि योगी के लिये योग करने की आवश्यकता नहीं है। जिसे दुनियाँ योग कहती है, उसे योगी भोग की प्रवृत्ति कहता है। क्योंकि वह योग शरीर की स्वस्थता मात्र के लिये है–प्राणायाम आदि । परन्तु निर्ग्रन्थ योगी योग उसे कहता है, जिसमें निज से निज को जोड़ लिया है। मन, वचन, काय की एकता का नाम योग है। किसी मोमबत्ती आदि का ध्यान करने को ध्यान नहीं कहा। पेट को खींचना, पेट को बाहर ले जाना, श्वास का निरोध करना आदि ये शरीर की क्रिया है। ये चैतन्य की क्रिया नहीं है। अभी तू आत्म–योग से बहुत दूर है, क्योंकि तू तो शरीर के योग में लगा हुआ है।

आत्म–योगी के लिये तो ये सहज अपने–आप है। नहीं मानो तो एक–क्षण आप चिन्तवन करो एक पदार्थ का, उसमें चित्त को ले जाओ। ध्यान से समझना, चिन्तवन करो, उसमें चित्त को लगा दो और उस चिन्तवन में जो तुम्हारी ताकत लगेगी और एक घण्टे को

व्यायाम करो और फिर दोनों बैठो, किसके शरीर में कितना ढ़ीलापन है? जितनी ताकत चित्त की एकाग्रता में लगती है, उतनी बाह्य योग में नहीं लगती है। बाह्य योग तो मात्र शरीर का है और आगे चलो, अभी प्रयोग कर लो, बैठ जाओ। लोग माला फेरते हैं और कहते हैं कि मन भागता है, क्योंकि माला फेरने का ज्ञान नहीं है। एक क्षण के लिये बिल्कुल व्यवस्थित बैठ जाओ, नासाग्र दृष्टि कर लो। जीभ नहीं हिलना चाहिये, ओंठ नहीं हिलना चाहिये। अब णमोकार मंत्र जपिये। आप एक ही बार पढ़ लो, तो कहाँ गया मन? परन्तु ये क्रिया तुम लम्बे समय तक नहीं कर पाओगे, घबड़ा जाओगे। इसलिये समय–समय पर अभ्यास करो।

श्लोकवार्तिककार ने मंत्रों का जाप चार प्रकार से करने की विधि का वर्णन किया है– ''चतुर्विद्या हि वाग्वैरवरी मध्यमापश्यन्ति सूक्ष्मश्चेति।''

भो ज्ञानी! बैखरी, उपांशु, मध्यमा, जाप, अंतरजल्प आदि। आप बैखरी माला करते हो। ये जाप के भेद हैं। बैखरी का तात्पर्य मुख से बोल करके। वो जितनी वर्गणाएँ रहती हैं, वे तरंग से तुम बाहर कर देते हो, इससे पर्यावरण तो निर्मल होता है। अखण्ड पाठ, उससे निज को विशेष कुछ नहीं मिलता है, इससे मात्र पर्यावरण की शुद्धि होती है। निज की शुद्धि चाहते हो, तो जीभ भी नहीं हिलना चाहिये, ओंठ भी नहीं हिलना चाहिये, आप णमोकार की आराधना करो और अब कहो, मन कहाँ जाता है?

मंत्र संस्कारित विधि है। मंत्रसाधक जो होता है, अपने मंत्र का उच्चारण करता है। हिन्दू मंत्र कई ऐसे हैं, जिनमें सीधी–सीधी गालियाँ है। शांतिनाथ भगवान् बहोरीबंद में खनुआदेव के नाम से पूजे जाते थे। लोग गये, झाड़ू मार कर आ गये, बोले–मेरे कार्य की सिद्धि होना चाहिये। सो उनके कार्य सिद्ध हो रहे थे। किसी ने जाकर गोबर पटक दिया, बोले–ये मेरा काम सिद्ध हो जाये। क्या कुछ नहीं था।

आप बोलना कुछ मत और इन सबकी ओर अँगुली कर दो और एक आदमी के बाद बार–बार अंगुली करते जाओ, क्या होगा? प्रत्येक मन कलुषित होता है। आपके घर में लड़ाई–झगड़ा होता है। आप बिल्कुल शान्त बैठकर लड़ो, हाथ नहीं चलाना, भौंह भी मत हिलाना, मात्र आप शान्त, जैसे जाप कर रहे हो। रहस्य को समझो, क्या है? जिसको आप कहते हो कि मुद्रा के अभाव में मंत्र काम नहीं करता। मुद्रा के अभाव में मंत्र तो छोड़ा। वकीलसाहब काला कोट की मुद्रा बनाके जाते हों, तो ये मुद्रा की दृष्टि है। मुद्रा का भी प्रभाव पड़ता है। जो तीर्थंकर प्रतिमा जिनालय में विराजमान है, वो अन्य किसी मुद्रा में होती, तो जैनी नमोस्तु नहीं करते। क्योंकि आगम में लिखा है कि वीतरागी हाथ पर हाथ रखे हुये है, वो जिनमुद्रा है।

जब तुम सामायिक करने बैठते हो, तो आसन क्यों माढ़ते हो? तुरन्त आप बैठ गये, आसन लगा लिया, लेकिन आगम तुम्हारे सामने रखा हुआ है। जिनवाणी में ये नहीं लिखा कि मन को वश करो, वचन को वश करो। कभी नहीं कर सकोगे, क्योंकि द्रव्य को छोड़े बिना भाव हट नहीं सकते। ध्यान में, सामायिक में पहले आसन दृढ़ करिये और दृढ़ आसन होगा, अब आप कहेंगे कि वचन का विसर्जन कर दो। बोलते रहोगे, तो चर्चा होती रहेगी, तो चिन्तन चलता रहेगा। प्रवचन की गद्दी पर बैठकर आपको चर्चा सुनाई जाती है। उतना चिन्तन तुम कमरे में एक घंटे में नहीं कर सकते। बाहर की जितनी बातें करोगे, तुम्हारा पूरा समय नष्ट हो जायेगा। इसलिये हे योगी! मौन ले लो। बाह्य चिन्तन से बचने के लिये मौन है। अब जीभ मत हिलाओ, होठ मत हिलाओ, दाँत मत किटकिटाओ, करो जाप। इतना सबकुछ करने के लिये पूरा दिन ही चाहिये पड़ेगा।

जिसने ज्ञान–आराधना निर्मल कर ली, दर्शन, तप आदि आराधना भी उसकी निर्मल हो जायेगी। ज्ञान–आराधना निर्दोष नहीं है, तो शेष आराधना भी निर्दोष नहीं हो पायेगी। ऐसा आचार्य पूज्यपाद ने 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रन्थ में लिखा है। अध्यवसाय भावों से बचने के लिये और निर्दोष संयम में लीन होने के लिये योगी ज्ञान की आराधना करे।

भैया! मन इसलिये भागता है, क्योंकि जिस विधि से आप जाप करते हो, वह विधि बहुत स्थूल है। फिर आपके यहाँ जाप की बहुत व्यवस्थायें हैं–पूर्वानुपूर्वी, पश्चातानुपूर्वी, यथातथानुपूर्वी। पूर्वानुपूर्वी में सीधी माला फेरी जाती है। चौबीस तीर्थंकरों के नाम लिये, तो भगवान् आदिनाथ से भगवान् महावीर तक, ये पूर्वानुपूर्वी है। पश्चातानुपूर्वी में उल्टा क्रम कर दो यानि आदिनाथस्वामी का नाम बाद में, महावीरस्वामी का पहले। इसमें पाप मत मानना। ये जाप देने की विधि है। जब चित्त न लगे, तो ऐसी जाप करना चाहिये। यथातथवानुपूर्वी में णमोकार के पाँच पद पूरे होने चाहिये, कहीं से भी बोलो। बस, मंत्र पूरा होना चाहिये। ये मत गिनना, कि उल्टा हुआ, कि सीधा हुआ। इसका नाम है यथातथानुपूर्वी। ध्यान रखना, योगी अपने मन को इसीमें लगाये रखता है, कभी इधर से, कभी उधर से।

संघ में लोग एक ही बात कहते रहते हैं कि महाराज! समय ही नहीं मिलता। यह शब्द भी अच्छा है कि अपने–आपको व्यस्त रखना चाहिये, क्योंकि ये पंचम काल है। अरे! भूल गये, ये पद क्यों है? भव के हेतु को विनाश करने के लिये और अपने निज–आत्मा में मग्न होकर अपनी मति को लगा दे। हे योगी! तू अध्रुव वस्तु की चिन्ता क्यों करता है? तू तो अखण्ड चैतन्य–पिण्ड है, उसका चिन्तन करो।

समयसारमनाकलमच्युतं जननमृत्युरुजादिविवर्जितम्।
सहजनिर्मलशर्मसुधामयं समरसेन सदा परिपूजये।। कलश 66।।

आचार्यभगवन् कह रहे हैं, कि समयसार में कोई शब्द नहीं है। जिसमें अनुकूलता है, उसका नाम समयसार है। समझना, ज्ञानी आत्माओ! जिसमें जन्म नहीं है, मरण नहीं है, रोग और शोक नहीं है। इनसे रहित है समयसार, जो सहज सुख–सुधा से युक्त है।

अहो! अंधभक्त न बनो। अलमारी में जिनवाणी विराजमान है और उसी के ऊपर तुमने चावल चढ़ा दिये। चूहे आये, चिड़िया आई, गंदगी करेगी तो ये असादना किसके कारण हुई? ये तुम्हारी विवेकहीन भक्ति के कारण। भैया! ये प्रत्येक शास्त्रभंडार में लिख दो, कि माँ जिनवाणी कह रही है, अपने भक्तों से विनती कर रही है, मेरे भक्तो! ''जलम् रक्षैत'' जल से मेरी रक्षा करना। ''तैलम् रक्षैत''। बढ़िया सुन्दर–तेल लगाकर आ गये और पूरे शास्त्र को गंदा कर दिया। मालूम, ज्ञानावरणी कर्म का बन्ध होगा? अरे भैया! तुम पहले हाथ साफ करके आओ, परन्तु तेल भरे हाथों से जिनवाणी मत छुओ। ''शिथिल बन्धनम् रक्षैत'' तुमने ढ़ीले–ढ़ाले बांधकर रख दिये और धीरे से खिसक गये, सब जिनवाणी नीचे पड़ी हुई है।

जल से रक्षा करो, तेल से रक्षा करो, शिथिल–बंधन से रक्षा करो। अंत में क्या कह रहे हैं? माँ भारती कह रही है, हे विज्ञजनो! मूर्ख के हाथ में मत सौंप देना। मूर्ख का तात्पर्य बिल्कुल पागल ही मत समझ लेना। जिस विषय में जिसका प्रवेश नहीं है, अर्थ का अनर्थ कर रहा है, उसे माँ जिनवाणी अपने विषय में मूर्ख ही कहती है, ध्यान रखना जीवन में, जिस विषय में तुम्हारा प्रवेश नहीं है और जबतक समझ में नहीं आये, तो बोलो मत, समझो।

जयसेनस्वामी ने 'महापुराण' में श्रोताओं का लक्षण लिखा है–एक भैंसा श्रोता लिखा है। वो पीता कम है और पियेगा बाद में, पहले उसको मचा देगा। भो ज्ञानी! माँ जिनवाणी कह रही है कि तुम हंस बनके आओ। नीर–क्षीर का भेद–विज्ञान करो। परन्तु सभा को मचा मत देना। आचार्यमहाराज ने पहले ही श्रोताओं और वक्ताओं का लक्षण दे दिया। यह जिनवाणी माँ कह रही है, तो इन बातों का ध्यान रखना। क्योंकि सुनते तो बहुत दिन से चले आ रहे हो, अमल करना प्रारंभ कर देना। जितने पृष्ठ इधर–उधर हो रहे हों, उनकी संभाल करो, सुरक्षित करो। ये अच्छा है कि साल में एक बार श्रुतपंचमी आती है। भगवान् के पर्व तो वर्ष–भर आते रहते हैं, पर जिनवाणी के लिये एक ही पर्व है–श्रुतपंचमी।

भो ज्ञानी! प्रतिदिन श्रुतपंचमी मनाओ। श्रुत की आराधना तो प्रतिक्षण करो। क्योंकि बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति आदि ये सब तेरे को जिनवाणी में तीर्थंकर बनने की शैली है। कुछ लोग भगवान् का अभिषेक तो रोज करते हैं, पूजा भी करते हैं पर स्वाध्याय नहीं

करते। पूजा भी करो, भगवान् का प्रक्षालन भी करो, परन्तु माँ जिनवाणी को खोलकर देख लिया करो। एक–दूसरे का निषेध भी मत करना। हमारा तो स्वाध्याय भर में मन लगता है, हम और कुछ नहीं करेंगे। वो भी गलत है। आप स्वाध्याय भी करें, भगवान् की पूजा भी करें, गुरुओं की उपासना भी करें, क्योंकि तीनों का योग मोक्षमार्ग की ओर जाता है।

भैया! ऐसा मत कह देना कभी, कि स्वाध्याय में षट्–आवश्यक आ गये। लोग तो प्रमादी वैसे ही हैं। ठंडियों में कौन स्नान करे, कौन भगवान् की पूजा करे। ध्यान रखना जीवन में, कुछ बातें व्यवहारिक होती हैं। 'धर्म–रत्नाकर' ग्रन्थ में आचार्य महाराज ने लिखा है, कि विद्वानों का बहुत सम्मान करना चाहिये। देखो, दिगम्बर आचार्य लिख रहे हैं। तो प्रश्न किया–महाराज! विद्वानों का सम्मान क्यों? बोले–साधु का धर्म साधु की सीमा में है और विद्वानों का धर्म विद्वानों की सीमा में है। साधु तो साधुसंहिता में बंधा हुआ है और विद्वान् दोनों की सुरक्षा में लगा हुआ है। यदि विद्वान् नहीं होगा, तो क्या साधु जायेंगे अभिषेक कराने के लिये? साधु जायेंगे विधान कराने के लिये? साधु जायेंगे तुम्हारे बेटे की शादी के फेरे कराने के लिये? देखो, व्यवहार की बात कर रहे हैं, विषय की नहीं है। यदि नहीं है, तो 'मंगलम् भगवान् वीरो' के स्थान पर कुछ–और ही लिखा पढ़ा जायेगा। आचार्य महाराज ने प्रतिष्ठाचार्य का नाम गृहस्थाचार्य दिया और लिखा कि गृहस्थाचार्य का उचित सम्मान रखें। 'उचित' शब्द पर ध्यान रखना, उन्हें भगवान् नहीं बना देना, नहीं तो तुम कहने लगो परमपूज्य प्रतिष्ठाचार्य जी महाराज। ये सब अनर्थ हो जायेगा। उनका उचित सम्मान रखें, स्पष्ट लिखा हुआ है, क्योंकि आप सम्मान नहीं रखेंगे, तो कोई माता–पिता अपने बेटे को विद्वान् नहीं बनायेगा और विद्वान् बनने की परम्परा समाप्त हो जायेगी।

तुम्हारी कलम में कहीं तलवार आ गई, तो तुमने धर्म का नाश कर दिया। भैया! कलम बहुत शक्तिशाली वस्तु है। यह कलम की ही देन है, कि सब यहाँ बैठे हुये हैं। कुन्दकुन्द महाराज की कलम न चलती, तो आज अपने पास क्या था?

भैया! जीवन में ध्यान रखना, जब भी अध्ययन करने बैठो, जिनवाणी को शीश झुकाकर एक प्रतिज्ञा करके बैठो। हे भगवन्! हे वीतराग वाणी! आपका मेरे अंतरंग से भी दुरुपयोग न होने पाये। मैं देव, शास्त्र, गुरु की रक्षा के लिये जिनवाणी का अध्ययन कर रहा हूँ। मेरे कारण लोग विसंवाद में न पड़ें, न्याय– नीति पूर्वक जीयें। यदि कहीं आचरण में दोष आते हैं, तो धर्म का दोष नहीं है, उस व्यक्ति के निज–प्रयोजन का दोष होना चाहिये। हम एक व्यक्ति के पीछे सम्पूर्ण आम्नाय का विनाश नहीं कर सकते। 'रत्नकरण्ड–श्रावकाचार' में उपगूहन का अर्थ ढ़कना मात्र नहीं कहा है, बल्कि कोई अस्वथ्य है, किसी कारण से शिथिलाचार हो रहा है, ऐसे लोगों के आश्रय से जो धर्म की अवहेलना हो रही है, उसका प्रमार्जन करना उपगूहन अंग है।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **यहाँ भी शुद्ध जीव के स्वरूप को कहा है।**

णिग्गंथो णीरागो, णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को।
णिक्कामो णिक्कोहो, णिम्माणो णिम्मदो अप्पा।।44।।

संस्कृत छाया : **निर्ग्रन्थो नीरागो निःशल्यः सकलदोषनिर्मुक्तः।**
निःकामो निःक्रोधो निर्मानो निर्मदः आत्मा।।44।।

अन्वयार्थ : (आत्मा) यह आत्मा (निर्ग्रन्थः) ग्रन्थ–परिग्रह से रहित (नीरागः) रागरहित, (निःशल्यः) शल्यरहित, (सकलदोषनिर्मुक्तः) संपूर्ण दोषों से रहित, (निःकामः) काम– इच्छाओं से रहित (निःक्रोधः) क्रोध से रहित (निर्मानः) मान से रहित और (निर्मदः) मद से रहित है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्दस्वामी ने शुद्धभाव अधिकार में जीव के स्वभाव का कथन किया। पद्मप्रभमलधारिदेव ने अपनी टीका में कलशों के माध्यम से संकेत दिया कि अनाकुलित और चिद्स्वभावमय समयसारभूत जो आत्मा है, वही वंदनीय, आराधनीय, पूज्यनीय है, वही परम–उपादेय है।

इत्थं निजज्ञेन निजात्मतत्त्व मुक्तं पुरा सूत्रकृता विशुद्धम्।
बुद्ध्वा च यन्मुक्तिमुपैति भव्यस्तद्भावयाम्युत्तमशर्मणेऽहम्।। कलश 67।।

यहाँ टीकाकार कलश में कह रहे हैं, कि जो परमात्मतत्त्व है, वह आदि, अन्त से रहित है, सम्पूर्ण पाप/दोषों से रहित है। विशुद्ध आत्मतत्त्व का कथन सूत्रकार आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा निजानुभाव से और आगम के द्वारा । भव्य–जीव इस परमतत्त्व को जानकर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। इसलिये ऐसे वीतराग परमतत्त्व की भावना भाता हूँ।

आद्यन्तमुक्तमनघं परमात्मतत्त्वं निर्द्वन्द्वमक्षयविशालतर प्रबोधम्।
तद्भावनापरिणतो भुवि भव्यलोकः सिद्धिं प्रयाति भवसंभवदुःखदूरम्।। कलश 68।।

आचार्यभगवन् इस कलश में कह रहे हैं कि परमात्मतत्व आदि व अंत से रहित है, सम्पूर्ण पाप–दोषों से रहित है, इसमें किसी प्रकार का द्वंद्व नहीं है। ध्यान रखना जीवन में, द्वन्द्व तभी होता है, जब दो होते हैं। इसलिये सम्पूर्ण समयसार का सार इतना है, कि एकत्व–विभक्तभाव। जबतक दो रहेंगे, नियम से विसंवाद होगा। एकत्व–विभक्त निश्चयस्वभाव है, जो लोक में सर्वत्र सुन्दर है। जहाँ एकत्व नहीं है, जहाँ बन्ध की कथा है, वहीं पर विसंवाद है। यानि जहाँ दो आ गये, समझ लो कि विसंवाद प्रारंभ हो गया।

एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होइ।। स.सार. 3।।

द्वन्द्व कब होता है? जब कर्म और आत्मा मिल जाती है, तब द्वन्द्व–ही–द्वन्द्व है। आप अपने घर के राजा हो। जब कोई दूसरा पड़ोसी कहे, कि ये भूमि मेरी है, तो फिर क्या होगा? द्वन्द्व होने लगा। भले ही तुम जीवन में दो क्या हजारों के बीच में रहो, पर अपने को अकेला मानना, क्योंकि द्वन्द्व से बचना है, तो दो से बचकर रहना। भो ज्ञानी! मानने का तात्पर्य है कि श्रद्धा वैसी बनाकर चलना, क्योंकि आप चेतन हो। ये आस्था अंतरंग में रखना होगी। ज्ञानीजीव सबकुछ करता दिखता है, पर उस ज्ञानी की परिणति को देखकर रागी उससे चिढ़ता मिलता है। रागी की प्रत्येक परिणति ज्ञानी से भिन्न होगी। कैसे? आपने सोले के धोती–दुपट्टा पहने होंगे। जिसदिन आप बिना सोले के होते हो, कैसे सबके बीच में घुसकर चले जाते हो और जब आप धोती–दुपट्टा में होते हो, तो फिर कैसे रहते हो? स्वयं बचते हो। इतने सारे मनुष्यों से भिन्न आप अपने को देखते हो और देखनेवाले भी आपको भिन्न देखते हैं। अरे! धोती–दुपट्टा की इतनी महिमा, एक बाह्य आवरण की इतनी महिमा, कि इतने सारे लोगों से आपको भिन्न दिखा दिया। जब सफेद वस्त्र से आपमें और पर में भिन्नता है, तो शुक्ल भावों से भो चेतन! पर में और तुझमें कितनी भिन्नता हो सकती है।

जिसकी दृष्टि समीचीन है, वही मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से ज्ञानी है। आप भले कहलो, अपनी करलो, पर मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है और मिथ्यादृष्टि अज्ञानी। भो ज्ञानी! अपेक्षा के बिना काम कैसे चलेगा? मिथ्यादृष्टि अज्ञानी, सम्यग्दृष्टि ज्ञानी, ठीक यही तो अपेक्षा थी। इसलिये सिद्धान्त इसलिये नहीं कहना, क्योंकि आपके सामने केवलीभगवान् विराजे हैं, उनकी अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि अज्ञानी है। केवली की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि अज्ञानी है, क्योंकि सम्यग्दृष्टिजीव के पास क्षायोपशमिक ज्ञान है और केवली के पास क्षायिक ज्ञान है।

भो ज्ञानी! जो नय के पक्ष से अतिक्रान्त है, उसका नाम समयसार है। नय का पक्ष जहाँतक है, वहाँतक समयसार नहीं है। जिसदिन समयसार मिल जायेगा, उसदिन नय का पक्ष समाप्त हो जायेगा। आत्मा निर्द्वन्द्व है, अक्षय है, इसका कभी क्षय होनेवाला नहीं है। ये आत्मा अज्ञानी के गम्य नहीं है, ये आत्मा ज्ञानियों के गम्य नहीं है। ये आत्मा श्रेष्ठ–ज्ञानियों के द्वारा जाननेयोग्य है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा 44 में कह रहे हैं, कि मैं निर्ग्रन्थ स्वभाव का हूँ, अंतरंग–बहिरंग गाँठ से रहित हूँ। जीवन में निर्ग्रन्थ पर पुस्तक लिख देना, बहुत सरल है, लेकिन जीवन में निर्ग्रन्थ की पुस्तक बनकर जीना बहुत कठिन है। मुमुक्षु निर्ग्रन्थ पुस्तक नहीं लिखता है, मुमुक्षु निर्ग्रन्थ का जीवन जीता है। किसका? चैतन्य का। इसलिये आचार्य पूज्यपादस्वामी ने 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रन्थ में 'निर्ग्रन्थ ही मोक्षमार्ग' लिखा है। क्योंकि जहाँ सम्यग्दर्शन होगा, वहीं निर्ग्रन्थपना होगा और जहाँ निर्ग्रन्थपना होगा, वहीं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र होगा। अविनाभाव है। बिना सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र के निर्ग्रन्थपना नहीं और बिना निर्ग्रन्थता के सम्यग्दर्शनाज्ञानचारित्रपना नहीं है।

हे चेतन! अंतरंग व बहिरंग परिग्रह मेरा निजात्मधर्म नहीं है। एक–एक गाँठ सहजता में समझना। एक–एक गाँठ इतनी कठिन होती है, तो सम्पूर्ण गाँठों से जो बद्ध हो, उसकी क्या दशा होगी? जब क्षपणासार, लब्धिसार ग्रन्थों को देखते हैं, तब लगता है कि कब बनूँ समयसार। 'क्षपणासार' कह रहा है कि कैसे उलझा? 'लब्धिसार' कह रहा है पंच लब्धियों का कथन । एक–एक जीव कितनी कषायों, लेश्यास्थानों को प्राप्त होता है? और एकक्षण में पता नहीं किसका लेश्यास्थान कैसा जा रहा है। थोड़ा समझना। एक टोकरी में आम रखे हुये हैं। देखनेवाला कह रहा है कि समान हैं, परन्तु नहीं। प्रत्येक आम की सुगन्ध में अंतर, प्रत्येक आम के वर्ण में अन्तर, परन्तु एक–जैसे हैं। पीले तो हैं, सब एक–से नहीं। उस पीलेपन में अन्तर, उसके स्वाद में अंतर। अब आम में मत जाना। जबतक तुम भगवान् नहीं बने हो, तबतक तुम सब आम हो। आम का अर्थ संस्कृत में कच्चा। तो जब तक तुम संसारी हो, सिद्ध नहीं बने हो, तबतक आप सबके स्वादों में, भावों में अन्तर है। तो क्षपणासार, लब्धिसार क्या कह रहा आपसे? कि एक परिणाम की लड़ियों को कैसे सुलझायें? और सुलझे नहीं, तो उलझते हैं। तभी मानसिक तनाव होता है, तो बहुत वजन रहता है आपके मस्तिष्क पर।

भो ज्ञानी! आश्चर्य की बात है कि एक में अनेक लड़ियाँ उलझी हुई हैं, लेकिन फल प्रत्येक का एक है। अष्टधातु की प्रतिमा बना दी, एकरूप दिख रही है परन्तु प्रत्येक धातु स्वतंत्र है। ऐसे ही तुझे आत्मा एक दिख रही है, शरीर एक दिख रहा है कि ये पिण्ड है, परन्तु इस आत्मा में 148 कर्म–लड़ियाँ लगी हुई हैं और प्रत्येक कर्म का अपना परिणमन स्वतंत्र चल रहा है। वो परिणमन आपको फलित भी हो रहा है। आप समझ भी लेते हो, फिर भी पता नहीं जीव मान क्यों नहीं लेता है? किसे नहीं मालूम? कर्म का उदय समझ में नहीं आ रहा। मैं तो नहीं मानता कि आप लोग इतने अज्ञानी होंगे। कर्म–सिद्धान्त नहीं

दिखता आँखों से? भैया! कैसे नहीं दिख रहा? यहीं देख लीजिये आप। इतने सारे लोगों में यदि सभी का समान क्षयोपशम था, तो सभी को एकसा होना चाहिये था। ज्ञान में देखो, दर्शन में देखो, चारित्र में देखो, विभूति में देखो, संस्कृति में देखो, धन वैभव में देखो, सबके पीछे कर्म बैठा हुआ है। द्रव्य बाहर के मिल रहे हैं और खड़ा है कर्म–सिद्धान्त। लाभ–अंतराय, भोग–अंतराय ये सब क्या है? कर्म आ रहे हैं उदय में।

भो ज्ञानी! आपने सोचा इस विषय में, कि आपने अच्छा पुण्य कर लिया, खूब णमोकार जाप दिये, अच्छी पूजा भी किये, उपवास भी किये, विधान भी किया, पाठ भी किया, तो अब आये हमारा कर्म कैसे आता है? चिन्ता नहीं करना। लेकिन कर्म कह रहा है तुमसे कि बताओ तुम कर कहाँ से रहे हो? तुम शरीर से कर रहे हो न? हाँ। अच्छी बात है, हम तुम्हारे शरीर में कुछ नहीं कर पायेंगे, निरोग रहोगे। लेकिन कल मालूम चला कि दुकान में आग लग गई। अब रोना मत, क्योंकि वो तो भिन्न है। एक व्यक्ति ने सोचा– बहुत घाटा हो गया, ये कर्म पेर रहा है, अब तो मुनिमहाराज बन जाओ, हल्के तो हो जायेंगे। अब ये तो छूट जायेगा कि किसकी दुकान में आग लगी, किसका मकान गया। संभलकर सुनना, उस जीव ने सोचा कि मुनिराज बन जाओ, क्योंकि लाभ–अंतराय कर्म उसको पेर रहा था तो वे बन गये मुनिराज। उनने सोचा कि न रहे बांस, न बजे बांसुरी। लेकिन ध्यान रखना, श्रावकों के यहाँ कर्म आने के कई साधन हैं। कर्म किसी निमित्त से आये, तुम्हारी मानसिकता को दुःखित करना है। चाहे पुत्र के माध्यम से दुःखित हो। आहार–चर्या को गये हैं, वहीं तुम्हें अंतराय आ गया।

मुनिराज की संज्ञा है निर्ग्रन्थ। जहाँ मोह क्षीण हो चुका है, अब कोई राग की दशा नहीं। वो कर्म आये तो आये, जाये सो जाये। सूने घर का पाहुना, ज्यों आवे त्यों जावे। किसी के मकान में ताला लगा हो और मेहमान आ जाये, अब बताओ कितने दिन रुकेगा वो? और कहीं आपका ताला खुला हो और बैठक–कक्ष भी खुला हो, कहीं तुमने नाश्ता और करा दिया हो, तो एक घंटे के लिये आये होंगे तो और रुक जायेंगे। इस कर्म के पिण्ड को सम्मान देता है मोह, इस कर्म के पिण्ड को सम्मान देता है राग और जिसने मोह और राग पर ताला डाल दिया है तो आठ–कर्म ज्यों आ रहे हैं, त्यों जा रहे हैं। यहाँ जो आस्रव हो रहा है, उसका नाम है ईर्यापथ आस्रव। आस्रव के दो भेद हैं–ईर्यापथ और साम्परायिक। सांपरायिक आस्रव दसवें गुणस्थान तक होता है। जो कषायसहित आस्रव है, वह सांपरायिक आस्रव है। जो कषाय से रहित है, ईर्यापथ आस्रव है। ये ध्यान रखना, पहले ईर्यापथ गमन सीखना पड़ेगा।

भैया! न रात्रि देखते हो, न दिन देखते हो, जीव दौड़ रहा है। पहले व्यापारी चार्तुमास करते थे। चार–महीना व्यापार नहीं करते थे। धर्म्यध्यान करते थे। अब तो वाहनों की व्यवस्था हो गई है। आप कुछ नहीं देखते, वर्षा में कितने जीव नष्ट हो रहे हैं। बोले–भैया! अब तो पक्की सड़कें हो गई हैं, अब तो महाराजों को चातुर्मास करने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम बारिश में रोड पर देख लेना, कि कितने मेढ़क, केंचुआ, सांप आदि बड़े–छोटे जानवर रहते हैं। छोटे–जीवों की तो संख्या गिन नहीं सकते हैं। व्यापारियों, श्रावकों ने चातुर्मास की परम्परा छोड़ दी, तो दिगम्बर साधु और छोड़ दे, फिर तो चातुर्मास परम्परा– समाप्त।

ये अहिंसा की वृत्ति है–ईर्यापथ। कल आप कहेंगे–महाराज श्री! गर्मी में दिन में ज्यादा गर्मी पड़ती है, इसलिये टार्च लेकर गमन कर लो ठंडे–ठंडे में। ये जिनागम की आज्ञा नहीं है। ये जिनशासन का अवर्णवाद है, नमोस्तुशासन में कालिमा है। यदि आपका रात्रिभोजन का त्याग है और दिन में बादल घने हैं, प्रकाश पर्याप्त नहीं, तो बिजली जलाकर भोजन नहीं कर सकते। जो करता है, उसके रात्रिभोजन त्याग के नियम का पालन नहीं हो रहा है। रसोईघर में कृत्रिम प्रकाश कर रसोई बनाते हो, रात्रि का बना दिन में खाओ, दिन का बना रात्रि में खाओ, सबमें दोष है। ध्यान रखना, ये रुढ़ि नहीं है, ये अहिंसा है। रात्रि में भोजन आपने बनवाया और दिन में खाया, फिर भी तुम्हें रात्रिभोजन का दोष लगेगा। दिन में भी बना रात्रि में खाया, तो रात्रिभोजन का त्याग नहीं कहलायेगा। आलोकितपान–भोजन का अर्थ होता है, दिन में सूर्य के अकृत्रिम प्रकाश में भोजन करना । ऐसा नहीं है कि आजकल खिड़कियाँ हैं नहीं, बड़ी–बड़ी बिल्डिंग बन रही हैं, रसोईघर छोटे बन रहे हैं। धीरे से बल्व जला लिया और यहाँतक कि साधुओं के भोजन में भी यही करते हैं। महाराज आ गये, तो बन्द कर लिया। मकान ऐसे बनवाना कि प्रकाश रहे, जिससे कि आपके व्रत में दोष न आये।

आपको याद होगा गीदड़ का जीव, जिसने मुनिराज के चरणों में रात्रि–भोजन का त्याग किया था। जब दिन में बावड़ी में पानी पीने गया, तो वहां अंधेरा था । वापस आ गया। ऊपर तो प्रकाश था, पुनः नीचे जाता है, वहाँ अंधेरा था। ऐसा करते–करते उसके प्राणपखेरू उड़ गये। परन्तु अपने व्रत को देखो, अब तुम्हें गीदड़ की भी उपमा कैसे दे पायेंगे? उसने अपने व्रत को नहीं तोड़ा और आप तो मायाचारी भी कर लेते हो। बोले–रात्रि में रोटी नहीं खायेंगे, रबड़ी खा लेंगे। भो ज्ञानी! आलोकितपान–भोजन। प्रकाश नहीं है इसलिये उसने पानी नहीं पिया। अब सोचो, लड्डू–मलाई चल रहे हैं, दूध पी रहे हो, भगवान्–आत्मा का आनंद लूट रहे हो। कुछ भी नहीं है, आप तो जीवों की

टाँगें खा रहे हो। रात्रि में और क्या होगा? चरणानुयोग जीवन में जरा–सा नहीं आ रहा है। द्रव्यानुयोग में कहाँ लिखा है कि संयम का पालन मत करो? द्रव्यानुयोग तो यह कह रहा है कि निर्दोष चारित्र का पालन करोगे, तो निज में जम जाओगे।

भो ज्ञानी! जबतक राग नहीं हटेगा, तबतक रात्रिभोजन नहीं छूटेगा। जिस जीव का वास्तव में दुर्गति का बन्ध हो गया है, वो बुद्धिपूर्वक भी रात्रिभोजन का त्याग नहीं कर सकता है। वहाँ भी कुछ–न– कुछ मार्ग खोज लेगा। बोले–फलफूल तो चल सकते हैं, दवाइयाँ तो चल सकती हैं क्योंकि जिसको दुर्गति का बन्ध हो गया है, वह व्रती तो बन ही नहीं सकता है। सामान्य–व्रत का पालन तो सामान्य– श्रावक भी कर लेगा, लेकिन उसकी विशुद्धि नहीं बनती । प्रतिमाधारी तो किसी भी हालत में नहीं बन सकता। वह देशव्रती नहीं बन सकता, जिसकी मनुष्य, तिर्यंच और नारकी इन तीन आयु का बन्ध हो चुका है। किसी ने किसी भी आयु का बन्ध नहीं किया है वो व्रती बन सकता है, मुनि बन सकता है। अथवा जिसने देव–आयु का बन्ध किया है, वो बन सकता है। जिसने मनुष्य–आयु का बन्ध कर लिया हो, तिर्यंच–आयु का बन्ध कर लिया हो, नरक–आयु का बन्ध कर लिया है, वो नियम से व्रती बन ही नहीं सकता। क्या व्रती कर्मभूमि से कर्मभूमि में जन्म लेगा? मनुष्य–आयु का बन्ध कर लिया, मनुष्य बनेगा। यदि कर्मभूमि में बनेगा, तो मिथ्यादृष्टि बनेगा। व्रती, मिथ्यात्व में कैसे जन्मेगा? सिद्धान्त पकड़ो । सम्यग्दृष्टिजीव कर्मभूमि से कर्मभूमि में जन्म नहीं लेगा। माना कि आप सम्यग्दृष्टि हैं, आपने मनुष्य–आयु का पूर्व में बन्ध कर लिया है, तो आप भोगभूमि के मनुष्य बनोगे, कर्मभूमि के नहीं बनोगे। सिद्धान्त के कुछ नियम हैं। इसलिये ये आपकी परीक्षा है। अपने–आपमें देखो, कि भाव बन रहे हैं या नहीं।

भैया! मुनि–महाराज बनने के जब भाव नहीं बन रहे हैं, तो उसका तात्पर्य है कि कोई–न–कोई बंध हो चुका है। कर्मसिद्धान्त कह रहा है, कि बन्ध हो चुका है, तो भाव नहीं बन रहे । ये नई बात मत समझना, आगम की है। नोट कर लेना कि जिनवाणी के व्याख्यान में कहीं आपके द्वारा अपलाप हो गया, तो नियम से असमाधि ही होगी। क्योंकि पहला कारण तूने अवर्णवाद किया श्रुत का, सो ज्ञानावरणीय–कर्म का तीव्र–बन्ध हो गया। ज्ञानावरणीय–कर्म का बन्ध हुआ तो अंतिम समय में तेरे ज्ञान में विकार आ गया और वो फल भी अपना देगा। इसके साथ में कर्मसिद्धान्त क्या कह रहा है कि सूर्य का उदय तो बाद में होता है, पर लालिमा प्रारंभ हो जाती है। ये ज्ञानावरणीय का बन्ध हुआ, अब उसीमें दर्शनावरणीय का बन्ध हुआ। साथ में तूने विपरीत कथन किया जिनदेव का, तो तेरे संयम में भी गड़बड़ी हो गई। इसके आगे की भवितव्यता कौन जाने? स्वयं समझ रहा है या केवलीभगवान् जान रहे हैं।

भैया! ये तो अवर्णवाद की चर्चा है। यहाँ तक लिखा है, कि चार व्यक्ति एकसाथ अध्ययन कर रहे हैं, फिर इतना तेज आप न पढ़ें जिससे कि दूसरे की आवाज बैठ जाये और उसके अध्ययन में बाधा खड़ी हो जाये। जोर से घोष भी असमाधि का कारण है। जोर–जोर से पूजन तो करना चाहिये, पर आपको इतना ध्यान रखना चाहिये कि आप स्वतंत्र हो, अकेले हो तो खूब करो। यदि एक वेदी पर चार लोग पूजा कर रहे हैं, तो तनक उनका भी ध्यान रखो। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि बिल्कुल ही भूल जाते हैं तुम्हारा सुनकर, तो उससे तुम कितना पाप का बध कर रहे हो? कहाँ खड़े होकर? यदि आपको जोर से बोलने की आदत है, तो मैं निषेध नहीं कर रहा हूँ, खूब बोलो, पर ऐसा देख लो कि जिस वेदी पर भीड़ न हो। इसके साथ–साथ तुम्हारी आवाज से दूसरी वेदीवालों को भी बाधा न पहुँचे। इसलिये मध्यम–स्वर में ही आपको पाठ आदि करना चाहिये, क्योंकि मन, वचन, काय इन तीनों से आस्रव होता है।

तुम्हारे वचनों के द्वारा, तुम्हारे शरीर के द्वारा दूसरों को परेशानी हो रही है। इन सब बातों को देखकर कितने संभलने की आवश्यकता है? तब तुम वीतरागी बनोगे, जब इतने संभल जाओगे। ध्यान रखना, संभलना पहली–प्रतिमा से ही शुरू हो जाता है। जिसका मोक्षमार्ग से प्रयोजन है, उसके लिए कह रहा हूँ। पहली प्रतिमा से ही मोक्षमार्ग प्रारंभ होता है और पहली प्रतिमा से ही आपके अन्दर इतनी आत्मीयता आना चाहिये धर्म के प्रति। धर्म का प्रचार हो, इसलिये नहीं। मैं कल्याण की दृष्टि से देख रहा हूँ और कल्याण की दृष्टि से आप जो भी क्रिया करोगे, उससे नियम से धर्म का प्रचार भी होगा और दूसरे जीवों का विघात भी नहीं होगा। और तुम्हारी दृष्टि जहाँ धर्म के प्रचार की हो गई, वहाँ जीवों के घात का ध्यान नहीं रखा जाता। उनका उद्देश्य ऊपर–ऊपर दौड़ता है अर्थात् उसकी दृष्टि का तात्पर्य भगवान् के दर्शन से नहीं है। भगवान् के दर्शन तो वो करेगा ही। पहली प्रतिमा का उद्देश्य 25 दोषों से रहित शुद्ध सम्यक्त्व का पालन है। ये मत कह देना, कि महाराज श्री! हमने नियम ले लिया है कि हम रोज दर्शन करेंगे। ये पहली प्रतिमा हो गई। अरे! पहली प्रतिमाधारी का पंचम गुणस्थान होता है। देखो भैया! व्रती संज्ञा दूसरे से ही प्रारंभ होगी, पर 12 व्रतों का अभ्यासरूप पालन करें। परन्तु 12 व्रतों का पालन दूसरी प्रतिमा से होता है। पहली प्रतिमा में पांच अणुव्रतों का पालन पूर्णरूप से करें। वह अभक्ष्य का त्यागी होगा, सप्तव्यसन का त्यागी होगा। अब जहाँ 'प्रतिमा' संज्ञा आ गई, वहाँ अलग से मूलगुण गिनाने की आवश्यकता नहीं है, सबकुछ करेगा। इसलिये कम–से–कम इतना तो कर लो कि अव्रतपने से भग जाओ। तुम व्रत की प्रतिमा नहीं ले सकते हो, तो अव्रत पहली प्रतिमा ले लो। दर्शनप्रतिमा तो सबको लेना चाहिये।

भो ज्ञानी! आपका प्रश्न हम सुन रहे हैं, जबतक अतरंग में विशुद्धि नहीं बनेगी, तबतक लेने के परिणाम तुम्हारे बनेंगे कैसे? बिना लिये हम तुम्हें व्रती कहेंगे कैसे? इसलिये प्रतिज्ञापूर्वक, संकल्पपूर्वक जो व्रत लिया जाता है, उसका नाम व्रती है। इनका पालन करना व्रत नहीं कह रहे हैं, इनका पालन तो अव्रती भी कर सकता है। इसलिये प्रतिज्ञा पहले होनी चाहिये। प्रतिज्ञा होगी, संकल्प होगा, तो ये हुआ चरणानुयोग। करणानुयोग कहेगा, जिसका सर्वघाती प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय, देशघाति प्रकृति का उदय, सदवस्था रूप उपशम, उसके सद्भाव में जो परिणाम होंगे, वो व्रती है। जो सर्वघाति प्रकृति है, उसका उदयाभावी क्षय, उन्हीं का सदवस्था रूप उपशम और देशघाति प्रकृति है, उसका उदयाभावीक्षय, उन्हीं का सदवस्था रूप उपशम और देशघाति प्रकृति के उदय होने पर जो जीव के परिणाम हैं, उसका नाम व्रती है।

'निशल्यो–व्रती' का अर्थ है–माया, मिथ्या, निदान इन तीन शल्यों से रहित होना। परन्तु कौन? जो व्रतों का पालन करेगा। व्रतों का पालन कर रहा है, पर माया, मिथ्या, निदान लगे हुये हैं, उसको व्रताचरण तो कह देंगे, व्रती नहीं कहेंगे। समझ में आया? निर्ग्रन्थ व्रती की बात करने में पसीना आ रहा है। पर निर्ग्रन्थ की बात कौन करे? महाराज! अभक्ष्य तो छूट नहीं रहे हैं। चार दिन के रखे हुए लड्डू तो खा रहे हो। तो पहली–प्रतिमा को इतनी ही मानकर चलो कि निर्दोष, 25 दोष रहित, सम्यक्त्व का पालन करेगा। सम्यक्त्व के 8 अंगों से सहित होगा और 8 मद, 3 मूढ़ता, 6 अनायतन इनसे रहित होगा। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य इनसे युक्त होगा, चर्या में अभक्ष्य का त्यागी होगा, जिनशासन का ही पक्ष लेगा, वो पाक्षिक–श्रावक होगा। पहली–प्रतिमाधारी कोई दूसरा पक्ष नहीं लेगा और जिनशासन का तात्पर्य है कि तुम्हारा भाई भी यदि गलत करता है, तो उसके पक्ष में आप नहीं जायेंगे, मौन ही रहेंगे। लेकिन आप किसी भी हालत में यदि अंतरंग से भी तुम चले गये राग में, तो जिनवाणी क्या कहेगी? विचलित हो गये। ऐसे ही मिथ्यात्व के पक्ष में तुम रागवश भी गये, शरीर से क्रिया न भी की हो, तो भी सम्यक्त्व का दोष है। निर्दोष–सम्यक्त्व का पालन ही पहली प्रतिमा है।

भो ज्ञानी! मैं निष्क्रोधी हूँ। तू कहाँ के क्रोध में पड़ा है? मान से रहित, मद से रहित है, ये आत्मा का धर्म है। आत्मा इनसे रहित है पर जो सब हो रहा है, वो सब शरीर कर रहा है। लो, एक शब्द में तुमने पूरी गाथा को पलट दिया। सीधा–सीधा इससे बड़ा अवर्णवाद और क्या होगा? भैया! ये जिनवाणी का साक्षात् अवर्णवाद है। आप ये ध्यान रखना, अज्ञानी बनकर जी लेना, परन्तु चारपाई पर, सोने के बिस्तरों पर और

उठते–चलते–फिरते, खाते–पीते कभी जिनवाणी मत पढ़ लेना, ये 'धवला' जी के सिद्धान्त हैं। अरे! विद्वानों को देखा, जंघा पर रखे हैं शास्त्र। जबकि जिनवाणी में लिखा है, कि यदि नाभि के नीचे हाथ चला जाये, तो हाथ धो लीजिये, तभी द्रव्यशुद्धि तुम्हारे साथ है। जंघा पर रखना तो बहुत बड़ी बात, हाथ भी चला गया नाभि के नीचे, तो हाथ धोइये। ये श्रुत का लोभ है, श्रुत का विनय नहीं है। श्रुत के लोभ में तुम श्रुत की विनय नहीं कर पा रहे हो, इसलिये सबकुछ हो रहा है। धवला जी पुस्तक सं.9 में जिनवाणी के स्वाध्याय के बारे में चर्चा है। किस समय करें, कैसे करें और कब–कब करें और कब–कब न करें, ये सब कथन किया है। 'मूलाचार' में भी कथन किया है। जो इसको नहीं मानते हैं, तो परिणाम भी भोगते हैं। तात्पर्य समझना, श्रुत का अध्ययन तो करना, पर श्रुत के कीड़ा मत बनना।

भो ज्ञानी! हम शास्त्र के अध्येता तो बनें, पर शास्त्र के कीड़ा न बनें । ज्ञान में भी कर्त्ताबुद्धि मत करो, क्योंकि हमलोग ज्ञान तो सल्लेखना के लिये कर रहे हैं, साम्यता के लिये कर रहे हैं। आपने सीमा से अधिक अध्ययन किया और कषाय आने लगी, तो ज्ञान किस काम का? एक ने सोला के कपड़े डाल दिये, एक बालक ने छू दिया। आप चिल्लाने लगे। तुमने सोला को बदनाम कर डाला। आप पुनः धोकर डाल देते। उसपर चिल्लाने से शुद्धि होनेवाली थी नहीं। आप स्वयं बचकर चलते नहीं हो। या फिर अनुमोदना ही कर लेते। आप ऐसे चीखे, तुम्हारी तो धोती बिगड़ी थी, तुमने उसके भाव बिगाड़ दिये। कम–से–कम इतना विवेक तो रखना।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्दस्वामी ने नियमसार की 44वीं गाथा में आत्मा के स्वभाव का कथन किया। पद्मप्रभमलधारिदेव टीका में कह रहे हैं कि जो सम्पूर्ण अंतरंग, बहिरंग परिग्रह से रहित है, वह निर्ग्रन्थ है और रागद्वेष, मोह से रहित है वही विराग है। माया, मिथ्या, निदान तीन शल्य से रहित है, निशल्य है। शुद्धनिष्चयनय से द्रव्य–भावकर्म आदि का अभाव होने से, सम्पूर्ण दुःखों से रहित होने से, आत्मा निर्दोष है और परमार्थ तत्व में वाँछा के अभाव होने से, आत्मा निष्काम है।

ज्ञानज्योतिःप्रहतदुरितध्वान्तसंघातकात्मा नित्यानन्दाद्यतुलमहिमा सर्वदा मूर्तिमुक्तः।
स्वस्मिन्नुच्चैरविचलतया जातशीलस्य मूलं यस्तं वन्दे भवभयहरं मोक्षलक्ष्मीशमीशम्

।। कलश 69।।

आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि जिसने ज्ञानरूपी ज्योति से पापरूपी अंधकार को मिटा दिया है। प्रकाश के आने पर अंधकार विलीन हो जाता है, इसीतरह ज्ञानरूपी प्रकाश के

आने पर पापरूपी अंधकार विलीन हो जाता है। स्व में लीन रहने के कारण आनंद को अनुभव करता है। शुद्ध–आत्मा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि से रहित है, अमूर्तिक है, सदैव अपने स्वरूप में स्थित रहता है। इसलिये शील के उत्कृष्ट–स्वरूप को धारण करता है। उसने संसार के जन्म–मरण के दुःखों से निवृति कर ली है। निरन्तर मोक्षसुख का वेदन करता है, ऐसे शुद्ध–आत्मतत्त्व की वंदना करता हूँ।

भो ज्ञानी! आचार्यभगवन् जीव की परम पारिणामिकभाव की दृष्टि का कथन कर रहे हैं। औदायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक ये परिणाम जीव का धर्म नहीं है। पारिणामिकभाव जीव का वास्तविक स्वभाव है। इन भावों का क्या–क्या स्वभाव है? शुद्धभाव को भी समझो, अशुद्ध भाव को भी समझो। अशुद्ध सत्ता बंध की अपेक्षा से है और शुद्ध सत्ता निर्बन्ध की अपेक्षा से है। दोनों सत्ता को समझ करके निर्बन्धता का पुरुषार्थ अपेक्षा से कथन है। पुरुषार्थ करना श्रावक का प्रथम कर्तव्य है। क्योंकि सत्ता को समझ लेने से कहीं सत्ता प्राप्ति नहीं होती, पर सत्ता को समझे बिना भी सत्ता की प्राप्ति नहीं होती है। समझने मात्र से सिद्ध नहीं, क्योंकि समझना तो जानना था और प्राप्ति पुरुषार्थ है।

क्षयोपशम व्यक्ति के स्वभाव से भी प्रकट हो जाता है। पूर्व का पुरुषार्थ वहाँ काम करता है। तीर्थंकर–बालक कौन–से विद्यालय में पढ़ने जाते हैं? पर जन्म से ही मति, श्रुत, अवधि तीन ज्ञान के धारी होते हैं। इसलिये ज्ञान सर्वथा शास्त्रों से मानना एकान्त हो जायेगा और नहीं मानना भी एकान्त हो जायेगा। सम्यक्त्व के दो भेद किये हैं–निसर्गज, अधिगमज। वास्तव में जो निसर्गज है, वो ही अधिगमज है। पूर्व की देशना आज कार्यकारी बन रही है, इसलिये निसर्गज है। चारों गतियों में सम्यक्त्व होता है, चारों गतियों में ज्ञान होता है, पर चारित्र भजनीय है। सम्यक्त्व उत्पत्ति में, संपूर्ण जीवों की ज्ञान की उत्पत्ति में अंतरंग कारण समान है, बहिरंग कारण में अंतर है। कर्म का क्षय, क्षयोपशम ये अंतरंग कारण हैं और बाह्य निमित्तों का मिलना, ये बहिरंग कारण है।

बहिरंग कारण कार्यकारी त्रैकालिक नहीं है। समझना, विषय करणानुयोग का है। अंतरंग कारण नहीं है, बहिरंग ही कारण होगा। क्योंकि यदि ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम नहीं है, तो शास्त्र आपको पंडित नहीं बना सकते। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है, तो शास्त्र के निमित्त से आप विद्वान् बन जायेंगे । ज्ञान शास्त्र में नहीं है। ज्ञान शास्त्र का धर्म नहीं है। ज्ञान तो आत्मा का धर्म है। ज्ञान से ही तूने शास्त्र को जाना। यदि वो न होता, तो आप शास्त्र को कैसे जानते? इसलिये ज्ञान आत्मा का धर्म है। द्रव्यश्रुत निमित्त–कारण है। भावश्रुत उपादान

कारण है। द्रव्यश्रुत भावश्रुत का जनक है। अहो। द्रव्यश्रुत नहीं भी हो, अल्प द्रव्यश्रुत है, फिर भी भावश्रुत उतना ही होगा जितना श्रुतकेवली को होगा।

भो ज्ञानी! सिद्धान्त समझना। शुक्लध्यान के अभाव में श्रेणी नहीं होती और श्रेणी के अभाव में केवलज्ञान नहीं होता। शिवकोटि मुनिराज को कितना ज्ञान था?

तुसमासो घोसंतो, भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूइ, केवलणाणी फुड जाओ।। भावपाहुड 53।।

उनको तो णमोकार भी नहीं आता था। ''तुसमास भिन्नं'' का पाठ याद किया था, वो भी भूल गये थे। जब चर्या को जा रहे थे, एक माँ दाल धो रही थी। बस–बस समझ गये। अंजुलि छोड़ दी। तुस भिन्न है, मास भिन्न है। मास यानि दाल भिन्न है और तुस यानि छिलका भिन्न है। वैसे ही देह भिन्न है, देही भिन्न है। आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है। शिला पर ध्यान लगाकर बैठ गये। अब आप कहें–महाराजश्री! मैं भी बैठ जाता हूँ, लेकिन आप नहीं बनोगे केवली। क्यों? इसमें शर्त थी, भाव–विशुद्धि। 'तुसमास भिन्नं' ने केवली नहीं बना दिया। तुममास भिन्नं का आलम्बन था। द्रव्यश्रुत आलम्बन होता है भाव–विशुद्धि का। एक अंतर्मुहूर्त में केवलीभगवान् बन गये। कौन? जिनको णमोकार नहीं आता था, वे केवली बन गये। बड़े–बड़े द्वादशांग के पाठी चरणों में नमोस्तु करने लगे। परन्तु इसका तात्पर्य ये मत समझना, कि हम ज्ञान की आराधना न करें। ये पुरुषार्थ–हीनता के किये दृष्टान्त नहीं है।

पुरुषार्थ करने पर भी ज्ञान नहीं बढ़ रहा है, तो तुम विकल्प मत करो, परिणाम निर्मल रखो। शिवभूति महाराज पूर्व के ज्ञाता तो थे नहीं, तो इनको शुक्लध्यान कैसे हुआ? 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रन्थ में पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि यहाँ द्रव्यश्रुत की कल्पना नहीं, यहाँ भावश्रुत की कल्पना है। भावश्रुत पूर्ण था, इसलिये केवली बन गये। अध्यात्मदृष्टि से अंतरंग में पूरी विशुद्धि। विशुद्धि सत्ता में। उनको पूरे श्रुत का श्रद्धान था और रहेगा। उस श्रद्धान के अभाव में श्रुतकेवली यानि शुक्लध्यान को प्राप्त नहीं कर सकेगे।

जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा।।9।।
जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जह्मा सुयकेवली तह्मा।। स.सार. 10।।

जो निज शुद्ध–आत्मा में रमण करते हैं, वे ही ऋषि श्रुतकेवली हैं। ऐसा लोक के दिवाकर केवलीभगवान् कहते हैं। भो ज्ञानी! एक सज्जन ने पुस्तक ही लिख दी और ये घोषित किया कि आप ही श्रुतकेवली हैं। बोले–समयसार में पढ़ लो। मैंने धीरे से पूछा–भाई! आप इतना वजन दे रहे हो, कुन्दकुन्दस्वामी ने कहाँ लिखा है? टीकाकार ने इसका स्पष्टीकरण कहाँ किया है? तो मुस्कराने लगे, बोले–वो अमुक विद्वानों की पुस्तक में है। मैंने कहा–वो भाई विद्वान् का अपना चिन्तवन है, हमें तो आचार्य जयसेन, अमृतचंद्र स्वामी की टीका चाहिये। अभीतक तो तुम सामान्य बात करते थे, अब तो तुमने श्रुतकेवली बनना चालू कर दिया।

जैनेन्द्र वर्णी जी की एक पुस्तक 'कर्मरहस्य' है। इसमें वे वर्तमान में श्रुतकेवली स्वीकार करते हैं। व्यक्तिगत चिन्तन की पुस्तकों से कभी–कभी क्षति हो जाती है। जैसे एक बड़ा विद्वान् जोर देकर कह रहा था कि महाराज श्री! वर्णीजी ने तो लिखा है। 'समयसार' की 9वीं, 10वीं गाथा लेकर वर्तमान में उनका कहना यह है कि जो शुद्ध–आत्मा का ध्यान करे, वही श्रुतकेवली है। परन्तु यह प्रश्न जयसेन स्वामी ने किया है। टीका में आचार्य जयसेन स्वामी ने प्रश्न किया शिष्य के माध्यम से–तो क्या मैं श्रुतकेवली नहीं हूँ? उन्होंने स्पष्ट कहा–नहीं। जैसे पूर्व में श्रुतधर हुए हैं उत्तम–ध्यान से युक्त, वह ध्यान आज नहीं है, इसलिये आप श्रुतकेवली नहीं हैं। वर्णीजी जैनदर्शन में श्रद्धा के पात्र थे और श्रद्धा का पात्र जो भी कह देता है, इसकी बात मान ली जायेगी, तो कभी–कभी चूक भी हो जाती है। 'कर्मरहस्य' पुस्तक में उन्होंने श्रुतकेवली घोषित किया है, परन्तु इससे अन्य विद्वान् सहमत नहीं हैं।

ये बातें वीरसेन स्वामी के सामने भी आई। 'षट्खण्डागम' में वीरसेन स्वामी ने स्पष्ट लिखा है कि उत्तरवर्तीय आचार्य–परम्परा के अनुसार ऐसा है और दक्षिणवर्तीय आचार्य–परम्परा के अनुसार ऐसा है। पहले एक आचार्य कनकनंदी महाराज कर्मसिद्धान्त में बहुत उच्च–आचार्य हुए। एक माधवसेन आचार्य हुए। एक भावसेन त्रिवेदाचार्य हुए। वो सब सिद्धान्त के आचार्य हुए, टीकाकार हैं। इन आचार्यों में कुछ मतभेद रहा कि तीर्थंकर महावीर की वाणी आते–आते अनेकरूप हो गई। इसीलिये आचार्यों ने, कहीं चूक न हो जाये, दोनों परम्परा को यथास्थान रख दिया। कुछ ऐसे विषय सिद्धान्त में भी हैं। परन्तु सात तत्त्व, नौ पदार्थ, पंचास्तिकाय, षट्द्रव्य, आत्मतत्त्व में कोई फर्क नहीं है। उन सबको समझने के बाद अंतिम दृष्टि यही बनाना ठीक है कि श्रुतकेवली को, पूर्वधर को शुक्लध्यान होता है, ये राजमार्ग है। अल्पश्रुत होने पर भी भावश्रुत यदि है, तो भी शुक्लध्यान है, इसमें कोई विवाद नहीं है।

भो ज्ञानी! सिद्धान्त का जितना विषय है, वह एकदम सीधा है। क्षायिकभाव अन्य आचार्यों की अपेक्षा से आत्मा का स्वभाव है, परन्तु अध्यात्म कह रहा है कि कर्म–सापेक्ष होने के कारण वो भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। पारणामिकभाव ही आत्मा का स्वभाव है। अब औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औदयिक, पारिणामिक इनको थोड़ा समझना। कर्म के उपशमन से जो भाव होता है, वो औपशमिक। अनंतानुबंधी क्रोध, मान,माया,लोभ–चार, दर्शनमोहनीय के तीन (मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्– प्रकृति) ये हुए सात। इन सात कर्मप्रकृतियों के उपशमन से जो परिणाम जीव के होते हैं, वो उपशम–सम्यक्त्व है। कैसे? जैसे मिट्टी से युक्त पानी। उसमें आपने निर्मली डाल दी, मिट्टी दब गई। यहाँ मिट्टी का अभाव नहीं हुआ, उखड़ने के पूरे मौके हैं अंतर्मुहूर्त में उसको। इसलिये उपशम सम्यक्त्व का काल अंतर्मुहूर्त है। सबसे कम सम्यग्दृष्टि जीव हैं, उपशम–सम्यग्दृष्टि। उससे अधिक है क्षायिक सम्यग्दृष्टि और उससे अधिक है क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि। ये संसार की अपेक्षा से है। सामान्य अपेक्षा विश्व में सर्वाधिक संख्या यदि किसी की है, तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि। क्योंकि क्षायोपशमिक मात्र संसारी होते हैं, और क्षायिक तो सिद्ध–भगवान् भी होते हैं। सिद्ध अनन्तानन्त हैं। संसार की अपेक्षा क्षायोपशमिक जीवों की संख्या अधिक है। ध्यान रखना, जब भी हम किसी साधक से मिलते हैं, अपन ऐसी चर्चा करें जिससे कषाय मंद रहे। पंचमकाल है, क्षायिक तो होता नहीं, उपशम, क्षायोपशमिक भाव ही हैं।

भो ज्ञानी! कुन्दकुन्द स्वामी ने मुनिमहाराज को 'गर्भस्थ शिशु' लिखा है, किस अपेक्षा से ? जैसे एक गर्भवती माँ कैसे चलती है और कैसे खाती है? खाने में भी नियंत्रण होता है और चलने में भी नियंत्रण होता है। कहीं भी हो, गर्भस्थ शिशु को वेदना न हो, कष्ट न हो। ऐसे ही, हे श्रावक! तू माँ है, ये साधु तेरे उदरस्थ शिशु है। ये धर्म के उदर में हैं। इनकी ऐसी सेवा करना, वैसी ही वैयावृत्ति करना, जिससे कि उनके धर्म के शरीर में पीड़ा न हो जाये। बात को समझना, सेवा में भी पीड़ा हो सकती है। अतिरिक्त सेवा कर दी आपने, तात्पर्य यह कि जो आवश्यक नहीं है, साधु के योग्य वैसी सामग्री जुटाई। आप साधु तो नहीं हो, ये मैं मानता हूँ, परन्तु आपको साधु की सेवा का अनुभव तो है।

भो ज्ञानी! ऐसे ही सल्लेखना के अंतिम समय में तुम गड़बड़ हो गये, तो गये काम से । उपशम भाव कह रहा है कि मेरा अभाव नहीं हुआ है, चल–मल दोष लग रहे हैं। वृद्ध के हाथ में लाठी हो, तो गिरता तो नहीं है, पर गिरने के अवसर पूरे रहते हैं। अतः जीवन में प्रत्येक क्षण सावधान रहो।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **परमस्वभावी परमात्मा में संपूर्ण पौद्गलिक विकारों का समूह नहीं है।**

वण्णरसगंधफासा, थीपुंसणओसयादिपज्जाया।
संठाणा संहणणा, सव्वे जीवस्स णो संति।।45।।
अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठ संठाणं।।46।।

संस्कृत छाया : **वर्णरसगंधस्पर्शाः स्त्रीपुंनपुंसकादिपर्यायाः।**
संस्थानानि संहननानि सर्वे जीवस्य नो सन्ति ।।45।।
अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम्।
जानीह्यलिंङ्गग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम्।।46।।

अन्वयार्थ : (वर्णरसगंधस्पर्शाः) वर्ण, रस,गन्ध, स्पर्श (स्त्रीपुंनपुंसकादिपर्यायाः) स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि पर्यायें (संस्थानानि) सभी संस्थान और (संहननानि) संहनन (सर्वे) ये सभी (जीवस्य नो संति) जीव में नहीं हैं।

(जीवं) इस जीव को (अरसं) रसरहित, (अरूपं) रूपरहित, (अगंधं) गंधरहित, (अव्यक्तं) व्यक्तरहित, (चेतनागुणं) चेतनागुण सहित (अशब्दं) शब्द–रहित (अलिंग ग्रहणं) लिंग– हेतु से नहीं ग्रहण करने योग्य और (अनिर्दिष्ट संस्थान) जिसका कोई संस्थान–आकार नहीं कहा जा सकता है ऐसा (जानीहि) तुम जानो।

असति च सति बन्धे शुद्धजीवस्य रूपाद् रहितमखिलमूर्त्तद्रव्यजालं विचित्रम्।
इति जिनपतिवाक्यं वक्ति शुद्धं बुधानां भुवनविदितमेतद्भव्य जानीहि नित्यम्।। कलश 70।।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी नियमसार में आत्मा के स्वभाव के कथन करते हुए कह रहे हैं कि निश्चयनय से आत्मा पांच प्रकार के वर्ण काला,पीला,लाल,हरा,नीला इनसे रहित है अर्थात् आत्मा का कोई रंग नहीं होता है। आत्मा का खट्टा,मीठा,चरपरा,कसायला ऐसा कोई स्वाद नहीं होता है। आत्मा सुगंध–दुर्गन्ध से रहित है। हल्का–भारी, रूखा–चिकना, मृदु–कठोर, ठण्डा–गरम इन आठ प्रकार के स्पर्शों से रहित है। आत्मा स्त्रीलिंग, पुरुषलिंग, नपुंसकलिंग नहीं होता है। जो विजातीय विभाव–व्यंजन पर्यायें हैं, वे पुद्गल की ही हैं। समचतुरस्र, कुब्जक, हुंडक आदि संस्थान, बज्रवृषभनाराच संहनन आदि भी जीव के नहीं होते हैं, ये सब पुद्गल की पर्यायें है।

भो ज्ञानी! जब ये जीव संसार में रहता है, तो नामकर्म के उदय से विभिन्न पर्यायों को धारण करता है। एकेन्द्रिय पर्याय में संसारी जीव के कर्मफल चेतना होती है अर्थात् पूर्वकृत कर्मों का फल भोगता है। संसारी जीव जब दोइंद्रिय, तीनइंद्रिय, चार इंद्रिय, पंचेन्द्रिय सैनी–असैनी पर्याय को धारण करता है, तो कार्ययुत–कर्मचेतना से सहित कर्मफलचेतना होता है। कारणपरमात्मा अरिहन्त भगवान् और कार्यपरमात्मा सिद्ध भगवान् को शुद्धज्ञानचेतना होती है। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में कह रहे हैं।

भो ज्ञानी! द्रव्यकर्म पौद्गलिक होने के कारण वे जीव का स्वरूप नहीं हैं, वे अजीव ही हैं। आत्मा चैतन्यरूप होने से पुद्गलरूप नहीं है। यह निश्चयनय से कहा गया है। क्रोध कब आता है? जब कोई आकांक्षा होती है। इच्छा की पूर्ति का नहीं होना, क्रोध का उत्पन्न होना है। वास्तविकता तब मालूम चलती है, जब तुम्हारी कामना अथवा अहम् का पोषण विचलित हुआ, ठेस लगी अहम् पर, फिर उसके चेहरे को देखना, अब क्या स्थिति है? इसलिये निमित्तों के अभाव में उपादान की शुद्धता की बात कोई भी करता रहे, वह धोखे की साधना है। निमित्तों के सद्भाव में जिसका उपादान निर्मल है, वह यथार्थ साधना है। परन्तु इसका तात्पर्य गलत मत लगा लेना। हम जानकरके असत्य के निमित्तों में प्रवेश करेंगे और कहेंगे कि हम तो विशेष साधक हैं नहीं। इसलिये सहजता में निमित्त उपलब्ध हो, फिर भी उन निमित्तों में मत जाना।

मुनिराज की अचानक चातुर्मास तिथि आ गई और वेश्या के आँगन में चातुर्मास स्थापित किया। कुन्दकुन्द महाराज गहरी बात कह रहे हैं–

सव्वंगं पेच्छंतो, इत्थीणं तासु मुयादि रदिभावं।

सो ब्रह्मचेरभावं, सक्कादि खलु दुद्धरं धारिदुं।। वा.पे. 80।।

जो स्त्री के सम्पूर्ण अंगों को देखते हुए भी विकार को उत्पन्न नहीं होता, उसका नाम ब्रह्मचारी है। धन्य हो इनकी निर्मल उपादानता को, कि ऐसे दुष्कृत निमित्तों के आने पर भी अपने भावों से विचलित नहीं हुए, जो वैश्या के यहाँ चातुर्मास किये। सम्पूर्ण यति–संघों में उन मुनिराज के लिये बार–बार नमन किया गया। तो दूसरे मुनिराज के मन में भी आ गया कि मैं भी ऐसा करूँगा। तो उनके आचार्य महाराज ने उनको रोक दिया, बोले–नहीं। गुरु की आज्ञा को स्वीकार नहीं करके बलात् पहुँच गये और दो दिन ही नहीं रुके कि संयम से चलायमान हो गये। इसलिये निमित्तों से भी बचे। उन जैसी धीरता, उन जैसी गंभीरता तुम्हारे पास नहीं है कि आप निमित्तों से दूर रहें।

आचार्य महाराज कह रहे हैं कि निमित्त–परिणति से क्या प्रयोजन? केवली– भगवान् सम्पूर्ण द्रव्यों को देख रहे, जान रहे, फिर भी वे बिल्कुल नहीं बँध रहे। तुम कहने लगो, कि हम भी देखेंगे, जानेंगे। तो ऐसा नहीं हो सकता। यहाँ तो आपको उमास्वामी महाराज का सूत्र लगाना पड़ेगा। प्रत्येक व्रत की पाँच–पाँच भावनायें हैं और 5 भावनाओं से 25 भावनायें हैं। जैसे अपन सामायिक में जाप करते, ऐसे प्रत्येक व्रत की भावनाओं का चिन्तवन कर लेना चाहिये।

स्त्रीरागकथाश्रवण तन्मनोहराङ्गनिरीक्षण पूर्वरतानुस्मरण।

वृष्येष्ट–रस–स्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च।। त0सू0।।

स्त्रियों की रागभरी कथाओं को सुनना, यहाँ तक कि बार–बार वार्तालाप करना अयोग्य ही है। धर्मचर्चा भी करना हो, तो सभी में करना, अलग से क्यों ? अलग से कोई प्रश्न–उत्तर नहीं। उनके मनोहर अंगों का अनुवीक्षण करना, चाहे स्त्रियों के हों, चाहे पुरुषों के। पूर्व में भोगे हुए भोगों का स्मरण करना। विशिष्ट रस, गरिष्ठ उसी–उसी को लेना। भोजन पर नियंत्रण नहीं होगा, तो परिणाम क्या होंगे ? तो गरिष्ठ और इष्ट, इनके साथ–साथ शरीर का संस्कार, इनका त्याग होता है, तो ब्रह्मचारी हो।

भो ज्ञानी! यहाँ तक कह दिया कि निमित्तों से बचो, जब तुम निमित्तों से परे होगे तो स्वयं उपादान तुम्हारा निर्मल होगा। यहाँ कह रहे हैं आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी, कि सभी अंगों के देखने पर भी जो विकार उत्पन्न नहीं होते, वो ब्रह्मचर्य–महाव्रत है। आगे संकेत कर रहे हैं कि इस परम्परा में न जियें कि सब ऐसा करते हैं, तो मैं ऐसा कर रहा हूँ। ये सब करने का मार्ग नहीं है, ये शिवमार्ग पर चलने का मार्ग है। इसमें देखा–देखी की स्थिति बिल्कुल नहीं है। एक आर्यिका–संघ मिला था हमको रास्ते में। उनके यहाँ परम्परा थी मुनिमहाराज के चरण छूने की। उन्होंने मालूम कर लिया था कि महाराज नहीं छुलाते। उन्होंने चरण नहीं छुये, उन्होंने दूर से नमोस्तु किया। जब कुछ दिन वहाँ हो गये, उन्होंने स्वाध्याय में जिज्ञासा प्रकट की। कहा–महाराज! संघ में तो परम्परा है, आप क्यों नहीं छुआते? हमने बोला–आगम तो ये कहता है। उन माताजी को बात बहुत अच्छी लगी। बोली–महाराज जी! बहुत ठीक है। संघों की व्यवस्था है, वृद्ध श्रावक है, युवा–अवस्था में जो आप लोग जिस दृष्टि में हैं, वो ही उचित है, भले परम्परा कुछ भी हो। परन्तु आगम–व्यवस्था ये है। लोगों ने स्वीकार किया। कभी यह नहीं किया कि हम जबर्दस्ती चरण छुयेंगे। बुजुर्ग परम्परा जो थी, वृद्ध परम्परा वो अपने स्थान पर थी। लेकिन युवावस्था में साधु व साध्वियाँ हो रहे हैं, इनको आगम की विधि के अनुसार चलना चाहिये।

भो ज्ञानी! आपको निमित्तों पर दृष्टि डालना पड़ेगी। परम्पराओं में मत जाना। साथ में अपने स्वयं की शक्ति को देखना। आचार्य सन्मतिसागर महाराज जी एक महीने के उपवास कर लेते हैं, कहीं आप उनके शिष्य बन जाते हैं, तो आप कहेंगे कि मैं भी एक महीने का उपवास करूँगा। नहीं, भैया! अपनी शक्ति देख लेना। उनको अभी इतना क्षयोपशम था अंतराय कर्म का, कि ऐसी गर्मी के दिनों में चार–चार दिन में एकबार आहार लेते थे। वो भी क्या ले रहे हैं? लगभग दो साल से मात्र गन्ने का रस और छाछ ले रहे थे और कुछ भी नहीं ले रहे थे। पैदल विहार कर रहे थे, पूरी चर्या व्यवस्थित थी, फिर भी उनका क्षयोपशम। यहाँ तक कि जहाँ भी रुकें, प्रतिदिन उपदेश करेंगे। एक दिन भी बिना उपदेश के नहीं रहें। ध्यान कर रहे, दो–दो घण्टे सामायिक कर रहे खड़े होकर। वर्तमान में तपस्या में सबसे अग्रसर थे मासोपवासी आचार्य सन्मति सागर।

भो ज्ञानी! प्रत्येक जीव का अपना–अपना क्षयोपशम है। आपकी जितनी सामर्थ्य हो, उतना कर लें, परन्तु परिणामों में संक्लेशता न लायें। अंतिम साधना आत्मा की कोई है, तो संक्लेशता की हानि, विशुद्धि–स्थानों की वृद्धि। जितनी भी साधना का सार है, पूरे आचरण का सार है। आप जिसे आनंद कहते हैं, जिनवाणी उसे संक्लेशता कहती है। आपने कहा–आज मैंने रसना–इंद्रिय का भोग भोगा, बड़ा आनन्द आया। वो आनंद था, कि संक्लेशता थी ? आनंद नहीं था, संक्लेशता थी। इंद्रिय–लोलुपता को आपने शुभ मान लिया है, इसलिये आनंद कह रहे हो, पर वो संक्लेशता ही है। जो महाव्रत, अणुव्रत हैं, वे संक्लेशता की हानि के लिये हैं। आप एकबार आहारचर्या को निकल रहे हो शरीर चलाने हेतु, उसमें भी आप सहजता से चर्या करें, यानि भोजन ग्रहण करने में गृद्धता नहीं होना चाहिये। वहाँ भी आपकी दृष्टि में हो कि आहार भी समाप्त हो जाता तो मेरी साधना का एक घंटा और बचता । ये मुमुक्षु की दृष्टि है।

भगवन्! 24 घंटे में 23 घंटे स्वतंत्र रहता हूँ। एक घंटा ऐसा आता है, जब गृहस्थ के घर में जाना पड़ता है। बाहुबली–स्वामी ने तो आहार ही नहीं किये। ये अपनी–अपनी सामर्थ्य है। वे जीव धन्य हैं, ''धण्णा ते भगवन्ता'' आचार्य कुन्दकुन्द कह रहे हैं, कि धन्य हैं वे भगवन्, जिन्होंने भोगों के पंक में पैर ही नहीं रखे, धन्य हैं वे निर्ग्रन्थ। इसलिये ये ध्यान रखना, कि जब–जब परद्रव्य का संयोग होगा, चाहे आप प्रमोद कहना, चाहे खुश होना कहना, चाहे कुपित होना कहना, जिनवाणी उसे संक्लेशता ही कहती है।

एक पेन आपको मिल गया, आप खुश हो गये। यहाँ लोभकषाय है। और आप खुश हो रहे हो तो रतिभाव है। प्रसन्न हो रहे, उसमें कषाय है और जहाँ–जहाँ कषाय

जब–जब होगी, वह नियम से संक्लेशता–स्थान होगा। संयम क्या कह रहा है? संक्लेश–स्थानों की हानि और विशुद्धि–स्थानों की वृद्धि, इसका नाम संयम साधना है। तुम कितने प्रकार से विशुद्धि–स्थानों को बढ़ा सकते हो, वो तुम्हारा पुरुषार्थ है। चाहे आप स्वाध्याय से बढ़ायें, जाप से बढ़ायें, तत्त्व–चिन्तन से बढ़ायें, इसमें कोई पाबन्दी नहीं है। लेकिन विशुद्धि–स्थान बढ़ायें, संक्लेशता इकट्ठी न करें।

भो ज्ञानी! 'मूलाचार' जी में तो यहाँ तक कहा कि बहिरंग–तपस्या मात्र संक्लेशता की हानि के लिये की जाती है। गृद्धतावाली, संक्लेशतावाली हानि, ये कब होगी? जब आप अनशन, ऊनोदर आदि करते रहोगे। उनको करने में यदि आपको शारीरिक क्लेश बढ़ रहा है, तो उन्होंने कह दिया, कि विराम दे दो। मूलगुणों की क्षति नहीं होना चाहिये उत्तर–गुणों के पीछे। यदि सामायिक नहीं हो रही, उपवास किया है, तो आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि आप उपवास करें या न करें, परन्तु सामायिक करें। उपवास मूलगुण नहीं है, सामायिक मूलगुण है। उपवास चारित्र नहीं है, सामायिक चारित्र है।

भो ज्ञानी! चाहे प्रशस्त–द्रव्य प्राप्त हो, अथवा अप्रशस्त–द्रव्य भी प्राप्त हो, पर दोनों में राग–द्वेष का अभाव हो। सामायिक मूलगुण है, वो मुनियों का मूलगुण है, किस रूप में? श्रावक जैसी सामायिक करता है तीन कालों में, वो मुनियों की कहलाती है–देववंदना। जो षट्–आवश्यक कर्तव्य हैं, ये आवश्यक–कर्तव्य मूलगुणों में ही हैं। तीन बार जो सुबह, दोपहर, शाम सामायिक कर रहे हो, वो सब देववंदना है। एक तीर्थंकर की जो वंदना की जा रही है, वो वंदना है और चौबीस–तीर्थंकरों को एक–साथ नमस्कार किया जा रहा है, वो स्तुति है। स्तुति किसे कहते हैं? जिसमें चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन एक–साथ किया जाये, उसे स्तुति कहते हैं और जिसमें एक तीर्थंकर को नमस्कार किया जाता है, वो वंदना कहलाती है।

श्रावक के व्रतों में शिक्षाव्रत होते हैं। शिक्षाव्रत किसे कहते हैं ? जो मुनि बनने की शिक्षा दे, वो शिक्षाव्रत कहलाता है। श्रावक सामायिक करे वो तो उसका शिक्षाव्रत है और मुनिमहाराज की सामायिक जो रोज की जा रही है, वो शिक्षाव्रत नहीं है, वो तो उनकी देववंदना है। जो उन्होंने संयम धारण किया है, वो पूरी सामायिक है। क्योंकि इसका नाम सामायिक–चारित्र है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार–विषुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ये चारित्र के पाँच भेद हैं। पंचमकाल में दो ही चारित्र होते हैं–सामायिक, छेदोपस्थापना। सामायिक का तात्पर्य आँख मींचकर बैठना नहीं है।

समता सर्व–भूतेषु , संयमः शुभ–भावना।
आर्त–रौद्र–परित्याग–स्तद्धि सामायिकं तम्।।

संपूर्ण भूतों के प्रति अर्थात् संपूर्ण प्राणियों के प्रति जो साम्यभाव है, आर्त्त– रौद्रध्यान का अभाव जहाँ है, उसका नाम समता है और ऐसे समताधारी छठवें गुणस्थान, सातवें गुणस्थान में जो झूल रहे हैं, वो सामायिक चारित्र है। यदि सामायिक चारित्र में दोष लग सकते हैं, तो फिर छेदोपस्थापना से अपने संयम में पुनः उपस्थित होते हैं।

भो ज्ञानी! विषय को समझना। पं. दौलतराम जी ने षट्–आवश्यक कर्त्तव्यों में स्वाध्याय को रखा है, परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी, वट्टकेर स्वामी, अमृतचन्द्र स्वामी ने स्वाध्याय को षट्–आवश्यक कर्त्तव्य में नहीं रखा। प्रत्याख्यान आवश्यक–कर्त्तव्य है। स्वाध्याय कृतिकर्म है। मुनियों के 28 कृतिकर्म होते हैं, उनमें चार–बार स्वाध्याय है। चौबीस घंटे में मुनिराज चार–बार स्वाध्याय करते हैं। प्रत्याख्यान यानि त्याग। भो ज्ञानी! इस शब्द का उपयोग श्वेताम्बर–आम्नाय में बहुत होता है। आपलोग तो सब अपने पुराने शब्द भूल गये। वो कहते हैं पच्चक्खान। जब भी साधुमहाराज को उपवास लेना होगा, तो स्वतंत्र नहीं लिया जाता, महाराज के पास जाना होगा कि महाराज–साहब! आज का पच्चक्खान यानि आज भोजन का प्रत्याख्यान। चौबीस घंटे का लें आप, एक घंटे का भी उपवास ले सकते हैं आप। एक घंटे के उपवास का तात्पर्य एक घंटे का चारों प्रकार के आहार–पानी का त्याग। परन्तु उपवास संज्ञा किसे कहेंगे? जिसमें चारों प्रकार के आहार–पानी का पूर्ण त्याग हो, वो ही उपवास कहलायेगा। यदि आपने सुबह पानी ले लिया, या शाम को पानी ले लिया तो 'उपवास' संज्ञा को प्राप्त नहीं होगा।

हमारा आज का तो एकासन है, उपवास नहीं है, अनुपवास है। उपवास संज्ञा नहीं दी जाती, तो वो एकासन भी नहीं है। आप ये कहो–हमने अल्प भोजन किया है, ऊनोदर कर लिया है। वास्तविकता ये है, जो किया है, कम–से–कम श्रद्धा से कर रहा है, कुछ तो छोड़ा, तो उसको प्रोत्साहन दो। परन्तु ये ध्यान रखना, और गरिष्ठ भोजन मत कर लेना। मालूम चला, कि आज एकासन करना है तो और ज्यादा कर लिया। ऐसा मत करना। क्योंकि इच्छाओं का त्याग करने के लिये उपवास किया है, साधना के लिये किया है।

भो ज्ञानी! समता, सामायिक ये मुनियों का चारित्र है और श्रावकों का शिक्षाव्रत। आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि निश्ययनय से आत्मा मान से रहित है, आत्मा निश्चय से क्रोध नहीं करती है। भूल मत करना, ये राग–द्वेषभाव व्यवहार नहीं है, राग–द्वेषभाव निश्चय है और यहाँ नय मत लगाना। निश्चय है, निश्चयनय नहीं है। ये जीव का विभावभाव है। अशुद्ध–निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा रागादिक भाव से युक्त है। शुद्ध–निश्चयनय से ''सव्वे जीवा हु सुद्धणया'' सब जीव सिद्ध के समान शुद्ध–आत्मा हैं।

इसलिये क्रोध भी व्यवहार में नहीं हो रहा है। व्यवहार यानि घी का घड़ा वाला व्यवहार मत लगाना। अंदर से ही हो रहा है, अन्यथा परिणाम चला, कि ये जीव नरक में गिर गया। वो तो कह रहा कि हम तो व्यवहार से पड़े हैं।

भो ज्ञानी! इसका नाम सम्यक्–श्रद्धा नहीं है। नारकी जीव ये नहीं कहता कि व्यवहार से मैं पिट रहा हूँ। वो कहता है कि मैं निश्चय से ही संसार के दुःख भोग रहा हूँ, परन्तु ये मेरी आत्मा का धर्म नहीं है। समझना, क्षायिक–सम्यग्दृष्टि– जीव प्रथम नरक में पड़ा हुआ है, उसपर अन्य नारकी प्रहार कर रहे हैं, वह प्रहार करेगा कि नहीं ? भो ज्ञानी आत्माओ! ध्यान रखना, जैसा सामनेवाला कर रहा है वैसा ही करेगा, कोई अंतर नहीं होगा। क्षायिक–सम्यग्दृष्टिजीव नरक में पड़ा हुआ नारकी से लड़ रहा है, परन्तु दृष्टि कहाँ है? सम्यक्रत्न का अभाव नहीं है। वह संकल्पी–हिंसा फिर भी नहीं कर रहा है, विरोधी–हिंसा उसकी चल रही है और बाहर में तो नारकीपना चल रहा है और छटपटी चल रही है। प्रभु! मेरी आत्मा तो ध्रुव है। ये सम्यक्त्व की महिमा है। मिथ्यादृष्टि इस दृष्टि से मार रहा है कि मैं इसको नष्ट कर दूँगा, परन्तु सम्यग्दृष्टि मात्र अपनी रक्षा के उद्देश्य से। नरक में क्रोध की ही प्रधानता है। जैसे मनुष्यों में मान की प्रधानता है, वहाँ क्रोध की प्रधानता है। तिर्यंचों में मायाचारी की और देवों में लोभ की प्रधानता है।

ध्यान रखना, कभी–कभी क्या होता है कि व्यक्ति सिद्धान्त में इतना असफल हो जाता है कि द्रव्यानुयोग को लगाकर सब भूल जाता है। एक सज्जन आये, बोले–महराजश्री! जब तक चारित्र नहीं है, तबतक सम्यक्त्व कैसे होगा ? बोले–हम लोगों को संयम है ही नहीं, तो सम्यक्त्व तो हो ही नहीं सकता। ध्यान रखना, संयम चारित्र–गुण की पर्याय है और सम्यक्त्व श्रद्धा–गुण की पर्याय है। श्रद्धा अंदर का विषय है और चारित्र भी अंदर का विषय है, पर व्यवहार में दिखता है। ऐसे ही भक्ति और विनय में अन्तर होता है। भक्ति अंदर का विषय है और विनय प्रकट का विषय है। समझना, असंयम के साथ सम्यग्दर्शन तो हो सकता है, लेकिन असंयम के साथ स्वरूपाचरण चारित्र नहीं हो सकता। संयमाचरण नहीं हो सकता असंयम के साथ।

आचार्य कुन्दकुन्द कह रहे हैं कि अविरत–सम्यग्दृष्टिजीव को सम्यक्त्वा– चरण होता है। सम्यक्त्वाचरण यानि समीचीन–आचरण। भो ज्ञानी! अपना अभिप्राय मत लगाओ, आचार्यभगवन् का अभिप्राय समझो। वे तो यह कह रहे हैं कि जहाँ–जहाँ सम्यक्त्व होगा, वहाँ–वहाँ नियम से सम्यक्त्वाचरण होगा। एक मिथ्यादृष्टि भी सम्यक्वृति कर सकता है, लेकिन वास्तव में सम्यक्त्वाचरण वहीं होगा, जहाँ सम्यक्त्व

होगा, जो शुद्धि हुई, वो ही तो सम्यक्त्वाचरण है। यदि अनंतानुबंधी के अभाव में आत्मपरिणाम में विशुद्धि नष्ट हो, तो आचार्य अकलंकदेव महाराज ने क्षायिक–सम्यक्त्व को ही वीतराग संज्ञा नहीं दी होती। 'राजवार्तिक' में आचार्य अकलंकदेव ने क्षायिक–सम्यग्दृष्टि को, अविरत–सम्यग्दृष्टि जीव को वीतराग– सम्यग्दृष्टि कहा है। क्योंकि वहाँ मिथ्यात्व आदि सप्त–प्रकृतियों के क्षय की अपेक्षा से है। पर चारित्र की अपेक्षा से वीतराग संज्ञा वहाँ नहीं है। चारित्र की अपेक्षा से वीतराग संज्ञा तो, अध्यात्म की अपेक्षा से सप्तमगुणस्थान से और सिद्धान्त अपेक्षा से ग्यारहवें गुणस्थान से होगी। परन्तु पूर्ण वीतरागता तो बारहवें गुणस्थान से होगी।

ज्ञानी! चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव को हेय मत कह देना। उसके बिना तो काम बनेगा नहीं। मोक्षमहल की प्रथम–सीढ़ी है। परन्तु उस प्रथम सीढ़ी को मंजिल मत मानना। जब भी आप ऊपर जायेंगे, तो प्रथम–सीढ़ी से जायेंगे, लेकिन प्रथम सीढ़ी मंजिल नहीं है, इतना ध्यान रखना। इस बात को प्रत्येक व्यक्ति मानेगा। परन्तु प्रथम–सीढ़ी तो प्रथम–सीढ़ी है। प्रथम–सीढ़ी को द्वितीय–सीढ़ी कैसे कहें ? समन्तभद्र स्वामी ने 'रत्नकरण्ड–श्रावकाचार' में स्पष्ट लिखा है और सम्यक्त्व की महिमा का व्याख्यान करते हुये वो कह रहे हैं।

विद्या–वृत्तस्य संभूति, स्थिति–वृद्धि– फलोदयाः।
न सन्त्य–सति सम्यक्त्वे, बीजाभावे तरोरिव।। र.क.श्रा. 32।।

जैसे बीज का अभाव होने से वृक्ष की उत्पत्ति, वृक्ष की वृद्धि, वृक्ष में फल लगना, ये कभी संभव नहीं है, ऐसे ही सम्यग्दर्शन बीज है और यदि वो बीज है तो उसमें ज्ञान, चारित्र उत्पन्न होगा, वृद्धि को प्राप्त होगा और मोक्ष का फल होगा। यदि सम्यक्त्व नहीं है, तो कितने ही तुम चर्या का पालन कर लेना, वो आपको ग्रैवेयक की वंदना तो करा सकता है, पर संसारातीत नहीं बना सकता है। सम्यक्त्व के अभाव में मिथ्यात्व आपको सिद्धालय नहीं भेज देगा। उसके लिये आपको सम्यक्त्व की ही आराधना करनी होगी। भो ज्ञानी! सम्यक्त्व प्राप्त करो, इन शब्दों से सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होगा। सम्यक्त्व प्राप्ति के जो कारण हैं– कषायों का उपशमन करो, इसमें पुरुषार्थ लगा दो, आठ अंगों का पालन करो, 25 दोषों से परे रहो। ये कारण हैं।

बोले–हमें सम्यक्त्व प्राप्त करना है, स्वाध्याय करते–करते सम्यक्त्व हो जायेगा? ग्यारह–अंग तो पढ़ लिये हैं। इसलिये आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने 'समयसार' में लिखा है।

ण मुयइ पयडिमभव्वो सुट्ठुवि अज्झाइऊण सत्थाणि।
गुडदुद्धंपि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा हुंति।। स.सार 317।।

जैसे गुड़ से मिश्रित दूध पीने पर भी सर्प निर्विष नहीं होता, ऐसे ही ग्यारह–अंग का अध्ययन करके भी अभव्य के मिथ्यात्व का विगलन नहीं होता। इसलिये सम्यक्त्व ज्ञान का विषय नहीं है, श्रद्धान का विषय है। ज्ञान के लिये बाहरी निमित्त कार्यकारी हो सकते हैं, ज्ञान पोथियों से मिल सकता है, ज्ञान आप बोर्ड से पढ़ सकते हो, परन्तु श्रद्धान पढ़ने का विषय नहीं है। श्रद्धान अन्दर से उत्पन्न होता है। किसी भी व्यक्ति के सिर को पकड़कर किसी के चरणों में जबर्दस्ती झुका सकते हो, परन्तु किसी की श्रद्धा को तुम झुका नहीं सकते हो। शरीर को झुका सकते हो, जीव की वाणी को झुका सकते हो और झुक रही है। अरे! ग्यारह हजार रुपये का टीका करवाओ, अपनी प्रशंसा करवाओ। आप जैसा लिखवाना हो, वैसा लिखवा लो।

भो ज्ञानी! पर ध्यान रखना जीवन में, कि तेरा सर्वस्व समाप्त हो जाये, परन्तु अपनी श्रद्धा को मिथ्यात्व पर मत झुका देना। सम्यक्त्व ऐसे नहीं उत्पन्न होता है। आ जाओ अपने विषय पर। पहला प्रयोजन श्रद्धान का, फिर ज्ञान तो मध्यदीपक है, जो श्रद्धा को भी निर्मल करता है और चारित्र को भी निर्मल करता है, इसलिये बीच में रखा है। ये कारण–कार्य विधान है। सम्यक्त्व कारण है और ज्ञान कार्य है, पर होते एकसाथ हैं। पहले अंधकार गया, कि दीपक जला? एकसाथ होंगे। ऐसे ही, जैसे ही सम्यक्त्व होगा तो जितना भी जो भी ज्ञान होगा, वो सब सम्यग्ज्ञान होगा। अब वहाँ ये मत लगाना कि कितने शास्त्रों का ज्ञान है? पर वो सम्यग्ज्ञान है। उसे नहीं आती कोई गाथा, नहीं आता कोई श्लोक, किसी ग्रन्थ का नाम मालूम नहीं है। यदि आप कहेंगे गाथा, श्लोक पढ़ते जिससे बनता होगा, वो ही सम्यग्ज्ञानी है, तो फिर तिर्यंचों को कैसे सम्यक्त्व होगा? जो देशव्रती होते, पंचम गुणस्थान होता है तिर्यंचों के, उनको यहाँतक कि व्रती की परिभाषा भी नहीं मालूम है।

भो ज्ञानी! आपको तो मालूम हैं 28 मूलगुणों के नाम। तो फिर अब बताओ कैसी अनुभूति हो रही है ? जहाँ 'आत्मज्ञान' शब्द आ चुका है, वहाँ श्रद्धा और चारित्र की बात कहने की आवश्यकता ही नहीं है। आत्मज्ञान जहाँ आ चुका है, वहाँ तीनों आ गये। भो ज्ञानी! स्वाध्याय का अर्थ वाचना मात्र नहीं है। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय, धर्मोपदेश ये पाँच भेद हैं। उनमें सर्वोत्कृष्ट कोई स्वाध्याय है, तो वो अनुप्रेक्षा है। चिन्तन चल रहा है, तो अनुप्रेक्षा स्वाध्याय ही ध्यान को जन्म देगा। जिनका अनुप्रेक्षा स्वाध्याय कमजोर है, उनके ध्यान की संभावना कम लग रही है। वाचना तो बांचते जाओ, ग्रन्थ पूरे हो जायेंगे, पर भाव–भासना कब हुई? इसलिए स्वाध्याय भाव–भासना के साथ करो, तभी

ठीक है। इसलिये ग्रन्थवाचन तो आप करें, परन्तु ये ध्यान रखें कि तीन गुप्ति, पाँच समिति इतना ज्ञान जिस जीव को हो गया, वो निर्वाण को प्राप्त कर लेगा।

भैया! बहुत अच्छी बात कर दी कि बिना ज्ञान के मोक्ष हो ही नहीं सकता।

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान विन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिनमाँहिं, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।। छहढ़ाला 5/4।।

ये जो पं. दौलतराम ने लिखा है, ये 'प्रवचनसार' जी की गाथा का पद्यानुवाद है। जितनी कर्मों की क्षपणा अज्ञानी हजारों करोड़ों वर्ष में करता है, उन कर्मों के लिये तीन गुप्तियों से युक्त ज्ञानी क्षणमात्र में क्षय कर देता है। यहाँ जो आप कह रहे थे ज्ञानी, पोथीवाले ज्ञानी नहीं हैं, तीन गुप्तियों से युक्त ज्ञानी है। कुन्दकुन्द महाराज ने अध्यात्म भाषा में इन्हें ही ज्ञानी कहा है। परन्तु ग्रन्थ का अवर्णवाद मत कर देना। ग्रन्थ आपके लिये द्रव्यश्रुत जो है, वो भावश्रुत के लिये निमित्त–मात्र है। परन्तु कल्याण करानेवाला तो भावश्रुत ही होगा। द्रव्य–आगम तो भाव–आगम का निमित्त है, पर सिद्धालय में जाने के लिये भाव–आगम ही उपयोगी होगा। आप भावार्थ को भाव– आगम मत कह देना। वो भाव–आगम नहीं है। यहाँ भाव–आगम से तात्पर्य अपनी शुद्धात्मा में लीनता है। जो ग्रन्थ है, वो द्रव्य–आगम हो गया।

एक त्यागी जी आये। बोले–आलू खा सकते हैं, हम प्रमाण दे सकते हैं। क्या? देखो, समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है–प्रासुक कर लो, 'करीर, कंद, प्रसून, बीजानि' लिखा है। इसलिये जीवन में ध्यान रखना, आपके जीवन में बहुत सारे ज्ञानी आयेंगे और विवक्षा लगायेंगे। विद्वानों ने भी श्रावकाचार लिखे हैं और उन्होंने तो रात्रि में फल–फूल ये सब छुट्टी दे दी है। जबकि आचायों ने कहीं नहीं कहा है कि आप ऐसा कर सकते हो। मध्यकाल में ऐसा हुआ कि लोगों के हाथ में कागज कलम रहा और धर्म के नाम पर भीरू कर देना बहुत आसान बात है। बोले–ऐसा नहीं करोगे तो ऐसा हो जायेगा लिख दिया। अपने यहाँ भी ऐसे ग्रन्थ हैं। वीतरागमार्ग में आडम्बर का कोई स्थान जैन–आगम में हैं ही नहीं, लेशमात्र भी नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी लिख रहे हैं कि मुनिमहाराज परिग्रह रख सकते हैं, टीकाकार की महिमा देखना। कुन्दकुन्द स्वामी ने 'प्रवचनसार' में कहा कि मुनिराजों को परिग्रह की रक्षा करना चाहिये, तो टीकाकार ने एक जगह क्या लिखा, कि मुनिराज ठंडी में कम्बल आदि का उपयोग कर सकते हैं। भो ज्ञानियो। हमेशा अपने विवेक का उपयोग करना। ग्रन्थों का स्वाध्याय मूलग्रन्थों से ही करना क्योंकि टीकाकार स्वयं के चिन्तन को भी ग्रन्थ की टीका में प्रवेश करा देते हैं।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से संसारी जीवों और मुक्त जीवों में कोई अन्तर नहीं है।**

जारिसिया सिद्धप्पा, भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का, अट्ठगुणालंकिया जेण।।47।।

संस्कृत छाया : **यादृशाः सिद्धात्मानो भवमालीना जीवास्तादृशा भवन्ति।**
जरामरणजन्ममुक्ता अष्टगुणालंकृता येन।।47।।

अन्वयार्थ : (यादृशाः) जैसे (सिद्धात्मानः) सिद्ध परमात्मा हैं, (तादृशाः) वैसे (भवं आलीनाः) भव को प्राप्त हुए (जीवाः) संसारी जीव (भवंति) होते हैं। (येन) जिससे वे (जरामरण–जन्ममुक्ताः) जन्म, जरा और मरण से रहित हैं तथा (अष्टगुणालंकृता) आठ गुणों से अलंकृत हैं अर्थात् जिस नय से वे सिद्धसदृश हैं, उसी नय से वे जन्मादि से रहित और अष्टगुणों से सहित हैं।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने 'शुद्ध–जीव–अधिकार' में यह संकेत दिया कि जैसे सिद्ध–भगवान् सिद्धालय में विराजमान हैं, वैसे ही इस संसार में भव में लीन, भव से युक्त जो आत्मा संसारी–आत्मा है, शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि से वही स्वरूप संसारी–जीवों का है। यदि वास्तव में ये एक–से ही हैं, तो फिर संसारी और सिद्ध का भेद क्यों? तो बहुत स्थूल बात है। जैसे सिद्ध–भगवान् सिद्धालय में हैं, तो वैसे मेरी आत्मा ही परमात्मा बनने की सामर्थ्य से युक्त है। जब दोनों एक ही हैं, तो वे संसारी और ये मुक्त शब्द कहने की क्या आवश्यकता थी? आचार्य उमास्वामी महाराज लिख रहे हैं कि जीव के दो भेद हैं, संसारी और मुक्त। ''संसारिणो मुक्ताश्च'' इसलिये 47 वीं गाथा पढ़कर खुश मत हो जाना कि जो हम हैं, वही सिद्ध हैं। ये गाथा आपकी शक्ति का परिचय करा रही है। हाँ, आप तद्रूप ही हैं। 'तत्त्वसार' में देवसेन स्वामी ने लिखा है–

जम्मण–मरणविमुक्का अप्पपएसेहिं सव्वसामण्ण।
सगुणेहिं सव्वसरिसा णाणमया णिच्छयणएण।। त.सार 38।।

निश्चयनय से सभी जीव जन्ममरण से रहित, आत्मप्रदेशों की अपेक्षा सभी समान हैं। जैसा सिद्ध–परमेश्वर सिद्धालय में विराजमान है, वैसा ही परमब्रह्म मेरी आत्मा में विराजमान है। पद्मप्रभमलधारिदेव स्पष्ट कह रहे हैं कि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के अभिप्राय

से इसका तात्पर्य है। जहाँ तक नय चल रहा है, वहाँ अभी शुद्ध नहीं है। क्योंकि समयसार तो नयातीत है और सिद्धपरमेश्वर भी नयातीत हैं। इसलिये एक–एक शब्द पर ध्यान रखना। नय शब्द जहाँ जुड़ गया, समझ लो कि कथन– शैली चल रही है वस्तुव्यवस्था को समझाने के लिये। परन्तु शैली तो शैली है और वस्तु, वस्तु है। यहाँ कह रहे हैं कि संसारी–जीव और मुक्त–जीव इन दोनों में विशेष नय से, विशेष रूप से विशेष अन्तर नहीं है। शुद्ध–द्रव्यार्थिकदृष्टि से संसारी–जीव और मुक्त–जीव में कोई अंतर नहीं है। अन्तर इतना है कि एक सिद्ध बन चुके हैं और हम सिद्ध अभी बने नहीं है, पर बनेंगे यदि भव्य हैं तो, पुरुषार्थ यदि आपका होगा।

अब दूसरी दृष्टि से देखना, यदि आपका संसार अर्द्धपुद्गलपरावर्तन अवशेष बचा है, तो नियम से आप वैसा पुरुषार्थ भी करेंगे। तात्पर्य यह है कि इस जीव की भवितव्यता निर्मल है, इसलिये उसको वैसे अनुकूल सहयोग भी प्राप्त होते हैं, परन्तु ये पुरुषार्थ भी करता है। यानि जिस जीव का अर्द्धपुद्गल–परावर्तनकाल अवशेष है, वो जीव नियम से सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा। जिसका अर्द्धपुद्गलपरावर्तन काल से अधिक है, वे सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकेंगे अथवा जिसने सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया है, वो अर्द्धपुद्गल–परावर्तनकाल से अधिक संसार में नहीं भटकेगा। जिस जीव ने सम्यक्त्व यदि एक–क्षण को भी प्राप्त किया है, एक–समय को भी प्राप्त किया है, उसका नियम से अर्द्धपुद्गलपरावर्तन काल के अन्दर–अन्दर मोक्ष हो जायेगा।

भो ज्ञानी! द्रव्यदृष्टि और द्रव्य में बहुत अंतर है। दृष्टि 'नय' है और द्रव्य 'वस्तु' है। वस्तु को दृष्टि मत कहो। दृष्टि को वस्तु मत कहो। वस्तु को समझने के लिये दृष्टि है। तो शुद्धद्रव्यार्थिक दृष्टि यानि शुद्ध–तत्त्व को समझने का विषय जिसमें हो, वो शुद्धद्रव्यार्थिक नय; पर द्रव्य तो अपने–आपमें जैसा है, वैसा ही है। बहुत ध्यान से समझना, जिनकी भवितव्यता निर्मल है, ऐसे जीवों को अल्प सहयोग कल्याण का हेतु बन जाता है। जो अत्यासन्न/अतिनिकट भव्यजीव हैं, वे पूर्व में संसार के क्लेश से थके होने पर भी सहज–वैराग्य में तत्पर रहते हैं। निकट भव्य से तात्पर्य कोई अभव्य से भव्य नहीं बना। यहाँ तात्पर्य है जिसका संसार अल्प बचा है। जो जीव एक या दो भव में मोक्ष जानेवाला है, उसे आचार्यों ने निकट–भव्य कहा है।

भो चेतन! यह आपके ज्ञान का विषय नहीं है, करणानुयोग का विषय है, कर्मप्रकृतियों का विषय है और केवली या अवधिज्ञानी का विषय है। हम व्यवहार से तो

यह कह सकते हैं कि आज हमारी मिथ्या धारणा नष्ट हो गई। क्योंकि मैं कुधर्म को पालता था, कुदेव में लीन था, कुशास्त्र में लीन था। ये दृष्टि तो ठीक है। परन्तु भो ज्ञानी! प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य भाव से जिसका जन्म होता है उसे तुम अहम् भाव का जन्म दिला रहा है। बात को समझना, यह अहम् मत करो कि मैं सम्यग्दृष्टि हूँ , इसलिये मेरी जयंति है।

भो ज्ञानी! ये ध्यान रखना जीवन में, जैसा वस्तु का स्वरूप है, उससे अपन को भयभीत होना चाहिये, यही सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। आपके जीवन में कहीं तत्त्व का अतत्त्वपना न आ जाये अथवा गलत श्रद्धान न हो जाये। जब भी अपन चर्चा करें, मुख से बोलें, आँखें खुली हैं, पर अन्दर तो ये आगम दिखना चाहिये कि यह कहाँ की पंक्ति है और कहाँ से बोल रहे हैं। अन्यथा सत्य भी असत्य है। जिस बात से आपका हित नहीं है, उसे जिनवाणी असत्य ही कहेगी। क्योंकि ये कल्याण का मार्ग नहीं है, ये असत् मार्ग है। इसलिये जिस बात से स्व–पर कल्याण होता हो, वही बात सत्य है। और जो सत्य भी हो, परन्तु जिसका मोक्षमार्ग से कोई प्रयोजन नहीं है, उसको जिनवाणी कह रही है कि वो तेरे लिये असत्य ही है।

संसार से थका हुआ वो जीव सहज–वैराग्य से युक्त है। सहज–वैराग्य क्या कह रहा है? सहज–वैराग्य शब्द किसी के द्वारा दिलाया नहीं गया। दर्पण देख रहा था, एक सफेद बाल दिख गया, मेरा यम का दूत आ गया। भगवन् चन्द्रप्रभ स्वामी को पूर्व–पर्याय में वैराग्य का हेतु यही था। तीर्थंकरों का उदाहरण देखो, सैर करने जा रहे थे, रास्ते में एक फलाफूला वृक्ष दिखा, वापिस आये तो देखा कि उसपर गाज गिर चुकी थी। वृक्ष को देखकर जीवन की निस्सारता का विचार करके उनको वैराग्य हो गया। लोकांतिक देव भी आ गये कि प्रभु! धन्य हो आपको। यह सहज–वैराग्य है। सामान्य–निमित्त मिला। कुछ को इंद्रधनुष को देखते–देखते ही वैराग्य हो गया। बताओ, जीवन में आपने कितने इंद्रधनुष देखे? कितनी बार तो श्मशानघाट पर जा चुके, फिर भी आपको वैराग्य नहीं हुआ, क्योंकि थके नहीं हो।

भो ज्ञानी! दो बातें का निर्णय हो रहा है यहाँ। एक तो संसार–अवस्था में जब जीव थक जाता है, तो वैराग्य की ओर बढ़ता है और दूसरा जब वैराग्य से युक्त चारित्र धारण करता है, तभी कर्मों की क्षपणा होती है और तभी मोक्ष होता हैं। ये अंतस् में श्रद्धा का विषय बनाकर चलना ही है। भले ही आप धारण कर पा रहे हो या नहीं कर पा रहे हो,

परन्तु इस श्रद्धान को डांवाडोल मत करना। बोले–वो तो काललब्धि आयेगी, सो मोक्ष हो जायेगा। नहीं होगा। तभी होगा, जब संयम साथ में होगा। तो इसप्रकार आप भावलिंग धारण करो, भावलिंग से ही मोक्ष होगा। परन्तु द्रव्यलिंग के अभाव में जन्मेगा कहाँ? भावलिंग द्रव्यलिंगपूर्वक ही होता है।

मनीषियो! द्वैपायन मुनिराज के द्वारा द्वारिका भस्म हो गई। यह द्रव्यलिंग के द्वारा नहीं हुई, यह भावलिंग के द्वारा हुई। सिद्धान्त पकड़ो। यह संज्जवलन की तीव्रता थी। कारण समझना, क्यों ? क्योंकि मिथ्यात्व में द्रव्यलिंगी को कभी ऋद्धियाँ प्रकट नहीं होती हैं। वे मुनिराज द्रव्यलिंगी नहीं थे, भावलिंगी ही थे। कबतक? पुतला निकला, द्वारका भस्म हुई, पुतला जबतक वापस नहीं आया, मुनिराज को भस्म नहीं किया, तबतक उनका भावलिंग नहीं गया और जैसे ही स्वयं भस्म हुये, द्रव्य और भावलिंग दोनों चले गये। द्वैपायन मुनिराज को तीर्थंकर होना है।

रावण को तीर्थंकर होना है। कितना अभद्र जीव था? ''कम्मे सूरा, ते धम्मे सूरा'' जो कर्म में शूर हैं, वे धर्म में शूर हैं। इसका तात्पर्य यह मत लगा लेना कि हम अभद्र बनते हैं, फिर तीर्थंकर बन जायेंगे। तुम कितनी भी अभद्रता कर लो, पर जितने तीर्थंकर आगामीकाल में बननेवाले हैं, उनका उल्लेख जिनवाणी में आ चुका है। चाहे तुम्हें जातिस्मरण होये, लेकिन हम तुम्हें तीर्थंकर नहीं माननेवाले। जितने तीर्थंकर बननेवाले हैं, उनकी जानकारी जिनवाणी में आ चुकी है।

आप पूजा करते हो, लेकिन कभी–कभी मन नहीं लगता, इसका तात्पर्य भगवान् के प्रति भक्ति नहीं है, ऐसा मत समझना। भक्ति तो रहती है, पर कभी शारीरिक अवस्था, कभी मानसिक तनाव के कारण मन नहीं लगता है, पर श्रद्धान पूरा है। कहीं श्रद्धान गड़बड़ होने लगा, तो भैया! चिन्ता का विषय है। उत्साह तो ऐसा है कि हरसमय एक–सा नहीं रहता है। ध्यान रखना, उत्साह तुम्हारा पूरा ही गिर गया, तो आगे अब श्रद्धा के गिरने का समय आ गया। इसलिये उत्साह भंग मत होने देना।

भैया! आप ब्रह्मचारी बन गये, वस्त्र भी बदल गये, लेकिन परिणाम तुम्हारे प्रथम–गुणस्थान के भी हो सकते हैं, द्वितीय–गुणस्थान के भी हो सकते हैं और तृतीय–गुणस्थान के भी हो सकते हैं। ''यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्याः'' जो क्रिया भाव से शून्य है, वह फल को प्रदान नहीं करती है। जैसा द्रव्यलिंग, भावलिंग योगियों में घटित करते हैं, ऐसे ही अब्रह्म सक्यग्दृष्टि, देशव्रती सभी जीवों में घटित होता

है। कुन्दकुन्द स्वामी ने दो शब्द लिखे हैं, गृह–लिंग और पाखंडी–लिंग। पाखंडी–लिंग यानि मुनिलिंग, गृहलिंग यानि गृहस्थलिंग। गृहस्थ लिंग, इसमें एलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका, ब्रह्मचारी आते हैं। ये श्रावकों के लिंग हैं। इन लिंगों से मोक्ष मत मान बैठना। यदि लिंगों का अहम् तुम्हें आ गया, तो भी मोक्ष नहीं होगा, परन्तु लिंगों को स्वीकार किये बिना भी मोक्ष नहीं होगा।

पन्द्रह दिनों में मुनियों का एक प्रतिक्रमण होता है, उसे पाक्षिक प्रतिक्रमण कहते हैं। उस पाक्षिक–प्रतिक्रमण में वीरभक्ति के पहले श्रावक–प्रतिक्रमण आ जाता है। आचार्यों ने मुनियों के प्रतिक्रमण में श्रावक–प्रतिक्रमण क्यों दिया है? इसमें रहस्य क्या है? इसमें रहस्य ये है कि आप महाव्रती हैं, आपके द्वारा श्रावक के व्रतों की अवहेलना तो नहीं हो रही । आपके द्वारा श्रावक के व्रतों के प्रति अनुत्साह तो नहीं हुआ है। इसलिये उन व्रतों के प्रति अनादरभाव यदि आया हो, तो उसके प्रति मैं अपना प्रतिक्रमण कर रहा हूँ।

आचार्य प्रभाचंद्र महाराज ने लिखा है, कि हे मुनिराज! नरक के नारकी की हिंसा का त्याग करो। बोले–क्यों ? हो सकता है कि कहीं तुम्हारे पूर्व का बैरी– जीव नरक में पड़ा हुआ है और आपको ज्ञात हो अथवा न हो, लेकिन तुम्हारे भावों में आ जाये कि मेरा शत्रु नरक में गया है, अच्छा हुआ, खूब पिट रहा है, खूब कुट रहा है। ऐसी भावना तुम्हारे आई है, तो तुम्हें नरक की हिंसा का दोष लगा है। रावण का जीव नरक में पड़ा हुआ है। उसके बारे में आप 'पद्मपुराण' का स्वाध्याय कर रहे थे। ऐसे भाव तुम्हारे मन में आ गये कि भले गया नरक में, इसने ऐसा किया था, अच्छी मुक्कों की मार धल रही है इसको। देखनेवाले कहेंगे कि तुम स्वाध्याय कर रहे हो और जिनवाणी कहेगी कि तुम रौद्रध्यान कर रहे हो।

द्रव्यलिंग, भावलिंग, गुणस्थान, भेष। भेष तो कांच है, गुणस्थान पारा है। पारा बढ़ता किससे है? तापमान से। ऐसे ही गुणस्थान परिणाम/भावों से ऊपर– नीचे होता है। नेमिचन्द्र स्वामी लिखते हैं कि मोह और योग की प्रवृत्ति का नाम है गुणस्थान। जैसा–जैसा मोह घटेगा, योग निर्मल होंगे, वैसा–वैसा गुणस्थान बढ़ेगा। और जैसे–जैसे मोह बढ़ेगा, योग चंचल होगा, वैसे–वैसे गुणस्थान गिरेगा। मन, वचन, काय की चंचलता योग है। पर में निजभाव से मोह है। इन दोनों के कारण जीव संसार में रुल रहा है। परिणामों की निर्मलता के अभाव में द्रव्यसंयम भी धारण करने के परिणाम नहीं होंगे। बहुत बड़े संयम की बात छोड़ो, रात्रि भोजन के त्याग करने के भी भाव नहीं होते।

हम पहले विचार करते हैं, तभी तो संयम धारण करते हैं। तो पहले भावलिंग हुआ, फिर द्रव्यलिंग हुआ। इतना विवेक नहीं है तुम्हें चिन्तन करने का। वो जो विचार था, वो

भावना थी, भावलिंग नहीं था। इन अज्ञानियों ने भावना को भावलिंग मान लिया है। जो निर्णय था, उसे निश्चय मान लिया है, इसलिये भटक रहा है। निर्णय तो निर्णय है, निश्चय तो निश्चय है। जब द्रव्यलिंग की निर्दोष साधना होती है, कषायों की निर्मलता होती है, तब भावलिंग का जन्म होता है।

भो ज्ञानी! अपने बेटे–बेटी की शादी करते हैं, तो उसकी कुण्डली बिठाल लेते हैं और तीनलोक के नाथ के साथ सम्बंध स्थापित करने जाओ तो उनकी कुण्डली नहीं दिखलाते। तुम्हारी राशि में जो तीर्थंकर बैठे हैं, नगर की राशि से मिलाकर उन्हीं तीर्थंकर की प्रतिमा स्थापित कराना चाहिये। गृह–चैत्यालय में बाल–ब्रह्मचारी तीर्थंकर विराजमान नहीं किये जाते, क्योंकि वे बाल–ब्रह्मचारी हैं।

भो ज्ञानी! बाह्य लिंग जो है, वही द्रव्यलिंग है, जो भावलिंग का घोतक है। जब भी तुम उपासना करोगे, तो भावलिंग तुम्हें कहीं मिलेगा ही नहीं, द्रव्यलिंग ही मिलेगा। और द्रव्यलिंग में तुमने भावलिंग को देखा नहीं, तो तुम्हें कभी भावलिंग मिलना ही नहीं है। द्रव्यलिंग भावलिंग से शून्य रह सकता है, पर भावलिंग द्रव्यलिंग से कभी भी शून्य नहीं रहेगा। बारह–वर्ष तक भगवान् महावीर ने भावलिंग और द्रव्यलिंग का पालन किया। इसके बाद कैवल्य प्राप्त किया। कैवल्य के बाद एक–दो दिन नहीं, तीस वर्ष तक दिव्यदेशना खिरी। इसके बाद फिर उनका मोक्ष हुआ है। भूल में मत रहना, कि जैसे ही भावलिंग हुआ कि मोक्ष हो गया। ऐसा नहीं है। भावलिंग व द्रव्यलिंग के साथ जीव साधना करेगा। साधना की निर्मलता पूर्ण हो जायेगी, तब सिद्धि होगी।

कुन्दकुन्द स्वामी ये नहीं कह रहे हैं कि तुम द्रव्यलिंग मत धारण करो। ये कह रहे हैं कि तुम भावलिंग की भी तैयारी बनाके रखो। मात्र द्रव्यलिंग में मत लटके रह जाना। उन्होंने कहा कि द्रव्यधर्म से लिंग होता है, लिंग में धर्म नहीं होता। पर धर्मपालन के लिये लिंग आवश्यक है।

भो ज्ञानी! पंचमकाल में जिनवाणी की आज्ञा नहीं है स्वयं दीक्षा लेने की। गुरुचरणों में ही दीक्षा होती है। बिना गुरु के दीक्षा नहीं होती है। जिस–जिस ने गुरु आज्ञा की अवहेलना की है, मैंने तो अनुभव किया है, वे फलित नहीं होते दिखे। आपने मुझे संयम दिया, उसका मैं उपकार मानता हूँ, बाकी मेरा गुणस्थान मेरे हाथ में है। इतना तो दृष्टि में लाओ। कुछ कहते हैं कि पहले ज्ञान कर लो, फिर दीक्षा लेना। ज्ञानी! पहले ज्ञानकल्याणक नहीं होता, पहले दीक्षा–कल्याणक होता है।

जयसेन स्वामी ने कहा है कि आठवर्ष के बालक को दीक्षा देना चाहिये। दीक्षा का तात्पर्य मुनि बनाने से नहीं लेना, वैसे मुनि भी बन सकता है। वो आठ वर्ष के बालक के संस्कार करेंगे और संस्कार करने के बाद सिद्धों की पूजा करायेंगे और फिर पूजन कराने के बाद उसको गुरु/अध्यापक को सौंप देगे। फिर उसका अध्ययन प्रारंभ होगा। ये अध्ययन की विधि है। पहले दीक्षा, अष्ट मूलगुण धारण करा दिये, फिर शिक्षा। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने भी 'पुरुषार्थ–सिद्धि–उपाय' में यही क्रम रखा है। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कहते हैं कि जब तक अष्टमूल धारण नहीं किये, तबतक जिनवाणी सुनने का अधिकार नहीं है।

भैया! अब तो तुम जिनवाणी पढ़ रहे हो और मुख में पान दबाये हो, इलायची खा रहे हो, जिनवाणी के पृष्ठ पलट रहे हो, क्या है ये सब? ये सब विनय ही नहीं है।

जीव द्रव्यलिंग और भावलिंग को धारण करके परमगुरु के प्रसाद से परमागम का अभ्यास करके, सिद्धक्षेत्र को प्राप्त करता है यानि सिद्ध–भगवान् बन जाता है। फिर निराबाध सकल विमल केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवल शक्ति से युक्त सिद्ध–आत्मा/परमात्मा कार्यसमयसाररूप कार्य शुद्ध हो चुके हैं निश्चयनय से। जिसकारण से वे संसारीजीव मुक्तजीवों के सदृश हैं, उसी हेतु से वे जन्म, जरा और मरण से रहित हैं। सम्यक्त्व आदि आठ गुणों की पुष्टि से तुष्ट हैं। इसप्रकार जानना चाहिये। ये अपनी प्रत्यासत्ति को पहचानने की बात है, पर वास्तव में द्रव्य शुद्ध तो सिद्ध–भगवान् का ही है।

एक बोले–'हमसे अब बनता नहीं है। हम किसको गुरु बनायें? हम तो अपनी दीक्षा खुद लिये लेते हैं।' नहीं भैया! ये राजमार्ग नहीं है, अपवादमार्ग है। राजमार्ग तो एक ही होता है।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **कार्यसमयसार और कारणसमयसार में अन्तर के अभाव का कथन।**

असरीरा अविणासा, अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा, तह जीवा संसिदो णेया।।48।।

संस्कृत छाया : **अशरीरा अविनाशा अतीन्द्रिया निर्मला विशुद्धात्मानः।**
यथा लोकाग्रे सिद्धास्तथा जीवाः संसृतौ ज्ञेयाः।।48।।

अन्वयार्थ : (अशरीरा) शरीर से रहित, (अविनाशा) विनाश से रहित, (अतीन्द्रिया) इंद्रियों के ज्ञानादि से रहित–अतीन्द्रिय (निर्मलाः) कर्ममल रहित (विशुद्धात्मानः) विशुद्ध स्वरूप वाले (यथा लोकाग्रे) जैसे लोक के अग्रभाग में (सिद्धाः) सिद्ध भगवान् हैं (तथा) वैसे ही (संसृतौ) संसार में (जीवाः) जीवों को (ज्ञेयाः) जानना चाहिये।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्दस्वामी ने पूर्व गाथा में यह संकेत दिया कि जैसा सिद्धपरमेश्वर सिद्धालय में विराजमान है, वैसा ही शुद्ध–द्रव्यार्थिकदृष्टि से ये संसारी–आत्मा भी शुद्ध है। आचार्य महाराज ने यह कहा है कि जिस नय से जीवद्रव्य शुद्ध है, उसी नय से गुण–पर्याय भी शुद्ध है। भैया! जैसे आप जो नय वर्तमान की द्रव्य में लगा रहे हो, वही नय आप वर्तमान की पर्याय में और वही नय आप वर्तमान के गुण में भी लगायें। अन्यथा आप गुण को और द्रव्य को अलग– अलग देखोगे, तो कभी भी द्रव्य की सत्ता नहीं होगी। इसीको टीकाकार यहाँ कह रहे हैं।

प्रागेव शुद्धता येषां सुधियां कुधियामपि।
नयेन केनचित्तेषां भिदां कामपि वेद्म्यहम् ।। कलश 71।।

आचार्य पद्मप्रभमलधारि देव कह रहे हैं कि सुबुद्धि सिद्धपरमात्मा हैं और कुबुद्धि संसारीजीव हैं। पर दोनों में पहले से ही शुद्धता है। उनमें कुछ भी भेद को किसी नय से जानता हूँ। आचार्यमहाराज ने 'केनचित्' शब्द को जोड़ दिया, क्योंकि ये पंचमकाल के छलिया–जीव हैं, कहीं केनचित् अर्थात् किसी भी नय को छोड़कर एक–नय को लेकर बैठ जाते हैं। शुद्ध–निश्चयनय से सभी संसारीजीव सिद्धों के सदृश शुद्ध ही हैं, कभी अशुद्ध हुये नहीं हैं। **'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'** शुद्धनय से सिद्धजीव और संसारीजीव में कोई अंतर नहीं हैं। इतना स्पष्ट अध्यात्म का कथन है।

एक बोले–चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग होता है, दूसरे बोले–नहीं होता है। कहीं शुद्धोपयोग के अनाग्रह/हठाग्रह में अशुद्धोपयोग तो नहीं हो रहा है? क्योंकि दोनों हठ में बैठे हैं, पर हट नहीं रहे हैं मिथ्यात्व से, असंयम से। कोई मुनिराज हैं, वे कहें कि चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग होता है। आप तो मुनि महाराज हो, आप तो चौथे में हो नहीं, आप तो छठवें में हो। अब आपको क्या मिल रहा कि इसमें में हो रहा कि नहीं हो रहा? आप तो छठवें में हो। आपको तो छठवें–सातवें में झूलना है, इतनी शुद्धता में आप पहुँच रहे हो । आप काहे पड़े चक्कर में? क्या आप निर्णय दे सकते हो? यदि आप निर्णय दे रहे हो, कि ये चतुर्थ–गुण– स्थानवर्ती शुद्ध–उपयोगी और ये अशुद्ध–उपयोगी, तो भगवन्! आप अनधिकृत चेष्टा न करें। क्योंकि ये आपके ज्ञान का विषय है ही नहीं। ये बता सकते हैं कि सात– प्रकृतियों के क्षय और क्षयोपशम जिसका हो वो सम्यग्दृष्टि और जिसका नहीं है वो मिथ्यादृष्टि। लेकिन किसका है और किसका नहीं है ये उनके ज्ञान का विषय नहीं है।

व्यवहार से चरणानुयोग की अपेक्षा से आप स्वयं जब निर्णय करो, तब चरणानुयोग की अपेक्षा से हम कह सकते हैं। पर हम तो करणानुयोग से ये नहीं कह सकते हैं कि ये मुनिमहाराज हैं कि नहीं। तुम जो भी देखोगे, वो चरणानुयोग में दिखेगा। हम तो चरणानुयोग जिनका देख रहे हैं, उनको मुनिमहाराज मानते हैं। इसलिये सैद्धान्तिक निर्णय स्वयं का स्वयं पर घटित करो। व्याख्या नहीं करना। दूसरे का भी नहीं और अपने का भी नहीं। चार विकथायें, चार कषायें, पाँच इंद्रियाँ, निद्रा, स्नेह ये पन्द्रह प्रमाद हैं। इन पन्द्रह प्रमादों में भी ये खोज करो कि हमारा किस इंद्रिय पर ध्यान जा रहा है? परन्तु ध्यान रखना, इसको भी आप व्याख्यान का विषय न बनायें। कारण कि पहला प्रमाण तो यही है कि तुम स्वयं की प्रशंसा में लगे हो। आत्मप्रशंसा चल रही है, परिणाम नीचगोत्र का बन्ध होगा। सम्यग्दृष्टिजीव स्वयं की निन्दा करता है, दूसरे की प्रशंसा करता है। अपने अल्प से अल्प दोषों की निन्दा करता है और दूसरे के अल्प–गुणों की प्रशंसा करता है।

एक बात का ध्यान रखना, जबतक करणानुयोग पर चिन्तन नहीं जायेगा, तब तक द्रव्यानुयोग साधुजीवन में उतर नहीं सकता। वो मंदिर जा रहे थे, रास्ते में एक ठेला खड़ा था, खरबूजा रखे थे। मन में भाव बन गये कि अपन लौटकर आयेंगे तो इस ठेला से खरबूजा खरीदेंगे। माँ जिनवाणी कहेगी, भैया! तुम खरीद पाओ या नहीं खरीद पाओ, पर तुम खरबूजे में तो चले गये। अब हो सकता है कि तुम वापस भी न आ पाते, परन्तु खरबूजे में आस्रव कर चुके थे आप। अब तुम सोचो कि अभी तो खरीदना नहीं, अभी तो मंदिर जा रहे हैं, अपन क्यों विकल्प करें? यदि हमने एक घंटे पहले से विकल्प शुरू कर दिया, तो तद्द्रव्य सम्बन्धी आस्रव प्रारंभ हो

चुका है। नहीं, हमको ऐसा विकल्प नहीं लाना, आस्रव से तुम बच गये। ऐसा व्यापार जिसका प्रतिक्षण चले, उसका नाम मोक्ष है और ऐसा व्यापार जिसका अंतरंग में नहीं चल रहा, उसका नाम अमोक्ष। इसको समयसार की भाषा में अध्यवसाय–स्थान कहेंगे।

करणानुयोग का चिंतन जब कषायों की मंदता में ले जाता है, तो व्यक्ति को संयम के भाव बनते हैं। वो व्रतों का पालन कर रहा है, तो चरणानुयोग में आ गया। एक श्रावक को अध्यात्म–ज्ञाता तो कहा जा सकता है अर्थात् अध्यात्म–शास्त्रों का व्याख्याता, अध्यात्म–शास्त्रों का ज्ञाता। अध्यात्म शब्द का अर्थ है–अधि यानि पास। जो आत्मा के पास है, वो अध्यात्म है। जिस विद्या में आत्मा के नजदीक ले जाने की शिक्षा ली जा रही है, वो अध्यात्म है। अध्यात्म श्रमण यानि जिस योगी के योग शान्त हो चुके हैं। साधु की चर्चा नहीं कर रहा हूँ, क्योंकि साधु तो साधना कर रहा है। अध्यात्म–शास्त्र में साधु शब्द कम मिलेगा आपको, योगी शब्द ज्यादा मिलेगा।

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।

बाह्याः संयोगजा भावा, मत्तः सर्वेऽपि सर्वदा।। इष्टोपदेश 27।।

मैं ममत्व से रहित, शुद्ध हूँ। ऐसा किसके गोचर हो रहा है? ज्ञानी योगियों के गोचर है। ये सब जो पदार्थ दिख रहे हैं, वे सभी, सर्वथा पौद्गलिक हैं। मेरे से भिन्न हैं। उसे अध्यात्म–विद्या के प्रचार का भी राग नहीं है। उसे अनअध्यात्म से हटने का भी द्वेष नहीं है। क्योंकि जब अध्यात्म–योगी होगा, उसे आत्मा के अलावा किसी का भार ही नहीं है, तो प्रचार की बात कहाँ? अपने बीच पुद्गल के प्रचार का, उससे श्रोताओं को लाभ–ही–लाभ है, पर वक्ता के अंदर में राग भी हो सकता है, इसलिये उसको हानि है। क्योंकि उसको ये आशायें हैं कि मेरे प्रवचन कैसे हो रहे हैं, लोग कैसे सुन रहे हैं? सुननेवाला तो अपने तत्त्व को समझ रहा है और सुनानेवाला बुद्धि के मात्र द्रव्य में डूबा है।

तत्त्वविद्या है ये। जो है, सो सत्य ये है। सत्य को कहने में कभी चूकना मत। निर्ग्रन्थ ही अध्यात्म–श्रमण बनता है। पूर्ण निर्ग्रन्थता ही अध्यात्म–श्रमणता है। अंतरंग, बहिरंग में जरा भी गांठ होगी, तो अध्यात्म–श्रमणता नहीं है।

तिन सुथिर मुद्रा देखि मृगगण उपल खाज खुजावतें।। छहढाला।।

यहाँ मृगगण पाषाण समझकर जिनके शरीर पर खुजली खुजा रहे थे और वे कर्मों की खुजली में लगे हुए हैं। भो ज्ञानी! अपना स्वार्थ कौन नहीं चाहता है? कर्म चाहते हैं कि जीव मेरे आधीन बना रहे और जीव चाहते हैं कि मैं कर्म से मुक्त हो जाऊँ। ये ध्यान रखना, भाषा समझ लेना, नय को समझ लेना, क्योंकि ये अध्यात्म–विद्या है, अध्यात्म–चर्या नहीं

है। अध्यात्म–चर्या वो है, जहाँ कोई आडम्बर नहीं है, कोई आलम्बन नहीं हैं। पंचमकाल के व्यक्ति बड़ी हीनशक्ति के हैं। पूर्ण अध्यात्म–चर्या तभी पलेगी, जब वे तालाब या नदी के किनारे बैठे होंगे, वृक्ष के नीचे बैठे होंगे। जहाँ ये विकल्प नहीं होगा, कि धर्मशाला खाली है या नहीं, चातुर्मास करना है। कहाँ वाचना करना है, उसका विकल्प नहीं, कहाँ विश्राम करना है उसका विकल्प नहीं। बस, जहाँ तिथि हो गई, वहीं स्थापना हो जाये, कलश का कोई विकल्प नहीं। आप अध्यात्म की बात कर रहे हो, इसलिये कोई विकल्प नहीं है। सिद्धों की भक्ति कर लिये, भगवान् की भक्ति कर लिये, स्थापना हो गई। चार महीने का योग लगाकर बैठ गये।

भो ज्ञानी! वहाँ पानी की बूंद टपक रही है, यहाँ अध्यात्म की बूंद टपक रही है। आकाश में मेघ गरज रहे हैं, अंतरंग में वैराग्य की गर्जना उठ रही है। जहाँ आकाश में बिजली तड़क रही है, वहाँ चैतन्य–ज्योति चमक रही है। 'नमः समयसारायः' स्वानुभूति प्रकाशित हो रही है। ऐसे योगी की आत्मा में जो परिणति है, इसका नाम अध्यात्म–श्रमण है। विहार चल रहा था, मार्ग में चिड़िया चुग रही थी। भैया! योगी का लक्ष्य देखना, इसके भोजन में अंतराय न आ जाये। तुम फुर्र से निकल गये, वो बेचारी उड़ गई, तुम अंतराय उठा लाये। साधु की सावधानता ही योगी का जनक होता है। जब साधु इतना सावधान होता है, तो साधु ही तो योगी होता है, बाहर से नहीं आते हैं। जब ध्यान में हैं तो योगी। साधना में हैं, तो साधु।

भो ज्ञानी! नय नय है; विद्या, विद्या है; वस्तु , वस्तु है। जबतक ये भेद, प्रभेद की विशाल/विस्तृत चर्चा समयसार पर नहीं की जायेंगी, तबतक हमारे अंतरंग में तत्त्व के प्रति बैठा विपरीत–श्रद्धान समाप्त नहीं होगा। कभी भी अध्यात्म–विद्या का विरोध नहीं करना जीवन में, परन्तु विपरीतता को प्राप्त मत कर लेना। जितनी बार हमलोग 'समयसार' पढ़ते हैं, तबतब कुछ नया ही निकलता है। जितनी बार मथानी को दही में चलाते हैं, उतनी बार मक्खन निकलता है। अध्यात्म–विद्या का तुम जितनी बार मंथन करोगे, उतनी बार नवीन–नवीन नवनीत ही निकलेगा। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी 48 वीं गाथा में कह रहे हैं कि यह आत्मा अशरीरी है, अविनाशी है, कर्ममल से रहित है, इंद्रियातीत है, निर्मल है। जैसा लोक के अग्रभाग पर विराजा है सिद्ध–परमेश्वर, वैसा ही जीव संसार में है। उमास्वामी ने 'तत्त्वार्थ–सूत्र' में जीव के दो भेद किये हैं–मुक्त और संसारी। पर द्रव्यदृष्टि से दोनों समान हैं।

'परमात्मप्रकाश' ग्रन्थ में आचार्य योगीन्दुदेव ने जो मिथ्यादृष्टि जीवों का कथन किया है, वो अतत्त्व–श्रद्धानवाले मिथ्यादृष्टियों का कथन नहीं किया। उन्होंने तो तत्त्व का विपरीत–श्रद्धान करनेवाले जीवों का कथन किया है। हे ज्ञानी! कहीं तू एकान्त–मिथ्यात्व में मत चले जाना। कहीं तू द्रव्य को शुद्ध ही मानता है, तो सदाशिव हो जायेगा। द्रव्य नित्य

है? हाँ, द्रव्य नित्य है द्रव्यदृष्टि से, पर्याय–दृष्टि से नहीं है। पर्यायदृष्टि को तूने द्रव्यदृष्टि बना दिया, तो तू सांख्य हो जायेगा। ऐसी मिथ्यात्वों की चर्चा की है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने 'देवागमस्तोत्र' में इसका विस्तार किया है। 'भगवती–आराधना' में आचार्य शिवकोटि महाराज ने लिखा है कि पूरे आगम पर श्रद्धान है, पर एक–अक्षर पर अश्रद्धा है तो क्या कहोगे? मिथ्यादृष्टि। बोले–कैसे? बोले–अब अंदर का विषय है। ये ऐसे कि तुम्हारा मूलश्रद्धान डगमग है, अंदर की व्यवस्था डगमग है। हम आपके बीच रहेंगे, पूजन करेंगे, आराधना करेंगे, जिनवाणी सुनेंगे, सबकुछ करेंगे, परन्तु कहीं एक–तत्त्व की बात नहीं जमती है, भैया! जबतक तुम केवली नहीं बने हो। तबतक जो आगम में जमा है, उसी में जमे रहो। इससे मत हिल जाना, क्योंकि सुधारनेवाले तो लाखों आयेंगे।

एक विद्वान् आये, बोले–महाराज जी! मैं तो स्वर्ग जाऊँगा। अमुकसागर जी सर्वार्थसिद्धि चले जायेंगे। अमुकसागर जी तो लोकांतिक बन गये। महाराज जी! आप मान लो। भैया! अपने सामने तो जिनवाणी है और जबतक इसमें नहीं मिलता है, न तो मैं किसी देवी–देवता को मानता हूँ और न किसी के अनुभव को मानता हूँ। अनुभव–सिद्ध नहीं, ये आगम–सिद्ध होना चाहिये, और आगम–सिद्ध जो अनुभव है, स्वीकार है। कुन्दकुन्द स्वामी ने अनुभव शब्द का उपयोग किया है। 'समयसार' में लिखा है कि एकत्व–विभक्त का जो व्याख्यान करूँगा, स्वानुभव से और आगम से। स्वीकार है। क्योंकि एक तो आगम को सामने रखे हो, आगम के अनुसार चल रहे हो तो तुम्हारा अनुभव मुझे स्वीकार है। जो माँ बालक को जन्म दे रही है, वो अपनी पीड़ा का अनुभव सुनाये, तो सुनकर आप भी स्वीकार कर लोगे। जिस बांझ ने कभी बच्चे को जन्म ही नहीं दिया, वो आँखों में आँसू टपकाये कि भैया! प्रसूति की ऐसी पीड़ा होती है तो तुम कहोगे कि काहे हल्ला कर रही है? तुम्हें काहे की पीड़ा का अनुभव?

भो ज्ञानी! जिनवाणी अनुभव–सिद्ध है, आगम–सिद्ध है। पर अनुभव भी उसीका, जिसके प्रेक्टीकल है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी अध्यात्म–विद्या में पूरे लोक में क्यों विख्यात हो गये? विष्वास से और विश्वास वास्तव में चर्या से उत्पन्न होता हैं।

आचार्य गुणभद्र स्वामी ने 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ में लिखा है कि संपत्ति तो अल्प ही होती है, परन्तु धन बहुत होता है। कैसे? नदी में शुद्धपानी कितना? यदि बाहर के नाले का न मिले, तो नदी कभी बढ़ नहीं सकती। ऐसे ही तुम धनाढ्य बन बैठो, पर ध्यान रखना, शुद्धपानी तुम्हारे घर में नहीं है अर्थात् टैक्स आदि की चोरी, अन्य साधन से प्राप्त आय शुद्ध नहीं है। इसलिये शुद्धतत्त्व, शुद्धनीर, शुद्धसंपत्ति, ये कठिन है। शुद्धपानी, शुद्धवाणी, शुद्ध–उपयोग का अभाव मत कर देना, दुर्लभ है।

भो ज्ञानी! निश्चयनय की अपेक्षा से पाँच प्रकार के शरीर के अभाव होने से ये आत्मा अशरीरी है। निश्चयनय से नर, नारक आदि पर्यायों को छोड़ने और ग्रहण करने का अभाव होने से अविनाशी है। जब ग्रहण नहीं, त्याग नहीं है, तो विनाश किसका? इसलिये आत्मा अविनाशी है। युगपत्/एक–साथ परमतत्त्व में स्थित सहजदर्शन आदि कारण शुद्धस्वरूप हं, उसको जानने में समर्थ जो सहज– ज्ञानज्योति है, उस ज्ञानज्योति के माध्यम से समस्त संशय को नष्ट करने के कारण अतींद्रिय है। क्षायोपशमिक आदि जो विभाव है, मल को उत्पन्न करनेवाले हैं, उनका अभाव होने से विमल है। द्रव्यकर्म और भावकर्म का अभाव होने से जो आत्मा विशुद्ध है, वह लोक के अग्रभाग में सिद्धशिला पर विराजी है, सिद्धपरमेष्ठि है। वैसे ही यह संसारीजीव भी किसी नय के कारण से, अपेक्षा से शुद्ध है, सिद्धों के सदृश है, ऐसा जानना चाहिये।

एक व्यक्ति पूछ रहे थे कि जीव भव्य है अथवा अभव्य, इनमें कभी परिवर्तन होगा कि नहीं? भैया! जितने भव्य–आत्मा में गुण हैं, वे सभी गुण अभव्य में भी होते हैं। तो अभव्य किस विषय के कारण है? उसका कारण प्रकृति है कि उसके वे गुण कभी प्रकट नहीं होते। प्रकृति यानि स्वभाव। जैसे नीम की प्रकृति कड़वापन। यह सांख्यदर्शन वाली प्रकृति नहीं है। सांख्यदर्शन प्रकृति व पुरुष से ब्रह्माण्ड का संचालन मानता है। पर जैनदर्शन प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतंत्र मानता हैं। तो भव्यत्व–भाव, अभव्यत्व–भाव, जीवत्व–भाव ये पारिणामिक–भाव हैं। पारिणामिक–भाव किसे कहते है? जिसमें किसी भी कर्म का क्षय, उपशम, क्षयोपशम आदि नहीं होता है, वो पारिणामिक भाव होता है। भव्यत्व–भाव स्वभाव है, अभव्यत्व–भाव भी स्वभाव है।

भैया! आचार्यों ने लिखा है, विद्धानों ने लिखा है कि जो जिनवाणी सुन रहा है, देव, शास्त्र, गुरु की आराधना कर रहा है, वो भव्य है। सम्यग्दृष्टि–जीव नियम से भव्य होता है। अपन देव–शास्त्र–गुरु के चरणों में बैठे हैं, तो हमारी भवितव्यता निर्मल है। भव्य यानि वह उस स्त्री के तुल्य है, जिसको पति का संयोग है और संतान–उत्पत्ति की योग्यता भी है, वो भव्य है। एक वह स्त्री है, जिसके पति का वियोग हो चुका है, परन्तु पुत्र–उत्पत्ति की क्षमता है, वो बांझ नहीं है, वो दूरान– दूर भव्य है, क्योंकि योग्यता तो है, पर उसके लिये संयोग/निमित्त नहीं मिलेगा। अभव्य तो बांझ स्त्री के समान है। इसको निमित्त भी मिल जायेंगे, लेकिन कभी संतान की उत्पत्ति नहीं होगी। इसप्रकार समझना। दूरान–दूर में अंतर तो है, परन्तु अभव्य शब्द से ये मान कर चलो कि कभी भी योग्यता प्रकट नहीं होगी।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **निश्चय और व्यवहारनय की उपादेयता।**

एदे सव्वे भावा, ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु।
सव्वे सिद्धसहावा, सुद्धणया संसिदी जीवा।।49।।

संस्कृत छाया : **एते सर्वे भावा व्यवहारनयं प्रतीत्य भणिताः खलु।**
सर्वे सिद्धस्वभावाः शुद्धनयात् संसृतौ जीवाः।।49।।

अन्वयार्थ : (एते सर्वे भावा) ये सभी भाव (खलु) निश्चय से (व्यवहारनयं प्रतीत्य भणिताः) व्यवहारनय की अपेक्षा से कहे गये हैं (शुद्धनयात्) किन्तु शुद्धनय से (संसृतौ) संसार में (सर्वे जीवाः) सभी जीव (सिद्धस्वभावाः) सिद्ध स्वभाव वाले हैं।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने पूर्व गाथा में कहा था कि यह आत्मा अशरीरी है, निर्मल है और सम्पूर्ण विकारी–भावों से परे है। लोक के अग्रभाग पर सिद्धालय में विराजमान जैसी आत्मा है, वैसी आत्मा संसार–अवस्था में है, शुद्ध– द्रव्यार्थिकनय से, शुद्ध–निश्चयनय से। इस शब्द को गौण मत कर देना। गौण करो, तो अभाव मत कर देना। कभी मुख्यता, कभी गौणता होती है कथन में, परन्तु दृष्टि में गौण का अभाव मत कह देना । निश्चय की प्रधानता से जब कथन होता है, तो व्यवहार गौण होता है। जब व्यवहार की अपेक्षा कथन होता है, तो निश्चय गौण होता है, लेकिन किसी नय का अभाव नहीं होता है। यदि अभाव कर दोगे, तो जिसकी प्रधानता से आप कथन कर रहे हो, वो भी समाप्त हो जायेगा। निश्चय और व्यवहार दोनों किनारे हैं, मध्य में धर्म बह रहा है।

आचार्य श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि द्रव्यदृष्टि द्रव्य, गुण और पर्याय है। शुद्ध–द्रव्यदृष्टि से संसारीजीव और सिद्धजीव सदृश हैं परन्तु हम भिन्नदृष्टि से देखें तो, संसारी तो संसारी है और सिद्ध ही सिद्ध है।

शुद्धाशुद्धविकल्पना भवति सा मिथ्यादृशि प्रत्यहं,
शुद्धं कारणकार्यतत्त्वयुगलं सम्यग्दृशि प्रत्यहम्।
इत्थं यः परमागमार्थमतुलं जानाति सद्दृक् स्वयं
सारासारविचारचारुधिषणा वन्दामहे तं वयम्।।कलश 72।।

इस छंद को, निश्चय व व्यवहार दोनों को संभल कर सुनना। क्योंकि ये शुद्धभाव–अधिकार है। आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि ये शुद्ध है, ये अशुद्ध है, ये कल्पना तो

मिथ्यादृष्टि जीवों में सदैव हुआ करती है। एक कहता है कि ये शुद्ध ही है। दूसरा कहता है कि ये अशुद्ध ही है। व्यवहार से अशुद्ध कहना, निश्चय से शुद्ध कहना, उसे मिथ्यादृष्टि मत कह देना। जो शुद्ध ही मान बैठा है, जो अशुद्ध ही मान बैठा, है उसके लिये कहना मिथ्यादृष्टिं।

जो जीव निश्चय की बात को सुन करके संसारी–जीव को शुद्ध ही मान बैठा है संसार–अवस्था में, वो मिथ्यादृष्टि है। जो जीव व्यवहारदृष्टि को समझ करके और आत्मा की त्रैकालिक सत्ता पर ध्यान नहीं दे रहा है, वो आत्मा को अशुद्ध ही मान बैठा है, वो मिथ्यादृष्टि है। जो जीव शुद्ध–अशुद्ध को समझे, वो मिथ्यादृष्टि नहीं है। जो शुद्ध को, शुद्ध–निश्चयनय के कथन को शुद्ध मान बैठे, वो मिथ्यादृष्टि है। आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि जो एकान्त–अशुद्ध मान रहा है, वो भी मिथ्यादृष्टि।

भो ज्ञानी! कारण, कार्य तत्त्व हैं। दोनों शुद्ध हैं। शुद्धदृष्टि से कारण, कार्य शुद्ध है, ऐसा हमेशा सम्यग्दृष्टि सोचता है। सम्यग्दृष्टि–जीव ऐसा परमागम के अर्थ को स्वयं ही जानता है। जो सार व असार को जानता है, जो सुन्दर बुद्धि से युक्त है, मैं उसे नमस्कार करता हूँ। ऐसा पद्मप्रभमलधारि देव कलश में कह रहे हैं।

ज्ञानी आत्माओ! संयमी कभी असंयमी की वंदना नहीं करता है। यदि करता है तो अनंत–संसारी है, ऐसा कुन्दकुन्द स्वामी ने 'अष्टपाहुड' में लिखा है। यहाँ चरणानुयोग को समझो। एक अव्रती जीव आया, आपने उसका बहुमान, सत्कार, अतिसत्कार कर दिया तो हे मुनिराज! तुम असंयम में संलग्न हो रहे हो क्या? तुम्हें इससे मिलेगा क्या? आप कहोगे कि महाराज जी ने ये तक नहीं कहा कि बैठ जाओ। भैया! मैं कैसे कहता आपसे? मैं आपसे कहता तो आप धड़ाम से बैठ जाते, तो परिणाम क्या होता? मुनिराज की आदान–निक्षेपण समिति में दोष लग गया। ये चरणानुयोग है।

भो ज्ञानी! जो कार्य दूसरे के करने योग्य था, उसे स्वयं करना, उससे आपको साम्परायिक आस्रव होगा। असंयमियों से संपर्क बनाके चलना और संयमियों से दूर रहना, ये साम्परायिक आस्रव का हेतु है। ये चरणानुयोग यतियों का लोकाचार नहीं है, ये लोकोत्तराचार है। ये चर्चा जन–सामान्य के बीच में हम करेंगे, तो आप कहेंगे–महाराजश्री! मुझे तो व्यवहारिकता नहीं दिख रही है। व्यवहारिकता देखें, कि व्यवहार देखें? समझिये आप लोग, जिसे व्यवहार मान कर बैठे हो, वो व्यवहार नहीं, व्यवहारिकता है।

व्यवहार वो है जिसे आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने 'समयसार' में लिखा है, हे जीव! दर्शन–ज्ञान चारित्र व्यवहार है। यदि तुम एकान्त की बातें करते हो, तो तुम न व्यवहार में हो, न निश्चय में हो।

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो।। स. सार 7।।

स्व–स्वरूप में एकता–रूप लीनता, ये निश्चय है। जो ये व्यवहार है, वो रत्नत्रय धर्म है। स्व–स्वरूप में लीनता निश्चय है। निश्चयनय से ज्ञान, दर्शन, चारित्र नहीं है। ज्ञानी तो एक ज्ञायक ही है। इसलिये शुद्ध कहा गया है।

भो ज्ञानी! पहले वास्तव में भावना बनती है। जिसे आप भाव कह रहे हो, ठीक है, परन्तु वास्तव में 'भाव' संज्ञा जिसे दी जाती है, उसे अध्यात्म में स्वरूप– लीनता ही कहते हैं। भाव यानि स्वरूपलीनता। पुनः कलश पर चलें, तो सार–असार को जानने वाले, ऐसे श्रेष्ठ, बुद्धिशाली सम्यग्दृष्टिजीव को पद्मप्रभमलधारि देव नमस्कार कर रहे हैं। ये छठवें–सातवें गुणस्थानवर्ती जीव को प्रधानता से समझना। आचार्यभगवन् सम्यक्त्व को नमस्कार कर रहे हैं। यहाँ 'जीव' शब्द दिया है। यहाँ सामान्य कथन कर रहे हैं। जब आप विशेष लगायेंगे, तो आप त्यागी, व्रती जीव में ही घटित करना, अव्रती जीव में घटित नहीं करना।

आचार्य गुणभद्र स्वामी 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ में लिख रहे हैं कि जिस जीव ने बिना भोगे ही भोग को छोड़ दिया, ऐसे उस कुमार–ब्रह्मचारी को नमस्कार हो। कुमार–ब्रह्मचारी किसे ग्रहण करोगे आप? कोई ब्रह्मचारी बालक नहीं, बाल ब्रह्मचारी मुनिराज।

आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी ने लिखा है कि एक सौ वर्ष पुरानी दीक्षित आर्यिका और एक मुहूर्त पूर्व के दीक्षित मुनिराज, कौन किसकी वंदना करे? ये आर्यिका तो सौ–वर्ष पुरानी है, यदि ऐसी भावना से युक्त होकर कोई मुनि आर्यिका को नमस्कार करता है, तो आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि तू स्त्री की वंदना कर रहा है, तू मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि तूने पद का ध्यान नहीं रखा। आगम स्पष्ट कर रहा है कि कभी भी गृहस्थ की वंदना योगी न करे। इसे अहम् मत समझना। इसे आगम–व्यवस्था समझना।

भो ज्ञानी! कितने जीवों के मन में आता है कि ये ही कहते हैं, ग्रन्थकर्ता तो कुछ कह ही नहीं रहे हैं। आप कह रहे हैं अपनी तरफ से। यहाँ तक होता है कि जिन आचार्य के प्रति अगाध श्रद्धा बन जाये, तो वे दूसरे लोगों की बात भी मानते नहीं हैं। मैंने एक सज्जन से कहा–'आलाप–पद्धति' में ऐसा लिखा है। बोले–किन आचार्य का है तथा कुन्दकुन्द स्वामी ने कहाँ लिखा है? मैने कहा–भाई! वे भी तो आचार्य हैं। जिस बात को कुन्दकुन्द स्वामी ने सूत्र में लिखा, उसको अमृतचन्द्रस्वामी, जयसेन स्वामी ने स्पष्ट कर दिया। बोले–नहीं, जो कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है, मात्र वो ही मैं मानता हूँ। मैंने कहा–तो भाई!

कुन्दकुन्द स्वामी से पूछो कि पूजा कैसे करना चाहिये? सो वे बता नहीं रहे, क्योंकि उनका विषय अध्यात्म का है। जो विषय 'समयसार' में है, आप पूछो। बोले–अष्टमूलगुण कैसे पाले जाते हैं? कहा–'समयसार' में इनका वर्णन नहीं है। मैं तो शुद्ध–बुद्ध हूँ। कुन्दकुन्दस्वामी ने कहाँ लिखा कि पानी छान कर पियो! तो बिना छना पी रहा है और शुद्ध, बुद्ध बना बैठा है, क्योंकि हम तो कुन्दकुन्द स्वामी को मान रहे हैं।

भो ज्ञानी! व्यवहार में भी अपन देखते हैं कि जिस अध्यापक का जो विषय होता है, वो ही तो अध्ययन कराता है। अब इतिहास वाले अध्यापक से आप वनस्पति शास्त्र का प्रश्न करें, भौतिकी का प्रश्न करें, तो वे नहीं बतायेंगे। गणित वाले के पास जाकर आप कहें कि इंगलिश पढ़ा दो, तो नहीं पढ़ायेंगे, क्योंकि अपना–अपना विषय है। इसीप्रकार से जिस अनुयोग का जो विषय है, उस अनुयोग से प्रश्न करोगे तो आपको बहुत अच्छा उत्तर मिलेगा। द्रव्यानुयोग भी विशाल है, करणानुयोग भी विशाल है। जिस बात को करणानुयोग ने कह दिया, अब कोई अनुयोग उसको मेटने वाला नहीं है। द्रव्यानुयोग कुछ करने को नहीं कहता है, वह रूप की बात करता है।

किस जीव के कौनसी, कितनी कर्म की प्रकृतियों का बन्ध हो रहा है, किस–गुणस्थान में कितनी प्रकृतियाँ हैं। लोक की नाड़ी कैसी है? लोक में कैसी– कैसी जीवराशि है? इन सबका गणित निकालो। इससे क्या लाभ है? इससे महान लाभ है। ये संस्थान–विचय नाम का धर्म्यध्यान है। ये सब विषय करणानुयोग के हैं। ज्योतिष, खगोल, तिथियाँ आदि जो सब चल रही हैं, वे सब आपके गणित पर आधारित हैं। विश्व में जो शून्य का उपयोग हुआ है, वो जैनदर्शन से हुआ है। कक्षा में पढ़ते थे तो एक 'शून्य' पाठ था। उसमें स्पष्ट लिखा था कि शून्य का अविष्कार जैनदर्शन से है। जितने भी वैज्ञानिक हैं, उन्होंने कहा है कि सत् का विनाश नहीं होता। इसको जैनदर्शन अनादि से कहता आ रहा है। जैसे–जैसे विज्ञान का विकास बढ़ेगा, वैसे–वैसे जैनदर्शन का प्रचार बढ़ेगा। रासायनिक क्रिया, अणु–परमाणु आदि की चर्चा करनेवाले विश्व में मात्र दो दर्शन हैं–पहला जैनदर्शन और दूसरा वैशेषिक।

भो ज्ञानी! पुद्गल के माध्यम से आत्मा को समझा रहे हैं और आत्मा के माध्यम से पुद्गल को समझा रहे हैं। देखो आचार्यों की शैली,जब अजीव अधिकार का कथन किया, तो वहाँ आत्मा से पुद्गल को समझाया और जब जीव अधिकार का कथन किया तो पुद्गल से आत्मा को समझाया। परन्तु दोनों अभिन्न होकर भी भिन्न हैं।

अभिन्न दिखा दिया, भिन्न दिखा दिया। ये सभी व्यवहारनय से कहे गये हैं। निश्चय से सभी जीव सिद्धस्वभावी हैं।

'नियमसार' में भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी 49वीं गाथा में कह रहे हैं–शुद्धनय से संसारीजीव भी शुद्ध हैं, सिद्धस्वभाववाले हैं। परन्तु वास्तव में संसारीजीव अशुद्ध हैं। महाराज जी! आप बार–बार अशुद्ध पर जोर दे रहे हैं, क्यों? मेरा उद्देश्य आपको अशुद्ध करना बिल्कुल नहीं है। मेरा आपको अशुद्ध बनाने का उद्देश्य नहीं है। जब अशुद्ध को अशुद्ध मानते रहोगे और शुद्ध को शुद्ध मानते रहोगे, तो अशुद्ध से शुद्ध बनने का आप पुरुषार्थ करोगे। उद्देश्य आप निर्मल समझो। मुझे अशुद्ध से राग नहीं है, परन्तु मैं अशुद्ध को शुद्ध देखना चाहता हूँ। पर अशुद्ध में शुद्ध को मानना नहीं चाहता। भैया! अशुद्ध में शुद्ध को देखो, ये तो शुद्धदृष्टि हो गई और अशुद्ध में शुद्ध को मान लिया, तो ये मिथ्यादृष्टि हो गई।

भैया! बुद्धिमानों को, विद्वानों को, अज्ञानियों को समझाया जा सकता है, परन्तु अहंकारियों को, हठग्राहियों को कभी नहीं समझाया जा सकता है। आगम की बात को श्री और स्त्री पर मत करना। जहाँ देखो वहाँ प्रचार की दृष्टि से लोग स्त्री को खड़ा कर देते हैं। वस्त्रालयों में देखो, पुतलिया खड़ी हुई हैं और माध्यम किसका है? श्री का है। हम लोग भोजपुर गये थे आचार्य विद्यासागर जी महाराज के दर्शन करने। आचार्यश्री ने चर्चा के उपरान्त अन्त में एक दो नहीं, तीन बार कहा–भैया! ध्यान रखना, श्री और स्त्री, इन दोनों से बचके रहना । यदि योगी दोनों से दूर रहे, तो तुम देखना, साधु कभी सामान्य–विवाद में नहीं आ सकता। जहाँ तुमने दोनों को महत्व देना शुरू किया, बस, साधना समाप्त।

भैया! मनुष्यपर्याय का बंध किया, बंध करने के बाद मायाचारी कर ली, तो स्त्रीवेद में चले गये। वेद का परिवर्तन तो सामान्य–अवस्था में होता रहा है। कभी पुरुष से स्त्री और स्त्री से पुरुष होते रहते हैं जीव। परन्तु स्त्रीवेद का छेद तभी होगा, जब आप उपचार से महाव्रती आर्यिका बनेंगे। सम्यग्दृष्टिजीव स्त्रीवेद में नहीं जाता। स्त्रीवेद का छेद होने पर अब कभी भी स्त्री नहीं बनेगा। सम्यग्दृष्टिजीव स्त्रीपर्याय में नहीं जन्म लेगा । इतने उत्कृष्ट–पथ पर पहुँच करके भी जाति व धर्म न बदला तो सिद्धान्त क्या कहेगा आपसे? मात्र वेद की स्त्री नहीं, भाव की स्त्री को भी पकड़ों। वेद से तुम सब पुरुषवेदी, पर भाव से स्त्रीवेदी हो सकते हो। तीनों भाववेद नौवें गुणस्थान तक चल सकते हैं। तीनों वेदों से मोक्ष होता है। पर ये ध्यान रखना कि द्रव्यवेद तो पुरुष का ही होगा। भाववेद की अपेक्षा, सर्वाधिक सिद्ध बनने वाले पुरुषवेदी, उससे कम स्त्रीवेदी, उससे कम नपुंसकवेदी हैं।

भैया! ज्ञान तो जरूर करते रहें इस दृष्टि से कि कहीं ये अपने–आपमें रम न जायें। ये जीव जिस पर्याय में पहुँचता है, वहीं वास्तव में रम जाता है। आप वेदन करना कि जब आप अपने नगर को छोड़कर अन्य कहीं निवास करने लगे, तो प्रथम दिन सोये नहीं, अटपटा लगा, फिर धीरे–धीरे वही अच्छा लगने लगा।

यो यत्र निवसन्नास्ते, स तत्र कुरुते रतिम्।
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति।। इष्टोपदेश 43।।

भैया! अपना पुण्य मानो, कि कम–से–कम जीवों के बध से बचे हैं। इसे क्यों तुम छोटा मानते हो? क्यों लघु मानते हो? कितनी क्रूरता मनुष्य के अन्दर है। सुबह से जागो, वही जीवहिंसा का व्यापार है। तुम इतने पुण्यात्मा हो कि तुम जिस मोहल्ले में हो, जहाँ जैनमंदिर है, जहाँ धर्मात्मा लोग रह रहे हैं। इसी नगर में ऐसे मोहल्ले मिलेंगे आपको, जहाँ तुम निकल नहीं सकते हो।

'अध्यात्म–अमृतकलश' में अमृतचन्द्र स्वामी ने लिखा है–हे प्रमादी! तू स्वेच्छानंदी होने के लिये स्वभाव की बात कर रहा है, तो षट्–आवश्यक का पालन कर। तू स्वछन्दी होने के लिये स्वभाव नय की बात करने लगता है और जब स्वभाव में गया ही नहीं है, तो प्रमाद कर रहा है। तू प्रतिक्रमण कर, षट्– आवश्यक का पालन कर।

भो ज्ञानी! विभाव–पर्यायें तो आती–जाती रहती हैं, पर शुद्धपर्याय तो त्रैकालिक विराजती है। जैसे किसी जीव ने देवपर्याय का बन्ध कर लिया, तो आपके पास देवपर्याय है क्या? यदि मानते हो, तो एक द्रव्य में दो पर्यायें एकसाथ कैसे हैं? फिर ये कहना पड़ेगा कि एक घंटे देववत् अनुभव करता होगा, फिर एक घंटे मनुष्यवत् अनुभव करता होगा। जबकि ऐसा नहीं होता है। एक–समय में एक–जीव के एक–पर्याय होती है, और वैसी होती है, जैसा जीव होता है और जीव वैसा ही होता है, जैसी पर्याय होती है। जो भैया अभी गये हैं, उनकी पर्याय स्वतंत्र है और आपकी पर्याय स्वतंत्र है। जैनदर्शन इस बात को मानता है। यदि नहीं मानोगे, तो जीवत्व की सिद्धि नहीं होती है। व्यंतर आदि को जैनदर्शन मानता है और नहीं मानोगे तो जीवत्व की सिद्धि नहीं होती। आचार्यों ने जीवत्व की सिद्धि नास्तिकों को इसी से कराई है, जो आत्मा को नहीं मानते और आत्मा के पुनर्जन्म को भी नहीं मानते हैं।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **हेय के त्याग और उपादेय के ग्रहण का कथन।**

पुव्वुत्तसयलभावा, परदव्वं परसहावमिदि हेयं।
सगदव्वमुवादेयं, अंतरतच्चं हवे अप्पा।।50।।

संस्कृत छाया : **पूर्वोक्तसकलभावाः परद्रव्यं परस्वभावा इति हेयाः।**
स्वद्रव्यमुपादेयं अन्तस्तत्त्वं भवेदात्मा।।50।।

अन्वयार्थ : (पूर्वोक्तसकलभावाः) पूर्वोक्त सभी भाव (परद्रव्यं परस्वभावाः) परद्रव्यरूप परस्वभाव हैं (इति हेयाः) इसलिये हेय हैं (अंतस्तत्वं आत्मा) चैतन्य–तत्वरूप आत्मा (सकद्रव्यं उपादेयं भवेत्) स्वकीयद्रव्य है, इसलिये उपादेय होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने पूर्व गाथा में संकेत दिया था कि यह जीव व्यवहारनय से विभाव–पर्यायों से युक्त है और निश्चयनय से शुद्ध–पर्याय से युक्त है। परन्तु परमशुद्ध निश्चयनय से पर्याय के कथन का भी अभाव है। परमशुद्ध निश्चयनय से न कहीं शुद्ध की चर्चा है, न कहीं अशुद्ध की चर्चा है और जो चर्चा है, वो वास्तव में व्यवहार है। चाहे शुद्ध की चर्चा करें, चाहे अशुद्ध की चर्चा करें, दोनों ही चर्चायें व्यवहार आश्रित हैं।

इस प्रकार आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि व्यवहारदृष्टि से ये संसारी–पर्यायें संसार में हैं और निश्चयदृष्टि से संसारी–जीवों और सिद्धों में कोई अंतर नहीं है।

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्यामिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं परविरहितमन्तः पश्यतांनैष किञ्चित्।। अ.अ.क 5।।

'अध्यात्म–अमृतकलश' में आचार्यभगवन् अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि प्राथमिक–अवस्था में जिन्होंने यहाँ पैर रखा है यानि प्रारंभिक जो शिष्य हैं, उनके लिये यह संकेत कर रहे हैं कि उनके लिये व्यवहारनय आलम्बन है, परन्तु फिर भी निश्चय से एक चैतन्य–चमत्कार ही वास्तविक है। जो स्वयं की चेतन–आत्मा को देख रहे हैं, उनके लिये व्यवहार कुछ नहीं है और जबतक चैतन्य–भगवान् नहीं दिखे हैं, तबतक व्यवहार सबकुछ है, हस्तावलम्बन है। ये व्यवहार संसार में रुलते समय अशुभ से बचने का हस्तावलम्बन है और जब तू बच गया, अपने चैतन्य– स्वरूप में लीन हो गया, अब नौका की कोई आवश्यकता नहीं, अब तो पार हो ही गया।

'समयसार' की गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं–

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं, तं सुद्धणयं वियाणाहि।। स0सार 14।।

जो शुद्ध के योग्य है, उनको शुद्ध का ही उपदेश करें और जो शुद्ध की भूमिका तक नहीं पहुँच पाये हैं, तुम उनको व्यवहार का उपदेश दो। परमार्थ की सिद्धि के लिये दृष्टि रखना, व्यवहार में लगाने के लिये नहीं। ध्यान रखना जीवन में, वही व्यवहार 'व्यवहार' है, जिसमें परमार्थ है। जिस व्यवहार में परमार्थ नहीं, वह व्यवहार 'व्यवहार' नहीं। तात्पर्य जिसमें कल्याण निहित हो, वह व्यवहार है। जिसमें कल्याण ही नहीं है, वो व्यवहार भी नहीं है।

शुद्धनिश्चयनयेन विमुक्तौ, संसृतावपि च नास्ति विशेषः।
एवमेव खलु तत्त्वविचारे शुद्धतत्त्वरसिकाः प्रवदन्ति।। कलश 73।।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में कह रहे हैं कि शुद्ध–निश्चयनय से मुक्ति है। जो निश्चय से तत्त्व के विचार में लगे हैं, जो शुद्धतत्त्व के रसिक हैं, ऐसे ज्ञानीजन कहते हैं कि संसार में और सिद्धालय में कोई विशेष अन्तर नहीं है, क्योंकि जीव अपनी शुद्धदृष्टि से देख रहा है।

मनीषियो! योगीन्दुदेव कह रहे हैं कि ध्यान में साधक इतना लीन होता है कि उसके नासिका की श्वासें बन्द हो जाती हैं और स्वयं दशमद्वार से उसकी श्वासें निकलना प्रारम्भ हो जाती हैं। और जिस जीव के दशमद्वार से श्वास निकली है, वो दशमद्वार से प्राण निकल जाये, तो नियम से वह जीव सर्वार्थसिद्धि आदि अवस्था को ही प्राप्त करता है। जिसकी उर्ध्वगति होती है, उसके मस्तिष्क से प्राण निकलते हैं। जो जीव गहरी साधना में बैठा है, उसके लिये प्रपंच नहीं चाहिये। बिल्कुल सहज और साधना में भी क्लेश नहीं हो। साधना में जबरदस्ती कभी नहीं करना। वह मोक्ष की चिन्ता को भी छोड़ देता है, क्योंकि जो साधुता की एकाग्रता है, वो परम आनंद है और यही परमानंद भावमोक्ष है। अरहन्त–अवस्था में यथाख्यात–चारित्र ही तो भावमोक्ष है। जिसको भाव–मुक्ति मिल चुकी है, उसे द्रव्य–मुक्ति की कोई चिन्ता नहीं और करना भी नहीं चाहिये, क्योंकि मुझे आनंद से प्रयोजन है, क्षेत्रों से कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिये आठ वर्ष दो अंतर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटि तक तेरहवें गुणस्थान में जीव विचरण कर सकता है। धन्य हों वे आठवर्ष के मुनिराज केवली भगवान्।

किसी जीव ने एक भव पूर्व नहीं, पहले कर्मभूमिया मनुष्य होगा और कर्म– भूमि अवस्था में उस जीव ने तीर्थंकर/केवली के पादमूल में क्षायिक–सम्यक्त्व प्राप्त किया और क्षायिक–सम्यक्त्व प्राप्त करके निर्ग्रन्थ मुनिदशा को प्राप्त होगा और स्वर्ग जाकर सर्वार्थसिद्धि आदि को प्राप्त होगा। अब सम्यक्त्व तो छूटने वाला नहीं है, क्योंकि क्षायिक है। वहाँ से च्युत होकर पुनः चतुर्थकाल में उत्पन्न हुआ। सम्यक्त्व तो जाज्वल्यमान है पहले से ही। सम्यक्त्व की योग्यता आठ वर्ष के पहले होती नहीं, इसलिये आहारचर्या में छोटे बच्चों से आहार नहीं लिया जाता। जबतक आठवर्ष का नहीं होता, तबतक उससे आहार नहीं लिया जाता।

आठ वर्ष का बालक जैसे हुआ, वो पहुँच जाता है आचार्यभगवान् के चरणों में दीक्षा लेने। अब एक मुहूर्त दीक्षा का और एक मुहूर्त ध्यान का, केवलज्ञान हो गया। धन्य हो, केवली बनें तो ऐसे सब बनें, कम–से–कम उनके प्रभाव से धर्म की प्रभावना तो होगी। अब बताओ भैया! स्वयं का कल्याण तो हो जायेगा, लेकिन तुमसे मिला किसी को कुछ नहीं, केवलज्ञान हुआ अन्तर्मुहूर्त में और निर्वाण हो गया। मूककेवली, अन्तःकृत केवली, इन सबकी ये ही दशा होती है। अंतःकृत यानि अंतर्मुहुर्त में केवलज्ञान के पश्चात मोक्ष। इसीलिये ऐसी साधना करना कि मेरा कल्याण तो सुनिश्चित है, अन्य भव्यों का भी कल्याण हो जाये। कभी केवली बनो, तो इस दृष्टि से ऐसी निर्मल साधना करना। ज्यादा बोलोगे, तो मूककेवली बनना पड़ेगा। इसलिये कम बोलना। मौन साधना करो, आत्मसाधना करो और जीवन में बोलो तो ऐसे बोलो कि सर्वांग से बोलो, इस मुँह से क्या बोलना।

भो ज्ञानी! केवली कहाँ से बोलते हैं? उनकी देशना सर्वांग से खिरती है। आचार्य समंतभद्रस्वामी ने तो वचन ही स्वीकार किया है। जयसेन स्वामी ने सर्वांग स्वीकार किया है। ठीक है, अपने लिये दोनों दिगम्बर–आचार्य हैं। दोनों की बात स्वीकार है। समंतभद्र स्वामी ने कहा है–भगवन्! आपके वचन संपूर्ण भाषाओं से युक्त हैं। तो ऐसी वाणी उसी जीव की है, जिन्होंने शुद्ध–आत्मतत्त्व का रस लिया है और कैसे लिया है? कोई विकल्प मोक्ष का नहीं है। कोई विकल्प संसार का नहीं है। अब तो साधना में लगे हुए हैं, पर साधना का विकल्प नहीं है। बस, साधु का पुरुषार्थ साधना ही है। मोक्ष तो नियम से मिलेगा यदि भव्य है तो। ठीक है? क्योंकि अभव्य भी साधना कर लेता है, बहुत उत्कृष्ट साधना कर लेता है, तभी तो ग्रैवेयक पहुँच जाता है। लेकिन यहाँ भव्य की बात कर रहे हैं।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्दस्वामी गाथा संख्या 50 में कह रहे हैं द्रव्यार्थिक की महिमा, राग–द्वेषभाव पौद्गलिक हैं, जबकि चेतन से हुआ है। राग–द्वेषभाव को भी आचार्यमहाराज पौद्गलिक कह रहे हैं, क्योंकि जड़–कर्मों के सहयोग के कारण हुये हैं, इसलिये इनको पौद्गलिक कह दिया है उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से। रागादिक–भाव को पौद्गलिक कह दिया, क्योंकि ये आत्मा का वस्तुस्वभाव नहीं है। इस दृष्टि से परद्रव्य है। ये परस्वभाव है, परद्रव्य है। परन्तु एक मेरा स्वद्रव्य ही उपादेय है। तो क्या बचा? ज्ञान–दर्शनस्वभावी आत्मा।

भैया! योगी ध्यान में बैठा। कुछ समय पूर्व जब सम्राट थे, तब राज्य अपना दिख रहा था। उस राज्य में स्वजातीय भी थे, विजातीय भी थे, सबको अपना मानते थे। परन्तु जब वैराग्य को प्राप्त हुए, तो भवन भी अपना नहीं दिख रहा।

एक सज्जन आये, बोले–महाराज! वर्षों से लिया ब्रह्मचर्य व्रत, इसलिये घर छोड़ दिया, क्षेत्र में रहता हूँ, कुटुम्ब–परिवार भी छोड़ दिया है, अब बन्ध किस बात का हो रहा है? मुझे पता ही नहीं चल रहा है। स्त्री तो छोड़ दी थी, घर भी छोड़ दिया था। पर बाल कहाँ छोड़े थे? तुमने बाला छोड़ी थी, पर बाल नहीं छोड़े थे। इसलिये पकड़ो तत्त्व को। बाला को छोड़ने के बाद बाल भी छोड़े जाते हैं। इसलिये केशलुंचन होता है। कोई मेंहदी लगा रहा है, कोई खिजाब लगा रहा है, ये सब क्यों? यह राग भी उतना ही बड़ा है, जितना बड़ा घर, कुटुम्ब आदि से था। इसलिये क्षेत्र में पहुँचकर भी तुम क्षेत्र में नहीं पहुँच पाओगे, ये गारन्टी है।

भो ज्ञानी! मुनियों के 28 मूलगुणों में अदंत–धावन नाम का मूलगुण है। मुनि कभी मुख में अंगुलि नहीं डालते। सच्चा वीतरागी योगी कभी मुख में अंगुलि नहीं डालता, मूलगुण है। दाँत काले–कलूटे पीले से दिखेंगे। किसी को राग ही न हो और स्वयं को राग न हो। अब सोचें, कि जिसे हम छोटी–छोटी बातें मानते हैं, राग उससे हटा कि नहीं हटा? नख, दाँत, केश इन तीनों से राग हटा। रोज बाल बन रहे, रोज सेटिंग हो रही है।

भो चेतन! बस, मैं तो इतना जानना चाहता हूँ कि तुम जीवन के क्षण कितने, किसको दे रहे हो। संयम के मार्ग पर आकर भी तुम्हारा जीवन का कितना समय संयम में गया, वंदना को गया, सामायिक में कितने देर तक रहे आप। भोजन आदि दैनिकक्रिया का उद्योग तो तुम 24 घंटे यहाँ भी करते थे शरीर के श्रृंगार में, परंतु तुम्हारा समय समयसार में नहीं गया। आप जो क्रिया यहाँ करते थे, वो वहाँ कर रहे, तो सारा–समय तुम्हारा यहीं

का गया। मात्र जितने में तुमने धर्मसाधना की है, उतने में समय तुम्हारा समयसार में गया। संयम में कितना समय, संयम के काल के बाद आहार में कितना समय गया, कितना निहार में गया, कितना लोगों से चर्चा में गया, कितना भक्तों के बीच में गया? ये सब जोड़ लगाइये और साधना के लिये कितना मिला, जिसके लिये तुमने सबकुछ छोड़ा? इसे व्यवहार जिनवाणी भी नहीं कहती। उसे व्यवहार मत कहो, उसे व्यवस्था कहो। क्योंकि सविकल्प–साधना का नाम व्यवहार और निर्विकल्प–साधना का नाम निश्चय है। सविकल्प–साधना यानि विकल्प मात्र। मैं प्रतिक्रमण करूँ, मैं स्वाध्याय करूँ, मैं जाप करूँ, ये व्यवहार चल रहा है। तुम्हारी जो परमात्मभूत निर्विकल्प दशा है, उसका नाम है परमार्थ और निर्वाण है उसकी प्राप्ति।

भैया! जिसे हम व्यवहार कह रहे हैं, वो वास्तव में लोकव्यवहार है। महाव्रतों का पालन तो व्यवहार है। अब यदि आपने व्यवस्था से हटकर गमन किया, समिति से बिछुड़ करके गमन किया, तो वो तुम्हारा व्यवहार नहीं बचा, व्यवस्था बची। 28 मूलगुणों से युक्त काम चल रहा है, व्यवहार–चारित्र चल रहा है और 28 मूलगुणों से एक भी मूलगुण से हटके काम चल रहा है, वो व्यवस्था चल रही है। हमने आपसे कहा कि आओ, भैया! बैठो और उसमें आप बैठ गये, परिमार्जन तो किया नहीं, बैठ गये। जो वहाँ जीवों का बध हुआ, तो अनुमोदना तो होगी हमारी। हमने आचार्यश्री से कहा कि महाराज! ये श्रावक बहुत गाड़ियाँ लेके घूमते हैं। अब ये चातुर्मास के काल में बड़ी विडम्बना होती है कि हम तो एक आदमी भेज देंगे अनुमति के लिये और जा रहे हैं सौ। हम मना नहीं करेंगे, लेकिन उपत के हम नहीं कहेंगे। एक आदमी से भी काम चल सकता है, अनुमति ही तो मँगाना है। चातुर्मास मैं इसलिये कर रहा हूँ कि अनंतजीवों की रक्षा हो और हम आपके पास भेज रहे हैं बसों को। इसकी हिंसा का दोष किसको जायेगा? ये कौनसी मुनिचर्या है? हमने विदिशा में चातुर्मास स्थापित कर लिया। अब हम यहाँ से कहें कि अमुक जगह से अमुक व्यक्ति को बुलाकर लाओ, उसमें कितनी हिंसा होगी? चातुर्मास का तुम्हारा उद्देश्य क्या था बताइये? प्रभावना करना था, कि अहिंसा का पालन करना था? अभी तो व्यवहारचारित्र का पता नहीं है लोगों को, निश्चय की तो बात छोड़ो। फिर जो गाड़ियाँ हम तुमको प्रेरित कर– करके भेजें आचार्यमहाराज के पास। लोगों को हमारी बातें तो लगें कड़वी, परन्तु लगें तो लग जायें कड़वी। वास्तव में श्रावकों का बहुत खर्च बच जाये और हिंसा बच जाये। आगम में लिखा है कि गुरु–आज्ञा सात बार मँगाना चाहिये। एक

नहीं, सात बार मँगाना चाहिये। वाचना कर रहे यहाँ तुम नियमसार की, गुरु से आज्ञा ली, कि नहीं? ठीक है भैया! अनुमति ले आओ! वो भी कब तक? जब चातुर्मास नहीं चल रहा है। हम लोग तो ऐसा करते हैं जैसे पुस्तक/ग्रन्थ चाहिये तो स्थापना के पहले ही रख लो। अब इसके बाद नगर के बाहर से नहीं मँगाने का।

भो ज्ञानी! पं0 टोडरमलजी, पंडित दौलतराम जी, पं0 बनारसीदास जी आदि विद्वानों ने अपने जीवन में गुरु के दर्शन नहीं किये, ये अपने जीवन में 'षट्खंडागम' जैसे महान ग्रन्थ के दर्शन नहीं कर पाये, तभी तो लिख गये ''ते गुरु मेरे उर बसो''। क्यों लिखा? क्योंकि गुरु के स्वरूप को जाना था, पर गुरु को देखा नहीं था। पर देखो वे तो अभाव में पुण्य कमाके चले गये, पर आप सद्भाव में पाप कमाके न चले जाना।

भैया! अब जा रहे हो, तो तुम्हारी खुशी है, पर चातुर्मास में बिल्कुल नहीं भेजना। तुम्हें जाना हो तो जाओ, नहीं जाना है तो मत जाओ। लेकिन हम नहीं कहेंगे कि तुम्हें जाना ही है। अहिंसा–महाव्रत की बात कर रहे तो, बाकी मैं कुछ नहीं जानता हूँ। तत्त्व को तत्व समझो। जिनवाणी में अन्यथा मत जाना, कहीं आप अन्यथा पाओगे, तो अश्रद्धा बढ़ेगी। बस, इतना ध्यान रखो कि गुरु–आज्ञा के बिना एक कदम रखना नहीं जीवन में । 'मूलाचार' में लिखा है कि जो गुरु के प्रतिकूल चलता है, उसकी कभी समाधि नहीं होती। वो सल्लेखना नहीं कर पायेगा। गुरु–आज्ञा ही तो मँगाना है। बस, आडम्बर मत दिखाओ, आज्ञा मंगा लो। ये मत सोचो कि बहुत गाड़ियाँ नहीं जायेंगी, तो गुरु सोचेंगे कि प्रभावना नहीं हुई। धर्म के ये आडम्बर अभी–अभी हो गये हैं। जैनशासन में आडम्बर को कोई स्थान नहीं है।

मनीषियो! पुष्पदन्त व भूतबलिस्वामी जब धरसेन महाराज से अध्ययन करके गये थे, तो भूतबलि स्वामी की उम्र अधिक थी और पुष्पदन्त स्वामी की उम्र कम थी। पुष्पदन्त स्वामी ने ग्रन्थ लिखकर अपने अग्रज गुरु–भाई के पास जिनपालित जो उनका दीक्षित शिष्य था, के माध्यम से पत्र और ग्रन्थ भेजा, किसी गृहस्थ को जिनवाणी नहीं दी। ये कार्य उन्होंने चातुर्मास के पहले किया था। बहुत सोचनीय विषय है, निर्ग्रन्थता के लिये बहुत सोचना पड़ेगा।

आचार्य अमितगति स्वामी ने 'सुभाषितरत्नसंदोह' नाम का ग्रन्थ लिखा है। उसमें लिखा है कि हे कृषक! एक गर्भवती स्त्री को गर्भ गिराने में जो पाप लगता है, एक विलस्त भूमि में हल चलाने में वो ही पाप लगता है। यहाँ तो कहा जा रहा है एक श्रावक से, कि तू

भूमि को मत खोद और कहीं तूने चातुर्मास में भवन का निर्माण कराया और नींव का पूजन तूने बैठके करा दिया, तो ज्ञानी! तेरी अहिंसा का क्या होगा? पृथ्वीकाय का घात हुआ। आप लोग कभी–कभी जबरदस्ती बोले–महाराज! आप तो बैठो। परिणाम ये निकला कि तुम्हारा तो भवन खड़ा हो गया और उनका भवन नीचे आ गया। भैया! ऐसे कामों में तो मत प्रेरित करो। इधर कर रहे हो गढ्ढा और उनसे कह रहे–महाराज! बगल में बैठ जाइये। नहीं, कभी अपन को साधुओं को ऐसे नहीं बिठालना चाहिये। ठीक है? भूमिपूजन करके गढ्ढा करके भगवान् की जब पूजा होने लगे, वो तो भगवान् की आराधना चल रही है। बोले–इसमें ये उद्देश्य मत बनाके चलना कि यहाँ गढ्ढा करवा दें, फिर श्रावक–धर्म और मुनि–धर्म में अंतर क्या होगा? कठिन तो लग रहा होगा । अब पकड़ो, द्रव्यानुयोग कितना कठिन है, फिर चरणानुयोग कितना कठिन होगा? मैं इसलिये कह रहा हूँ कि जो कोरा शुद्ध–आत्मा, शुद्ध–आत्मा चिल्ला रहे हैं, उनसे पूछो कि भैया! जब चरणानुयोग इतना कठिन है, तो द्रव्यानुयोग कितना कठिन होगा?

भैया! अपने आगम में दो गुरु माने हैं–एक धर्मगुरु होते हैं यानि निर्ग्रन्थ गुरु और एक होते हैं गृहस्थाचार्य, जिनको प्रतिष्ठाचार्य भी कहते हैं। ये सलाहें उनसे लेना चाहिये। वास्तविकता ये है कि 8वीं प्रतिमाधारी आरंभत्यागी होता है। 'रत्नकरण्ड–श्रावकाचार' ये कहता है कि 8वीं प्रतिमाधारी के आरंभ का त्याग हो चुका है, मात्र वो स्वयं अपने लिये भोजन बना सकता है और किसी त्यागी को भोजन करा सकता है। पर घर के भाई, बेटे आदि को भोजन बनाकर नहीं खिला सकता है। अब 8वीं प्रतिमाधारी के आरम्भ का त्याग और 11वीं प्रतिमाधारी के उद्दिष्ट का त्याग हो गया, 10 वीं प्रतिमा में अनुमति का त्याग हो गया तो आरंभ–सारंभ की अनुमति नहीं दे सकता । 10–वीं प्रतिमाधारी ये नहीं कह सकता कि तुम यहाँ से गुड़ खरीदना और वहाँ बेच आना। जब ये 10–वीं प्रतिमाधारी श्रावक नहीं कह सकता, तो ये तो महाव्रती मुनिराज हैं, वे कैसे कहेंगे कि कब जाओ? ये मार्ग नहीं है।

भैया! हम अपने स्वार्थ में भी चारित्र को न बदलें। अपने–अपने स्वार्थ में कभी–कभी भूल जाते हैं, महाराज से पूछने लगते हैं–महाराज! कौनसी दुकान खोल लें? भैया! जिन्होंने पूरी दुकान छोड़ दी है, बंद कर दी है, उनसे तुम कौन सी दुकान खुलवाने की बात कर रहे हो? अरे! मुनिमहाराज का उद्देश्य क्या रहा है? जितनी हिंसा से बच सको, बचो। भैया! तुम ईट–भट्टा मत लगाना, इसमें बहुत जीव–हिंसा होती है।

भो ज्ञानी! उपदेश कभी आदेश नहीं होता। पर जब सरागवृत्ति होती है, तो गृहस्थ–धर्म का भी वर्णन मुनिराज कर सकते हैं। गृहस्थधर्म का तात्पर्य गृहस्थी चलानेवाला नहीं। नहीं तो आप कहने लगो–महाराज! शादी कैसे कराई जाती है? ये तो लोकधर्म है। गृहस्थधर्म का तात्पर्य अणुव्रत, शिक्षाव्रत, गुणव्रत। अब उन शिक्षाव्रतों में पूजादि का उपदेश तो करेंगे कि पूजा आपको ऐसे करना चाहिये, जिनबिम्ब की आराधना करें, यहाँ तक ठीक है। बाकी का सब काम आपका है। यदि हम ही सबकुछ करने लग गये, तो प्रतिष्ठाचार्य क्या करेगा? गृहस्थाचार्य उसको क्यों रखा है? हमारे आचार्यों ने कितना मुनियों को निर्दोषता में जीने के लिये कहा और हमारे समाज की व्यवस्था भी भंग न हो और तुम्हारे चारित्र की व्यवस्था भी भंग न हो, इसलिये प्रतिष्ठाचार्य को सामने रखा गया है। जितनी भी आरंभिक क्रिया होती है धर्मक्षेत्र में, वो सब प्रतिष्ठाचार्य के माध्यम से होती है आचार्य और निर्देशक न बनो। निर्देशक बन जाओगे, तो हिंसा का दोष लगेगा।

भैया! तुमको खेत में गजरथ चलवाना है, आप धार्मिक कार्य करने जा रहे हो, ठीक है। तुमने खेत में गजरथ चलाया, उसमें खड़ी थी फसल और तुम आये महाराज के पास, बोले–क्या करें महाराज? कैसे पागल बने तुम महाराज से पूछ रहे हो? कहीं वृक्ष खड़े थे, कहीं बगीचा लगा था। ये क्रियायें तुम गृहस्थाचार्य/ प्रतिष्ठाचार्य से पूछो। नहीं तो कल आप कहोगे–महाराज श्री! वो विधान और आप करवा दो, माड़ना और मँढ़वा दो आप। भैया! प्रतिष्ठाचार्य फिर क्या करेगा? इसलिये हम तो आपसे यहीं कहेंगे कि अपन को हरसमय निर्दोष साधना में सहायक बनना है। यही वैयावृत्ति है।

भैया! अभी एक सज्जन ने प्रश्न किया था, बोले–महाराजश्री! वो आपके निमित्त से इतने सारे लोग आ रहे हैं, गाड़ियों पर भी आते हैं, हिंसा लगेगी कि नहीं आपको? यदि आप भगवान् के दर्शन करने गये समवसरण में, विमान स्वर्ग से आ रहे हैं, विद्याधर, भूमिगोचरी सब जा रहे हैं। तुम सब पुण्य कमाओ और हिंसा भगवान् के ऊपर रख दो। प्रवचन में इतने सारे लोग आ रहे हैं, इसकी हिंसा किसको लगेगी? ये तो जीव का स्वयं का परिणमन है, इसमें भगवान् का दोष नहीं और महाराज का दोष नहीं है।

भैया! एक सज्जन बोले–महाराज जी! हम मंदिर जाने से, नहीं जाना ज्यादा अच्छा समझते हैं, मुझे छह किलोमीटर से मंदिर आना पड़ता है। छह किलोमीटर तो स्कूटर से आता हूँ और रास्ते में कितने जीव मरेंगे, इसलिये मंदिर न आयें तो इतने जीवों की रक्षा तो हो जायेगी। अब मंदिर नहीं जाना, क्योंकि इतना चलना पड़ता है। बड़ी विचित्र दशा

है। देखो, जिनबिम्ब की व्यवस्था जिनबिम्ब में लगाना, मुनि की व्यवस्था मुनि में लगाना। नहीं तो कल आप ऐसा भी कह सकते हो, अज्ञानी कह भी देते हैं, महाराज श्री! गजरथ में तीर्थंकर तो हाथी के रथ में बैठते हैं, आप कार में क्यों नहीं बैठते? तुम भगवान् से बड़े हो क्या? भैया! वे भगवान् नहीं हैं, भगवान् की प्रतिमा है, भगवान् की स्थापना है। जो वास्तविक भगवान् होते हैं, वे तुम्हारे रथ में नहीं बैठते। वे तो कमलासन से चार अंगुल ऊपर अंतरिक्ष में गमन करते हैं। कमलासन तो है, फिर भी कमलासन पर नहीं हैं। इसलिये प्रतिमा की व्यवस्था प्रतिमा में है। भैया! मुनिमहाराज का 28 मूलगुणों में एक अस्नान नामक मूलगुण होता है। प्रतिमा का अभिषेक होता है, वो भगवान् का अभिषेक नहीं है। समवसरण में साक्षात् तीर्थंकर का कभी अभिषेक होता नहीं है। ध्यान से समझना, जो आप लोग अभिषेक करते हो, वो प्रतिमा/जिनबिम्ब का अभिषेक है, जन्माभिषेक भी नहीं है। भगवान् के चार अभिषेक होते हैं–पहला जन्माभिषेक, वो पाण्डुकशिला पर होता है। दूसरा होता है राज्याभिषेक, वो राज्यव्यवस्था में होता है। तीसरा होता है दीक्षाभिषेक, जब दीक्षा लेते है तब अभिषेक होता है। चौथा अभिषेक जो आप करते हैं, जब प्रतिष्ठा हो जाती है तो प्रथम दिन जो प्रतिमा का अभिषेक होता है, वह प्रतिमा अभिषेक है।

भैया! तुम तो पुण्यात्मा हो, साक्षात समवसरण में किसी को भी भगवान् के चरण छूने नहीं मिलते। समवसरण में भी अरिहन्त की प्रतिमा के अभिषेक, पूजन होते हैं। जिनबिम्ब के चरण छूने को मिल रहे हैं। कुछ लोग बहुत अच्छी सेवा करते हैं भगवान् की प्रतिमा की। दबा–दबा के, चाहे भले पसीना टपक जाये भगवान् के ऊपर, उसका ध्यान नहीं है। पर हमें दबाना ही है। खाँसी हो रही है, जुकाम हो रहा है, असादना चल रही है, लेकिन हमें तो अभिषेक करना ही है। ऐसा नहीं करना, विशेष ध्यान रखना शुद्धि का। अगर विपरीत स्थिति है, तो अनुमोदना मात्र कर लो अभिषेक के स्थान पर। इसका सदैव स्मरण रखना।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : रत्नत्रय के स्वरूप का कथन।

विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं।
संसयविमोह विब्भमविवज्जियं होदि सण्णाणं।।51।।
चलमलिणमगाढत्तविवज्जिय–सद्दहणमेव सम्मत्तं।
अधिगमभावो णाणं, हेयोपादेयतच्चाणं।।52।।
सम्मत्तस्स णिमित्तं, जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अन्तरहेऊ भणिदा, दंसणमोहस्स खयपहुदी।।53।।
सम्मत्तं सण्णाणं, विज्जदि मोक्खस्स होदि सुण चरणं।
ववहारणिच्छएण दु, तम्हा चरणं पवक्खामि।।54।।
ववहारणयचरित्ते, ववहारणयस्स होदि तवचरणं।
णिच्छयणयचारित्ते, तवचरणं होदि णिच्द्धयदो।।55।।

संस्कृत छाया : विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानमेव सम्यक्त्वम्।
संशयविमोहविभ्रमविवर्जितं भवति संज्ञानम्।।51।।
चलमलिनमगाढत्वविवर्ज्जितश्रद्धानमेव सम्यक्त्वम्।
अधिगमभावो ज्ञानं हेयोपादेय–तत्त्वानाम्।।52।।
सम्यक्त्वस्य निमित्तं जिनसूत्रं तस्य ज्ञायकाः पुरुषाः।
अन्तर्हेतवो भणिताः दर्शनमोहस्य क्षयप्रभृतेः।।53।।
सम्यक्त्वं संज्ञानं विद्यते मोक्षस्य भवति शृणुचरणम्।
व्यवहारनिश्चयेन तु तस्माच्चरणं प्रवक्ष्यामि।।54।।
वयवहारनयचारित्रे व्यवहारनयस्य भवति तपश्चरणम्।
निश्चयनयचारित्रे तपश्चरणं भवति निश्चयतः।।55।।

अन्वायार्थ : (विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानं एव सम्यक्त्वं) विपरीत अभिप्राय से रहित श्रद्धान् ही सम्यक्त्व है, (संशयविमोहविभ्रमविवर्जितं संज्ञानं भवति) संशय, विमोह और विभ्रम से रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है।

(चलमलिनं अगाढत्वविवर्जितश्रद्धानं एव) चल, मलिन और अगाढ़ दोषों से रहित श्रद्धान ही (सम्यक्त्वं) सम्यक्त्व है, (हेयोपादेयतत्वानां) हेय और उपादेय तत्त्वों का (अधिगमभावः) जाननेरूप भाव (ज्ञानं) ज्ञान है।

(जिनसूत्रं तस्य ज्ञायकाः पुरुषाः सम्यक्त्वस्य निमित्तं) जिनसूत्र और उनके जानने वाले पुरुष सम्यक्त्व के लिये बाह्य निमित्त हैं। (दर्शनमोहस्य क्षयप्रभृतेः अंतर्हेतवः भणिताः) दर्शनमोह का क्षय, क्षयोपशम आदि अंतरंग हेतु कहे गये हैं।

(मोक्षस्य) मोक्ष के लिये (सम्यक्त्वं ज्ञानं विद्यते) सम्यग्दर्शन और ज्ञान होता है तथा (चरणं भवति) चारित्र भी होता है, (तस्मात् तु) इसलिये मैं (व्यवहार– निश्चयेन) व्यवहार और निश्चय से (चरणं प्रवक्ष्यामि) चारित्र को कहूँगा, (शृणु) हे शिष्य! तुम सुनो।

(व्यवहारनय चारित्रे) व्यवहारनय के चारित्र में (व्यवहारनयस्य तपश्चरणं) व्यवहारनय का तपश्चरण (भवति) होता है और (निश्चयनय चारित्रे) निश्चयनय के चारित्र में (निश्चयतः) निश्चयनय का (तपश्चरणं) तपश्चरण (भवति) होता है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने नियमसार जी की पूर्व गाथा में संकेत दिया था कि सभी भाव परद्रव्यरूप परस्वभाव हैं, इसलिये त्यागने योग्य हैं। जो आत्मा चैतन्य–स्वरूप है, वही स्वकीय अपना द्रव्य है, अतः उपादेय है। विभावगुण और विभावपर्यायों को पहले व्यवहारनय की अपेक्षा से उपादेय कहा गया था, परन्तु भो ज्ञानी! शुद्धनिश्चयनय से परद्रव्य होने के कारण हेय है। आचार्य श्री पद्मप्रभमलधारि देव कलश में कह रहे हैं–

न ह्यस्माकं शुद्धजीवास्तिकायादन्ये सर्वे पुद्गलद्रव्यभावाः।
इत्थं व्यक्तं वक्ति यस्तत्त्वेदी, सिद्धिं सोऽयं याति तामत्यपूर्वम्।। कलश 74।।

शुद्धजीवास्तिकाय से विचार करने पर जितने पुद्गलद्रव्य के भाव हैं, वे निश्चितरूप से हमारे नहीं हैं, हमसे भिन्न हैं। तत्त्व का जो सच्चा ज्ञाता है, वो इसप्रकार स्पष्ट कथन

करता है, श्रद्धान करता है, आचरण करता है, वह अपूर्व अर्थात् जो पूर्व में कभी प्राप्त नहीं हुआ, उस सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

भो ज्ञानी! जब ये जीव परद्रव्यों को अपना मान लेता है और इंद्रियों के वशीभूत होकर अकरणीय कार्य कर लेता है, फिर उसके पश्चाताप में झुलसता है कि हाय मैंने क्या कर लिया?

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान्।

अंते सुदुस्त्यजान् कामान्, कामं कः सेवते सुधीः।। इष्टोपदेश 17।।

हे सुधी! ध्यान रखना, ये विषय आरम्भ में जबतक प्राप्त नहीं होते हैं, तब तक संताप देते हैं। प्राप्त होने पर जब तृप्त नहीं होता है, तो कष्ट देते हैं तथा अंत में बड़ी कठिनाई से छोड़े नहीं जा सकते ऐसे भोगोंपभोगों को कौन विद्वान् सेवन करेगा। हे सुधी! काम की तू सेवा कर रहा है। अहो! जब तू ब्रह्मस्वरूप है, तुझमें अब्रह्म का कोई प्रवेश नहीं है, ये चिन्तवन करना है, भो ज्ञानी आत्मन्! तू क्या कर रहा है ? विकारों की पुष्टि कर ली, शरीर से डगमगाने लगा, इंद्रियों ने काम करना छोड़ दिये, अब तू कहने लगा–''ब्रह्मस्वरूपोऽहम्''। जब इंद्रियों के वेग बढ़ रहे थे, अवस्था भी थी, उससमय भो ज्ञानी! तू कहता ''ब्रह्मस्वरूपोऽहम्''।

अहो! साधक के लिये यह ज्ञानसूत्र जिससे वैराग्य की स्थिति बनी रहे और श्रावक के लिये वैराग्य की प्राप्ति हो। प्रधानता यहाँ योगी की है, अभ्यासदशा में वो आत्मा के स्वरूप का चिन्तवन करता है। जो निर्विकल्प चिन्तन कहा जाता है, वो भी सविकल्प ही है। अब्रह्म में जी रहा है जीव और कह रहा है कि ''सिद्ध स्वरूपोऽहम्''। ध्यान रखना, शब्दशक्ति अनुपम होती है। जब बेटा आता है, तो आपके अंदर कुछ संचार होता है। पिता बोलकर चिल्लाता है, तो आपके अंदर कुछ संचार होता है। शिष्य प्रेम से पुकारता है गुरुदेव, तो गुरु के अन्दर भी एक अलग सी धारा बहती है। ये तो मनुष्यों की बात है। आपने तिर्यंचों को देखा होगा। जब गुस्से में कोई भैंस आवाज करती है, तो उसकी आवाज सुनना। विकारी भाव से भी आवाज करती है। ध्यान रखना, तिर्यंच भी जब विकारों से भरे होते हैं, तो आवाज करते हैं और जब प्रसूति होती है, तो बच्चे के प्रति दुलार करती है। इतनी बड़ी भैंस, इतनी बड़ी गाय भी बिल्कुल बच्चे–जैसी आवाज निकालती है। उसकी आवाज बिल्कुल धीमी होती है। जब गाय चरके, बाहर से आती है घर में बछड़ा होता है, तो द्वार के बाहर से जो आवाज लगाती है, उस आवाज को और सुन लेना आप। अंदर से बछड़ा बोलता है, अपनी माँ की आवाज को समझ लेता है। माँ की आवाज को सुन करके पुलक उठता है।

भो ज्ञानी! एक जीव बिल्कुल शांत बैठा हो, अश्लील शब्दों का उपयोग करने लग जाये तो उसके शरीर में विकार प्रारंभ हो जाते हैं। अब भाषाशक्ति की बात करना। दूसरे के अशुभ वचन आपके परिणामों को विचलित कर देते हैं। एकद्रव्य दूसरेद्रव्य पर कितना प्रभाव छोड़ रहा है? और फिर वहीं कोई ब्रह्मयोगी बैठ जाये उस काल में, ये शब्द गूँजने लग जाये ''ब्रह्म स्वरूपोऽहम्'' ''शुद्ध–बुद्ध स्वरूपोऽहम्'' ''भिन्नत्व स्वरूपोऽहम्'' मैं परद्रव्य से भिन्न हूँ। शुद्ध, बुद्ध शब्द बहुत सहज है किन्तु भिन्न शब्द कठिन है। ये सूत्र वास्तव में माला फेरने का विषय नहीं है। ध्यान–सूत्राणि पाठ करने का विषय नहीं है, ध्यान सूत्राणि तो ध्यान में रखने का ही विषय है।

अहो! करणानुयोग तो समझने का विषय है, उससे परिणामों को तौलो। द्रव्यानुयोग तो आपको जीने का विषय दे रहा है, कि ऐसे जियो। भो ज्ञानी! महिमावान जो होता है, उसकी कोई महिमा गाये चाहे न गाये, वो तो महिमावान है ही। सुमेरू तो सुमेरू है। अब आप उसे राई कहो, तो कहते रहो। ऐसे ही आत्मा का जो वस्तुधर्म है, वो तो वास्तव में ब्रह्मस्वरूप है और ये जब विकार सामने खड़े हों, तीव्र क्रोध आ रहा है तो धीरे से जाकर कह दो–''क्रोध भाव रहितोऽहम्'', पर अपना गाल बचाकर कहना।

अहो योगी! अपने ही द्रव्य, गुण, पर्याय में जिसका चित्त लीन है, उसने संपूर्ण विभाव को छोड़ दिया है। उसकी व्यवस्था चरणानुयोग से ही पूछ लें कि अंतरंग में त्रसहिंसा का त्याग है, प्रमादचर्या का अभाव है, तो पंचम–गुणस्थान चल रहा है। अनर्थदंड छूटे, व्रतों पर चिन्तन जाये। पांच–पांच अतिचार व्रतों के हैं, वो हमारे टल रहे हैं। मेरे घर में नौकर है, मैं उसको समय पर भोजन दे रहा हूँ। घर में गाय है, उसे समय पर पानी पिला रहा हूँ। अहो जैनियो! चर्चा करो धर्म की, तुम्हारे घर में पशु पल रहा है, बिना छना पानी आप पिला रहे हो, ऐसा नहीं है कि वो तो तिर्यंच है। ऐसा कौन–सी जिनवाणी में लिखा है कि स्वयं भक्ष्य का सेवन करो और दूसरों को अभक्ष्य खिला दो। घर में फल सड़ गया और आपने उठाकर बछड़े को खिला दिया। उस सड़े हुये फल में कीड़ा बैठा हुआ था। आपने जानकरके त्रसजीव को बछड़े को खिलाया है। चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव भी अपने द्वारा किसी को अभक्ष्य का सेवन नहीं करा सकता, अनीति का नहीं खिलायेगा और अन्याय का नहीं खिलायेगा।

भो ज्ञानी! श्रद्धान का विषय नहीं बचा। लोग श्रद्धान के बहाने अन्याय, अनीति में जी रहे हैं। तेरा श्रद्धान सही है, तो आचरण तेरा सही नहीं है। ध्यान रखना, आचरण का और गुणस्थान का एक मेलमिलाप है। चतुर्थगुणस्थान होगा, तो नियम से सम्यक्त्वाचरण

होगा। पंचम गुणस्थान होगा, तो संयमासंयम चारित्र नियम से होगा और छठवाँ गुणस्थान होगा तो संयमाचरण नियम से होगा तथा सप्तम गुणस्थान होगा, तो स्वरूपाचरण नियम से होगा, क्योंकि आचरण प्रधान गुणस्थान है।

भो ज्ञानी! द्रव्यानुयोग की भाषा में, देशव्रती और अविरत–सम्यग्दृष्टि चिन्तवन करेगा कि मेरे स्वरूप की सिद्धि कब होगी? क्योंकि स्वरूप की सिद्धि जबतक दृष्टि में नहीं आयेगी, तबतक चौथा, पाँचवा, छठवाँ गुणस्थान भी नहीं होगा क्योंकि संयम तो स्वरूप की प्राप्ति के लिये ही अंगीकार किया जाता है। जो भी आप निर्मल आचरण करोगे, तो कोई–न–कोई लक्ष्य तो होगा और लक्ष्य प्रत्येक जीव का मोक्ष है। उस मोक्षतत्त्व के बीच में जितना तुम चिन्तवन कर सको, कर लो। चाहे आप ध्यानसूत्र का चिन्तन करो, चाहे आप समयसार का चिन्तन करो, चाहे करणानुयोग की कर्म–प्रकृतियों का चिन्तन करो, जिससे आपका मन न भटके, विषयों में न जाये। ये मत मान लेना कि द्रव्यानुयोग के चिन्तन से ही मोक्ष होगा, कि प्रथमानुयोग के चिन्तन से मोक्ष होगा, कि करणानुयोग के ही चिन्तन से मोक्ष होगा अथवा चरणानुयोग के चिन्तन से ही मोक्ष होगा। ये तो चिन्तवन आपको इसलिये दिये हैं, कि हमारा चित्त चलायमान न हो।

भो ज्ञानी! आगम में दस प्रकार के सम्यक्त्वों का कथन है और दस प्रकार के सम्यक्त्वों में प्रथमानुयोग के चिन्तन से, द्रव्यानुयोग के चिन्तवन से, चरणानुयोग के चिन्तन से, करणानुयोग के चिन्तवन से भी सम्यक्त्व होता है और निजात्मा के चिन्तवन से भी सम्यक्त्व होता है। अभी तू विभाव में है, परन्तु वर्तमान का रूप तेरा ऐसा नहीं है। इसलिये स्वरूप को समझ करके वर्तमान के रूप में परिवर्तन लाओ। (रूप से तात्पर्य परिणति में) और स्वरूप की प्राप्ति जो है, ये स्वरूप के रटने से नहीं होगी। ध्यान रखना, परिणामों में निर्मलता हो और आप किसी के गाल पर चाँटा मारें, मैं नहीं मान सकता। तुम्हारे परिणाम विशुद्ध होंगे तो आपका हाथ उठ नहीं सकता। हाथ उठ रहा है और आप कहो कि मेरे परिणामों में नहीं था, तो ये छल की बातें हैं।

भो ज्ञानी! सहजस्वरूप दूसरे को सताना नहीं है। सहजस्वरूप निज का निज में रमण है। परन्तु इतना ध्यान रखना कि चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव अपने हिसाब से ही समझे। उसके अपने मुनिस्वरूप का चिन्तवन चल रहा था। ''निर्ग्रन्थ स्वरूपोऽहम्'' वो निर्ग्रन्थ के स्वरूप के प्रति श्रद्धा बनाने का विषय था और सग्रन्थ में निर्ग्रन्थस्वरूप मान लिया तो भो ज्ञानी! गुणस्थान तेरा चौथा ही रहेगा। उससे तुम निर्ग्रन्थ गुणस्थान को

प्राप्त नहीं कर पाओगे, ये ध्यान रखना। ''अरहन्त स्वरूपोऽहम्'' कह करके अरहन्त के स्वरूप का चिन्तन किया है, न कि तू अरहन्त बन गया है। भैया! पिण्डस्थ, पदस्थ ध्यान में तो बिल्कुल अरहंत का ध्यान होता है—मैं ही अरहंत हूँ, फिर भी तू अरहंत नहीं है क्योंकि जो वस्तु जैसी होती है, उसका चिन्तवन नहीं होता, उसमें तो रमण होता है। जो जैसा नहीं होता है, उसकी प्राप्ति के लिये चिन्तवन होता है।

भो ज्ञानी! क्षायिक—सम्यग्दृष्टि जीव है, उपदेश जब भी देगा तब वो यही कहेगा कि इनको स्वच्छ/निर्मल पानी पिलाओ। ये कभी नहीं कहेगा कि तुम इनको बिना छना पानी पिलाओ। इसलिये इतना ध्यान रखना कि कुछ लोगों की आदत होती है कि जब कहीं से निमंत्रण आया, अपना रात्रिभोजन का त्याग है तो बच्चे को भेज दो। बड़ा आश्चर्य, जब अपना त्याग है, वो बच्चा किसका था? कोई अजैन बन्धु ने निमंत्रण भेजा। भैया! अपन नहीं जाते, बच्चे को भेज दो। भैया! तुम कुछ भी सोचते रहो, परन्तु तुम्हारे प्रति लोगों की श्रद्धा है कि जैन रात्रिभोजन नहीं करता, अनछना जल सेवन नहीं करता। अब आप सोचना, कि बोले—इतना तो चलता है। किसी ने आपके लिये शुद्धभोजन की व्यवस्था की और आपने इतना बोल दिया कि हमारे तो चलता है तो उसकी श्रद्धा से पूछना, कि क्या हुआ? मुमुक्षु आत्मा! कम—से—कम इतना तो ध्यान रखना कि जब भी बाहर उपदेश करने जायें बिल्कुल शुद्धाचरण रखें। लोग कितनी व्यवस्थायें आपकी करते हैं, आपको मालूम नहीं है।

भैया! आप महाराजों के आहार, विहार, निहार तीन ही तो देखते हो। बहुत अच्छा है। पर भाव कोई देखने नहीं जा रहा। क्या है, जिसका चरणानुयोग ही असफल है उसका करणानुयोग तो नियम से असफल होगा। ध्यान रखना, अंतरंग के परिणामों के बिना न तुम संयम पाल रहे हो और न किसी जीव पर दया कर पा रहे हो।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्दस्वामी ने तीन गाथाओं के द्वारा व्यवहार सम्यग्दर्शन के स्वरूप और उसके उत्पन्न होने में जो कारण विशेष हैं, उनका वर्णन किया तथा दो गाथाओं के माध्यम से निश्चय सम्यग्दर्शन के स्वरूप और उसकी उत्पत्ति में सहायक कारणों का वर्णन किया है। आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि विपरीत अभिप्राय से रहित सच्चा श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। यह लोक ब्रह्मा के द्वारा निर्मित है, यह लोक शेषनाग पर टिका हुआ है, आदि, इन विपरीत मान्यताओं से रहित जिनेन्द्र भगवान् के वचनों पर श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन। जैसे इस लोक को बनाने वाला, चलाने वाला कोई नहीं है, यह स्वयं व्यवस्थित है। इसका आधार कोई नहीं है, स्वप्रतिष्ठित है। देव, शास्त्र, गुरु में चल,

मल, अवगाढ़ दोषों से रहित श्रद्धान होना व्यवहार सम्यक्त्व है। जिसके द्वारा ग्रहण करने योग्य, त्याग करने योग्य पदार्थों का ज्ञान होता है, वह सम्यग्ज्ञान है। जिनेन्द्रभगवान् के वचनों में संशय नहीं होना सम्यक्त्व है।

भो ज्ञानी! जिनेन्द्रभगवान् के द्वारा जो सूत्र कहे गये हैं, उनको जाननेवाले निर्ग्रन्थ मुनिराज आदि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बाह्य कारण है। प्रथमानुयोग के ग्रन्थ आदि भी बाह्य कारण हैं। जीव के दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय, क्षयोपशम अंतरंग निमित्त है। जीव को जिनबिम्ब के दर्शन आदि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बाह्य निमित्त हैं। ज्ञानीजीव को क्षायिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में होती है।

भो ज्ञानी! मोक्ष की प्राप्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता से होती है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये भेद व्यवहार की दृष्टि से कहे गये हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान युगपत होता है, प्रकाश दीपवत्। सम्यक्त्व हो और सम्यक्चारित्र हो ही, यह आवश्यक नहीं है। परन्तु सम्यक्चारित्र है, तो नियम से सम्यग्दर्शन–ज्ञान होगा। निश्चयनय से कथन करने पर अभेद रत्नत्रय से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने रत्नत्रय के स्वरूप का पाँच गाथाओं के माध्यम से संक्षेप में कथन किया। उसी विषय को पद्मप्रभमलधारिदेव अपनी टीका में विस्तृत करते हुए कहते कि इन तीनों का वास्तविक स्वरूप क्या है? श्रद्धान कहना, ज्ञान कहना, चारित्र कहना रत्नत्रय नहीं है। इन अज्ञानी जीवों ने रत्नत्रय के कहने को ही रत्नत्रय स्वीकार कर लिया, जबकि रत्नत्रय को धारण करना था। रत्नत्रय कथन में चल रहा है, पर चर्या में रात्रिभोजन का त्याग भी नहीं है। भो ज्ञानी! गणधर की गद्दी पर बैठकर रत्नत्रयधारियों की अवहेलना तो कर दोगे, पर धारण करने की बात कभी नहीं करेंगे। पता नहीं इस ज्ञान के क्षयोपशम से यह जीव कहाँ जाना चाहता है। आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने बड़ी करूणा से लिखा है–

मदि–सुदणाणबलेण दु , सच्छंदं बोल्लदे जिणुद्दिट्ठं।
जो सो होदि कुदिट्ठी, ण होदि जिणमग्गलग्गरवो।। रयणसार 3।।

मति–श्रुतज्ञान के बल से तूने पूर्व में ऐसा स्वहित किया, जो कि प्रज्ञाशील हुआ। परन्तु प्रज्ञा को तूने शील में नहीं लगाया। अधिकांशतया देखा गया है कि जिनको विशेष शास्त्रों का ज्ञान है, पता नहीं उन्हें चारित्र से क्यों घृणा–सी होती है। एक विद्वान् कहने

लगे–साधु बनने की क्या जरूरत पड़ गई थी? आचार्यश्री से बोले–आपने छोटे–छोटे लोगों को क्यों दीक्षा दे दी। बोले–क्यों? बोले–इन लोगों से पूछो तत्त्व की परिभाषा। यानि तत्त्व की परिभाषा को कंठस्थ करने को इस शास्त्र के ज्ञानी ने मोक्षमार्ग मान लिया है। तत्त्वश्रद्धान की बात नहीं पूछी थी उन्होंने। उन्होंने मात्र कहा कि इनको तत्त्व की परिभाषा याद है कि नहीं? यानि आप महत्व दे रहो हो ज्ञान को, शब्दों को नहीं। अहो! ज्ञान बिना तो कर्म झर ही नहीं सकते, शब्दों से नहीं।

भो ज्ञानी! ध्यान से समझना, सम्यक्त्व शब्द को जानने से, सम्यग्ज्ञान शब्द को जानने से, सम्यक्चारित्र शब्द को जानने से, 28 मूलगुणों को जानने से कोई मुनि नहीं हो जाता। 28 मूलगुणों को पालने से मुनि होगा और तभी चारित्र होगा। अब कहना कि पालने के साथ–साथ ज्ञान भी होगा, श्रद्धान भी होगा, वो चारित्र है।

भो मनीषियो! आपलोग अध्ययन करते हो न? आठ दिन का 'छहढाला' का शिविर लगाया। परीक्षा पास की । पंडित घोषित कर दिये परन्तु वास्तव में छहढाला के लिये आपको लम्बा समय ही चाहिये, भले ही वो हिन्दी के छंद हैं। परन्तु भाव किसी भाषा के नहीं हैं, भाव आगम के हैं। वही यहाँ लिख रहे हैं। इसलिये भैया! शब्दों को संभल कर बोलना। मैं यह नहीं कह रहा कि तुम किसी का उदाहरण मत दो, लेकिन इतना विवेक रखना कि उन उदाहरणों से आगम का पोषण हो रहा है कि अनागम का? जैसा तुलसीदास जी ने अहिंसा का कथन किया, वैसा हमारी जिनवाणी में लिखा है, ऐसा नहीं। बल्कि जैसा जिनवाणी में लिखा है, वैसा ही तुलसीदास जी ने भी कहा है ''दया धर्म का मूल'' है। प्रवचनकार को कितना ध्यान रखना चाहिये? जैसे आप निरन्तर गाड़ी का बैलेंस/संतुलन बनाकर चलते हो। जब आपने कर्म की प्रधानता से कथन किया तो ''कर्म प्रधान विश्व कर राखा'' ये आपने बोला। तो पहले ये ऐसा मत कहो कि वहाँ लिखा है। जैसा आचार्य अमितगति स्वामी ने भगवान् तीर्थंकर की वाणी में घोषित किया है, ऐसा ही कथन तुलसीदासजी ने भी स्वीकार किया है। इस प्रकार जिनवाणी का बहुमान होना चाहिये। ऐसा नहीं कि दूसरों को खुश करने के लिये जिनवाणी का अपमान कर बैठे। बोले–हाँ, इन्होंने तो रामायण की भी बात कही है। कही तो है, पर उसको भी ध्यान से कहना, पहले तो जिनवाणी आना चाहिये।

जिनवाणी में बहुत उदाहरण हैं। प्रथमानुयोग का अध्ययन प्रत्येक वक्ता को अनिवार्य ही होता है। ध्यान रखना जीवन में, यदि वक्ता बनना है तो प्रथमानुयोग के ज्ञान के अभाव

में आप 'समयसार' को भी व्यवस्थित नहीं कर सकते हो। 'समयसार' तो भावना ग्रन्थ है। अध्यात्म ग्रन्थ का अपर नाम, दूसरा नाम भावना–ग्रन्थ है। इसमें भावों की प्रधानता से कथन है। उन भावों को कैसे व्यक्त किया जाय, इसके लिये साहित्यिक भाषा की आवश्यकता होती है। भावों को व्यक्त करने के लिये मालिनी, वसंततिलका आदि कितने तरह के छंदों का उपयोग कर रहे हैं पद्मप्रभमलधारिदेव, यही तो साहित्य चल रहा है। मालिनी, वसंततिलका आदि यही तो साहित्यिक भाषा है।

एक ग्रन्थ है "श्रृंगार–वैराग्य तरगिणी" उसमें आचार्य सोमदेव सूरि ने श्रृंगार की प्रधानता से वैराग्य का कथन किया है। श्रृंगार का कथन किया है, वैराग्य की ओर ले गये। यह तो आचार्यों की साहित्यिक शैली है। यहाँ पर नारी जाति को अपमानित नहीं किया है, यहाँ वैरागी के वैराग्य को बढ़ाया है। इसलिये कि साहित्य में भले ही रस भरे हों पर वे रस निजरस की ही बात के लिये हैं। वे अज्ञानी हैं, जो दस अथवा नौ रसों में बहकर निजरस को भूल जाते हैं।

भो ज्ञानी! सिद्धि–परम्परा के हेतुभूत पंचपरमेष्ठी की भक्ति में छल नहीं होना चाहिये और चलायमानपना भी नहीं होना चाहिये क्योंकि जो कुछ भी अपन कर रहे हैं, वो हम आपके बहुमान के लिये नहीं कर रहे हैं। अरहन्त भगवान् की, सिद्धों की, आचार्य, उपाध्याय, साधुओं की बहुमानता दिखाने की दृष्टि से यदि हम भक्ति करते हैं, तो उस भक्ति में भक्ति कम होगी, बहुमानता की भावना ज्यादा रहेगी। बहुमान की भावना तो अंतरंग निमित्त है। यह भक्त के अंदर भगवान् बनने की भावना है, बहुमान के चक्कर में अंतरंग भक्ति तो शून्य होती है, विनय मात्र झलकती है, जो कि बाहर दिख रही है और भक्ति अंतरंग में है। आकांक्षा से रहित होकर निष्काम भाव से जो उनके प्रति आदरभाव है, वो वास्तविक भक्ति है। पूज्य के गुणों में अनुराग रखना, इसका नाम भक्ति है। पूज्य के गुणों में अनुराग का आह्लाद होना, इसका नाम वास्तविक भक्ति है। यह 'सर्वार्थसिद्धि' में लिखा है। यानि आप जिसको व्यक्त नहीं कर रहे हो, पर हो रहा है, उसका नाम भक्ति है। वही भक्ति गुणश्रेणी–निर्जरा का हेतु है। निकांचित कर्म को शिथिल करनेवाला अह्लादपना ही है। अनुराग और आह्लाद में अंतर है। अनुराग तो सहज है, चौबीस घंटे रहता है।

आप अरहंत शासन के प्रति अनुराग रखते हो, परन्तु आह्लाद कभी–कभी आता है। प्रसाद कभी–कभी आता है। पूजा तो आप प्रतिदिन करते हो, लेकिन आप यथार्थ

बताना, कभी–कभी पूजा में विशेष आनंद अन्दर से उमड़ता है। पूजा कर्त्तव्य है, परन्तु कर्त्तव्य को धर्मरूप में देखो। माँ जिनवाणी आप लोगों से कह रही है कि छह कर्त्तव्य करें, षट्आवश्यक। आप प्रतिदिन एक ही पूजा करते चले जा रहे हो, तो कुछदिन में मंदता आ जाती है। वो आज हमको विशेष पूजा करना है, आज तो शांतिविधान करना है। व्यक्ति सामान्य द्रव्य से पूजा कर रहा था, बोले–आज तो मुझे विशेष द्रव्य चढ़ाना है। एकासन प्रतिदिन करते हो तो बोले–आज उपवास करना है। एक घंटे सामायिक करते थे, दो घंटे सामायिक करना है। ऐसा उत्साह अंतरंग से उत्पन्न हो, तब यह समझना कि चारित्रधर्म और भक्ति के प्रति अनुराग है। इसलिए यतियों को 'मूलाचार', श्रावकों को श्रावकाचार वर्ष में एकबार नियम से पढ़ना ही चाहिये। जब–जब आप पढ़ोगे, तब–तब लगेगा कि यह नई बात है।

भैया! आप लोगों को वंदना तक का ज्ञान नहीं है कि नमस्कार कैसे किया जाता है? जबकि वंदना के बत्तीस दोष होते हैं। कुछ लोग यहाँ–वहाँ जाकर के नमस्कार की विधि उल्टी करने लगे हैं। कुछ मुट्ठी बांधकर नमस्कार करने लगे, जबकि जैनदर्शन में मुट्ठी बांधने का कोई विधान नहीं है । वंदना के लिये सिर पटकना कहीं नहीं लिखा आगम में। द्रव्य चढ़ाने की जो चौकी रखी जाती है, वो टिकने की व्यवस्था नहीं है, वो प्रमाद है। एक पैर उठा लिया और पैर पर पैर रखकर बढ़िया पूजा शुरू कर दी। तनक समझो। समय जा रहा है और फल नहीं मिल रहा है। वंदना के दोषों में एक घोटक नामक दोष है। घोड़ा कभी चार पैर से नहीं खड़ा होता, वो एक पैर उठा कर खड़ा होता है। इसलिये भगवान् की पूजा करते समय, कायोत्सर्ग करते समय सामायिक करते समय, वंदना करते समय ऐसा नहीं करना। कुछ लोगों को शौक होता है बजाने, गाने का। उसका निषेध नहीं है। भगवान् की भक्ति तुम खूब गा–बजाके करो, पर इतना ध्यान रखो कि असादना तो नहीं चल रही। बजाना है तो बढ़िया झाल, मंजीरा आदि रखो, पूजा के बर्तनों को बजा–बजाकर मत खराब करो। फूटे बर्तन, टूटे चावल, फटी धोती से जो पूजा करे, सो दरिद्री होगा और जो इनको फोड़ रहा है, फाड़ रहा है, उनकी भगवान् जाने क्या होगा?

कुछ श्रावक पूजा आदि को ड्यूटी मानते हैं। जो षट्कर्तव्य हैं, वे ड्यूटी– भूत कर्त्तव्य नहीं हैं, वे धर्मभूत–कर्त्तव्य हैं। भैया! ऐसी आराधना करो मध्यम सुर में, जिससे किसी को बाधा न हो और अपन को भी बाधा न हो। अपनी भक्ति से किसी की अभक्ति होने लग जाये, ऐसा मत करना। विनयपाठ ''इह विधि ठाड़े'' पढ़ते हैं, वह भक्ति का ही भेद है। पर ध्यान रखो, आलोचना पाठ, बारह भावना यह भक्तिपाठ नहीं है। यह

प्रतिक्रमण, आलोचना और वैराग्य के पाठ हैं। आप भगवान् का अभिषेक कर रहे हो, मेरी भावना पढ़ रहे हो, आलोचना पाठ पढ़ रहे हो, जबकि वहाँ तो आपको अभिषेक पाठ पढ़ना पड़ेगा। कुछ लोग बहुत सारे पाठ पढ़ने का नियम ले लेते हैं, कि यह भी पाठ करना, वह भी पाठ करना, फिर भी उनका सब सपाट होता है।

एक बार मैं छतरपुर की डेरा–पहाड़ी का दर्शन कर रहा था। एक भैया हमारे आगे–आगे दर्शन कर रहे थे। सो उनने शुरू किया मेरी–भावना से, धोक दी और आगे चले जा रहे हैं। मेरी–भावना पूरी हो गई। इसके बाद उन्होंने बारह– भावना शुरू की और धोक देते जा रहे हैं, आगे बढ़ते जा रहे हैं। फिर यह पूरी होने पर उनका आलोचना पाठ शुरू हो गया। जब उनका दर्शन पूरा हो गया, तो हमारे पास आ गये। हमने कहा–भैया! आप यह तो बताओ कि कितने पाठ के नियम हैं। यदि आप भक्तामर यहाँ पढ़ रहे होते, तो कुछ कायदे की बात थी। आप पढ़ रहे थे राजा राणा छत्रपति। आप पाठ करें, पाठ का निषेध नहीं है, पर पाठ के स्थान का भी ध्यान रखो। इसलिये प्रत्येक जिनालय में स्वाध्याय भवन होते हैं और होना भी चाहिये। विशेष सामायिक करना हो, स्वाध्याय करना हो तो, आप उस भवन में जायें। भगवान् की वेदी के सामने बैठकर लम्बी सामायिक न करें। यदि बैठना ही हो तो आप ऐसा समय देख लें, जिसमें लोगों के दर्शन पूजन का समय न हो। माला फेरने में अल्प पुण्य का बन्ध होता है और वहीं णमोकार की एक माला जिनबिम्ब के सामने फेरने में लाखगुणा फलित होती है, ऐसा जिनवाणी में लिखा है परन्तु यह ध्यान रखना कि कोई दूसरे के आराधना में बाधा न हो रही हो।

'मूलाचार' में लिखा है–विनय मोक्ष का द्वार है। पूज्य आपके यहाँ पाँच हैं। शेष यथायोग्य सम्माननीय हैं, आदरणीय हैं। आपके यहाँ कोई विद्वान् आ जाये, तो आप श्रीफल भेंट देते हो। लेकिन अब थोड़ा समझना कि कितना अंतर है? एक श्रीफल भेंट किया जा रहा है, एक श्रीफल चढ़ाया जा रहा है। आपने विद्वान् पंडित जी का सम्मान श्रीफल से कर दिया। कहीं मुनिराज, पंचपरमेष्ठी विराजमान हों तो आप उदक–चंदन बोलकर अनर्ध्यपद शब्द बोलकर चढ़ायेंगे। विद्वान् को दिया गया श्रीफल सम्मानभूत था एवं यहाँ आपको कर्म–निर्जरा फलभूत है। वो तो लोकव्यवस्था थी, इसलिए वहीं–की–वहीं समाप्त हो गई। यह परमार्थ दृष्टि थी, परन्तु श्रीफल वही है। अंतरंग की दृष्टि देखो, आप वही फल मुनिराज को चढ़ा रहे हो, अरहन्त भगवान् को चढ़ा रहे हो, वही फल आप विद्वान् को भेंट कर रहे हो, वही फल आपने ध्वजारोहण किया तो यक्ष को समर्पित किया।

भो ज्ञानी! सम्यग्दृष्टि सप्तभय से रहित होता है, लेकिन कर्मसिद्धान्त भी तो लगाओ। सामान्य 'भय' संज्ञा आठवें गुणस्थान तक चलती है, परन्तु आहार संज्ञा छठवें गुणस्थान तक है। आप तीन कम नौकोटि मुनिराज को कभी आहार नहीं करा सकते हो, क्योंकि आहार मात्र छठवें गुणस्थान में होते हैं। सप्तम गुणस्थान में आहार संज्ञा नहीं है। इसलिये जो अपन नमस्कार करते हैं तीन कम नवकोटि को, वो नमस्कार तो हो जायेंगे, परन्तु आहार तीन कम नव– कोटि को नहीं दे सकते। क्योंकि तीन कम नवकोटि मुनियों में चौदहवें गुणस्थान तक के मुनिराज आते हैं। आप भाव बना रहे हो, बना लो, कोई दिक्कत नहीं है, पर सिद्धान्त कभी मत भूल जाना, नहीं तो केवली कवलाहारी हो जायेंगे। मुनिराज के आहार–संज्ञा मात्र छठवें गुणस्थान तक है। छठवें–सातवें में झूल रहे, वो विषय भिन्न है, परन्तु चर्या जो होगी वो छठवें गुणस्थान में। क्योंकि आहार प्रमाद में गर्भित है और प्रमाद छठवें गुणस्थान तक होता है। सप्तमगुणस्थान का नाम अप्रमत्त है, इसलिये आहारसंज्ञा छठवें गुणस्थान तक। मैथुन संज्ञा नौवें गुणस्थान तक और लोभ की महिमा विचित्र है दसवें गुणस्थान तक।

एक पण्डित ने एक पुस्तक लिखी है, वो गुणस्थान को स्वीकार नहीं करना चाहते। बोले–प्राचीन ग्रन्थकार में नहीं मान रहे। आचार्य उमास्वामी महाराज ने गुणस्थान शब्द का उपयोग नहीं किया, पूरे 'तत्त्वार्थ–सूत्र' में देख लेना। गुणस्थान शब्द का उपयोग आचार्य नेमीचन्द स्वामी ने 'गोम्मटसार–जीवकाण्ड' में किया है। इसलिये उनका कहना है कि गुणस्थान बाद का विषय है। कुछ विषय 'धवला' जी में हैं। योग और निर्देश, यह दो शब्द 'षट्खण्डागम' में आये हैं। उनका उद्देश्य आचार्य कुन्दकुन्द महाराज को श्वेताम्बर ही घोषित करने का है। कुछ विषय ऐसे भी आ जाते हैं, जिनमें सैद्धान्तिक मतभेद हैं। लेकिन भैया! मनभेद करके मत चलना। सैद्धान्तिक मतभेद अपने स्थान पर है और सामाजिक व्यवस्था अपने स्थान पर है।

भो मनीषियो! विनय तो विनय है, भक्ति तो भक्ति है और आदर तो आदर है। विद्वान् आदरणीय हो सकता है, सम्मानीय हो सकता है, पर पूज्यनीय नहीं हो सकता। यदि मिथ्यादृष्टि है, फिर उसका आदर तो नियम से मिथ्यात्व है।

सम्यक्त्व के पाँच अतिचार हैं। भो ज्ञानी! परमेष्ठी को परमेष्ठी स्वीकारना अपरमेष्ठी को अपरमेष्ठी स्वीकारना। कोई क्षुल्लक जी अपने–आपको मुनिमहाराज कहलाने लग जायें, तो वो भी मिथ्यात्व है। यदि क्षुल्लकजी को किसी ने नमोस्तु किया, वह धीरे से कह

देते–भैया! नमोस्तु नहीं, इच्छामि। क्योंकि नमोस्तु–शासन परमेष्ठी–शासन है। आर्यिका माता को कोई भक्तिपूर्वक नमोस्तु कह दे, तो उनका कर्तव्य है कि नहीं भैया! यह निर्ग्रन्थलिंग का शासन है। हम सग्रन्थ हैं, अतः नमोस्तु नहीं, वंदामि। कोई ब्रह्मचारी जी हैं, तो वंदामि नहीं, वंदना करें। वो आशीर्वाद नहीं दे सकते। अब कोई सरागीजीव अपने पैर पड़वाये और वह आशीर्वाद दे, इसे जिनवाणी कहेगी कि जो वंदना कर रहा है, वो भी गिर रहा है और जो स्वीकार कर रहा है वो भी गिर रहा है।

मेरे पास छतरपुर में प्रश्न आया कि मुनियों को आशीर्वाद देना चाहिये क्या? राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक में लिखा है कि तपस्वी निर्ममत्व भाव से किसी को न श्राप देते हैं, न किसी को वरदान देते हैं। नमस्कार करनेवाले को कर पुट उठाकर मात्र आशीर्वाद देते हैं। मैं यह पढ़कर बड़ा खुश हुआ, क्योंकि मैं खोज रहा था कि यह आशीर्वाद प्रथा है क्या? अंगुली उठाकर आशीर्वाद देना कि धर्मवृद्धि हो। भैया! यह आगम व्यवस्था है। साधर्मी से साधर्मी जयजिनेन्द्र कर रहा है, यह सब परस्पर का विषय है। जैसे मुनि मुनि को नमस्कार करे, तो कोई भी मुनि किसी मुनि को आशीर्वाद देने का अधिकारी नहीं है। मुनि मुनि को आशीर्वाद नहीं देता और देता है तो लगता है कि उसे आगमज्ञान नहीं । यहाँ तक कि आचार्य–परमेष्ठी को भी मुनि वंदना करेगा, तो आशीर्वाद देने के लिये आगम कतई नहीं कहता। यदि आचार्य मुनिराज को प्रतिनमोस्तु नहीं कर रहे हैं, तो जिनवाणी कह रही है, कि तू 'अहंकारी' है। इस शब्द का उपयोग किया है जिनवाणी में। अरहन्त मुद्रा तुम्हें झुक रही है, तो तुम अहम् छोड़ो, तुम बाकायदा प्रतिनमोस्तु करो। अब आपने भेजा– नमोस्तु। वहाँ से बोल दिया–आशीर्वाद। भो ज्ञानी! आगम की विधि को तो मत बर्बाद करो। हाँ, जब नमोस्तु प्रतिनमोस्तु हो गई, फिर गुरु शिष्यों को आशीर्वाद दे रहे हैं। हम लोग जब संघ में जाते हैं बाकायदा आचार्यश्री पिच्छि उठाकर तैयार रहते हैं। जैसे ही नमोस्तु किया, नमोस्तु। नमोस्तु करने के बाद प्रायश्चित देंगे, आशीर्वाद देंगे।

भो ज्ञानी! जो दर्शनाचार, ज्ञानाचार, वीर्याचार, तपाचार और चारित्राचार में परायण हैं, स्वयं जुड़े हुए हैं और दूसरे को जोड़ रहे हैं। यह काम आचार्य–परमेष्ठी का है। परन्तु आचार्य के अभाव में मुनिदीक्षा होती है, हो रही है। पर राजमार्ग यही है कि आचार्य–परमेष्ठी दीक्षा दें। भैया! जो दर्शन–ज्ञान में समग्र लवलीन हैं, निज में निज को साध रहे हैं, वह साधुपरमेष्ठी मुनिराज हैं। 'मुनि' शब्द क्यों जोड़ा? बड़ा रहस्य है। नहीं तो हर व्यक्ति साधना करने को अपने– आपको साधु कहना प्रारंभ कर दे। आचार्य नेमीचंद

स्वामी ने 'मुनि' शब्द जोड़ा है। उपाध्याय में भी 'मुनि' शब्द कितना सुन्दर जोड़ा है। जो यतियों में श्रेष्ठ है, ऐसा यति रत्नत्रय से युक्त है, धर्मोपदेश कर रहा है, उसे उपाध्यायपरमेष्ठी कहा है। उपाध्यायपरमेष्ठी को शिक्षकआचार्य भी कहा है, पाठक भी कहा है।

भो ज्ञानी! आचार्य भावसेन त्रिवेदाचार्य थे। शब्दागम, परमागम और तर्कागम यह तीन आगम हैं। जो तीन आगम के ज्ञाता होते हैं, वह त्रिवेदी, त्रिवेदाचार्य। यानि जिनको परमागम का ज्ञान हो, जिनको व्याकरण का ज्ञान हो और जिनको नय, न्यायशास्त्र का ज्ञान हो, वह त्रिवेदी। जिन्हें चारों अनुयोग का ज्ञान है, वह चतुर्वेदी कहलाते हैं।

भो ज्ञानी! अब तुम सोचो कि तुम कौन हो? दुविधा छोड़ो कि सग्रन्थ मोक्षमार्ग है कि निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग है। सग्रन्थ को ही धर्म मत मानलेना, यह आपका विपरीत मिथ्यात्व है, उल्टी मान्यता है। भूतार्थ मोक्षमार्गी तो निर्गंथ ही है। कुछ ऐसे लोग हैं– भैया! हमें नहीं जानना, क्योंकि जितना जानो, सो चक्कर में पड़ जाओ। बस, कुछ मत जानो, इसमें ही अपना कल्याण है। यह अज्ञान नामक मिथ्यात्व है। भो ज्ञानी! व्यवहाररत्नत्रय से निश्चय रत्नत्रय को प्राप्त करके भव्यजीव अभूतपूर्व सिद्ध–अवस्था को प्राप्त कर लेता है, जो आज तक प्राप्त नहीं हुई थी।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने शुद्धभाव अधिकार में चारित्र की प्रधानता से कथन किया। जबतक बुद्धिपूर्वक पाप–परिणति का अभाव नहीं करता, तबतक मनुष्य का व्यवहारचारित्र नहीं और व्यवहारचारित्र के अभाव में निश्चयचारित्र नहीं। व्यवहारचारित्र कारणसमयसार है और निश्चयचारित्र कार्यसमयसार है। कारणसमयसार के अभाव में कार्यसमयसार नहीं होता।

भो ज्ञानी! कभी निश्चय की प्रधानता होती है, कभी व्यवहार की प्रधानता होती है। गौण हो सकते हैं, पर अभाव किसी का नहीं होता है। परन्तु कथनकर्ता को चाहिये कि दस लाइनें आप एक की प्रधानता से कह रहे हो, तो एक लाइन दूसरे की जरूर कह दें, अन्यथा एक–ही–एक को सुनता रहेगा तो श्रोता की धारणा बन जाती है कि यही परम सत्य है, जबकि अपने–आपमें दोनों सत्य हैं। अंतिम लक्ष्य आत्मा को प्रदान करानेवाला निश्चयनय नहीं है। जब भी सिद्धि मिलेगी, निश्चयनय से नहीं मिलेगी, निश्चयचारित्र से मिलेगी। जब भी निश्चयचारित्र होगा, तो व्यवहारचारित्रपूर्वक ही होगा। इसके अभाव में निश्चयचारित्र नहीं होगा। नय चाहे व्यवहार हो चाहे निश्चय हो, दोनों कथनशैलियाँ हैं, परन्तु मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो व्यवहार–निश्चयचारित्र है।

जयति सहजबोधस्तादृशी दृष्टिरेषा, चरणमपि विशुद्धं तद्विधं चैव नित्यम्।
अघकुलमलपंङ्कानीकनिर्मुक्तमूर्तिः, सहजपरमतत्त्वे संस्थिता चेतना च।। कलश 75।।

आचार्य श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इस अधिकार के अंतिम मंगलरूप कलश में लिख रहे हैं कि सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र ये सदैव जयवन्त हों। आत्मा का जो सहज निश्चयात्मक परमस्वभाव है उसमें ही परिणमन करना, उसका नाम तप है। ये निश्चय तप की परिभाषा है। निज–आत्मा में लीन होना, ये निश्चयतप है। अंतरंग व बहिरंग तप का तपना, ये व्यवहारतप है। छह अंतरंग और छह बहिरंग–ये बारह व्यवहारतप हैं।

भो ज्ञानी! व्यवहार तप में दो दृष्टियाँ होती हैं–शासन प्रभावना और संयम साधना। आपने अनशन तप किया। सबको मालूम कि आज महाराजश्री का उपवास है। लोगों की भावना बनती है कि ऐसा भी हो सकता है कि चौबीस घंटे कुछ नहीं लिया। इस साधना से लोगों के मन में जिनशासन के प्रति श्रद्धान बढ़ता है और स्वयं की परीषह/उपसर्ग सहने की क्षमता बढ़ती है। बहिरंग तप की साधना अंतरंग तप की सिद्धि के लिये है। कषायों का उपशमन, ये अंतरंग तप है।

भो ज्ञानी! आप किसी वस्तु का उपयोग कर रहे हो और मुख से चिल्ला रहे हो कि नहीं–नहीं, हमें राग नहीं है। 'नहीं है'–ये तो कहने की बातें हैं। जब तुम शुद्धोपयोग में जाओगे तो पिच्छि–कमंडलु भी तुम्हारा नहीं होगा जिस पिच्छि के बिना तुम एक कदम भी नहीं चल सकते हो। यदि मुनिराज पिच्छि के बिना सात कदम से आगे बढ़ते हैं, तो प्रायश्चित प्रारंभ हो जाता है। पाँच (पंचक) उपवास लगातार करने होते हैं, चाहे गर्मी हो या ठंड उस पिच्छि–कमंडलु के प्रति भी जब शुद्धोपयोग में हैं, तो अपने उपयोग में हैं, पिच्छि–कमंडलु भी अपने चतुष्टय में है। जब रागदशा में आयें, छठवें गुणस्थान में आयें, तो पिच्छि–कमंडलु पर हाथ पहुँच गया, क्योंकि मार्जन करेंगे, वो राग है, राग को छोड़ने का राग है।

भो ज्ञानी! लोग भेद नहीं समझ पाने के कारण पुण्य–आस्रव और पाप– आस्रव को समान मान लेते हैं। पर ऐसा नहीं है। एक हाथ में काँटा और एक पैर का काँटा। जबतक पैर का काँटा नहीं निकल जाये, तबतक हाथ का काँटा उपादेय है और जब पैर का काँटा निकाल लिया, तो कौन रखेगा? ऐसे ही योगी जब कर्म से निर्मुक्त हो जाता है, तो जिस पिच्छि–कमंडलु को मुनि–अवस्था में धारण किया था, वह छूट जाता है। इसलिये केवलीभगवान् के हाथ में पिच्छि–कमंडलु नहीं रहता। जबतक सराग अवस्था रही है, आहार–निहार की व्यवस्था के लिये पिच्छि कमंडलु है।

'भावसंग्रह' में देवसेन स्वामी ने लिखा है कि आज के मुनिराज को नमस्कार हो। चतुर्थकाल का मुनि एकहजार वर्ष तक तप करे, और पंचमकाल का मुनि एकदिन साधना करे, बोले–बराबर है क्योंकि उनकी आयु, उनका संहनन, उनके लिये वैराग्य के निमित्त, सबकुछ हीन है, पर फिर भी वे लगे हुये हैं। भैया! जब हम प्रतिमा के सामने जाते हैं, तो घर की अपेक्षा वहाँ परिणामों में निर्मलता आती है। साक्षात् तीर्थंकर विराजमान हों, वहाँ की निर्मलता/विशुद्धि का क्या कहना? वहाँ अति विशुद्धि होती है। स्वयं के उपादान के साथ–साथ निमित्त भी (द्रव्य, क्षेत्र, कालादि भी) अपनी विशुद्धि में कारण बनता है।

आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि सहज परमतत्त्व में स्थित जो चैतन्य है, वो जयवन्त हो। ये शुद्धोपयोग की दशा है। शुद्धोपयोग सप्तम गुणस्थान से प्रारंभ होता है। किन्हीं आचार्यों की दृष्टि से धर्म्यध्यान दसवें गुणस्थान तक चलता है, क्योंकि साम्परायिक भाव है, और ग्यारहवें गुणस्थान से शुक्लध्यान प्रारंभ होता है। किन्हीं–किन्हीं आचार्यों ने सप्तमगुणस्थान तक धर्म्यध्यान स्वीकारा है।

भो ज्ञानी! पाँच इंद्रियों के विकारों से रहित यह दिगम्बर वीतराग संत की चर्या है। हे योगी! तिल–तुष मात्र भी, सूई की नोक के बराबर भी परद्रव्य को स्वीकार मत करना। जिसकी दृष्टि में शरीर मात्र भी परिग्रह है, वो पर को अपना कैसे मानेगा? इसलिये इस मुद्रा में अन्य मुद्रा की कोई आवश्कता नहीं है। इस मुद्रा को प्राप्त करके भी अन्य मुद्रा को स्वीकार कर लिया, तो भो ज्ञानी! तू जिनमुद्रा का शत्रु है। हे योगी! तू नमोस्तुशासन का शत्रु है क्योंकि आपने निर्दोष चर्या का घात किया है। आप नमोस्तुशासन के शत्रु हैं, क्योंकि परद्रव्य को स्वीकार कर रहे हो, अन्य मुद्रा को स्वीकार कर रहे हो।

श्री पद्मप्रभमलधारिदेव नियमसार की 'तात्पर्यवृत्ति' नामक टीका में शुद्धभाव अधिकार का समापन करते हुए कह रहे हैं कि जिसतरह सूर्य कमल के खिलने में सहायक होता है, वैसे ही सुविज्ञों के लिये सहायक बने। शुद्ध–भाव अधिकार नामक तृतीय श्रुतस्कन्ध पूर्ण हुआ।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नमोऽस्तु शासन जयवन्त हो।

❖ ❖ ❖

त्थानिका : **अहिंसाव्रत के स्वरूप का कथन।**

कुलजोणि–जीवमग्गणठाणाइसु जाणिऊण जीवाणं।
तस्सारंभणियत्तण–परिणामो होइ पढमवदं।।56।।

संस्कृत छाया : **कुलयोनिजीवमार्गणास्थानादिषु ज्ञात्वा जीवानाम्।**
तस्यारम्भनिवृत्तिपरिणामो भवति प्रथमव्रतम् ।।56।।

अन्वयार्थ : (कुलयोनिजीवमार्गणास्थानादिषु) कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान आदि में (जीवानाम्) जीवों को (ज्ञात्वा) जानकर (तस्य) उसके (आरम्भनिवृत्तिपरिणामः) आरम्भ से निवृत्तिरूप परिणाम वह (प्रथमव्रतं) प्रथमव्रत–पहला महाव्रत (भवति) होता है।

भो ज्ञानियो! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ग्रन्थराज नियमसार में व्यवहार चारित्र अहिंसाव्रत के स्वरूप का कथन कर रहे हैं। कुछ लोगों के मन में प्रश्न आते रहते हैं कि करणानुयोग पढ़ने से क्या फायदा? अरे भाई! करणानुयोग नहीं समझोगे, तो न चरणानुयोग पलेगा, न द्रव्यानुयोग प्राप्त होगा। गुणस्थान, मार्गणास्थान करणानुयोग का विषय है। आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि कुलस्थान, योनिस्थान, जीवस्थान और मार्गणास्थान इनको जब तू जान लेगा कि जीव है, तो उनके आरंभ से निवृत्त हो जायेगा और जबतक नहीं जानेगा, तबतक तू जीवरक्षा कैसे करेगा?

भो ज्ञानी! आपको ये मालूम ही नहीं है कि नौ मलद्वारों पर जीव होते हैं कि नहीं? निर्ग्रन्थ–मुनि सामान्यस्थानों पर मलमूत्र क्षेपण नहीं करते, क्यों? जीवस्थान है। आप कहें कि महाराज जी! गीले–स्थान पर लघुशंका को जायें? नहीं जायेंगे, क्योंकि वहाँ पर सम्मूर्च्छन जीव और त्रस आदि जीव भी हैं और आपके शरीर से निकला मल गरम होगा, क्षारीय होगा तो जीवों की नियम से विराधना होगी, अहिंसा महाव्रत नहीं पलेगा। स्खंडल–भूमि अर्थात् जली हुई भूमि, श्मशान– घाट आदि पर शौच आदि क्रिया को जाते हैं, क्योंकि वह भूमि जीवों से रहित होती है। कोई बोले कि ऐसी व्यवस्था मैं यहीं कर दूँगा। लेकिन जहाँ तुम रोज जाओगे, उसी एक स्थान पर, तो मार्जन कैसे होगा? इसलिये यह राजमार्ग नहीं है, बाहर ही जाना चाहिये।

भो ज्ञानी! कोई साधु आया, उसकी समितियों का पालन करने में आपका सहयोग अनिवार्य है। भविष्य में सब जगह बस्ती बस जायेगी, फिर आपको छत पर व्यवस्था करनी पड़ेगी, तो परिणाम क्या होगा? आपको साधु की चर्या के लिये एक भूमि खरीदकर डाल देनी चाहिये। ध्यान रखना, आहारचर्या की व्यवस्था तो सर्वत्र हो जाती है, पर निहार की व्यवस्था का पहले ध्यान रखो। समिति का पालन कराना तुम्हारा धर्म है।

'चारित्र–चक्रवर्ती' ग्रंथ में लिखा है कि आचार्य शांतिसागर महाराज से चातुर्मास की प्रार्थना की गई और आचार्य महाराज पधार भी गये। चातुर्मास के काल में लोगों में बड़ी भक्ति उमड़ती है। एक सेठ जी आये, बोले–महाराज जी! आपको इस कमरे में ठहरना है। महाराज जी बोले–क्यों? हमने चार महीना पहले व्यवस्था कर ली थी, एक नया कमरा बनवा लिया था। महाराज जी ने अपनी पिच्छि–कमंडलु, उठाया और पेड़ के नीचे बैठ गये। सेठ जी बोले महाराज जी! कमरा तो है। आचार्यश्री बोले ये कमरा हमारे उद्देश्य से बना है और मुनिमहाराज आरंभी–हिंसा के त्यागी होते हैं। जितनी हिंसा हुई होगी, सबका उद्देश्य शांतिसागर महाराज हैं। धन्य है उनकी चर्या, और वे नये कमरे में नहीं रुके। राजमार्ग तो ये है कि नगर में मुनिमहाराज आये, तो उनके उद्देश्य से तुम कमरा भी साफ नहीं कर सकते, चौका भी उनके उद्देश्य से नहीं लगा सकते। जैसा बनता है, उसीमें से भोजन कराओ। कोई मुनिराज आये, कमरे में ठहरे, उनके लिये वो उद्दिष्ट नहीं है क्योंकि उनके लिये नहीं बना है। कभी–कभी श्रावक भक्ति की भाषा में चौका में बोल जाते हैं कि यह तो आपके लिये ही बनाया है, आप ले लो। यह उद्दिष्ट हो गया। भो ज्ञानी! दृष्टि ये होना चाहिये कि हम उत्तम–पात्र को दान देंगे, पर ये दृष्टि नहीं कि हम अमुकसागर को देंगे। यदि ये दृष्टि है, तो आप दोषी हो। मुनिराज को मालूम चलने पर उन्होंने लिया है तो वे भी दोषी हैं। इसलिये आपकी दृष्टि होनी चाहिये कि शुद्धरसोई स्वयं के लिये बना रहे हैं और जो पात्र आ गये, तो संतुष्टि–भाव से हम उनको दान देंगे। उद्देश्य–पूर्वक बनाओगे, तो दोष आयेगा।

भो ज्ञानी! आरंभ की निवृत्ति के लिये पहला व्रत होता है–अहिंसा महाव्रत। चातुर्मास में पत्थरों पर नहीं चला जा सकता, क्योंकि काई (शैवाल) लग जाती है, वो भी एकेन्द्रिय जीव है, साधारण वनस्पति है। एक के आश्रय से अनेक जीव हैं, इसलिये उसपर पैर नहीं रखा जा सकता। कुल, योनि, मार्गणा आदि के विषय पूर्व में ही कह चुके हैं, इसलिये

आचार्यमहाराज पुनरुक्ति दोष के कारण पुनः नहीं कह रहे हैं। पुनरुक्ति अर्थात् पीसे को पीसना अर्थात् एक ही विषय को बार–बार कहना। यह पिष्ट–प्रेषण भी कहलाता है।

भो ज्ञानी! सिद्धान्तशास्त्र में पुनरुक्ति दोष आता है, अध्यात्मशास्त्र में नहीं आता है। अध्यात्मशास्त्र भावनाग्रन्थ हैं और भावना का तात्पर्य है कि जिसको भाया जाये। इष्टोपदेश, समाधिशतक, समयसार आदि अध्यात्मग्रन्थ हैं। इनमें है ही क्या? वो ही आत्मा–ही–आत्मा है। उसी को कहने की शैली बदलती जा रही है, लेकिन है वो ही। परन्तु सिद्धान्तग्रन्थ में एकबार कह दिया, वही विषय आगे बढ़ेगा। इसप्रकार मार्गणा, जीवस्थान आदि के विषय को जानकर, उनकी रक्षा के लिये जो प्रतीति है, वही अहिंसा है। ध्यान रखना, उन जीवों की मृत्यु हो या न हो, यदि उनके घात के परिणाम नहीं हैं, तो सावद्य का दोष नहीं लगता। एक बोले मैं रात्रिभोजन नहीं करता हूँ, रात्रि में हवन नहीं करता हूँ, अनछना पानी नहीं पीता, पर मेरा नियम नहीं है, मैं नियम में बंधना नहीं चाहता। भैया! तो तुम्हारा व्रत ही नहीं है, क्योंकि तुम्हारा प्रयत्न नहीं है। सहजता में चला रहे हो और जिसदिन आवश्यकता पड़ जायेगी तो सोचोगे–कौन हमारा त्याग है और आराम से खाने बैठ जाओगे परन्तु जिसका त्याग है, व्रत है, वो कहेगा नहीं, भैया! मेरा तो त्याग है।

भो ज्ञानी! ध्यान रखना, जबतक प्रतिज्ञा नहीं ली है और कोई व्रत भी कर रहा है तो व्रत का परिणमन अधूरा रहेगा। पूछा–क्यों? बोले मैं पाप तो नहीं कर रहा, मैं खा नहीं रहा। अरे भाई! तो त्याग क्यों नहीं कर रहे हो? अंतरंग में आकांक्षायें बैठी हुई हैं। अंतरंग में राग बैठा है और राग तो बन्ध करा रहा है, क्योंकि तुम्हारे अंदर ये राग बैठा है कि कभी आवश्यकता पड़ गई तो? बस, वो ही तुम्हें फँसा कर बैठा है। इसलिये जितनी तुमने बुद्धिपूर्वक गुरुचरणों में प्रतिज्ञा की है, वही तुम्हारा व्रत है और जिसकी प्रतिज्ञा नहीं की है, वो 'व्रत' संज्ञा को प्राप्त नहीं होता है।

आचार्य महाराज ने स्पष्ट किया है कि बुद्धिपूर्वक/विवेकपूर्वक जीवहिंसा का त्याग नहीं किया है तो इसके बिना आपका अहिंसा–महाव्रत का पालन नहीं होगा। जीवों के रक्षा की परिणति ही अहिंसा होती है। उन जीवों का मरण हो अथवा न हो, किन्तु प्रयत्न परिणाम के बिना सावद्यदोष का परिहार नहीं होता। इसलिये प्रयत्न में तत्पर होने पर ही हिंसा की परिणति का अभाव होने से अहिंसाव्रत होता है। आचार्य समंतभद्र स्वामी 'स्वयंभूस्तोत्र' में नमिजिनेन्द्र की स्तुति करते हुए कह रहे हैं कि–

अहिंसा भूतानां, जगति विदितं ब्रह्म परमं, न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।
ततस्तत्सिद्धयर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं, भवानेवाऽत्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः।। स्वयंभूस्तोत्र।।

यदि विश्व में कोई परमब्रह्म है, तो अहिंसा ही है। प्राणियों के प्रति जो करुणा है, दया है, वही अहिंसा जगत में परमब्रह्म है। जिस आश्रम के विधान में अल्पमात्र भी आरंभ है, वहाँ पर अहिंसा नहीं है। अहिंसा का लेशमात्र पालन आरंभ में नहीं है। हे नमिप्रभु! आपने अहिंसा की सिद्धि के लिये समस्त अंतरंग–बहिरंग परिग्रह का त्याग कर दिया है और आप विकृतवेश तथा उपाधि–परिग्रह में भी रत नहीं हुये।

इस अहिंसाव्रत का समर्थन करते हुए टीकाकार पद्मप्रभमलधारि देव कलश में कह रहे हैं–

त्रसहतिपरिणामध्वान्तविध्वंसहेतुः सकल–भुवनजीवग्रामसौख्ययप्रदो यः।
स जयति जिनधर्मः स्थावरैकेन्द्रियाणां विविधवधविदूरश्चारुशर्म्माब्धिपूरः।। कलश 76।।

जिनेन्द्रभगवान् के द्वारा कथित जैनधर्म सभी प्रकार के स्थावर और त्रस जीवों के घात के परिणामों से दूर रहने को कहता है। जब घात के परिणामों से दूर रहने को कहा गया है, तो घात की तो कल्पना ही नहीं है। जैनदर्शन में षट्–निकाय के जीवों के घात के विचार से बचने को कहा गया है। स्थावर जीवों को पाँच निकाय अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति को अलग–अलग कहा गया है। क्योंकि लोगों को लगता ही नहीं है कि ये भी जीव हैं। शेष दो इंद्रिय से पंचेद्रिय को एक निकाय में रखा गया है। जैनधर्म संसार के समस्त जीवों की रक्षा का कथन करता है, इससे समस्त जीव सुखी होते हैं। कहा भी गया है ''हिंसा रहिये धम्मे'' हिंसा से रहित ही धर्म है। जो अहिंसा से युक्त धर्म है, वही उत्तमसुख का सागर है। आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि ये धर्म जो जिनधर्म है, आज भी जयवन्त हो रहा है और होता रहेगा।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **सत्य महाव्रत और अचौर्य महाव्रत का कथन।**

रागेण व दोसेण व, मोहेण व मोसभासपरिणामं।
जो पजहदि साहु सया, विदियवदं होइ तस्सेव।।57।।
गामे वा णयरे वाऽरण्णे वा पेछिऊण परमत्थं।
जो मुवदि गहणभावं, तिदियवदं होदि तस्सेव।।58।।

संस्कृत छाया : **रागेण वा द्वेषेण वा मोहेन वा मृषाभाषापरिणामम्।**
यः प्रजहाति साधुः सदा द्वितीयव्रतं भवति तस्यैव।।57।।
ग्रामे वा नगरे वाऽरण्ये वा प्रेक्षयित्वा परमर्थम्।
यो मुञ्चति ग्रहणभावं तृतीयव्रतं भवति तस्यैव।।58।।

अन्वयार्थ : (रागेण वा द्वेषेण वा मोहेन वा) राग से अथवा द्वेष से अथवा मोह से होनेवाले (मृषाभाषा परिणामं) असत्य भाषा के परिणाम को (यःसाधुः प्रजहाति) जो साधु छोड़ता है (तस्य एव सदा) उसी के सदा (द्वितीयव्रतं भवति) द्वितीय महाव्रत होता है।

(ग्रामे वा नगरे वा अरण्ये वा) ग्राम में, अथवा नगर में अथवा वन में, (यः परं अर्थं प्रेक्षयित्वा ग्रहणभावं मुंचति) जो साधु परधन को देखकर उसके ग्रहण करने के भाव का त्याग कर देता है (तस्य एव तृतीयं व्रतं भवति) उसके ही तीसरा अचौर्यव्रत होता है।

मनीषियो! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्दस्वामी ने व्यवहारचारित्र अधिकार के अंतर्गत प्रथम–महाव्रत अहिंसा–महाव्रत की चर्चा करते हुये कहा कि जहाँ लेशमात्र भी परिग्रह नहीं है, वहीं परिपूर्ण अहिंसा पलती है। यदि अणु प्रमाण भी परद्रव्य का संयोग है, जहाँ अंतरंग व बहिरंगपरिग्रह दृष्टि में है, वहाँ अहिंसा संभव नहीं है। ये आत्म–आश्रम की व्यवस्था है। ये निर्ग्रन्थ योगी की वृत्ति गगनतुल्य निर्लेप हैं। आकाश में संपूर्ण द्रव्य हैं, फिर भी आकाश किसी द्रव्य को नहीं स्वीकारता। इसीप्रकार से लोक में निवास करके भी निर्ग्रन्थ योगी, लोक के पदार्थ दृष्टिगत होने पर भी किसी पदार्थ में अपनी दृष्टि नहीं ले जाता है। इसलिये 'धवला' जी प्रथम पुस्तक में निर्ग्रन्थ योगी के अनेक विशेषण दिये हैं। एक विशेषण है कि वृषभ (बैल) के समान कहा है, जिन्हें घास से प्रयोजन है, अन्य किसी

पदार्थ से प्रयोजन नहीं है। इसी प्रकार से नवधाभक्ति से युक्त श्रावक ने जो ग्रास दिया है, मात्र उस ग्रास का प्रयोजन रखना और अन्य किसी प्रयोजन को लेकर मत चलना। इसप्रकार से जहाँ अपरिग्रह सामने आ जाता है, समझ लो कि संपूर्ण व्रत पल जाते हैं।

भो ज्ञानी! अपरिग्रह से संपूर्ण व्रत पल जाते हैं क्योंकि परिग्रह के पीछे तू झूठ बोलता है। गृहणी ही गृह है। जब गृहणी नहीं, तब घर नहीं। भगवान् महावीरस्वामी ने ब्रह्मचर्य के विषय में कथन किया उसमें दृष्टव्य है। जहाँ परिग्रह ही अब्रह्म है और स्त्री परिग्रह में है, यहाँ कह रहे हैं कि जिसके परिग्रह का विसर्जन हो चुका है, उसके शेष व्रत भी पल रहे हैं। भरतजी घर में वैरागी, ये सब व्यवहार उपचार की बातें हैं। उदासीनवृत्ति कहें, निर्मल भावना कहें, परन्तु वैरागी घर में ही हैं, तो फिर दीक्षा लेने क्यों गये? इसलिये ये कथानक है। लोगों को समझाने की शैलियाँ हैं, पर सिद्धान्त नहीं है। सिद्धान्त तो ये है कि भरतेश को वैराग्य नहीं, घर से उदासता हुई थी और उदासता के माध्यम से वैराग्य की वृद्धि हुई, वैराग्य से चारित्र की प्राप्ति हुई चारित्र से ध्यान की सिद्धि हुई। ध्यान से केवलज्ञान की प्रगटता हुई और केवलज्ञान से निर्वाण की प्राप्ति हुई।

भैया! कभी–कभी हम भरतेश के माध्यम से कितने भरतेशों को नीचे ले जाते हैं। ये तो लोगों का निजी सोच हो जाता है। अपन कभी कहते हैं कि दौड़ते–दौड़ते दो रोटियाँ खाई और हमको बाहर जाना था, सो चल दिये। क्या कोई दौड़ते–दौड़ते रोटी खाता है? इसका तात्पर्य यह था कि शीघ्र भोजन किया और चल दिया। 'भरतेश–वैभव' में उल्लेख आया है कि भरतेश बहुत उपवास करते थे, बहुत ध्यान करते थे। राज्यशासन के साथ–साथ व्रत भाव रखते थे, इसलिये कह दिया कि भरतेश घर में वैरागी। वास्तव में जिसदिन वैरागी बने थे, उसदिन उन्हें राज्य नहीं दिखा था।

भो ज्ञानी! सत्य–अणुव्रत, सत्य–महाव्रत, भाषासमिति, वचनगुप्ति, दस धर्मों में सत्यधर्म, में श्रावक के अणुव्रतों में सत्य अणुव्रत, इस सब को इतना महत्त्व क्यों दिया है? सबसे श्रेष्ठ है वचनगुप्ति और वचनगुप्ति का पालन नहीं हो रहा है तो भाषासमिति नहीं पल रही। सत्य–महाव्रत कह रहा है कि आपको रागवश, द्वेषवश, लोभवश किसी भी प्रकार का असत्य भाषण नहीं करना है। जो निर्ग्रन्थ है, लोभी नहीं है, लालची नहीं है, किसी से राग नहीं है, किसी से द्वेष नहीं है, वही सत्य कह पायेगा और जरा भी राग और लोभ है, तो सत्य तुम्हारा गड़बड़ हो जाता है। व्यक्ति क्रोध में झूठ बोलता है, लोभ में झूठ बोलता है, भय से झूठ बोल देता है और हँसी–हँसी में झूठ बोल देता है।

भो ज्ञानी! ये सब कषायभाव हैं, पहले इनका त्याग करो। आगम के अनुसार ही भाषा बोलें। कम से कम बोलोगे, तो सत्य चल जायेगा। जितना ज्यादा बोलोगे उतना ज्यादा झूठ बोलोगे। चाहे आप झूठ न भी बोले, फिर भी सीमा से अधिक बोल रहे हो तो भी असत्य है, क्योंकि आप भाषा–वर्गणा का दुरुपयोग कर रहे हो। आप महाव्रती हैं और हिंसात्मक शब्द का उपयोग कर रहे हो, अश्लील शब्द का उपयोग कर रहे हो, क्रोध से युक्त शब्द का उपयोग कर रहे हो, श्रावक के शब्द का उपयोग कर रहे हो तो सत्य होने पर भी वो सब असत्य ही है। जिन शब्दों के माध्यम से स्व–पर में विसंवाद की वृद्धि होती हो, उसे आचार्यों ने सत्य का विघातक तो कहा ही है, परन्तु साथ में तुम्हें चोरी का भी दोष लगेगा। समझना जिनवाणी को, आपने तो भगवान् जिनेन्द्रदेव के शासन की आज्ञा का उल्लंघन किया है, इसलिये आपको चोरी का दोष लगेगा।

मनीषियो! ये महाव्रतों का कथन चल रहा है। आप तो महाव्रत पर आस्था रखना, परन्तु किसी को देखकर अश्रद्धान मत बनाना। व्यक्ति और वस्तु दो चीजों का ध्यान रखना। राग किसमें होता है? व्यक्ति और वस्तु में। न व्यक्ति मेरा होगा, न वस्तु मेरी होगी, लेकिन अपना व्रत जरूर नष्ट हो जायेगा। ये पेन मैं आपको नहीं देना चाहता, आप माँग रहे थे, हमने रख लिया और कहा कि नहीं है। भगवन्! आपने सत्य–महाव्रत को तुच्छ पेन के पीछे नष्ट कर दिया। ये वस्तु आपके साथ नहीं जायेगी। एक व्यक्ति के राग के पीछे राजा वसु ने अपने पूरे जीवन की सत्यता को नष्ट कर दिया। ध्यान रखना, जहाँ असत्य का पोषण होता हो, वहाँ साधक मौन होता है, क्योंकि वस्तु महान नहीं, व्यक्ति महान नहीं, व्रत महान है। व्रत का पालन संभव नहीं, क्यों? वस्तु, व्यक्ति जबतक दृष्टि में रहेंगे, तबतक व्रत जीवन में आनेवाला नहीं है। इसलिये अब चरणानुयोग को समझो। अलौकिक क्यों कहा है साधु को? आचार्यों ने इस शब्द का उपयोग किया है। मुनियों की अलौकिक–वृत्ति है। वृत्ति से तात्पर्य चर्या से है।

भो ज्ञानी! द्रव्य तो अलौकिक है, तभी तो वृत्ति से तात्पर्य चर्या से है। भावों में निर्मलता नहीं होगी तो वृत्ति निर्मल कैसे बनेगी? भाव यानि द्रव्य किसमें है? आत्मद्रव्य में। उसी की महिमा के लिये तो सब व्रत हैं। उसी की महिमा के लिये सब तप हैं। मात्र आत्मद्रव्य की महिमा के लिये सबकुछ कथन चल रहा है। अब देखना कि जहाँ एक जीव जरा–सी वस्तु, जरा–से व्यक्ति के पीछे अपनी सत्यता को खो बैठता है, वहाँ वे निर्ग्रन्थ योगी जीवन देने को तैयार हैं, परन्तु अपने महाव्रत छोड़ने के लिये तैयार नहीं है,

इसीलिये अलौकिक वृत्ति है। क्यों कहा जाता है कि विहार करो? अध्ययन आदि भी चल रहा है, फिर भी यही मान कर चलो, सबके साथ रहकर भी ज्यादा सम्बन्ध स्थापित मत करो। अपने आपमें व्यस्त रहोगे तो लोगों को समय ही नहीं मिलेगा। खाली समय रखोगे तो लोग बैठेंगे। उनका दोष नहीं है। लोग कहीं लड़कर आयेंगे तो वो सुना देंगे, कुछ खरीद कर लायेंगे तो वो सुना देंगे। यहाँ–वहाँ जो सुनके आयेंगे वो सुना देंगे। ये आपका विषय था कि सुनाने का मौका आपने दिया। जब हम खाली रहेंगे तो सुनना पड़ेगा। ज्यादा सम्बन्ध स्थापित नहीं होगा तो राग नहीं बढ़ेगा।

भो ज्ञानी! जीव राग से असत्य बोलता है, जीव द्वेष से असत्य बोलता है। तीसरा हेतु मोह से झूठ बोलता है। घर में कोई द्रव्य रखा है, आपसे कोई माँगता है तो मना कर देते हो, क्योंकि देना नहीं चाहते। मोह चलता है दसवें गुणस्थान तक। चारित्रमोह चल रहा है, दर्शनमोह नहीं चल रहा है। दर्शनमोह चौथे–गुणस्थान में विलीन हो गया। हे योगेन्द्र! अभी तुम वीतरागी नहीं हुये हो, सराग–अवस्था है, कषाएँ नष्ट नहीं हुई हैं। उपशमन हुआ है। यदि आपने सम्बन्ध स्थापित किये तो फिर प्रकट हो जायेंगी।

भो ज्ञानी! सजगता रखते हो कितनी? रोटी चूल्हे में नहीं घुमाओगे तो जल जायेगी। राग–द्वेष के बीच में अपने आपको घुमाकर नहीं रखा तो तुम्हारा चारित्र झुलस जायेगा। ऐसा मोह आता है कि लगता ही नहीं कि मैं क्या हूँ, क्या नहीं हूँ? इतने गहरे में चला जाता है कि मेरे लिये भी ऐसा होना चाहिये था, मेरा भी ऐसा होना चाहिये था, हम भी कम नहीं हैं। ऐसे भाव आ गये जीव के मन में तो व्रत विलीन हो गया। न वस्तु तेरी है, न व्यक्ति तेरा, पर व्रत तेरा चला गया। सुना आप तो बोलने की बात कर रहे हो, झूठ बोलने के परिणाम/भाव भी यदि आ गये, तो व्रत गया।

भो ज्ञानी! परभाव का कर्त्ता जहाँ बना, वहाँ नियम से मोह आयेगा, उसे कोई रोक नहीं सकता है। जहाँ परभाव का कर्त्तृत्व भाव आया, वहाँ मोह ने अपना पैर जमाया, इसलिये योगी अहर्निश निजत्व की ओर दृष्टि भाता है। द्वितीय महाव्रत सत्य–महाव्रत के स्वरूप का व्याख्यान कर रहे हैं। मृषा परिणमन, झूठ परिणाम, सत्य के विपरीत परिणाम राग, द्वेष, मोह से होते हैं। यदि कोई मुनि महाराज बन गये और आसन्न भवितव्यता नहीं होगी, तो व्रतों में निरतिचारिता नहीं आ सकेगी, क्योंकि बोलना मात्र ही सत्य–महाव्रत नहीं है। भाव बनना ही मात्र सत्य–महाव्रत नहीं है।जो तुम्हारी चर्या साधु की है, उसका वैसा पालन करना, ये सत्य–महाव्रत के अंतर्गत है। आपको समय दिया था आराधना

करने के लिये। उससमय में तुम बातें कर रहे हो, तो आपकी चर्या असत्य चल रही है अर्थात् शरीर से तुम्हारा असत्य चल रहा है, क्योंकि पाँचों महाव्रत नवकोटि से धारण किये जाते हैं। जो साधु निकटभव्य हैं, वे असत्य बोलने के परिणाम छोड़ देते हैं, उनका ही दूसरा महाव्रत सत्य–महाव्रत होता है।

वक्ति व्यक्तं सत्यमुच्चैर्जनो यः, स्वर्गस्त्रीणां भूरिभोगैकभाक् स्यात्।
अस्मिन् पूज्यः सर्वदा सर्वसद्भिः, सत्यासत्यं चान्यदस्ति व्रतं किम्।। कलश 77।।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि जो पुरुष अत्यन्त स्पष्टरूप से सत्यवचन को बोलता है, वह स्वर्ग की देवांगनाओं के विपुल–सुख को भोगता है। सत्यव्रती हमेशा इस लोक में सबके के द्वारा पूज्य होता है। हर जगह सत्यव्रती की प्रशंसा सुनने को मिलती है। राजा हरिश्चन्द्र का नाम सत्यवादी होने के कारण लिया जाता है। उन्होंने कोई तपस्या नहीं की। वह मात्र सत्य कहते नहीं थे, उसका पूर्णरूपेण पालन भी करते थे। जब सबकुछ दान कर दिया, तो बेटा राहुल कहता है–पिताश्री! कंठ सूख रहा है। बोले–बेटा! कुछ देर और रुक जाओ क्योंकि ये हमारे देश की सीमा है, ये मैं दान में दे चुका हूँ। आश्चर्य, देखो, जिसभूमि को दान में दे दिया था, उसभूमि का पानी भी बेटे को पिलाना पसंद नहीं कर रहा है। किसी ने दान दिया जिनालय बनाने के लिये। उसमें जितने लोग आये, आप उसी में से सबके भोजन की व्यवस्था कर रहे हो। भो ज्ञानी! आपने सबको निर्माल्य खिलाया है। पंचकल्याणक प्रतिष्ठा थी, बोलियाँ लगी थी आराधना के लिये और आपने भोजन की व्यवस्था उसी पैसे से की है। भो ज्ञानी! व्यवस्था आपको अलग से करना चाहिये। प्रतिष्ठाचार्य, पुजारी आदि के लिये आपको अलग से देना चाहिये अन्यथा निर्माल्य का दोष लगेगा। इसीलिये सिद्धान्त समझो, आगमव्यवस्था यही है।

भैया! योगी का उपदेश मात्र होता है, आदेश नहीं होता है, क्योंकि उपदेश सहज है, व्यक्ति पालन करे चाहे न करे, उसका विषय। ''उपदेश मित्रवत्, आदेश शत्रुवत्'' यह कातंत्र का सूत्र है। उपदेश मित्र के समान होता है, आदेश शत्रु के समान होता है। उपदेश में विधिलिÂ चलता है, करना चाहिये, कर्त्तव्य है। आदेश में लोट् लकार चलता है। 'यहाँ के लोग कैसे हैं कि एक साधु की बात नहीं मानते हैं। हम जा रहे हैं यहाँ से।' लो, कितने राग–द्वेष में पड़ गये? इसलिये भैया,! क्या करना, आपका विषय है। जिनवाणी में एक शब्द लिखा है– 'संक्लेशता की हानि ही साधुता की जननी है' और वही यदि हम नहीं बचा पाये, तो हमारा साधु बनना या न बनना समान है। इसलिये क्लेश में मत पड़ो।

ज्ञानी बोले–महाराजजी! पंचकल्याणक कर रहा हूँ , आपका आशीर्वाद। ठीक है। लेकिन हम तुमसे नहीं कह रहे कि हम आपके यहाँ तभी आयेंगे, जब पहले पंचकल्याणक करोगे। अब तुम्हें जबरदस्ती करना पड़ेगा। भक्ति तो गौण हो गई। योगी किसी को आपत्ति में नहीं डालता। योगी आपत्ति को मिटाने के लिये आते हैं। 'प्रवचनसार' ग्रन्थ में कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि जब तुम सराग अवस्था में हो, तो गृहस्थों को धर्म–आराधना, पूजनादि का उपदेश करें।

भो चेतन! आचार्यमहाराज जो प्रायश्चित देते हैं, वो भी आत्म–उपदेश है। आचार्यमहाराज देखते हैं कि ये प्रायश्चित का पालन करेगा, इस प्रायश्चित से इसका हित होगा। इसलिये उनकी विशुद्धि के लिये प्रायश्चित देते हैं। पर जब शिष्य ढीठ हो जाता है, तो आचार्य उसको जबरदस्ती प्रायश्चित भी नहीं देते। जब उसके स्वयं समझ में आयेगा, गुरु–चरणों में स्वयं पहुँचेगा प्रायश्चित के लिये, तब देंगे। भो ज्ञानी! शुद्धि गुरु की नहीं हो रही है, शुद्धि तो तुम्हारी है। कल्याण तुम्हारा है। गुरु करुणादृष्टि से आपको डाँटेंगे भी, लेकिन फिरभी उपदेश चल रहा है। आदेश में कर्तृत्व भाव है। जिसमें कल्याण निहित हो, वो उपदेश है। डाक्टर कभी–कभी मरीज को डांट देता है। मन नहीं करता फिर भी इसलिये डाँटता है कि ये दवाई खायेगा। 'मूलाचार' में आचार्यपरमेष्ठी को वैद्य और प्रायश्चित को औषधि लिखा है। आचार्यपरमेष्ठी प्रायश्चित देने के पूर्व मौसम, शरीर की स्थिति आदि सब पर विचार करते हैं। ये पंचमकाल है, संहनन हीन है इसलिये समय देखकर, योग्यता देखकर ही प्रायश्चित है। प्रायश्चित का अर्थ संक्लेशता उत्पन्न कराना नहीं है। प्रायश्चित का अर्थ संक्लेशता का शमन करना है। जिससे चित्त की शुद्धि हो, उसका नाम प्रायश्चित है। प्रायश्चित का अर्थ लोगों ने दण्ड लगा लिया है, पर ध्यान रखना, प्रायश्चित का अर्थ दण्ड नहीं है।

भो ज्ञानी! चित्त की शुद्धि के लिये। जो अंतरंग में असंयम–भाव उत्पन्न हुआ, वो बार–बार संक्लेशता उत्पन्न करा रहा है। जैसे ही गुरुचरणों में निवेदन करता है–प्रभु! हमसे अपराध हो गया है, बोले–बस, बेटा! अब ऐसा मत करना। आपने अच्छा नहीं किया। आपके चारित्र में मलिनता आ गई। आपको ये प्रायश्चित दिया जाता है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 58 में तीसरे महाव्रत अचौर्य महाव्रत का कथन कर रहे हैं। भो ज्ञानी! कषाय क्या तेरा द्रव्य है? राग क्या तेरा द्रव्य है? जो द्रव्य तेरा नहीं है, उसे ग्रहण करना क्या कहलाता है? चोरी। निजभाव को छोड़ करके रागभाव

को प्राप्त हो गया है, तो तू परभाव की चोरी कर रहा है। निजभाव को स्वीकारना तेरा द्रव्य है। निश्चयनय कह रहा है कि योगी यह शरीर तेरा नहीं है। यदि तू उसे अपना स्वीकार रहा है, तो तू परभाव को ग्रहण कर रहा है। इसलिये अचौर्य–महाव्रत से दूर हो रहा है। यह है निश्चयदृष्टि। व्यवहारदृष्टि से किसी की रखी हुई, भूली हुई, पड़ी हुई परवस्तु को स्वीकार करने के भाव भी नहीं लाना।

भो ज्ञानी! मुनियों के व्रत को महाव्रत कहते हैं और श्रावक के व्रतों को अणुव्रत कहते हैं। आप किसी जंगल में गये, वहाँ से फल तोड़ कर लाये, किसी के कुयें से पानी खींच कर ले आये, ला सकते थे, क्योंकि श्रावक थे। कहीं मिट्टी की आवश्कता पड़ गई तो आपने मिट्टी का उपयोग कर लिया। मुनिराज को जल, मिट्टी भी श्रावक देते हैं। आप देखना, साधु की वृत्ति को याचकवृत्ति नहीं कह सकते। 'कमंडलु में पानी भर दो' ऐसा नहीं कहते। उल्टा कमंडलु लिया और जा रहे हैं। श्रावक ने समझ लिया, तो उसने भर दिया, क्या अद्भुत चारित्र है? भैया! जब मुनिराज इतने व्रत का पालन कर रहे हैं, तो हमें भी उनके व्रतों के पालन में सहयोगी बनना चाहिये।

भो ज्ञानी! जंगल में आपको कोई सामग्री दिख जाये, आप उपयोग कर लो। लेकिन मुनिराज जा रहे हैं, एक पत्ता भी नहीं उठा रहे हैं। इसलिये निर्ग्रन्थ मुद्रा श्रद्धा का विषय है। कपड़ाधारी के प्रति भय रहता है। आपके घर में कोई आये और बहुमूल्य सामग्री रखी हो, तो आपकी दृष्टि रहती है। इसलिये जिनशासन में कहा गया है कि ऐसा वेश रखो, जिसमें किसी को भ्रम पैदा न हो। महाराज रखेंगे कहाँ, नंगे तो हैं। यह श्रद्धा की मुद्रा इसलिये है कि इसमें छिपाने को कुछ भी नहीं है। तुम वस्तु नहीं छिपा सकते हो, तुम विकार भी नहीं छिपा सकते हो, इसलिये तुम श्रद्धा की मूर्ति हो। इन वसनों में वस्तु भी छिप रही है और वासनायें भी छिप रही हैं, इसलिये इनमें इतनी गहरी श्रद्धा नहीं बन पाती । अणुव्रती के लिये मात्र पानी और मिट्टी की छूट है, शेष किसी सामग्री की नहीं।

भो ज्ञानी! जो इस भूमि पर दूसरे का रखा हुआ, गिरा हुआ अथवा विस्मृत हो गया हो, परद्रव्य को देख करके स्वीकार करने के परिणाम को भी छोड़ देता है, उनके तृतीय महाव्रत अचौर्य महाव्रत होता है।

जो चारों तरफ से बाड़ से घिरा हो, वह ग्राम कहलाता है। चारों तरफ गोपुर–द्वारों से सुशोभित को नगर कहते हैं। जहाँ वनस्पति, पेड़, पौधे, वृक्ष लगे रहते हैं, उसको वन कहते हैं। ऐसे स्थान पर भी रखी हुई, भूली हुई वस्तु के स्वीकार करने के परिणाम को छोड़ देता है, उसके निश्चय ही तीसरा महाव्रत होता है।

आकर्षति रत्नानां संचयमुच्चैरचौर्य्यमेतदिह।
स्वर्गस्त्रीसुखमूलं क्रमेण मुक्त्यङ्गनायाश्च।। कलश 78।।

श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कलश के द्वारा अचौर्यव्रत की महिमा बताते हुये कह रहे हैं कि जो अचौर्यव्रत को धारण करता है, वह इस लोक में रत्नों के समूह को आकर्षित करता है और परलोक में स्वर्ग की देवांगनाओं के सुख को भी प्राप्त करता है और क्रम से मुक्तिरूपी स्त्री के सुख का भी कारण है।

भो ज्ञानी! ध्यान रखना, मुनिराज यदि शौच आदि के लिये निकलते हैं, तो जिस खेत में बाड़ लगी हो, उस खेत में नहीं जायेंगे, क्योंकि स्वामी ने प्रवेश–निषेध के लिये लगाई है। जहाँ पर सभी जा सकते हैं, वहाँ जायेंगे। आहारचर्या में आपके आँगन तक तो बिना पड़गाहन के जा सकते हैं। चतुर्थकाल तथा पंचमकाल में जब जंगलवास था, तो किसी श्रावक को मालूम नहीं था कि महाराज आ रहे हैं या नहीं, वो चर्या को निकले कि नहीं। आँगन तक जन–सामान्य आते–जाते हैं, वहाँ तक जायेंगे। वे एक कायोत्सर्ग प्रमाणकाल तक वहाँ ठहर सकते हैं। इतने में किसी ने पड़गाहन कर लिया, तो ठीक है अन्यथा वापस आ जायेंगे। मुनियों के 32 अंतराय होते हैं। उसमें एक है चांडाल गृह प्रवेश। जैसे ही प्रवेश किया, स्थिति देखकर लगा कि ये तो चांडाल का घर है। अरे! चांडाल के घर में प्रवेश हो गया। बस, अंजुलि छोड़ देंगे और अंतराय मानकर उपवास करेंगे। एक सज्जन बोले–महाराजश्री! आप पाटे पर खड़े होकर आहार क्यों नहीं लेते? भो ज्ञानी! यह भी बत्तीस अंतरायों में एक है। आहारचर्या में चार अंगुल का फासला रखकर आहार करते हैं। उसमें से यदि बीच में से चूहा निकल जाये तो अंतराय है क्योंकि वो हिंसक जानवर है। चिड़िया छू जाये, तो भी अंतराय है। बीट कर जाये, तो भी अंतराय है। दाता और पात्र दोनों को समपाद अर्थात् बराबर ऊंचाई पर होना चाहिये। ये आगमव्यवस्था है।

भो ज्ञानी! जिस भवन का स्वामी नहीं है और आप जबरदस्ती ठहरायेंगे, तो नहीं ठहरेंगे। कहेंगे–उससे पूछकर आये हो? स्वीकृति होने पर भी स्वयं सांकल खोलकर नहीं ठहरेंगे। आप खोल कर जा सकते हैं। वे प्रवेश करने के पूर्व दरवाजे का मार्जन करेंगे, क्योंकि उसके जोड़ों में जीव हो सकते हैं। विवेक तो सब जगह लगाना पड़ेगा। जंगल में कोई खाली स्थान पड़ा है, वहाँ तो रुक सकते हैं। शून्य स्थान हो, जिसे घर के लोगों ने छोड़ दिया हो, उसमें बिना पूछे रुक सकते हैं। किला, पर्वत की गुफा, खंडहर, इनमें किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं है। पर जहाँ पर किसी का स्वामित्व है, वहाँ पूछकर ही बैठेंगे, उपयोग करेंगे।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **ब्रह्मचर्य व्रत एवं अपरिग्रह व्रत का कथन।**

दट्ठूण इच्छिरूवं, वांछाभावं णियत्तदे तासु।
मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरीयवदं।।59।।
सव्वेसिं गंथाणं, चागो णिरवेक्खभावणापुव्वं।
पंचमवदमिदि भणिदं, चारित्तभरं वहंतस्स।।60।।

संस्कृत छाया : **दृष्ट्वा स्त्रीरूपं वांछाभावं निवर्तते तासु।**
मैथुनसंज्ञाविवर्जित परिणामोऽथवा तुरीयव्रतम्।।59।।
सर्वेषां ग्रन्थानां त्यागो निरपेक्षभावनापूर्व्वम्।
पञ्चमव्रतमिति भणितं चारित्रभरं वहतः।।60।।

अन्वयार्थ : (स्त्रीरूपं दृष्ट्वा) स्त्रियों के रूप को देखकर (तासु वांछाभावं निवर्तते) उनमें जो वांछा भाव को नहीं करता है (अथवा मैथुनसंज्ञाविवर्जित परिणामः तुरीयव्रतम्) अथवा मैथुन संज्ञा से रहित जो परिणाम है, वह चौथा महाव्रत है।

(निरपेक्ष भावनापूर्वम्) किसी प्रकार की अपेक्षा से रहित निरपेक्ष भावनापूर्वक (सर्वेषां ग्रन्थानां त्यागः) संपूर्ण परिग्रहों का त्याग करना (चारित्रभरं वहतः पञचमव्रतं इति भणितम्) वह चारित्र के भार को वहन करनेवाले साधु का पाँचवाँ व्रत कहलाता है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी महाव्रतों का कथन करते हुये चौथे महाव्रत ब्रह्मचर्य महाव्रत का कथन कर रहे हैं। जो कामनियों के सुन्दररूप को देखकर उनको भोगने की इच्छा भी नहीं करता है। जो सुन्दर स्त्रियों के मनोहर अंगों के निरीक्षण द्वारा उत्पन्न हुये कुतुहलरूप चित्त की इच्छा का परित्याग करता है। सुन्दर वस्तु को देखने पर बार–बार उसीको देखने की इच्छा होती है, यहाँतक कि उसको छूने की, प्राप्त करने की इच्छा होती है। ऐसी इच्छा का त्याग करनेवाला महाव्रती होता है। महाव्रती की दृष्टि एकबार स्त्री की ओर चली भी जाये, पर दुबारा उस ओर दृष्टि नहीं ले जाता है। पुरुषवेद के कारण नो–कषाय के तीव्र उदय से उत्पन्न जो मैथुन संज्ञा है, उसका भी परित्याग करता

है। महाव्रती कषाय के उदय से होनेवाली मैथुन संज्ञा के विषय में विचार भी नहीं करता है। वह यह सोचता है कि ये तो कषाय नो–कषाय है, मेरी आत्मा का स्वभाव नहीं है। इसलिये मैथुन–भावों का भी महाव्रती परित्याग करता है। महाव्रती शरीर के सुख, स्पर्शन इन्द्रिय से मिलनेवाले सुख का स्मरण भी नहीं करता है। सबप्रकार के शारीरिक, मानसिक प्रवीचारों से रहित होता है।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव सहज शुद्ध आत्मस्वरूप की महिमारूप कलश कह रहे हैं–

भवति तनुविभूतिः कामिनीनां विभूतिं, स्मरसि मनसि कामिंस्त्वं तदा मद्वचः किम्।
सहज परमतत्त्वं स्वस्वरूपं विहाय व्रजसि विपुलमोहं हेतुना केन चित्रम्।। कलश 79।।

जो कामी–पुरुष है, वह कामनियों के शरीर की विभूति को देखता है, उसके मनोहर अंगों का निरीक्षण करता है। वह देखता है कि शरीर कितना सुन्दर है, अंग–प्रत्यंग कितने मनोहर हैं, रूप कितना सुन्दर है। वह उसकी विभूति सौंदर्य में खोया रहता है, उसका स्मरण निरन्तर करता रहता है। उसके लिये आचार्य महाराज कह रहे हैं कि मेरे वचनों से तुझे कोई लाभ होनेवाला नहीं है। संसार में स्त्री–सुख को छोड़ना बड़ा कठिन कार्य है। संसार में जितने युद्ध हुये हैं, उनके पीछे किसी–न–किसी स्त्री का हाथ अवश्य है। ये जीव पर के लिये पर को तो छोड़ देता है, पर निज के लिये पर को नहीं छोड़ पाता है। बड़े–बड़े शूरवीर योद्धा जो रण में महाशत्रुओं को भी पराजित कर देते हैं, वे कामनियों के नयन–बाण के सामने टिक नहीं पाते हैं। ज्ञानी–से–ज्ञानी पुरुष भी स्त्रियों के मोह में फँसकर विवेक को खो देता है। रावण–जैसा ज्ञानीपुरुष भी सीता के रूपजाल में फँसकर विनाश को प्राप्त हुआ। आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जीव की दशा बड़ी विचित्र है। जो निज सहजस्वरूप है, उसमें जो निज आनंद है, उसको ये जीव छोड़कर मोह को प्राप्त हो रहा है। जो स्त्रियों के मोह में आसक्त है, वह निजानंद को प्राप्त नहीं कर सकता है। यदि जीवन में सुखी रहना है, तो श्री और स्त्री से दूर रहना ही पड़ेगा। जो स्त्रियों के मोह में आसक्त है, वह संसार, शरीर, भोगों से विरक्त नहीं हो सकता है। इसलिये स्त्री के प्रति मोह को छोड़कर निजात्म–स्वरूप में लीन हो जाओ, उससे जो आनंद की प्राप्ति होगी, वह इस सुख से अत्यन्त अनुपम है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी पाँच महाव्रतों का कथन करते हुये गाथा संख्या 60 में अपरिग्रह महाव्रत का वर्णन कर रहे हैं। जो महाव्रती होता है, वह किसी भी प्रकार की अपेक्षा से रहित होकर संपूर्ण परिग्रहों का त्याग करता है। चौबीस प्रकार के जो अंतरंग–बहिरंग परिग्रह कहे गये हैं, वह उनका त्याग करता है। इन परिग्रहों का त्याग करने के पीछे उसकी किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं है कि मैं परिग्रहों का त्याग कर रहा हूँ तो लोग मुझे त्यागी कहेंगे, मेरा यश बढ़ेगा, ख्याति बढ़ेगी। परिग्रहों का त्याग करने के पीछे उसकी निरपेक्ष भावना रहती है। जो सम्पूर्ण परिग्रहों का त्याग करता है, वह उत्तम चारित्र को धारण करता है। वह परिग्रहों का त्याग करने के पश्चात यह विचार नहीं करता है कि मैंने इतना कीमती घर छोड़ा, इतना बड़ा व्यापार छोड़ा, मैं इतने समृद्ध परिवार का था। भो ज्ञानी! यदि छोड़ने के बाद भी यह विचार आता है तो तुमने छोड़ा ही नहीं है। भले बाहर से छूट गया है, पर अंतरंग से नहीं छूटा है। कोई कहता है कि मैं इतनी संपत्ति में लात मारकर आया हूँ। भो ज्ञानी! तेरी लात जोर से नहीं लगी थी, इसलिये बार–बार स्मरण आ रहा है।

जो चारों ओर से घेर ले, वह परिग्रह है। जो परिग्रह से रहित हो जाता है, उसे कोई ग्रह नहीं लगता है। इसलिये निर्ग्रन्थों को कोई ग्रह नहीं लगता। संपूर्ण परिग्रह का जिन्होंने त्याग कर दिया है, निज कारणपरमात्मा के स्वरूप में जो स्थित हैं, परमसंयमी हैं, जो हमेशा निश्चय और व्यवहार–स्वरूप श्रेष्ठ चारित्र को धारण करते हैं, जो बाह्य और आभ्यंतरस्वरूप चौबीस–परिग्रह के त्यागी हैं, वे परम्परा से पंचमगति (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं। अपरिग्रह जो पंचमव्रत कहा गया है, वह पंचमगति दिलाने में परम्परा से कारणभूत है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी 'समयसार' जी में कथन कर रहे हैं–

मज्झं परिग्गहो जइ तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।

णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झ।।स.सार 208।।

जो मेरा परद्रव्य परिग्रह हो, तो मैं भी अजीवत्व को प्राप्त हो जाऊँ। जिसकारण मैं तो ज्ञाता ही हूँ, इसकारण मेरे कुछ भी परिग्रह नहीं है। भो ज्ञानी! स्व और पर को एकरूप जानने का हेतु अज्ञान है। इसी अज्ञान से परद्रव्य का ग्रहण होता है। ज्ञानी परिग्रह से

रहित होता है। इसलिये परिग्रह की इच्छा से भी रहित होता है। इसी विषय को टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कलश के द्वारा आत्मस्वरूप में स्थिर होने का उपदेश दे रहे हैं।

त्यजतु भवभीरुत्वाद्भव्यः परिग्रहविग्रहं निरूपमसुखावासप्राप्त्यै करोतु निजात्मनि। स्थितिमविचलां शर्माकारां जगज्जनदुर्लभां न च भवति महच्चित्रं चित्रं सतामसतामिदम् ।।कलश 80।।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं, हे भव्य जीव! यदि तुझे संसार से भय लगता है तो परिग्रह के आग्रह को छोड़ो। उसके ग्रहण को छोड़ो, यहाँ तक कि परिग्रह की भावना भी मत करो, विचार में भी मत लाओ। जो अनन्त, अचल, अविच्छिन्न सुख का आवास है, उस मोक्षपद की प्राप्ति के लिये प्रयास करो अर्थात् अपने निजस्वरूप में स्थिर होओ, अविचल होओ। ये मोक्षपद जगत के जीवों को दुर्लभ है। जो निजस्वरूप में लीन होता है, वही इस दुर्लभपद को प्राप्त कर सकता है। जो निर्ग्रन्थ हैं, साधुपुरुष हैं उनके लिये निजस्वरूप में लीन होना, स्थिर होना कोई आश्चर्य नहीं है। जो असाधु हैं, और संसार, शरीर, भोगों में लवलीन हैं, उनके लिये यह महान आश्चर्य का विषय है।

भो ज्ञानी! यहाँ आचार्यमहाराज परिग्रह के त्याग की प्रेरणा दे रहे हैं। मोक्षपद की प्राप्ति के लिये निजात्मा में अविचल/स्थिर होना जरूरी है। समस्त प्रकार के परिग्रह को छोड़े बिना निजस्वरूप में जीव स्थिर हो ही नहीं सकता है। निजस्वरूप में स्थिर होना दूर है, वह निजस्वरूप का चिन्तवन भी नहीं कर सकता है। जो निर्ग्रन्थ होता है, वह धर्म को भी परिग्रहरूप देखता है, वह धर्म को ज्ञायकरूप देखता है। अतः सभी प्रकार के परिग्रहों का त्याग करो, यदि मुक्तिरमा से मिलन चाहते हो तो।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **ईर्यासमिति, भाषासमिति का कथन।**

पासुगमग्गेण दिवा, अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि।
गच्छइ पुरदो समणो, इरियासमिदी हवे तस्स।।61।।
पेसुण्णहासकक्कस, परणिंदप्पप्पसंसियं वयणं।
परिचत्ता सपरहिदं, भासासमिदी वदंतस्स।।62।।

संस्कृत छाया : **प्रासुकमार्गेण दिवा अवलोकयन् युगप्रमाणं खलु।**
गच्छति पुरतः श्रमणः ईर्यासमितिर्भवेत्तस्य।।61।।
पैशून्यहास्यकर्कशपरनिन्दात्मप्रशंसितं वचनम्।
परित्यक्त्वा स्वपरहितं भाषासमितिर्वदतः।।62।।

अन्वयार्थ : (प्रासुक मार्गेण दिवा) जीवजंतु रहित प्रासुकमार्ग में दिवस में (खलु युगप्रमाणं पुरतः अवलोकयन्) निश्चित ही चार हाथ प्रमाण आगे देखकर (श्रमणः गच्छति) जो श्रमण गमन करता है (तस्य ईर्यासमितिः भवेत्) उस साधु के ईर्यासमिति होती है।

(पैशून्य–हास्य–कर्कश परनिंदात्मप्रशंसितं वचनं) पैशून्य, हास्य, कर्कश, परनिन्दा और अपनी प्रशंसारूप वचन को (पिरत्यक्त्वा) छोड़ करके (स्वपरहितं वदतः भाषासमितिः) स्व और पर के हितरूप वचन को बोलनेवाले साधु के भाषासमिति (स्यात्) होती है।

भो मनीषियो! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी नियमसार जी में पाँच समितियों का कथन करते हुए ईर्यासमिति के विषय में कह रहे हैं कि योगी सूर्य के प्रकाश में चार हाथ भूमि को देखते हुए विचरण करे। वह भूमि जीव–जन्तु से रहित होनी चाहिये। क्यों गमन करे? देववंदना के लिये, गुरुवंदना के लिये और क्षेत्र आदि की वंदना के लिये। इसके अलावा व्यर्थ में गमनागमन न करे। ये भावना भी मन में न लाये कि मैं पहले घूमता था, सैर करता था, ऐसे विकल्प भी मन में हैं, तो समिति का अभाव है। मैं पहले गज पर सवारी करता था, अब कहाँ काँटों में चल रहा हूँ। चलना तो है ही। यदि ऐसे मन में विकल्प आ रहे हैं, तो भो ज्ञानी! वहाँ संयम में दोष लग रहा है। कितना धैर्य? कि कंकड़ चुभ रहे हैं, काँटे चुभ रहे हैं, फिर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ रहे हैं।

भो ज्ञानी! यह श्रमणों की चर्या है। बाईस परीषहों में एक चर्या परीषह है। मार्ग में जा रहे थे और किसी ने पकड़कर बांध दिया। ठीक है, तूने मेरे शरीर को बांधा है, मेरी आत्मा का कहाँ बंधन किया? यहाँतक कि घात करने को तैयार हो गये। बहुत अच्छा, तू मेरे शरीर का घात कर रहा है, पर जो मेरे अंदर है, उसे तू नष्ट नहीं कर सकता। ये शरीर की पीड़ा नहीं है, परन्तु पीड़ा ये है कि मेरे निमित्त से तू कर्म का बन्ध कर रहा है। मनीषियो! यह कहने का विषय नहीं है, यह अनुभव का विषय है। प्रहार किया जा रहा है, शांति से सोच रहा है कि इसका ये स्वभाव है, पर मेरा स्वभाव ये नहीं है। यह चर्या–परीषह है।

भो ज्ञानी! मार्ग में उपसर्ग आये, लेकिन फिर भी शांति से बैठे हो, ऐसा योगी अपने अंतस् में बैठकर उस निर्विकल्प–दशा का वेदन कर रहा है कि वस्तुस्वभाव यही है। जीव कर्मबन्ध के काल को नहीं जानता। कर्मबंध के काल को समझने लगे, तो कर्म करने से भयभीत होने लगे। जिससमय शांतिनाथ स्वामी के जिनालय में रावण ध्यान कर रहा था, राम उसके शत्रु थे। फिर भी राम ने मना कर दिया कि धर्म–आयतन में कोई उपसर्ग नहीं करेगा। ये राम के शब्द थे।

मनीषियो! हम उनके भक्त हैं जो भूमि पर पैर भी प्रासुक–भूमि देखके रख रहे हैं। हम विरागसागर, विद्यासागर की जय बोलते हैं। सोचना पड़ेगा कि धर्मक्षेत्र में अन्यथा प्रवृति हो, तो लोगों का क्या परिणाम होगा? इसलिये भो ज्ञानी! अपने जीवन में उस दृष्टि को लेके चलना कि ये समितियाँ हमारे जीवन में आंशिक रूप से भी आ जायें, तो हमारा कल्याण हो जायेगा।

इत्थं बुद्ध्वा परमसमितिं मुक्तिकान्तासखीं यो, मुक्त्वा सङ्गं भवभयकरं हेमरामात्मकं च। स्थित्वाऽपूर्वे सहजविलसच्चिच्चमत्कारमात्रे भेदाभावे समयति च यः सर्वदा मुक्त एव ।।कलश 81।।

भो मनीषियो! पद्मप्रभमलधारिदेव यहाँ समिति की सुन्दर–महिमा को बतलाते हुए उसके श्रेष्ठफल को कह रहे हैं कि यदि मुक्ति में गमन करना चाहते हो, तो मुक्तिकान्ता की सखी ये पाँच समितियाँ हैं। ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, प्रतिष्ठान ये पांच समिति हैं। एक भी समिति अधूरी होगी तो मुक्तिरमा से मिलन नहीं हो पायेगा। कैसी वाणी बोले? हित, मित, प्रिय। ये भाषासमिति है। कैसे बैठे? देख करके, शोध करके, प्रमार्जन करके। यह आदान–निक्षेपण समिति कह रही है। ऐसा नहीं कि कहीं भी जाकर मल–विसर्जन करके आ गये, प्रासुक–निर्जन्तुभूमि देखकर करे। यह प्रतिष्ठान समिति

कह रही है। एषणा समिति कह रही है कि 46 दोषों को टालकर श्रावक के यहाँ आहार ले। पर जिनके कुल में कलंक है, ऐसे कुल के घर में योगी चर्या न करे। जिसकी पिण्ड–शुद्धि नहीं हो, परिणाम शुद्धि न हो, उसके यहाँ आहार करने की अपेक्षा सल्लेखना करना श्रेष्ठ कहा है। भो ज्ञानी! कठोर आज्ञा है कि ऐसे श्रावक के घर में आहार नहीं करना। वो तो दान दे करके धन्य हो रहा है, परन्तु अशुद्ध पिण्ड का सेवन करने से तुम्हारे परिणाम गंदे हो जायेंगे। पिण्ड–शुद्धि नाम का 'मूलाचार' में एक स्वतंत्र अधिकार है जिसमें आहारचर्या का कथन है। सोलह उद्गम, सोलह उत्पादन, दस एषणा, चार धूम, ये 46 महादोष हैं। इन छियालीस दोषों से रहित एषणा–समिति होती है।

भो ज्ञानी! जबतक कनक–कामिनी निवास करेगी, तबतक मुक्तिवधु के साथ सम्बन्ध होनेवाला नहीं है। राग–द्वेष का कारण कनक–कामिनी है। संसार का बसेरा मात्र इसी पर टिका हुआ है। ये मेरा और ये तेरा, इसमें बसा है। आचार्य विद्यासागर जी से भोजपुर में मिलने गये तो उन्होंने कहा–भैया! कनक–कामिनी यानि श्री और स्त्री से दूर रहना। जो श्री और स्त्री से चिपके, वे गये काम से। श्री और स्त्री ये दो, साधु के पतन के मूलतंत्र हुये हैं। गृहस्थ को फंसाकर रखने वाली यही दो मूल वस्तुयें हैं। कितना भी महान होगा, यदि कहीं श्री के राग में लग गया, तो उनका नाम नीचे आ गया और स्त्री में लग गया, तो फिर कहना ही क्या है?

टीकाचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव भी इसी बात को स्पष्ट कर रहे हैं–हेम यानि श्री और रामा यानि स्त्री, ये दोनों जबतक रहेंगे, तबतक भव का भय नष्ट होने वाला नहीं है। तुम्हारे पास कुछ नहीं हो और जंगल में कहीं फँस जाओ, तो कहीं भी सो जाओ, कोई चिन्ता नहीं है। यदि गले में चैन पड़ी है, तो 'चैन,' चैन से सोने नहीं दे रही है। इसीलिये जबतक श्री और स्त्री हैं, दोनों ही नींद नहीं आने देती। ध्यान रखना, श्री की चिन्ता भी नींद को भंग कर देती है। इसलिये आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि इनको छोड़ दो। चैतन्य–चमत्कार मात्र में विलास करो। जबतक तुम्हारे अंतर में ये गूँजेगा कि ये मेरा, ये तेरा, तबतक चित्–चमत्कार में विलास नहीं है। दोनों से ये परे है। जो कनक–कामिनी से दूर हो, निज–सहज विलास चित् में निमग्न हो, भेदभाव से रहित हो, वे ही जीव सदा मुक्ति को प्राप्त होते हैं।

जयति समितिरेषा शीलमूलं मुनीनां त्रसहतिपरिदूरा स्थावरागणां हतेर्वा।
भवदतपरितापक्लेशजीमूतमाला सकलसुकृतसीत्यानीकसन्तोषदायी।।कलश 82।।

यहाँ टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव समितियों को ही जयवन्त कर रहे हैं। तो जो समितियों का पालन करेगा, वो नियम से जयवन्त होगा ही। मालूम? गृहस्थ, व्यापारी, भिक्षु और राजा, ये चारों चातुर्मास करते हैं। इसकाल में राजा दिग्विजय करने नहीं जाता। 'पद्मपुराण' में उल्लेख है कि रामचंद्रजी ने आषाढ़ मास प्रारंभ होने पर रामनगर में रुक करके चातुर्मास किया, फिर आगे बढ़े। व्यापारी चार माह धर्म्यध्यान में लीन रहते हैं, देश–विदेश का गमनागमन बन्द, उद्देश्य मात्र अहिंसा है। भिखारी भी भीख माँगने नहीं जाते। मिलेगा कहाँ? पानी तो टपक रहा है। उद्देश्य देखो। व्यापारी सोचता है कि गमनागमन में कितनी जीवहिंसा होगी। वर्तमान में लोग लम्बी–यात्राओं पर निकलते हैं, जबकि पूर्व में लोग चातुर्मास के बाद यात्रा को निकलते थे। आप वंदना करने जा रहे हो, कितने जीवों का वाहन से घात होगा, कितने केचुयें आदि मरेंगे। वाहन द्वारा कम–से–कम यात्रा करने का प्रयास करना चाहिये। यदि मन में निर्मल परिणति है, तो दयाभावना आनी चाहिये। वर्षाकाल के पश्चात वंदना को जाना चाहिये। भीषण वर्षा में यात्रा नहीं करना चाहिये, क्योंकि अपना उद्देश्य, मुख्यधर्म अहिंसा है। हिंसा से बच गये, तो सब वंदना हो गई।

भो ज्ञानी! आचार्य विद्यासागर जी की कहीं वाचना चल रही थी। उस समय ब्रह्मचारी जयकुमार भैया (वर्तमान में मुनि सुधासागर महाराज) आये, नमोस्तु करके बोले–मैं वंदना को जा रहा हूँ। आचार्यश्री बोले–कहाँ जा रहे हो? तुम्हें ही वंदनीय बना दें तो? बोले–ठीक है। भो ज्ञानी! मतलब यह है कि अहिंसा तुम्हारे जीवन में आ गई, तो तुम स्वयं वंदनीय हो गये। ये समिति मुनियों के शील का मूल है, जिसमें त्रसहिंसा का घात तो दूर, स्थावर–हिंसा का घात भी समाप्त हो गया। ध्यान से समझना, जिसमें त्रसहिंसा का भी त्याग है, जिसमें स्थावर हिंसा का भी त्याग है, इसलिये समितियाँ तो मुनिराज के योग्य हैं। श्रावकों के तो अनर्थदण्ड का त्याग है। प्रमादचर्या में व्यर्थ में आप घूमा न करो। आचार्य महाराज कह रहे हैं कि भवताप से संतापित जीव यदि तू संतोष को प्राप्त करना चाहता है, तो ईर्या समिति जो शील का मूल है, उसे धारण करो। जैसे वर्षा होने पर दावानल के ताप से उत्पन्न होनेवाला क्लेश शान्त हो जाता है अर्थात् वर्षा से दावानल बुझ जाती है और धान्य के खेत हरे–भरे हो जाते हैं, ऐसे ही संसार–ताप को बुझाने और पुण्य की वृद्धि के लिये समितियाँ मेघ के समान हैं। ऐसी समितियां जयवंत हों।

नियतमिह जनानां जन्म–जन्मार्णवेऽस्मिन् , समिति विरहितानां कामरोगातुराणाम्।
मुनिप कुरु ततस्त्वं त्वन्मनोगेहमध्ये, ह्रयपवरकममुष्याश्चारुयोषित्सुमुक्तेः।।कलश 83।।

टीकाकार कह रहे हैं कि जन्मरूपी महासमुद्र में यह जीव जन्म क्यों ले रहा है? इस जन्मरूपी सागर में क्यों डूब रहा है? समितियों से रहित है, इसलिये। फिर क्या कर रहा है? काम–रोग से आतुर है। एक तो समिति नहीं है, दूसरे कामरोग से पीड़ित है, इसलिये जीव संसार के जन्म–मरणरूपी समुद्र में डूब रहा है। आचार्यमहाराज मुनिराज से कह रहे हैं कि है योगेंद्र! आप अपने मनरूपी घर में एक कमरा बना लो, जिससे तेरी मुक्तिरूपी बल्लभा उसमें विराज सके। यदि तुम शादी करने भी जाते हो, तो वधू के रहने का इंतजाम करके जाते हो। कहने का तात्पर्य यह है कि जो समिति को धारण करते हैं, वे मुक्तिवधू को शीघ्र प्राप्त कर लेते हैं।

निश्चयरूपां समितिं सूते यदि मुक्तिभाग्भवेन्मोक्षः।
बत न च लभतेऽपायात् संसारमहार्णवे भ्रमति।।कलश 84।।

टीकाकार कह रहे हैं कि तूने समितियों का पालन किया होता तो अनन्त– बार तू संसार में घूम ही नहीं सकता था। मुनि तो बना, व्रत पाले, पर आत्मज्ञानी मुनि नहीं बन सका। समितियों का निर्दोष पालन नहीं किया, इसलिये संसार में भटका। महाराजश्री! मिथ्यात्व में पड़े रहने के कारण इससे नहीं निकल पाये। ध्यान से सुनो, सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद भी अर्द्धपुद्गल परावर्तन तक संसार में घूम सकते हो। लेकिन संयम, चारित्र प्राप्त करके तुम बत्तीस भव से ज्यादा नहीं जा सकते। ये चारित्र की महिमा है। सम्यक्त्व यदि एक बार छूट जाये, तो यह जीव अर्द्धपुद्गल परावर्तन तक घूम सकता है।

भो ज्ञानी! किसी के चारित्र में दोष लग गया। 'भगवन्! मेरे से ऐसा अपराध हो गया, प्रायश्चित दो।' अपने गुरु के चरणों में निवेदन कर दें। एक बात ध्यान रखना कि पाप हो जाये तो वह पापी ही है, पर जिसने छुपा लिया, वह महापापी है, क्योंकि साथ में मायाचारी भी कर रहा है। पुराणों में कथा है कि घोर पाप हो गया था, परन्तु अंतर्मुहूर्त में अपने आचार्य के पास जाकर प्रायश्चित किया। इतने शुद्धध्यान में गये कि अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान हो गया । देखो परिणामों की दशा। इसलिये किसी जीव पर ग्लानि मत करना।

भो ज्ञानी! आप तो चले जा रहे थे बढ़िया शर्ट–पैन्ट पहने और पैरों में चरणपादुकायें, मस्ती में जा रहे, आपको पता नहीं कि महावीरस्वामी मेरे पैरों के नीचे दब गये। मैं कलेंडर, फोटो के महावीरस्वामी की बात नहीं कर रहा हूँ। मैं भगवान् महावीर की बात कर रहा हूँ। कैसे? अकौआ की पर्याय में जब थे वो तीर्थंकर बननेवाले महावीरस्वामी, तो किसी ने भी पैर रख दिये होंगे। कौन जानता था कि कौन है? यदि पहले मालूम होता तो

तुम चरण छू लेते और अकौआ के पाँव पड़ लेते। इसलिये मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि किसी वनस्पति पर भी पाँव मत रखना। सुबह से घूमने जाते हो, बोले–ओस पर चलेंगे तो आंखों की ज्योति बढ़ जायेगी, पर यह मालूम नहीं है कि कितनी आँखें फूट रही हैं?

भो ज्ञानी! ध्यान रखना पद्मप्रभमलधारि देव बड़ी गहनतम् चर्चा कर रहे हैं। ये सब यहाँ तो सुनने में अच्छा लगता है आपको, पर बाहर पता नहीं क्या हो जाता है? खेत, मिट्टी वर्षा के बाद कुछसमय तक तो गीली रहती है तो भगवान् आत्माओ! कम–से–कम गीली–मिट्टी बनके जीयो। सूख जाने पर कड़ी, खराब हो जाती है, इसलिये पानी डालते रहना। इसलिये जिनवाणी कहती है कि परिणामों में पानी डालते रहो, जिससे परिणाम निर्मल रहें। मात्र धर्मक्षेत्र में बैठने से मोक्ष नहीं होगा, जबतक अंतरंग में धर्म नहीं होगा। यदि धर्मक्षेत्र में पहुँचने से, वास करने से मोक्ष हो गया होता तो फिर तीर्थक्षेत्रों में इतनी वनस्पतियाँ खड़ी हैं, इतने जीव घूम रहे हैं, उन सबका सबसे पहले मोक्ष होता। धर्मक्षेत्र में पहुँचने से, वास करने से मोक्ष नहीं होता। धर्मात्मा बनने से मोक्ष होता है।

आचार्य महाराज कह रहे हैं कि संसार के महान–समुद्र में भटका ये जीव इसने समितियों का पालन नहीं किया। अनंतबार मुनि–वेष धारण किया जा सकता है, पर अनन्तबार मुनि नहीं बना जा सकता। मुनि यानि भावमुनि। अब किसी के मन में भाव आ गये, बोले–मुनिदीक्षा लेनी है, पंचमकाल के जीव हैं, जितना सोचना बढ़िया सोचना। लेकिन ध्यान रखना भावमुनि भिन्न है और भावों का मुनि भिन्न है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द 62 वीं गाथा में कह रहे हैं भाषा–समिति के विषय में। भो ज्ञानी! ध्यान से सुनना, वाणी बड़े तौल–तौलके बोलना। क्योंकि जितना जो कुछ हुआ है, महाभारत हुआ है, वह द्रोपदी के चक्कर में कुछ नहीं था। उसने इतना कह दिया था कि ''अंधे के पुत्र अंधे ही होते हैं''। कहा तो सत्य था। भैया! मैं आपसे पूछ रहा हूँ–सत्य कहा था या नहीं? लेकिन वो सत्य, सत्य नहीं होता जिस सत्य के बोलने से किसी के प्राण जाते हों, विसंवाद बढ़ता हो। भो ज्ञानी! वहाँ तुम मौन नहीं रह सकते थे क्या? मौन हो जाते आप, कौन महाव्रती थे। समंतभद्र स्वामी ने लिखा है कि श्रावक स्थूल झूठ न बोले, परन्तु ऐसा सत्य भी न कहे जिससे कोई विपत्ति में पड़ जाये। दूसरे से भी न बुलवाओ।

मनीषियो! कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि चुगली करना ठीक नहीं है। कुछ लोगों की आदत होती है कि जबतक इधर–उधर की चुगली नहीं कर लेते, तबतक उन्हें आनन्द नहीं आता। तुम धर्मक्षेत्र में आकर रोज पूजा करो, रोज मुनियों को आहार दो, रोज प्रवचन

सुनो और इते की उते कहो। ऐसे जीवों ने माना कि पुण्यआस्रव कर भी लिया तो वे अम्बरीष जाति के असुर देव होते हैं। जिनका काम है नरक में जाकर जीवों को भड़काकर लड़वाना और लड़ने लगे तो आनन्द लेना। भैया ध्यान रखना कि पैशून्य (चुगली) भाव हो तो देवदुर्गति अर्थात् असुरजाति आदि देवों में जन्म होता है।

भो ज्ञानी! जब आप णमोकार मंत्र की आराधना कर रहे हो तो उसमें फिर ओम् नहीं लगाना, श्री नहीं लगाना क्योंकि बीजाक्षर बढ़ जायेंगे, तो उसका फल बदल जाता है, उद्देश्य बदल जाता है। आपको कथा ज्ञात है कि मंत्र में एक अक्षर ज्यादा होने से लम्बे–लम्बे दाँतों वाली देवी आ गई और एक अक्षर कम होने से एक आँख से कानी देवी आ गई। इसलिये ध्यान रखना जीवन में, मन से न एक अक्षर जोड़ना, न घटाना। कुछ लोग बोलते हैं कि हमें अच्छा लगा तो जोड़ दिया या घटा दिया। ध्यान रखना पूरा मंत्रशास्त्र अंकों पर चलता है। कोई आया बोला–भैया! हम बहुत परेशान हैं, कुछ बता दो। आपने कोई मंत्र बता दिया, पर आपको मालूम नहीं था कि इनकी राशि क्या है? और मंत्र किसका है और क्या है?

भो मनीषियो! इसलिये कभी भी सहजता से आप णमोकार की माला फेरो, पंचपरमेष्ठी की खूब माला फेरो, परन्तु ध्यान रखना सिद्धि करने मत बैठना। बहुत सारे लोगों को विक्षिप्त/अर्द्धपागल होते देखा जाता है। इसलिये भैया! तुम्हें अच्छी अवस्था मिली है, भगवान् का नाम लो। सिद्धियों के चक्कर में मत पड़ों, क्योंकि हरव्यक्ति चाहे कि आचार्य विमलसागर बन जाये, सो नहीं बन सकता।

भो ज्ञानी! जो योगी नौवें–पूर्व का अध्ययन करने के बाद दसवें–पूर्व (विद्यानुवादपूर्व) का अध्ययन करता है, वो संयम से भटक भी सकता है। दसवें पूर्व में लघुविद्याओं और महाविद्याओं का कथन है। इसलिये जैसे इस पूर्व का अध्ययन करते हैं, वे विद्यायें सामने आकर खड़ी हो जाती हैं। मुझे क्यों आह्वान किया? जो मुनिराज कुछ नहीं बोले, साधना में लगे हुये हैं, वे सफल और जिसने आँख खोल दी और माँग लिया, वे संयम से भ्रष्ट हो गये। आपको याद होगा कि पुष्पदन्त, भूतबलि स्वामी के सामने देवियाँ आई। उन्होंने प्रत्युत्तर में कितनी सुन्दर बात कही। बोले–मुझे कुछ नहीं चाहिये, मैंने तो गुरु–आज्ञा का पालन किया है। इसलिये ध्यान रखना यदि आपको कहीं भक्तामर जी की मंत्र आदि की पुस्तक मिल गई, तो आप जाप करने मत बैठ जाना। आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी ने

'द्रव्यसंग्रह' में स्पष्ट लिखा है कि पैतीस अक्षरी, सोलह अक्षरी, पांच अक्षरी, दो अक्षरी, एक अक्षरी, जितने जाप हैं इनका आप जाप करें, ये सब पदस्थ–ध्यान हैं। परन्तु यदि आपको विशेष साधना करना हो तो आप गुरु–आज्ञा ग्रहण करें। बिना गुरु के उपदेश के किसी मंत्र की साधना आप मत करना। आप सामान्य रूप से भगवान् की जाप करो। कभी पागल/विक्षिप्त नहीं होगे। खूब माला फेरना, लेकिन इतना ध्यान रखना कि सिद्धि के उद्देश्य से मत फेरना, आत्मसिद्धि के लिये फेरना।

भो मनीषियो! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी यतियों की समितियों का कथन कर रहे हैं। ये पाँचों समितियाँ पंचमगति में हेतुभूत हैं। ईर्यासमिति के पश्चात भाषासमिति का कथन किया। भाषा व्यक्ति के भावों का ज्ञान करा देती है। कौआ और कोयल की पहचान वर्ण से नहीं होती, वाणी से होती है। संत व असंत की पहचान भेष से नहीं, वाणी से होती है। जिस वाणी में कंकड़–पत्थर हों, ऐसी वाणी सत्य भी क्यों न हो, वो भी असत्य है। पैशून्य अर्थात् चुगलीवाले वचन, हास्य यानि उपहास करनेवाले वचन, कर्कश अर्थात् कर्ण–अप्रिय वचन, परनिन्दा और अपनी प्रशंसारूप वचन, भण्ड यानि विसंवाद–युक्त वचन, सावद्य वचन अर्थात् हिंसात्मक वचन, ये सब असत्य वचन कहलाते हैं। जो ऐसे वचन कहता है, उसकी भाषासमिति नहीं है।

ज्ञानी! कर्कश–वचन और भण्ड–वचन में अंतर है। कर्कश यानि कटु, मर्मभेदी, हृदय को विदीर्ण करने वाले वचन और भण्ड–वचन यानि जो दो के अंदर फैले प्रेम को नष्ट करा दें। ऐसे वचनों का प्रयोग साधक न करे, जिनके माध्यम से किसी भी प्रकार की दूसरे की हानि हो, शांति का वातावरण नष्ट हो। कुछ लोगों की आदत स्वयं की प्रशंसा और दूसरों की निन्दा करने की होती है। वे अपने मोह के कारण स्वयं की प्रशंसा करते रहते हैं। जिनवाणी कहती है कि वो व्यक्ति गिर चुका है। दूसरे के मुख से आपकी प्रशंसा हो, तब तो प्रशंसनीय है। स्वयं के मुख से स्वयं की प्रशंसा करे, तो आप किसके प्रशंसनीय हैं? कुछ लोग आत्मप्रशंसा में लगे रहते हैं। लगता है कि लोग कर्मसिद्धान्त को पढ़कर भी समझते नहीं हैं। कर्त्तव्य भाव मिथ्यात्व है। एकमात्र स्वतत्त्व–भाव ही कल्याण का हेतु है।

आचार्यभगवन् आज्ञा दे रहे हैं कि पैशून्यभाव, कर्कश–भाषा, आत्मप्रशंसा, परनिन्दा को छोड़ दो। आचार्यभगवन् यह नहीं कह रहे हैं कि छोड़ना चाहिये, आज्ञा दे रहे हैं कि छोड़ो। आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि परचिन्ता त्याग दो। तो क्या करें? वही बोलें जिसमें स्व पर का हित होता है, वही भाषासमिति है।

भो ज्ञानी! अगर किसी को बोलने का ही शौक है, तो अच्छे शब्द बोलो, जिनवाणी पढ़ो, सुनाओ। ऐसा नहीं कि कोई आ गया, तो आपने कहा कि उनने ऐसी कही थी, सो ऐसा हुआ। भैया! तू जिसको सुना रहा है, उसको भी तूने असद्भाव में डाल दिया। कम–से–कम आप अपनी गंदगी को अपने पास ही रखते, आप दूसरे के पास क्यों ले गये? कुछ भी हो, चुगली सुनने से परिणाम तो खराब होते ही हैं। अच्छी बात सुनाने के लिये उनके पास समय नहीं है। भैया! तुम्हारे कचरे को रखने के लिये मेरे पास समय नहीं है, क्योंकि अल्प–आयु है, अल्प–ज्ञान है, अल्प–विवेक है। यदि कचराघर बना दिया, तो बाकी के लिये कहाँ बचेगा? इसलिये किसी की चुगली मत करो। भाषासमिति वचन गुप्ति, सत्य महाव्रतादि को मुनिराजों के लिये रख दिया और श्रावकों के लिये सत्याणुव्रत सत्यवचन आदि रख दिया। और उसमें मिथ्योपदेष, रहोभ्याख्यान, कूटलेख क्रिया, न्यासापहार, साकार मंत्रभेद ये पाँच अतिचार रख दिये।

भो ज्ञानी! जिनवचनों के माध्यम से मोक्षमार्ग पर ही आँच आ रही हो, वह तुम्हारे सभी उपदेश मिथ्या हैं। बोले–'भैया! तुम पढ़े–लिखे हो, दीक्षा के चक्कर में क्यों पड़े हो? यह तुम्हारे खेलने–खाने के दिन हैं।' किसी की भावना ऊपर जा रही थी, आपने दबा दिया, यह मिथ्या उपदेश है। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने लिखा है कि जो यति मुनिदीक्षा का उपदेश नहीं देता है और पहले श्रावकधर्म का उपदेश देता है, वह दण्ड का पात्र है। इसलिये सर्वप्रथम मुनि बनने का उपदेश देना चाहिये। 'पुरुषार्थ–सिद्धि–उपाय' में कह रहे हैं कि जो मुनि यतिधर्म का कथन नहीं करता है, भगवान् जिनेन्द्र के शासन में वो दण्ड का भागीदार है। ऐसा क्यों कहा? किसी जीव के भाव बहुत उज्जवल थे और आपने श्रावकधर्म का उपदेश करके वहीं लटका दिया। आगे परिणाम बने या न बने।

भो ज्ञानी! मोक्ष किसके हाथ में है? आचार्य के हाथ में नहीं है, साधक के हाथ में है। जिस जीव का जहाँ नियोग है, उसे कोई टाल नहीं सकता। इसलिये प्रपंचों में मत पड़ना। जिसका नियोग आपसे विद्वान् बनने का होगा, वह स्वयं आपका छात्र बनकर आयेगा, क्योंकि नियोग है, सम्बन्ध स्थापित है।

भो ज्ञानी! कभी खोटा–उपदेश मत देना। किसी के गुप्त–आचरण को देखकर कभी भी प्रकट मत करना। बोले–ये सत्य तो मैं कह रहा हूँ, ये तुम्हारा सत्य नहीं है। कुटिलक्रिया, खोटे आलेख लिखना, झूठी गवाही देना, खोटे समाचार छापना। जो नहीं है, उसे छापना। बताओ, क्या है? भले वर्तमान में तुम्हारी शुभसाता चल रही हो, पर

भविष्य अंधकार में है, ये ध्यान रखना। कोई कहे–यह मेरा व्यापार है, तो कर्म भी कहते हैं कि मेरा भी व्यापार है।

कर्म कर्महिताबन्धि, जीवो जीवहितस्पृहः।
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे, स्वार्थं को वा न वाञ्छति।। इष्टोपदेश 31।।

कर्म तो कर्म का हित चाहते हैं। जीव ही जीव का हित चाहता है। स्वार्थ कौन नहीं चाहता है? आप कुटिल–क्रिया कर रहे हो, जबतक अबाधाकाल है, तीव्र साता है, तबतक असाता उदय में नहीं आ पाती और जिसकी तीव्र असाता है, उसकी साता उदय में नहीं आ पाती। अतः यह मत सोच लेना कि मैंने तो ऐसा कर लिया है और कोई क्या कर पाया। कर्म कह रहा है कि मैं तो बैठा हूँ, तुम बचकर कहाँ जा पाओगे? भैया! तुम तीनलोक के बाहर जा नहीं सकते और तीनलोक के किसी भी कोने में पहुँच जाओगे, तो कर्म बोले कि हम तुम्हें खोज लेंगे।

भो ज्ञानी! आपके पूर्वपुण्य का उदय है कि पापकार्य से भी द्रव्य मिल रहा है, परन्तु पाप से द्रव्य नहीं मिल रहा है। पूर्व का पुरुषार्थ काम कर रहा है। इसलिये ये कभी मत कहना कि ऐसा करना पड़ता है। आप ऐसी श्रद्धा बनाके रखना कि मुझे कुटिलक्रिया, खोटेकार्य आदि नहीं करना है। 'आत्मानुशासन' में गुणभद्रस्वामी लिखते हैं कि नदियाँ कभी स्वच्छ जल से नहीं भरती हैं। बाढ़ जब भी आती है, गंदे नालों से आती है। ऐसे ही विशेष–विभूति कभी स्वच्छमार्ग से धन–संपत्ति नहीं आ सकती। संपत्ति से कभी कोठे नहीं भरे, वे तो धन से ही भरे हैं। सम्पत्ति और धन में अंतर है। जो समीचीन–वृत्ति से कमाई जाये, वह संपत्ति है और जिसके लाते जाओ धरते जाओ, हमें कोई मतलब नहीं है, ऐसा पैसा आ रहा है, वह धन है।

दो व्यक्ति आपस में बात कर रहे थे एवं आपको बताना नहीं चाहते थे। अपना कर्त्तव्य है कि वहाँ से उठकर चल देना चाहिये। इसके बाद भी आप सुनते हो, तो वह चोरी है और असत्य भी है। कभी किसी की गुप्तचर्चा को सुनने का प्रयास नहीं करना चाहिये। हो सकता है कि सुनकर आपके पेट में नहीं पचे और आपने उसको प्रकट कर दिया, तो उसके प्राणों के लाले आ गये। यह श्रावकाचार नहीं है। कभी–कभी लोग इशारों में बातें करते हैं, कुछ बुद्धिमान उसको समझ लेते हैं, समझकर इशारों को प्रकट कर दिया, इसका नाम है साकारमंत्रभेद। यह कभी नहीं करना चाहिये। विवेकशील उस व्यक्ति को कहा गया है जो गंभीर–से–गंभीर बात को पी जाता है। यदि आपने यह अभ्यास नहीं डाला और कालान्तर में पुण्ययोग से आप मुनिराज बन गये और आचार्य भी बन गये तो आपको तकलीफ शुरू हो जायेगी, क्योंकि आपने साकार–मंत्रभेद का पूर्व में पालन नहीं

किया था। एक–एक शिष्य आपको छोड़कर चला जायेगा क्योंकि इस शिष्य की तुम इनसे कहोगे, उस शिष्य की उनसे कहोगे। वे कहेंगे कि कैसा गुरु है? यह गुरु कहलाने का पात्र ही नहीं है, क्योंकि गुरु अपरिस्रावी गुण से युक्त होता है। जैसे व्यक्ति औषधि को पी जाता है, ऐसे ही गुरु प्रत्येक शिष्य की बात को पी जाता है। जब शिष्य को पता चलता है कि गुरु दूसरे से कह देते हैं, तो वह निज– आलोचना बन्द कर देता है और शिष्य ने आलोचना बन्द की, कि उसकी असमाधि हुई और उसकी असमाधि में कारण गुरु–महाराज बने।

भो ज्ञानी! समझ में आया कुछ? बड़ा गहन चरणानुयोग है। अपने पापों को किसी के सामने कहना छोटी बात नहीं है। हमने आपको समर्पण किया है, अपनी संपूर्ण बातों को आपके सामने प्रकट किया है। अब आप कहें कि हम आपकी पोल खोल देंगे, अन्यथा हल्ला मत करो तो ऐसा व्यक्ति गुरु कहलाने का अधिकारी नहीं है। ऐसा गुरु पूरे संघ का विध्वंस करा देगा। यदि कोई शिष्य अहंकारी हुआ, उसने अपनी लघुता में आपसे सब बातें कह दी और उसे आपने दूसरों के सामने प्रकट कर दिया, तो आक्रोशित होकर, वह भेष–छोड़कर आपके संघ पर उपसर्ग कर देगा।

परब्रह्मण्यनुष्ठाननिरतानां मनीषिणाम्।
अन्तरैरप्यलं जल्पैः बहिर्ज्जल्पैश्च किं पुनः।। कलश 85।।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव भाषासमिति को पालन करनेवाले मुनिराजों की विशेषता को कलश में प्रकट कर रहे हैं। बुद्धिमान–साधु परंब्रह्मरूप जो आत्मा है, उसमें सदैव लीन रहता है। अंतरंग के विकल्पों से भी रहित रहने का प्रयास निरन्तर करता है। बहिरंग जल्प/विकल्प की तो बात ही क्या? उससे तो रहित रहता ही है। जब साधु के अन्दर के विकल्प, जो जाल के समान हैं, उनसे रहित हो जाता है, तो बाहर के विकल्प कि मैं इससे बातचीत कर लूँ आदि, बाह्य व्यापार छूटने लगते हैं। बुद्धिमान–यति को अन्दर के भी व्यापार का अभाव करने का अनवरत प्रयास करना चाहिये।

भो ज्ञानी! इसी बात का समर्थन करते हुये आचार्य गुणभद्र स्वामी 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ में कह रहे हैं कि जो वस्तु के संपूर्ण स्वरूप को अच्छी तरह से जान लेता है, जो संपूर्ण पापक्रिया से दूर है, जिन्होंने अपने मन को स्वहित में लगा रखा है, जो सदैव स्व–पर हित के ही वचन बोलता है, जो सभी प्रकार के संकल्पों से विमुक्त हैं, जो सभी प्रकार के प्रचार कार्यों से रहित हो गया है, ऐसा निर्ग्रन्थ साधु मुक्ति का पात्र अवश्य होता है।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : एषणा समिति के स्वरूप का कथन।

कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च।
दिण्णं परेण भत्तं, समभुत्ती एसणा समिदी।।63।।

संस्कृत छाया : कृतकारितानुमोदनरहितं तथा प्रासुकं प्रशस्तं च।
दत्तं परेण भक्तं संभुक्तिः एषणासमितिः।।63।।

न्वयार्थः (कृतकारितानुमोदनरहितं) जो कृत, कारित और अनुमोदना से रहित (तथा प्रासुकं प्रशस्तं च) तथा प्रासुक और प्रशस्त–आगमानुकूल (परेण दत्तंभक्तं) पर के द्वारा दिया गया भोजन है, (संभुक्तिः एषणा समितिः) उसको सम्यक् प्रकार से ग्रहण करना एषणासमिति है।

आचार्य कुन्दकुन्द नियमसार ग्रन्थ में एषणा समिति का कथन करते हुये संकेत दे रहे हैं कि जिसमें हरितकाय आदि सूक्ष्मजीवों का संचार न हो, प्रासुक हो, ऐसे द्रव्य को स्वीकार करना। परन्तु दाता सुकुल हो, कुलीन हो। जिनवाणी में स्पष्ट लिखा है कि दाता के कुल में किसी प्रकार का दोष हो, दाता स्वयं किसी दोष से दूषित हो और भावावेश में आकर दोषित होने पर भी पात्र को दान देता है, तो वह कुभोगभूमि, भवनत्रय आदि में जन्म लेता है।

स्वयं दोष से दोषित है अर्थात् जिन हेतुओं की आज्ञा आगम में नहीं है, उससे आप युक्त हो और फिर भी छुपा करके भक्ति के आवेश में दान देते हो, तो वह कुफल को प्राप्त होता है। यदि पात्र जान कर लेता है, तो वो भी उसी फल को प्राप्त होता है और दाता भी उसी फल को प्राप्त होता है। जिसकी पिण्ड–शुद्धि नहीं है। पिण्ड–शुद्धि के दो अर्थ। एक पिण्ड यानि ग्रास, दूसरा पिण्ड यानि आपका देह। रक्त दूषित है अर्थात् आपके वंश में दोष है, वो पिण्ड अशुद्ध है। यति के लिये राज–पिण्ड ग्रहण करने का निषेध है। राज–पिण्ड से तात्पर्य राजा के यहाँ आहार न करें। बोले क्यों? राजघरानों में अनेक रानियाँ होती हैं, अनेक दासियाँ होती हैं, जिनके अंतरंग में विकार रहते हैं। साधु के नग्न वेश को देखकर साधु का शील भंग कर सकती हैं। इसलिये सहजता से यति राजघराने में प्रवेश न करे। परन्तु राजाओं के यहाँ आहार हुये हैं और होते हैं। राजपिण्ड का दूसरा उद्देश्य था कि राजा टेक्स ग्रहण करता है तथा उस कर–संपत्ति से आहार देता है तो यति स्वीकार न करे। राजा स्वयं की संपत्ति से पात्रदान आदि करे। तीसरा हेतु जैसा गरिष्ठ–भोजन राजा, सेठ आदि करते हैं, वैसा ही पात्रदान हेतु बनाते हैं तो वो पिण्ड

राजा के ग्रहण करने योग्य था, उसे साधक स्वीकार न करे, क्योंकि उसमें तामसिक भोजन हो सकता है। साधक का राजसिक व तामसिक भोजन का त्याग होता है।

खाद्य वस्तुओं में कुछ जनपद–सत्य होते हैं, कुछ आगम–सत्य होते हैं। 'मूलाचार' में वट्टकेर स्वामी ने 'पक्कम् सुक्खम् तक्कम्' के आधार पर प्रासुक करने की विधियाँ बतलाई हैं। कुछ मूल आर्द्र–अवस्था में अभक्ष्य हैं जैसे कि अदरक, हल्दी आदि। परन्तु शुष्क–अवस्था में भक्ष्य हैं जैसे कि सोंठ, सूखी–हल्दी। यह कंद नहीं है, मूल है, काष्ठ वनस्पति है। जिस वनस्पति के विभाग करने पर समभंग होते हैं, वो भक्ष्य होने पर भी अभक्ष्य है। तुच्छ फल भी अभक्ष्य है। 'गोम्मटसार जीवकाण्ड' में प्रकरणान्तर से भक्ष्य अभक्ष्य का उल्लेख है। 'रत्नकरंड–श्रावकाचार' में समन्तभद्र स्वामी ने बहुत–सी चर्यायें की ही नहीं हैं। टीकाकार पं. सदासुख दास जी ने बहुत–सी चीजें अन्य ग्रन्थों से भी ली हैं, अतः प्रमाण देते समय टीकाकार का उल्लेख अवश्य करें।

भो ज्ञानी! समझना, कभी–कभी भक्ष्य के नाम पर अभक्ष्य का सेवन हो जाता है। आम प्रारंभिक दशा में अभक्ष्य है, जिसके अंदर जाल नहीं पड़ा है। मध्य तथा अंतदशा में भक्ष्य है। आसाढ़ के बाद आम खाना अभक्ष्य है, उसमें जीव की उत्पत्ति हो जाती है। चातुर्मास में सागवाली पत्तियाँ नहीं खाना चाहिये, क्योंकि जीव की उत्पत्ति हो जाती है। जैसे–जैसे काल व्यतीत होता जा रहा है, वैसे–वैसे अष्टमूलगुणों में भी शिथिलाचार बढ़ता जा रहा है। समंतभद्रस्वामी कह रहे हैं कि अष्टमूलगुणधारी वो ही है, जो पाँच अणुव्रतों का पालन करता है और उसके साथ मद्य, माँस, मधु का त्यागी है। अन्य सभी आचार्यों ने भी मूलगुणों के पालन में अहिंसा का विशेष ध्यान रखा है।

वर्तमान में तो स्थिति ये हो गई हैं कि पूछना पड़ता है कि मंदिर जाते हो या नहीं? होटल में तो नहीं खाते? आलू, प्याज, मद्य, माँस का त्याग है कि नहीं? कुछ लोग अपने–आपको बड़ा धर्मात्मा कहते हैं, पर अनछने जल के त्याग का नियम नहीं है। जिनका ये भी नियम नहीं है तो श्रावकाचार कैसे पलेगा? आप तो मूलाचार का पालन करो, क्योंकि आपको परिणाम सुधारना है। चर्या करानेवाले श्रावक मिल जायेंगे, पर परिणाम सुधारनेवाले श्रावक नहीं मिलेंगे। जबतक पुण्य का योग रहेगा, तबतक चर्या चलती रहेगी। जिसदिन तुम्हारा पुण्य छूट गया, तुम कहाँ गिरोगे, पता नहीं?

आजकल चँदोवा लगवानेवालों को पुरातनपंथी कहा जाता है। बोलते हैं– अब मकान कोई कच्चा थोड़े ही हैं, पक्के मकान हैं, चँदोवा की क्या आवश्यकता है? भैया!

चक्रवर्ती के कई खंड के भवन होते थे, वे कच्चे थे क्या? पक्के जिनालयों में भी चंदोवा लगते हैं। जहाँ भोजन बनता था, वहाँ चंदोवा लगाये जाते थे। अब तो न पूजन के स्थान पर, न भोजन बनाने के स्थान पर, न भोजन करने के स्थान पर चंदोवा लगता है क्योंकि अब रसोईघर ही नहीं रहा, किचन बन गया है, किच–किच का स्थान । भैया! अब लोग आगम में तर्क लगाने लगे हैं जबकि ''आगम तर्कऽगोचरा'' आगम तर्क से रहित है। तर्क लगाकार आप सिद्धि किसकी करना चाहते हो?

हे योगी! भोजन के भूखे मत रहना, भक्ति को देखना। भोजन के पीछे आगम की नवधा–भक्ति को मत छोड़ देना। पड़गाहन, उच्चासन, पाद प्रक्षालन, पूजन, नमस्कार, मनवचनकाय शुद्धि, भोजन शुद्धि। आहार शुरू करा दिया। आप शोधन में लग गये, अंजुलि खाली है। एक कायोत्सर्ग प्रमाण खाली खड़े रह सकते हैं, इसके बाद अंतराय होगा। ऐसा नहीं है कि कितने समय भी खाली खड़े रहें। यह दीन वृत्ति नहीं है, यह वीर–चर्या है। कुछ लोग पूजन करने के पश्चात प्रणाम अर्थात् नमोस्तु नहीं करते हैं, कुछ मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि नहीं बोलते हैं, इनसे नवधा–भक्ति पूरी नहीं होती है। मन शुद्धि से तात्पर्य मन में संकल्प, विकल्प, ईर्ष्या, क्रोध आदि नहीं होना चाहिये। कभी–कभी कोई व्यक्ति अकेले आहार देने लगता है तो ईर्ष्याभाव, क्रोधभाव आता है कि अकेले–अकेले स्वयं दे रहा है, मुझे देने नहीं देता ।

भो ज्ञानी! अभी तक श्रावकों की नवधाभक्ति के विषय में कथन किया। एषणासमिति मुनि महाराजा की है। इतनी भर समिति नहीं कहलायेगी कि हम देख–देख करके आहार कर रहे हैं। नवधाभक्ति भी एषणासमिति के अंतर्गत आती है। यदि नवधाभक्ति में से एक भी भक्ति कम है और आप आहार लेकर आ गये, तो एषणासमिति में दोष है। श्रावक सातगुणों से युक्त होना चाहिये, यदि एक गुण से भी हीन है और आप उसके यहाँ आहार लेकर आये हो, तो आपकी एषणासमिति में दोष है।

भो ज्ञानी! श्रावक का पहला गुण श्रद्धा गुण है। जो आप सहज में उपयोग करते हो, वास्तव में वही दान देना चाहिये। शक्ति को छिपायें नहीं और शक्ति से ज्यादा करें नहीं, अन्यथा संक्लेशता होगी। ऋण लेकर कभी दान नहीं करना, अनुमोदना कर लेना। सामग्री बदल के अर्थात् आप ज्वार लेकर गेहूँ दे दो, क्योंकि हमारे यहाँ गेहूँ नहीं है, हमें महाराज को आहार कराना है, ऐसा मत करना। आप बदलने जाओगे तो हीनभावना

आयेगी, उस हीनभावना से आपकी मनशुद्धि समाप्त हो जायेगी। आप ऋण लेकर सामान लाये, महाराज नहीं आये तो बहुत अधिक संक्लेशता होगी। यदि आ भी गये, तो भी ऋण चुकाने की संक्लेशता बनी रहेगी। अतः ऋण लेकर कभी दान मत करना। भले शुद्धजल का आहार दे देना। जिस कार्य से संक्लेशता बढ़े, वह धर्म नहीं है। दान देतेसमय लोभ भी नहीं करना, अलोभदत्त भक्ति होनी चाहिये। देतेसमय यह लोभ नहीं करना कि कल के लिये रख लो, कल भी देना है। एकदम हीन–सामग्री भी नहीं देना, जो गले के नीचे ही नहीं उतरे। पात्र की अवस्था को देखकर उसके योग्य वस्तु देना, परन्तु किसीप्रकार का लोभ नहीं करना। विवेकपूर्वक कब देना, कैसा देना, कौन–सा मौसम है, ये सब ध्यान रखना। तात्पर्य समझना, आपने उनको फल का रस दिया और उसके बाद दूध देने लगे। महाराज ने तो ले लिया, परन्तु आपकी विवेकहीनता के कारण उनकी एषणासमिति में दोष लग गया।

भो ज्ञानी! आहार देतेसमय क्षमा धारण करो, क्रोध मत करो। क्रोध के कारण भोजन जहर मिश्रित जैसा हो जाता है। अतः सहजता से आहार देना चाहिये। बोले–चलो हटो, ऐसा करो, वैसा करो, हल्ला कर रहे हो। शांतिपूर्वक आहार देना चाहिये। कभी–कभी क्या होता है कि आपने अच्छे के लिये कहा और दूसरा लड़ने पर उतारू हो गया। आप दोनों ने कषाय की और उसका फल पात्र को भोगना पड़ेगा। इसलिये शांतिपूर्वक आहार दो। आहार योग्य सामान आप पात्र को दिखाते जाओ। आप अपने मन से मना भी मत करो तथा जबरदस्ती चलाओ भी मत। जबरदस्ती करने से पात्र भी संक्लेशित हो सकता है, चौके वाला भी संक्लेशित हो सकता है। अतः श्रावक के जो सात गुण श्रद्धा, शक्ति, अलोभ, भक्ति, विवेक, दया और क्षमा इनसे युक्त होकर आहार–दान दो।

भो ज्ञानी! जो नवधाभक्तिपूर्वक, सात गुणों से युक्त श्रावक से आहार– दान को ग्रहण करता है, ऐसे साधु की एषणा समिति होती हैं। यह व्यवहार समिति का कथन है, निश्चयनय से जीव के वास्तव में अशन अर्थात् भोजन है ही नहीं। छह प्रकार का भोजन व्यवहारनय से संसारीजीवों को ही होता है।

णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो।। प्रसार टीका 20।।

नोकर्म–आहार, कर्म–आहार, लेप–आहार, कवल–आहार, ओज–आहार और मानसिक–आहार ये छह प्रकार के आहारों का वर्णन 'प्रवचनसार' की टीका में किया गया

है। यह संसारीजीवों के आहार का वर्णन व्यवहारनय से है। केवलीभगवान् का आहार शुद्ध–नोकर्म होता है, कवलाहार नहीं होता है।

कुछ लोग लेप–आहार का अर्थ शरीर में तेलादि लगाना समझते हैं। आचार्यों के अनुसार लेप–आहार वनस्पतिजीव का होता है। लेप–आहार पंचेद्रिय मनुष्य का नहीं, एक–इंद्रिय में मात्र वनस्पति का। खाद–पानी जो दिया जाता है, वह लेप–आहार है। सामान्य–मनुष्य एवं प्राणियों का कवल–आहार होता है। अंडों में पलनेवाले बच्चों का ओजस्–आहार होता है। देवों का मानसिक–आहार होता है, भूख लगने पर चिन्तन करने से कंठ से अमृत झर जाता है। प्राण धारण करने के लिये आहार लिया जाता है। नारकी का कवलाहार होता है।

चरणानुयोग में जो चार प्रकार के आहार का वर्णन किया गया है, वह कवलाहार के ही भेद हैं। खाद्य, स्वाद्य, लेह और पेय। रोटी, चावल, दाल, लड्डू आदि खाद्य कहे जाते हैं, स्वाद्य में लौंग, इलायची आदि आते हैं। लेह में जो चाटे जायें अर्थात् चटनी आदि तथा पेय में पानी, दूध, रस आदि आते हैं, इनको पिया जाता है। कई लोगों को लेह ही लेपआहार लगता है, जबकि ऐसा नहीं है। 'लाटी संहिता' में उदाहरण बहुत खींच–खींच कर बनाये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि संहिताकार अच्छीतरह से समझ नहीं पाये।

भो ज्ञानी! एषणाशुद्धि है तो योगी की सम्पूर्ण–चर्या में शुद्धि है और एषणाशुद्धि नहीं है तो सम्पूर्ण शुद्धियाँ समाप्त हैं। इसलिये 'मूलाचार' में एक स्वतंत्र पिण्डशुद्धि अधिकार है। यदि श्रावक दोष करता है और श्रावक के दोषों को देखे बिना हम चर्या करते हैं, तो भी मुनिराज की एषणा समिति में दोष आ जायेगा। अहो मुनिराज! आपने सबकुछ छोड़ा है, एक रोटी के टुकड़े के पीछे संयम की बलि नहीं दी जा सकती है। संसार के सम्बन्ध तो अनादि से स्थापित किये हैं। इन सम्बन्धों को स्थापित करने के लिये साधु नहीं बने। संबंध तो निज से स्थापित करने के लिये साधु बने हो।

भो ज्ञानी! एषणा–समिति में सम्पूर्णचर्या को श्रावक देखता है, तो उसको दो ही स्थान जुड़ने के मिलते हैं–आहार और उपदेश। कोई कहता है कि जो तेल आदि से वैय्यावृत्ति हुई थी, वह लेपाहार हुआ कि नहीं? भैया! वह लेपाहार नहीं है, वह मात्र वनस्पति का ही होता है। भोजन करना, यह संसारीजीवों का व्यवहारधर्म है। भोजन करना, यह आत्मा का स्वभाव नहीं है। अहो योगी! सबकुछ छोड़ने के बाद भी एक घण्टा श्रावकों के घर जाने का होता है। हरसमय तेरा हाथ ऊपर रहता है, पर आहार के समय

नीचे रहता है। आहार में योगी का हाथ नीचे और भोगी का हाथ ऊपर हो जाता है। उससमय योगी सोचता है कि भगवन्! ऐसा दिन कब आये कि यह आहारसंज्ञा भी समाप्त हो जाये। जिसदिन यह आहारसंज्ञा समाप्त हो गई, तो पूर्ण स्वाधीन हो जाओगे। आहारसंज्ञा छठवें गुणस्थान तक है। जबतक छठवें गुणस्थान में रहोगे, तबतक आहारसंज्ञा है और वही मुनिराज सप्तम–गुणस्थान में चले जाते हैं तो आहारसंज्ञा समाप्त। इसलिये वो यही सोचते हैं कि प्रासुक द्रव्य, चाहे शुष्क हो, चाहे सरस हो, चाहे नीरस हो । जिससे संयम की वृद्धि हो, साधना की वृद्धि हो, दाता को वही पदार्थ पात्र को देना चाहिये।

भो ज्ञानी! इसलिये निर्ग्रन्थों को निर्ग्रन्थ ही रहने देना। निर्ग्रन्थमार्ग ही वीतरागमार्ग है। सग्रन्थ जब प्रवेश कर जाते हैं और निर्ग्रन्थ सग्रन्थों की भाषा में आ जाये, तो निर्ग्रन्थ–शासन मलिन हो जाता है। यदि श्रावकों की बातों में बारह वर्ष के अकाल के समय मुनिराज नहीं आये होते, तो आज जैनसमाज में दिगम्बर, श्वेताम्बर दो खंड नहीं होते। श्रावकों ने उससमय कह दिया था कि चाहे बारह वर्ष का अकाल पड़े या चौबीस वर्ष का, हमारे यहाँ इतना अनाज है कि हम सबकुछ कर लेगे। जब अकाल पड़े, जनता भूखी रहे, महाराज आहार करें, यह शोभा देता है क्या? एकदिन ऐसी प्रबल घटना घट गई कि जब एक मुनि आहार करके आ रहे थे, तो लोगों ने देखा कि पेट भरा है, उनका पेट फाड़कर भोजन निकाल लिया। तब रात्रि में गोचरी होने लगी और दिन में खाने लगे। मार्ग दूषित होता गया। लाने के लिये हाथ में बर्तन आ गये और कुत्ते भगाने के लिये लाठी आ गई । एक महाराज रात्रि में चर्या के लिये गये, रानी गर्भवती थी, वो भयभीत हो गई, तो गर्भपात हो गया। पुनः श्रावक आ गये कि आप कुछ वस्त्र धारण कर लें। परिणाम यह निकला कि वस्त्र भी आ गये। पहले वह सामान्य–वस्त्र था, धीरे–धीरे श्वेत–वस्त्र आ गया और वहाँ से श्वेताम्बर आम्नाय का प्रातःकाल हो गया।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी 'मूलाचार' में कह रहे हैं–

भिक्कं वक्कं हिययं, सोधिय जो चरदि णिच्च सो साहू।

एसो सुट्ठिद साहू, भणियो जिणसासणे भयवं ।। मूला0 1094 ।।

जो आहार वचन और हृदय का शोधन करके नित्य ही आचरण करते हैं वे ही साधु हैं। जिन शासन में ऐसे सुस्थित साधु भगवान् कहे गये हैं। भिक्षावृत्ति और वचनप्रवृत्ति इन दो में संयम है, तो तुम्हारे सभी संयम झलकते हैं। प्रत्येक जीव की पहचान दो से ही करते

हैं। कौन क्या खा रहा है? यह अभक्ष्य खाता है, इससे दूर रहो। अरे! इसकी बोलचाल ठीक नहीं है, इससे दूर रहो। जिसका खानपान ठीक नहीं, बोलचाल ठीक नहीं, उससे आप दूर हो जाते हो। साधुता की दो ही पहचान, भिक्कम् वक्कम्, भिक्षावृत्ति और वचनवृत्ति। जिनकी दोनों वृत्ति हितकारी हैं, ऐसे साधु को भगवान् जिनेन्द्र के शासन में भगवान् कहा है। आचार्यगुणभद्र स्वामी ने भी लिखा है–

यमनियमनितान्तः शांतबाह्यान्तरात्मा, परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकंपी।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं, दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः।।

जो यम नियम से युक्त है, जिनकी अंतरंग–बहिरंग दोनों प्रकार से आत्मा शान्त है। जो समाधि में परिणमन कर रहे हैं, सभी जीवों पर अनुकम्पा धारण करनेवाले हैं, जो आगमानुसार हित, मित आहार को ग्रहण करते हैं, जिन्होंने निद्रा को जीत लिया है, ऐसे परम–साधु क्लेश से रहित हो जाते हैं।

भो ज्ञानी! जब जीव अशान्त हो जाता, तब श्रमण की खोज करता है। साधु के चरणों में बैठकर शांति का वेदन करता है। साधु के चरणों में बैठने पर जिसे अशांति का अनुभव हो, समझ लेना कि इस पंचमकाल में कोई दूसरा स्थान नहीं है। तीर्थंकर हैं नहीं, केवलि हैं नहीं, ऋद्धिधारी हैं नहीं। मात्र आचार्य, उपाध्याय, साधु तीन परमेष्ठी हैं। ढाईहजार वर्ष बीत चुके हैं, तो भी श्रमण–परम्परा चल रही है। उनके भगवन्त कैसे होंगे? यह साधुचरणों में बैठकर समझ में आ जाना चाहिये।

भो ज्ञानी! आपने अपने पिताजी का चित्र बनवाया और पिता की झलक उसमें न हो तो? देखो, भैया! पिताजी तो नहीं हैं, यह तो हम भी जानते हैं। पर यह झलकना चाहिये कि हमारे पिताजी ऐसे थे। मनीषियो! ध्यान रखना कि जब भी जीवन में आप श्रमण–धारा में बहो, तो आपको देखनेवाले साधु बन पायें या न बन पायें, पर इतना ध्यान रखना कि आपको देखकरके साधु के प्रति श्रद्धा बढ़ जाये, तो समझना कि हमारा साधु बनना सफल है। क्योंकि साधु तो बने अपने कल्याण के लिये थे और आपको देखकर साधु के प्रति अश्रद्धान होने लग जाये, तो विचार करना कि हमने किया क्या है?

भुक्त्वा भक्तं भक्तहस्ताग्रदत्तं ध्यात्वात्मानं पूर्णबोधप्रकाशम्।
तप्त्वा चैवं सत्तपः सत्तपस्वी, प्राप्नोतीद्धां मुक्तिवाराङ्गनां सः।।कलश 83।।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में संकेत कर रहे हैं कि योगी को क्षुधा की पीड़ा सता रही है, परन्तु अपने हाथ से उठाकर खा नहीं सकते, क्योंकि यह निर्ग्रन्थों की चर्या है। भो ज्ञानी! पत्नि की भावना आहार देने की है और पति कह रहा है कि हमारे यहाँ चौका नहीं लगेगा और आपको मालूम चल जाये, या पत्नि ने चौका लगा लिया, मुनि का कर्तव्य है कि आहार करने नहीं जायेंगे उस घर में। क्योंकि आवेश में आकर पति पत्नि को पीट सकता है। जबतक दोनों की हाँ नहीं हो, तबतक मुनिचर्या को उस घर में न जायें। गृहमालिक की अनुमति भी होना चाहिये। योगी वही ग्रहण करे, जो भक्त ने दिया है। ऐसा नहीं कि चार पांच बाईयाँ लगा दी, सो महाराज की आहार–व्यवस्था होती रहे। उनसे पूछो कि पैसा की भक्ति कर रहे हो कि महाराज के आहार की भक्ति कर रहे हो?

भो ज्ञानी! जो भोजन भक्त के द्वारा, श्रावक के द्वारा यति के हाथ पर दिया गया है, वही लेते हैं। आपने पहले थाली दिखाई थी, तो सहजता से जो नहीं लेना था, त्याग था, वह हटवा दिया। अब आप उसको लेके मत आओ। हो सकता है कोई वस्तु उन्होंने नहीं उठवाई हो, उनके स्वास्थ्य के प्रतिकूल हो, तो उन्होंने अंजुलि बन्द कर ली। जिद मत करो। मुनियों के बारह तप में छह अंतरंग और छह बहिरंग तप होते हैं। बहिरंग तपों में एक व्रतपरिसंख्यान नामक तप है। कई जगह संख्या से बहुत अधिक चौके लगते हैं। आप कहेंगे कि महाराज हम भी तो खड़े थे, क्यों नहीं आये? रागद्वेष बढ़ेगा। इसलिये जहाँ विधि मिले, वहाँ चले जाओ। महाराज विधि नहीं लेते तो संकल्प–विकल्प रहता कि किसके यहाँ जायें? इसलिये आगम कहता है कि इन विकल्पों से बचने के लिये हमने व्यवस्था कर दी है। आप विधि लीजिये, जहाँ मिले वहाँ जाईये, विकल्प छोड़िये। एक हेतु पुण्य की परीक्षा का भी है। कभी–कभी क्या होता है कि विधि नहीं मिलने पर उपवास भी हो जाता है। यदि तुम्हारे लाभ–अंतराय का उदय है, तो विधि नहीं मिलती है।

भो ज्ञानी! जो भक्त के द्वारा दिये गये आहार को ग्रहण कर अपनी आत्मा का ध्यान करता है, सम्यक्–तप करके वह तपस्वी मुक्तिरमा का वरण कर लेता है। जो महाव्रती–साधु श्रावक के द्वारा विधिवत् दियेगये प्रासुक, शुद्ध आहार को ग्रहण करता है तथा अपना समय निजात्मा के ध्यान में लगाता है, वही मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी है। यह एषणा समिति का महत्त्व है।

❖ ❖ ❖

त्थानिका : आदान–निक्षेपण समिति के स्वरूप का कथन।

पोत्थइकमंडलाइं, गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो।
आदावणणिक्खेवणसमिदी होदित्ति णिद्दिट्ठा।।64।।

संस्कृत छाया : पुस्तककमण्डल्वादिग्रहणविसर्गयोः प्रयत्नपरिणामः
आदाननिक्षेपणसमितिर्भवतीति निर्दिष्टा ।।64।।

अन्वयार्थ : (पुस्तककमण्डल्वादिग्रहणविसर्गयोः) पुस्तक, कमंडलु आदि के ग्रहण करने और रखने में (प्रयत्नपरिणामः) जो प्रयत्नरूप परिणाम है (आदाननिक्षेपण समितिः इति निर्दिष्टा भवति) वह आदाननिक्षेपण समिति है, इस प्रकार कहा गया है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी मुनियों की समिति का कथन करते हुये आदान–निक्षेपण समिति का वर्णन कर रहे हैं। वर्तमानकाल में जो मुनि होते हैं, वे अपहृत–संयम की श्रेणी में आते हैं। पिच्छि, कमंडलु आदि जो संयम एवं शौच के उपकरण हैं, उनको सावधानीपूर्वक रखते हैं, उठाते हैं, जिससे जीवहिंसा न हो। ज्ञान के उपकरण अर्थात् पुस्तक आदि को भी रखने–उठाने में पहले मार्जन करते हैं। पुस्तक का भी एवं रखने के स्थान का भी, जिससे वह स्थान जीव रहित हो जाये। उपेक्षा–संयमी मुनियों को पिच्छि, कमंडलु की आवश्कता ही नहीं होती है।

भो ज्ञानी! संयम के दो भेद कहे गये हैं, उपेक्षा–संयम और अपहृत–संयम। अपनी शुद्ध–आत्मा से भिन्न सम्पूर्ण बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह का त्याग कर देना, उत्सर्गमार्ग कहा गया है। इसे ही परम–उपेक्षा–संयम, निश्चयरत्नत्रय, सर्वपरित्याग, वीतराग–चारित्र, शुद्धोपयोग कहा जाता है अर्थात् ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। जो मुनि इस निश्चय–रत्नत्रय में ठहरने में असमर्थ हैं, वे शरीर चलाने के लिये शुद्ध–प्रासुक–आहार को ग्रहण करते हैं। ज्ञानोपकरण अर्थात् पुस्तक आदि को भी ग्रहण करते हैं। उनका यह अपवाद–चारित्र कहलाता है। इसे ही व्यवहाररत्नत्रय, से एकदेशपरित्याग, अपहृत–संयम, सरागचारित्र और शुभोपयोग कहते हैं।

भो ज्ञानी! लोग सबकुछ देने को तैयार हो सकते हैं, परन्तु आप सबकुछ लेने को तैयार नहीं हो सकते हो। ध्यान रखना, श्रद्धा रखना, भक्ति करना, दान देना, परन्तु जिससे पात्र की पात्रता खो जाये, ऐसे दान को कभी मत देना। जिनशासन की रक्षा योगी के हाथ

में है और योगी की रक्षा आपके हाथ में है। चर्या करने वाला कौन है? आपका ही बेटा है, कहीं बाहर से टपककर नहीं आये। यदि आप उसके शिथिलाचार में सहयोगी बन जाओगे, तो परिणाम यह होगा कि नमोस्तु–शासन में नमोस्तु किसे करोगे? इस नमोस्तु–शासन की महिमा निश्रेयस भक्ति से है।

भो ज्ञानी! दुर्ग राजनांदगांव के बीच एक गाँव है नगपुरा। वहाँ पार्श्वनाथ भगवान् की प्राचीन प्रतिमा है पेड़ के नीचे। गाँव के लोगों से पूछा कि इसका नाम नगपुरा क्यों? बोले–यहाँ पर ऐसे लोग आते थे जो नंगे रहते थे, उनका यह केन्द्र था, इसलिये नगपुरा कहलाता था। आज भी आप किसी देहात में चले जाओ, पूछना–साधु आये हैं क्या? वो बोलेंगे–नंगे बाबा? हाँ। आज भी तुम्हारी पहचान दिगम्बरत्व से है। इसलिये भो ज्ञानियो! दिगम्बर कहलाना चाहते हो तो दिगम्बरों की भक्ति करना मत छोड़ देना और जिसकी दिगम्बरत्व के प्रति आस्था नहीं है, वह दिगम्बर कहलाने का पात्र नहीं है।

भो ज्ञानी! विषयानुभूति होती है, कषायानुभूति होती है, रागानुभूति होती है। जैसी जिसकी भूमिका है, उसी के अनुसार अनुभूति होती है। जब यह अनुभूतियाँ समाप्त हो जायेंगी तो वहाँ शुद्धानुभूति होगी। जबतक रागानुभूति है, विषयानुभूति है, कषायानुभूति है, तबतक शुद्ध–आत्मा की अनुभूति संभव नहीं है, क्योंकि एकसमय में एक ही अनुभूति होती है। इसे कोई टाल नहीं सकता। एकसाथ कितने उपयोग होंगे? सिद्धान्त से एक ही होगा। जिससमय आप रो रहे होगे, उससमय हँस नहीं रहे होगे। जिससमय आप हँस रहे होंगे, उससमय आप रो नहीं रहे होगे। जिससमय रागधारा होगी, उससमय तेरा ज्ञान रागधारा–रूप है। भो ज्ञानी! जिससमय संयमधारा होगी, उससमय ज्ञान संयमधारा में होगा। परन्तु आगम में उसे ही ज्ञानधारा कहा है जहाँ दर्शन, ज्ञान, चारित्र एकसाथ बैठे हों। व्यवहार की भाषा में आप कुछ भी कह दो, लेकिन सिद्धान्त आपसे यही कहेगा कि वीतराग–अवस्था वीतराग है और सराग–अवस्था सराग है। चारित्र अपेक्षा वीतरागधारा है बारहवें गुणस्थान में, परन्तु ज्ञान अपेक्षा कैवल्य के अभाव में वहाँ रागधारा भी है, क्योंकि क्षायिकज्ञान नहीं है। और जब हम यथाख्यात–चारित्र की दृष्टि से देखेंगे, तो वास्तव में वहाँ वीतरागधारा ही है। परन्तु क्षायिक ज्ञान के होने के कारण पूर्ण–शुद्धज्ञानधारा नहीं है। यथाख्यात चारित्र के दो भेद कर दिये, यथाख्यात और परम–यथाख्यात। परमशुद्ध–यथाख्यात–चारित्र तो वास्तव में चौदहवें गुणस्थान में होता है।

भो ज्ञानी! व्यवहार से हम किसी को भी चारित्र–चक्रवर्ती कह देते हैं। पर कर्मसिद्धान्त क्या कहेगा? आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी कह रहे हैं:–

सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेस आसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि।।गो.जी.का. 65।।

जिन्होंने अठारहहजार शील की संपत्ति को प्राप्त कर लिया है और जिनके कर्मो की रज का अभाव हो चुका है, वे ही वास्तव में पूर्ण–चारित्रधारी चौदहवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज होते हैं। तेरहवें गुणस्थान में अरहंत को भी अभी परमशुद्ध–यथाख्यात चारित्र नहीं है। चौदहवें गुणस्थान में होगा। पंचमकाल के मुनिराज तो अनगार हैं, गृहत्यागी हैं। असंयम की अपेक्षा से यहाँ संयम तो है, पर यथाख्यात–संयम नहीं है।

भो ज्ञानी! जो व्यवहार–रत्नत्रय, निश्चय–रत्नत्रय की धारा में जी रहा है, इसलिये ज्ञानधारा तो है, परन्तु पूर्ण वीतरागधारा नहीं है, क्योंकि रागधारा भी चल रही है। अहो! जिसके शासन में भगवान् के नाम लेने को भी राग कहा गया हो, उस शासन में भोग और राग में वीतरागता कैसे संभव है? जिस शासन में तीर्थंकर की भक्ति को भी रागधारा में रख दिया, उस शासन में भोगों को वीतरागधारा में कैसे रखा जायेगा? इसलिये असंयम असंयम है और संयम संयम है। आप ऐसा कह सकते हो कि इस जीव ने मिथ्यात्व का विनाश किया है, इसलिये मिथ्यात्व संबधी अशुद्धि नष्ट हो चुकी है, परन्तु शुद्धोपयोग नहीं है। मना मत करना, शुद्धि है। फिर मिथ्यात्व में और संवित्ति में अंतर क्या? शुद्धोपयोग नहीं है। यह सम्यक्त्वाचरण चारित्र है। उपयोग शुद्ध क्यों नहीं कहा? क्योंकि इस जीव के संयम नहीं है और संयमाचरण के अभाव में उपयोग की शुद्धदशा बनती नहीं है, यह दृष्टि है। उन सभी आग्रह, दुराग्रह से हटके आप तो यह देखो कि मैं सम्यग्दृष्टि हूँ कि नहीं? और अनुभव करो कि मेरी अनुभूति क्या हो रही है। नहीं तो मालूम चला, कि हो रहा या नहीं हो रहा, इस चक्कर में अपने जो शुभभाव थे, उसको भी खो बैठा।

भो ज्ञानी! हमें सिद्धान्तों की बात तो करना चाहिये, पर पहला लक्ष्य यह होना चाहिये कि चर्चाओं में कहीं मेरे मार्ग का, धर्म का आलम्बन तो नहीं छूट रहा है। श्रद्धान में विपरीतता तो नहीं आ रही है। तत्त्वचर्चा में तो भैया! इस ग्रन्थ में ऐसा है, इस ग्रन्थ में ऐसा है, अपनको समदृष्टि रखना चाहिये। जब केवली भगवान् से मिलेंगे, तब निर्णय कर लेंगे। तबतक ऐसे ही चलते रहो, अपने परिणाम खराब न करो। कोई कहे कि मुझे ऐसा ही करना है तो भो ज्ञानी! न आप सर्वज्ञ हो, न मैं सर्वज्ञ हूँ। सर्वज्ञ की वाणी अपने सामने है, उसपर श्रद्धा करो। अपने अन्दर में कोई कमी है, तो उसे सहजता में स्वीकार लो।

भो ज्ञानी! आप यह मानते हो कि एकेंद्रिय में भगवान् हैं। हमसे किसी भगवान् की अवहेलना न हो जाये। राग के समय में ये भगवान् नहीं दिखते। जब होश में आ जाओगे,

तो फिर से तुम्हें एक–इंद्रिय में भगवान् दिखना प्रारंभ हो जायेगा। वे अज्ञानी हैं जिन्हें निर्ग्रन्थ में भगवान् नहीं दिखते। आप चाहो कि हम योगी को नापें, तो यह संभव नहीं है। आप तो समंतभद्रस्वामी की कसौटी रखो, कुन्दकुन्द स्वामी की कसौटी रखो। भो ज्ञानी! मुनियों की अलौकिक वृत्ति होती है, ऐसा अमृतचन्द्र स्वामी ने 'पुरुषार्थ–सिद्धि–उपाय' में लिखा है। क्यों होती है? जहाँ लोग चार संज्ञाओं में दौड़ रहे हैं और वे निशंक होकर बैठे हुये हैं। इसलिये अलौकिक वृत्ति है।

भो ज्ञानी! अकलंक देव ने भी संयम के दो भेद कहे हैं–उपेक्षा संयम और अपहृत संयम। देश और काल के विधान को जाननेवाले, शरीर से सहजरूप से विरक्त रहनेवाले और तीनगुप्तियों से सहित रहनेवाले साधु, जिसकी मनोवृत्ति राग–द्वेष से रहित है, वह उपेक्षासंयमधारी हैं। अपहृत–संयम के उत्तम, मध्यम और जघन्य तीन भेद कहे गये हैं। जो साधु प्रासुकआहार ग्रहण करता है, प्रासुकवसतिका में निवास करता है, जो ज्ञान और चारित्र की क्रियाओं में सहजता से लगा रहता है, जो जीव–जंतुओं से अपने को बचाकर संयम पालते हैं, वे उत्कृष्ट अपहृत–संयम के धारक हैं। कोई जीव मार्ग में आ गया, चीटिंयाँ लाइन से जा रही हैं, कोई चींटी आदि शरीर पर चढ़ गई, तो वे रुक जायेंगे, उसके स्वयं जाने का इंतजार करेंगे। वे उत्कृष्ट अपहृत–संयम के धारक हैं। मृदु उपकरण पिच्छि आदि से जीव–जंतुओं को हटाकर संयम पालना ये मध्यम अपहृत–संयम वाले कहे जाते हैं। अन्य उपकरणों से जीव को हटानेवाले जघन्य अपहृत–संयम–धारी कहे जाते हैं। इस अपहृत संयम के लिये आठ प्रकार की शुद्धियाँ कही गई हैं। भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, प्रतिष्ठापन शुद्धि, शयनासन शुद्धि और वाक्शुद्धि। ऐसा कथन 'तत्त्वार्थवार्तिक' में किया गया है।

भो ज्ञानी! कहने का अभिप्राय है कि उपेक्षासंयमधारी मुनि ध्यान में लीन शुद्धोपयोगी हैं, वे ही वीतराग–चारित्रधारी हैं। अपहृत–संयमधारी मुनि आगमानुकूल चर्या करते हैं, वे शुभोपयोगी हैं। वे सराग–चारित्र का पालन करते हैं। श्री पद्मप्रभमलधारिदेव आदान–निक्षेपण समिति का फल कलश के माध्यम से बता रहे हैं।

समितिषु समितीयं राजते सोत्तमानां परमजिनमुनीनां संहतौ क्षांतिमैत्री।
त्वमपि कुरु मनःपङ्केरुहे भव्य नित्यं, भवसि हि परमश्रीकामिनीकांतकांतः।। कलश 87।।

जो उत्तम जिनमुनि होते हैं, वे आदान–निक्षेपणसमिति से सुशोभित होते हैं। यह समिति समस्त जीवों के प्रति क्षमा और मैत्री स्वरूप है। समस्त जीवों के प्रति करुणाभाव है, मित्रताभाव है। हे भव्य जीव! तुम अपने हृदयकमल में इसे हमेशा धारण करो तो निश्चितरूप से तुम्हें मुक्तिवधू की प्राप्ति हो जायेगी। तुम मुक्तिरमा के प्रियकान्त बनोगे।

उत्थानिका : **प्रतिष्ठापन समिति का कथन।**

पासुगभूमिपदेसे, गूढे रहिए परोपरोहेण।
उच्चारादिच्चागो, पइट्ठा समिदी हवे तस्स।।65।।

संस्कृत छाया : **प्रासुकभूमिप्रदेशे गूढे रहिते परोपरोधेन।**
उच्चारादित्यागः प्रतिष्ठासमितिर्भवेत्तस्य।।65।।

अन्वयार्थ : (परोपरोधेन रहिते) पर के रोक–टोक से रहित (गूढे प्रासुकप्रदेशे) गूढ़–मर्यादित–एकान्त, जीवजंतु रहित प्रासुक स्थान में (उच्चारादित्यागः) जो मलमूत्र आदि शरीर के मल का त्याग करते हैं, (तस्य प्रतिष्ठासमितिः भवेत्) उनके प्रतिष्ठापन समिति होती है।

भो मनीषियो! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी समितियों का कथन करते हुये अंतिम पाँचवी प्रतिष्ठापन समिति के विषय में कह रहे हैं कि प्रासुक भूमि, जिस भूमि में हरी घास आदि न हो, जिस भूमि में त्रसजीव न हों, जिस भूमि में छिद्र भी न हों, ये ध्यान रखना। क्योंकि छिद्र होने से लघुकाय जीव जो उसमें रहते हैं, लघुशंका छिद्रों में प्रवेश कर जायेगी, तो उनको कष्ट होगा। कष्ट ही नहीं, मृत्यु भी हो सकती है। इसलिये प्रासुक भूमि निष्छिद्र, निरजंतुक होनी चाहिये। कुछ कहते हैं कि हम तो महाराज बन ही चुके, हम तो नंगे हैं, काहे की शर्म? भैया! लोकमर्यादा, लोकव्यवस्था और आगमव्यवस्था इनपर ध्यान रखना होगा। स्थान गूढ़, मर्यादित और एकान्त होना चाहिये।

आचार्य महाराज कह रहे हैं कि आप नंगे हो, तो कहीं भी मलविसर्जन को बैठ जायें, नहीं। जहाँ पर स्त्री, पुरुष, नपुंसक, तिर्यंच, बालक का गमनागमन हो रहा हो, उस स्थान पर योगी मलविसर्जन न करें। ये जिनवाणी की व्यवस्था है। मार्ग हो, जन–समुदाय को दिख रहा हो, विशाल घनी छाया वाला वृक्ष हो, जहाँ लोग, गाय, बैल आदि आकर बैठते हों, वहाँ पर आपको मल–विसर्जन नहीं करना चाहिये। आपको गूढ़, प्रासुक, मर्यादा से युक्त, जहाँ पर किसी का विरोध न हो, वहाँ जाना चाहिये। आप किसी के खलिहान में जाकर बैठ गये, किसी के मकान में या उसके सामने बैठ जायें, ऐसा न करें। जहाँ जनसमुदाय के बैठने का स्थान हो, वहाँ मल–विसर्जन न करें। मलविसर्जन के पूर्व निःसही–निःसही शब्द का उच्चारण करें, क्योंकि हो सकता है कि वहाँ कोई देव

उपस्थित हो। वह संघ पर उपसर्ग न कर दे कि आपने यहाँ मलमूत्र विसर्जित किया। हो सकता है कि किसी देव का निवासस्थान हो, तो आप पर उपसर्ग कर सकता है। संयम में बाधा खड़ी हो सकती है, धर्म की हँसी हो सकती है। इन सब पर विचार कर आचार्यों ने व्यवस्था की है।

भो ज्ञानी! उच्चार आदि के त्याग से आशय मात्र मल–मूत्र से नहीं है। खकार, थूक, श्लेष्मा, नाक के मल आदि से भी है। इनको भी छोड़ने के लिये उचित–स्थान देखना चाहिये। आपने कहीं भी नाक का मल निकाल दिया, मक्खियाँ आकर चिपक गई, तुमने तो जाल फैला दिया। आपको मिट्टी से ढ़कना चाहिये। आपने कहीं भी थूक दिया, छिनक दिया, लोगों के घिन होने लगी। ऐसा काम मत करो कि लोगों को ग्लानि हो। आचार्यभगवन् मुनियों के शरीर के मलादि त्याग करने के लिये प्रासुक शुद्धस्थान का कथन कर रहे हैं।

भो ज्ञानी! शुद्ध निश्चयनय से जीव के शरीर का अभाव होता है और देह का अभाव होने से भोजन ग्रहण करने की परिणति नहीं है। जब भोजन का ग्रहण ही नहीं है, तो मलमूत्र किसका? आप एकासन कर लो, उपवास कर लो तो शरीर की धातु–प्रधातु सूख जायेगी। कितना ही बड़ा जुकाम हो, आप उपवास कर लो, अपने–आप ठीक हो जायेगा। जितना आप अधिक भोजन करोगे, उसकी वृद्धि होगी। निश्चयनय से शरीर ही नहीं है, तो अन्नादि का ग्रहण नहीं है, तो मल का उत्पन्न होना भी संभव नहीं है। व्यवहारनय से देह पाई जाती है। जब देह होगी, तो आहार ग्रहण करना पड़ेगा, क्योंकि बिना भोजन के यह शरीर चलनेवाला नहीं है और शरीर नहीं चलेगा तो साधना भी नहीं चल पायेगी। आहार ग्रहण करने से मल, मूत्र आदि होते हैं। संयमधारियों के लिये मलमूत्र विसर्जन के स्थान हैं, वो कैसे हो? निर्जंतुक यानि जन्तु आदि से रहित। दूसरों के विरोध से रहित हों, ये भी ध्यान रखा जाता है। आप बैठ गये, किसी ने पत्थर फेंक दिया। अतः साधुओं को बहुत ध्यान रखना चाहिये। आपने कोई मर्यादा के विरुद्ध काम किया तो आप तो चले जाओगे, भोगना समाज को पड़ेगा। आप किसी के खलिहान में चले गये, उसने पत्थर मार दिया, आपने उसे क्षमा कर दिया और वापस आ गये। चार व्यक्ति जो आपके भक्त थे, उससे लड़ने पहुँच गये, दोनों के सिर फूट गये। आपकी भूल का परिणाम हुआ कि उनमें जन्म तक का बैर बंध गया। इसलिये हरसमय मर्यादा का ध्यान रखना जरूरी है।

भो ज्ञानी! आपने किसी स्थान पर मलमूत्र विसर्जन किया, शुद्धि की, चले आये। आगम कह रहा है कि वहाँ कुछ देर खड़े रहो और विचारो कि इस शरीर के योग से, कितनी स्वादिष्ट सुन्दर सामग्री खाई थी, वो सारी–की–सारी कैसी हो गई? जिससे वैराग्य की भावना बनी रहे। इस शरीर को कितना ही खिलाओ–पिलाओ, लेकिन उसको मल ही बनना है। यह उद्देश्य है। योगी की दशा देखो, मल के स्थान पर चिन्तन चल रहा है। यह श्रमण की जागृति है। इसलिये आगम में साधु को जागृत कहा है। उन्हें सदैव अपनी समितियों में जागृत रहना है। अब माना कि शरीर में रोग हो गया, पेट गड़बड़ हो गया। अब देखना, कितनी विचित्रता है। एक तो शरीर का धर्म और एकतरफ जीव तड़फ रहे हैं । हे भगवन्! ऐसा क्या है? दो–इंद्रिय जीव तड़फ रहे हैं, उसका भी मुनि प्रायश्चित करते हैं। कभी–कभी शरीर में मीठे के कारण, वनस्पति के कारण, पानी के कारण कृमियाँ हो जाती हैं। हमारी किसी असावधानी के कारण इतने जीवों को तड़फना पड़ा है। उसका भी मुनि महाराज प्रायश्चित करते हैं।

भो ज्ञानी! जो प्रतिमाधारी हैं, इसपर ध्यान ही नहीं देते हैं। आप संडास में जाते हो, जीवों का पिण्ड वहाँ पहले से उपस्थित है। आपका गर्म–गर्म मल गिरेगा, तो उन जीवों का क्या होगा? त्रस–हिंसा ही होगी। अब आप स्वयं सोचें कि धर्म क्या है? संयम के लिये समितियों का गठन किया गया है। कितनी करुणादृष्टि है। जब योगी शीतप्रदेश में गमन करे गर्मप्रदेश से, तो पिच्छि से पूरे शरीर का मार्जन करे, क्योंकि गर्मप्रदेश के जो जीवाणु हैं उनका शीत प्रदेश में मरण हो जायेगा। ऐसा ही धूप से छाया में, छाया से धूप में प्रवेश करने पर करे। उसमें प्रमाद नहीं होना चाहिये, चाहे कितनी भी बार करना पड़े। यही साधक की दृष्टि है।

भो ज्ञानी! धन्य है साधु की चर्या, नीचे ईर्यापथ दृष्टि चल रही है, ऊपर आदान–निक्षेपण समिति चल रही है। लाल खेत की मिट्टी थी, आगे काली मिट्टी दिख रही थी, रुक गये, उस मिट्टी का मार्जन किया, इसके बाद आगे गमन किया। शयन–अवस्था में हैं, यदि करवट बदलने की भी आवश्यकता पड़ी, तो पहले उस प्रदेश का मार्जन करेंगे, फिर देह का मार्जन करेंगे, तब करवट बदलेंगे। यह है योगी की चर्या, इसमें प्रमाद को कोई स्थान नहीं है। कोई कहता है कि इतनी दूर शौच के लिये जाने पर समय नष्ट होता है। ज्ञानी! योगी घूमने नहीं जा रहे हैं, प्रतिष्ठापन–समिति का पालन करने जा रहे हैं। गृहस्थ ग्रन्थ लेकर स्वाध्याय करता है, पढ़ता है कि महाराज चार–हाथ

भूमि देखकर चलते हैं, यह आपका स्वाध्याय हो गया। साधु चार–हाथ भूमि देखकर चल रहे हैं, यह क्रियारूप स्वाध्याय है। आपने पढ़ा कि साधु सर्वदोष टाल करके आहार लेते हैं। साधु एषणासमिति का पालन करते हुए आहार ले रहे हैं। भोग भोगकर कर्मों की निर्जरा कर रहे हैं।

भो ज्ञानी! अंदर में जो होगा, वही तो बाहर में दिखेगा। जब तुम्हारे अंदर करुणा ही नहीं है, तो बाहर क्रियाओं में कैसे झलकेगी? बोले–कहाँ की धूप, कहाँ की छाँव, कहाँ की लाल मिट्टी, कहाँ की काली मिट्टी?

भैया! पिच्छि जो संयम का उपकरण है, उसको बनाना भी उद्दिष्ट है। श्रावकों को पिच्छि बनाकर भेंट करना चाहिये। पिच्छि बनाने में आरंभ–सारंभ होता है और वे इसके त्यागी हैं। जो जैसा पात्र है, उसके अनुसार सेवा करनी चाहिये। वस्त्रधारी है, तो आवश्यकतानुसार वस्त्र की व्यवस्था करना चाहिये। जिनको पिच्छि–कमंडलु की आवश्यकता है, उनको वह प्रदान करें। आपके द्वारा दी गई पिच्छि से महाराज एक वर्ष भर संयम का निर्दोष पालन करेंगे, जीवों की रक्षा करेंगे। महाराज को स्वाध्याय के लिये ग्रन्थादि की आवश्यकता है, तो उसकी व्यवस्था करें। आप अपने घर में भी ग्रन्थ रखें, हर घर में पुस्तकालय होना चाहिये। मध्यकाल में छह मास तक ग्रन्थों की होली जलाई गई थी। परन्तु गृहस्थों के पुस्तकालयों के कारण ग्रन्थ सुरक्षित रहे। एक दादाजी आये, बोले–शास्त्र मंदिर में दे रहे हैं। हमने कहा कि अपने घर में ही रखो। मुझे याद है कि जब घर में धर्म की कोई पुस्तक होती है, तो मन खराब होने पर व्यक्ति उसको खोलकर पढ़ लेता है। पुस्तकों को घर में व्यवस्थित रखना चाहिये, संभव हो तो अलग से कक्ष बनाना चाहिये, जिससे अशुद्धि न हो।

भो ज्ञानी! यदि आपने आरंभ का त्याग किया है, तो बहुत गहरे से विचार करना। ऐसा नहीं है कि मैं कर नहीं रहा हूँ, करवा रहा हूँ। महाव्रतों का पालन नवकोटि से होता है, एक–कोटि से नहीं होता है। आपने बगीचा लगवाया, उसमें पानी डलवा रहे हो, ये निर्ग्रन्थ की वृत्ति नहीं है, यह महाव्रती की चर्या नहीं है। आपने पानी डाला, ये हिंसा है और पानी नहीं डाला तो वृक्ष सूख रहे हैं। अब बड़ी समस्या है। कहीं पीपल आदि का वृक्ष लग गया, कितने जीव उत्पन्न हो रहे हैं, मर रहे हैं। समस्त हिंसा के भागी आप बनोगे। अतः बड़ी सावधानी से रहो और समितियों का पालन करो। टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव समितियों के पालन करने का महत्व और उसका फल बताते हुए तीन कलश कह रहे हैं।

समितिरिह यतीनां मुक्तिसाम्राज्यमूलं, जिनमतकुशलानां स्वात्मचिंतापराणाम्।
मधुसखनिशितास्त्रव्रातसंभिन्नचेतः, सहितमुनिगणानां नैव सा गोचरा स्यात्।। कलश 88।।
समितिसमितिं बुद्ध्वा मुक्त्यङ्गनाभिमतामिमां, भवभवभयध्वांत प्रध्वंसपूर्णशशिप्रभाम्।
मुनिप तव सद्दीक्षाकान्तासखीमधुना मुदा, जिनमततपःसिद्धं पायाः फलं किमपि ध्रुवम् ।। कलश 89।।
समितिसंहतितः फलमुत्तमं, सपदि याति मुनिः परमार्थतः।
न च मनोवचसामपि गोचरः, किमपि केवलसौख्यसुधामयम्।।कलश 90।।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जो यति इन समितियों का कुशलतापूर्वक पालन करता है और अपनी आत्मा के चिन्तन में लीन रहता है, वह मुक्ति–साम्राज्य को प्राप्त करता है। जो मुनिगण कामदेव के तीक्ष्ण बाणों से पीड़ित रहते हैं, वे समिति का पालन ही नहीं कर पाते हैं। जो मुनि अपनी आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करते हैं, परपदार्थों से अलग रहते हैं, उनके प्रति विरक्त रहते हैं, वे ही पूर्णरूप से समितियों का पालन कर पाते हैं और उन्हीं के लिये यह समितियाँ मोक्षप्राप्ति का हेतु हैं। जो संसार के विषयसुखों, शरीर के सुखों में आसक्त रहते हैं, उनको तो समिति का ही पालन करना अत्यन्त दुर्लभ है। अतः समिति का पालन ही नहीं होता, मोक्ष की बात तो बहुत दूर है।

जो यति इन समितियों का पूर्णरूपेण पालन करता है, उसे मुक्तिरूपी स्त्री की प्राप्ति होती है। वह कैसी है? वह भव–भव अर्थात् जन्म–मरण के अंधकार को दूर करने वाली शीतलतादायी चाँदनी के समान है। जो इन समितियों को हर्ष पूर्वक धारण करता है, वह अनुपम, ध्रुव फल अर्थात् मोक्षफल को प्राप्त करता हैं।

आचार्यमहाराज समितियों का उपसंहार करते हुये कह रहे हैं कि इन समितियों के पालन से मुनिराज अनुपम–फल को प्राप्त करते हैं, जिसका वर्णन शब्दों से नहीं किया जा सकता है। जिसका वर्णन मन से भी संभव नहीं है। वह कैवल्य–सुख अमृतमय है, अद्भुत है। वह अनुपम, अद्भुत फल मोक्ष है, जो सदा सुखमय है, अविचल, अविनाशी है।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **व्यवहार मनोगुप्ति के स्वरूप का कथन।**

कालुस्समोहसण्णारागद्दोसाइअसुहभावाणं।
परिहारो मणगुत्ती, ववहारणयेण परिकहियं।।66।।

संस्कृत छाया : **कालुष्यमोहसंज्ञारागद्वेषाद्यशुभभावानाम्।**
परिहारो मनोगुप्तिः व्यवहारनयेन परिकथिता।।66।।

अन्वयार्थ : (कालुष्यमोहसंज्ञारागद्वेषाद्यशुभभावानाम्) कलुषता, मोह, संज्ञा, राग, द्वेष आदि अशुभभावों के (परिहारः) परिहार को (व्यवहारनयेन) व्यवहारनय से (मनोगुप्तिः कथिता) मनोगुप्ति कहा है।

भो मनीषियो! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ग्रन्थराज नियमसार में व्यवहार मनोगुप्ति के स्वरूप का कथन कर रहे हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों से चित्त क्षुभित होता है, उससे कलुषता आती है। मोह दो प्रकार का कहा गया है–दर्शनमोह और चारित्रमोह। मोह के कारण जीव अपना विवेक स्थिर नहीं रख पाता है। दर्शनमोह द्रव्यों के सच्चे स्वरूप पर श्रद्धान उत्पन्न नहीं होने देता है एवं चारित्रमोह सही पालन नहीं करने देता है। संसारीजीव आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओं के साथ जीता है। भो ज्ञानी! प्रशस्तराग और अप्रशस्त–राग, ये राग के दो भेद हैं। अप्रिय वस्तुओं या जनों में बैर का परिणाम, वह द्वेष है। ये सब अशुभ परिणाम हैं। इन परिणामों के कारणों का परिहार ही व्यवहारनय से मनोगुप्ति कहलाती है। इन खोटे परिणामों का चिन्तवन भी न करना, मनोगुप्ति है।

आचार्यभगवन् उमास्वामी 'तत्त्वार्थसूत्र' में गुप्ति का लक्षण कह रहे हैं–

सम्यग्योगनिग्रहोगुप्तिः।। त0सू0 4/9।।

सम्यक् प्रकार से मन, वचन और काय के योगों का निग्रह करना गुप्ति है। ये गुप्तियाँ वृत्तिरूप हैं। यहाँ पर व्यवहारनय से गुप्ति का कथन किया है, इसका तात्पर्य अशुभभावों की निवृत्ति से है। योगी मन में संकल्प–विकल्प भावों से परे होता है। कषायभाव से रहित जो अवस्था है, वह व्यवहार मनोगुप्ति है। स्थूलदृष्टि से अशुभ–चिन्तन का नहीं होना, मनोगुप्ति है। शुभ–चिन्तन में अपने–आपको लगाके रखना, मनोगुप्ति है। ये पुरुषार्थगम्य है, असाध्य नहीं है। इतना तो अपन कर सकते

हैं कि जब भी मन बाहर जाये, तुरन्त ही उसे नियंत्रित कर लेना, पकड़ लेना। मन के बेशर्मीपने को संयमरूप में लगाना, मनोगुप्ति है। इसी बात को पद्मप्रभमल धारिदेव कलश में कह रहे हैं।

गुप्तिर्भविष्यति सदा परमागमार्थ, चिंतासनाथमनसो विजितेन्द्रियस्य।
बाह्यान्तरङ्गपरिषङ्गविवर्जितस्य, श्रीमज्जिनेन्द्रचरणस्मरणान्वितस्य।। कलश 91।।

यहाँ आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि गुप्तियाँ होती हैं किसके? जिसका मन हमेशा परमागम के अर्थ–चिन्तन में लगा हुआ है। परमागम के चिन्तन का नाथ मन है। उन्हीं मुनिराज के गुप्तियां होती हैं, जो जितेन्द्रिय हैं, जिन्होंने अपनी इंद्रियों को जीत लिया है। इतना ही नहीं, जो अंतरंग–बहिरंग परिग्रह से भी रहित हैं। जिनके मन में, अंतरंग में जिनेन्द्रभगवान् के चरणों का स्मरण व्याप्त है, ऐसे साधुपुरुष के ही मनोगुप्ति होती है। यदि ऐसी अवस्था नहीं है, तो मनोगुप्ति संभव नहीं है। इतनी विशेषता होनी जरूरी है।

भो ज्ञानी! जिस योगी की परमागम के अर्थ में लीनता, तत्त्व–चिन्तन, अंतरंग–बहिरंग परिग्रह का अभाव, जितेन्द्रियता और जिनशासन के प्रति अगाधश्रद्धा है, उसकी मनोगुप्ति होगी। आप निश्चय–मनोगुप्ति में नहीं जा पा रहे हो, इन विशेषणों से कम–से–कम अशुभ से बचे रहो जिससे आपकी व्यवहारगुप्ति पलती रहेगी। परमागम में लीन हैं, इसका तात्पर्य है कि उतने काल तक आप पर–विषयों में नहीं हो। तत्त्व–चिन्तन में लगे हो, तो आप बाह्य से दूर हो। सबसे ज्यादा जीव को भटकाने वाला परिग्रह ही है। परिग्रह संताप का जनक है। परिग्रह संज्ञा दशमें–गुणस्थान तक चलती है। सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान का नाम इसलिये है कि सूक्ष्म–कषाय वहाँ है। यथाख्यात–चारित्र प्रकट होने में यही सूक्ष्म–कषाय बाधक है। ये कषाय यथाख्यात–चारित्र को प्रकट नहीं होने दे रही है। तुषमात्र भी परद्रव्य के ग्रहण का भाव, पर–द्रव्य को स्वीकारने का भाव जीव के अंतरंग में कलुषता को उत्पन्न कर देती है और हीनता भी उत्पन्न कर देती है। आप हरसमय अपना सिर उठाकर चलते हो, हरसमय आप व्यवस्थित रहते हो। यदि आपको किसी पदार्थ को पाने की भावना बन गई और वो पदार्थ दूसरे के पास है, तो आपका चेहरा बदल जायेगा, भाषा बदल जायेगी। 'हाँ, भैया! हमें वो वस्तु चाहिये है।' गंभीरता नष्ट हो गई।

भो ज्ञानी! जैनदर्शन में सात जगह मोह की चर्चा है। एक सामान्य श्रावक है, ब्रह्मचारी है, त्यागी है, ये भोजन की चर्या को जायेंगे, तो मौन रखेंगे। संसारी जीव है,

पता नहीं किस समय किस वस्तु को स्वीकारने के भाव हो जायें। मुनिराज आहारचर्या को गये, दाता तो दाता है। कभी भी जैनसाधु का आहार स्वेच्छा से नहीं हो सकता। आप कहें कि हम अच्छे से दे रहे हैं। आप अपनी इच्छा से आहार देते हो। आप कैसे कह सकते हो कि उनकी इच्छा से आहार दिया जा रहा है? बहुत सारे लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने अनुसार चलाते हैं। उस स्थल पर मौन रहने से साधुधर्म की रक्षा हो गई। जीव के भावों में आ जाता है और बोल देते हैं कि हमें यह नहीं, यह चाहिये। दाता तो उस पदार्थ को दे देता है, पर उसका श्रद्धान साधु के प्रति कम हो जाता है। आपका जो अयाचक–धर्म था, वो भी नष्ट हो जाता है। दाता की हीनभावना आपके प्रति हो जाती है और आप भी हीनता से युक्त हो जाते हैं।

भो ज्ञानी! अभी मनोगुप्ति की चर्चा कर रहे हैं। मौन से आपके व्यवहार– द्रव्यलिंग की रक्षा हो गई यानि जो सिंहवृत्ति है उसकी रक्षा हो गई, पहले तो अपन को यह पकड़ना है। अब चलें मनोगुप्ति की ओर। मनोगुप्ति नहीं बची, ऐसे भाव यदि आते हैं तो मनोगुप्ति नहीं बचेगी, परन्तु मौन रह रहे हैं। एक क्षण में पुनः सोच बन सकता है कि हम बोल तो सकते हैं नहीं। मन में विचार लायें ही क्यों? क्योंकि जो हम चाहेंगे, वो मिलेगा नहीं। जो भाग्य में है, वही मिलेगा। तो अंतरंग में वो संभल गया। मनोगुप्ति अंदर में गिरी, फिर उठी, परन्तु बाहर से ज्ञात नहीं होगा। इससे नमोस्तु–शासन की हँसी नहीं होगी। ये आपका अंदर का विषय है कि परिणाम कितने बार ऊपर–नीचे हो रहे हैं। ये अतिचार है, परन्तु बोल दिया तो मनोगुप्ति का अनाचार हो गया।

व्यवहार–गुप्ति के भी दो भेद हैं–प्रशस्त और अप्रशस्त। किसी ने कुछ कह दिया, ऐसे–वैसे शब्द बोल दिये, उसके प्रति किसीप्रकार का रागद्वेष मन में नहीं लाना, इसे व्यवहार मनोगुप्ति कहा है।

किसी ने कहा कि सच्चे मुनिराज उभय परिग्रह से रहित होते हैं। अब इसको चरणानुयोग की दृष्टि से देखें, जो पांच–पापों के चर्यारूप त्याग की बात कर रहा है। करणानुयोग कहेगा कि अनंतानुबंधी, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान ये सर्वघाती प्रकृतियाँ हैं। महाव्रत के लिये इन सर्वघाती प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय और देशघातिप्रकृति संज्जवलन इसके उदय होने पर जो जीव के परिणामों की दशा है, उसका नाम मुनिराज है। ''विषयाशावशातीतो'' इसमें विषय भी है, आशा भी है और परिग्रह भी है।

बहिरंग–अंतरंग परिग्रह पूर्णरूप से अभी नहीं छूटे हैं। आशा किसकी? पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करें। विषय क्या है? पंचपरमेष्ठी का ध्यान है। परन्तु अशुभ नहीं है, शुभ है।

भो ज्ञानी! कषाय के सद्भाव में भी महाव्रत पलते हैं और शुद्ध–उपयोग भी पलता है। अंतर समझना। संज्वलन कषाय की तीव्रता में छठवाँ–गुणस्थान और उसकी मंदता में सप्तम–गुणस्थान और उसी मंदता के क्रम से क्षीण होने होने से गुणस्थान बढ़ते हैं। यदि परिग्रह की चर्चा करें तो अंतरंग–परिग्रह चौदह प्रकार का है, वह गुणस्थान क्रम से क्षीण होता है। वर्तमान में चौबीस प्रकार के परिग्रह के त्यागी मुनि, आचार्य आदि नहीं हैं। मात्र दस प्रकार के बहिरंग परिग्रह के त्यागी हैं। अंतरंग में तो अनन्तानुबन्धी, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान कर्म की प्रकृतियाँ रूपी जो कषाय के भेद हैं, इनका अभाव है। पर संज्वलन का पूर्ण अभाव नहीं है। वेद–कर्म तीनों चलेंगे, एक–समय भी वेद की सत्ता का अभाव नहीं है, पर वेद–कर्म की क्रिया का अभाव है। वो पुरुषार्थी है, संयमी है। लेकिन वेद का क्षय नहीं है। नोकषाय का अभाव नहीं है। ये कर्मसिद्धान्त, कर्मकाण्ड का विषय है कि जैसे–जैसे कर्म की प्रकृतियां क्षीण होती जाती हैं, वैसे–वैसे योगी क्रम से बढ़ता चला जाता है। आगे चलके जब बारहवें–गुणस्थान में वो क्षीण हो जायेगा, तो परमवीतरागी मुनिराज चौबीस–प्रकार के परिग्रह के त्यागी हो जायेंगे।

भो ज्ञानी! अनुयोग पढ़ने की भी पद्धति है, वह यह है ''प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नमः'' पहले प्रथमानुयोग, फिर करणानुयोग, फिर चरणानुयोग और अन्त में द्रव्यानुयोग। यदि आप मुनिराज बनना चाहें तो आचार्यमहाराज क्रम भंग कर देंगे। न प्रथमं, न करणं, न द्रव्यं कहेंगे, ये मात्र आपको चरणं कहेंगे। पहले आप चर्या का ज्ञान करो कि चारित्रपालन कैसे किया जाता है। फिर आपसे कहेंगे कि अब आ जाओ प्रथमम्, करणम् पर। भावों को सुधारो। अब स्थिरता कैसे आये? तो द्रव्यानुयोग को पकड़ो। भो ज्ञानी! चारित्र की परिभाषा बहुत छोटी और बहुत बड़ी है। करणानुयोग के ज्ञान का नाम चारित्र नहीं है।

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो, अप्पणो हु समो।। प्र0सा0 7।।

मोह व क्षोभ से रहित जो परिणाम है, इसका नाम चारित्र है। करणानुयोग से आप नहीं जान सकते हो कि क्या हो रहा है? चरणानुयोग से आप पूछें कि आपकी पांच पापों के प्रति प्रवृत्ति क्या है? मोह कैसा हो रहा है? मिथ्यात्व के प्रति क्या भाव आ रहे हैं? ये

परिणाम आप स्थूलरूप से जान सकते हो। करणानुयोग आपसे कहेगा कि इन कर्म की प्रकृतियों का जहाँ क्षयोपशम है, वो मुनिराज हैं, वो चारित्र है। लेकिन चरणानुयोग कहेगा कि जो व्रत, समिति, गुप्तियों का पालन कर रहा है, वो चारित्रवान है। द्रव्यानुयोग कह रहा है कि मोह व क्षोभ से रहित परिणाम हैं। मोह यानि दर्शनमोह और क्षोभ यानि चारित्रमोह। दोनों से रहित परिणाम हैं, उसका नाम चारित्र है। यदि अंतरंग में किसी देवी, देवता, पंथ, आम्नाय आदि के प्रति रागदृष्टि है, तो जिनवाणी कहती है कि तुम्हारा चारित्र शून्य है।

भो ज्ञानी! ये ध्यान रखना जीवन में, क्योंकि इन स्थितियों में मोह का अभाव नहीं होता है, क्षुभित हो जाता है। इन्होंने हमारी आम्नाय के विरोध में बोल दिया– क्षोभ आ गया मन में। इसलिये योगी से कहा जाता है कि आप पहले इन परम्पराओं से मुक्त हो जाओ, फिर मुक्ति का मार्ग चुनना। यदि आप परम्पराओं से मुक्त नहीं होंगे तो कभी मध्यभारत, कभी दक्षिणभारत पहुँच गये तो वहाँ की क्रियायें देख–देख करके परिणाम खराब होंगे। आपको कहीं स्त्रियाँ दिखेंगी, कहीं दूध दिखेगा, कहीं पानी दिखेगा, कहीं सूखाफल दिखेगा, कहीं गीलाफल दिखेगा। जिनवाणी कहेगी कि आपकी आस्था तो अट्ठाइस मूलगुणों की है। आप तो दो बार वंदना करो, पर इनसे दूर रहो। यदि दूर नहीं रहोगे तो नियम से परिणाम खराब होंगे। बोले–मैं इस मंदिर में नहीं जाऊँगा, वहाँ ऐसा होता है। मैं उस मंदिर में नहीं जाऊंगा, वहाँ ऐसा होता है। परिणाम निकला कि तुम तीर्थों के भगवानों की वंदना भी नहीं कर पाओगे। आप इससे सहमत हो या नहीं हो, पर वस्तु– स्वरूप यही है। यदि वास्तव में आप मोह व क्षोभ से रहित होना चाहते हो तो पहले इनसे हटना पड़ेगा।

भो ज्ञानी! जब तक पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ है, तबतक चारों अनुयोग क्रम से पढ़ना।

पंडित टोडरमल जी ने लिखा है–आपका जिस अनुयोग में मन लग रहा है, वही पढ़ें। यदि किसी का प्रथमानुयोग में ही मन लगता है, तो वो ही पढ़े। मालूम, प्रथमानुयोग से विशेष विशुद्धि बढ़ती है। आप गलतमार्ग पर जा रहे थे, तो महापुरुषों के चारित्र पढ़कर आप विचार कर सकते हो। सुकुमाल, सुकौशल मुनिराज की कथा सुनी? उन पर हुये उपसर्ग को जानकर अपने ऊपर हुये उपसर्ग पर परिणामों की निर्मलता हो सकती है। जिस अनुयोग से विशुद्धि बढ़े, उस अनुयोग का अध्ययन करें। परन्तु प्रारंभिक ज्ञान तो

व्यवस्थित होना चाहिये। प्रारंभ गड़बड़ हो जायेगा तो चैतन्य आत्माओ! अन्त निर्मल नहीं हो पायेगा। आप अनुयोग की बात छोड़ दो, खींचातानी करोगे और जो मध्यस्थ होगा वो जिस भी अनुयोग की बात होगी, सुनने को बैठ जायेगा, उसे जिनवाणी दिखेगी और कोई एकांकी होगा वो कहेगा कि नहीं, ये नहीं है। बस, हो गई गड़बड़ी। चारों अनुयोग कथन–शैलियाँ हैं। परन्तु अपने भाव परमपारिणामिक बनाने के लिये निज का ही पुरुषार्थ करना पड़ेगा।

भो ज्ञानी! कौन–सा अनुयोग मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत है? चारों ही हैं। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग। जिससे भावों में निर्मलता आ जाये, वो ही अनुयोग उसके क्षायिक अथवा क्षयोपशम सम्यक्त्व का कारण है। जिस अनुयोग से तुम्हारे परिणाम निर्मल हो जायें, वो ही अनुयोग तुम्हारे सम्यक्त्व उत्पत्ति का कारण है। ये नहीं कह सकते कि यही अनुयोग सम्यक्त्व की उत्पत्ति का हेतु है। 'देशनालब्धि' आचार्यों ने कितना सोच कर लिखा। 'अनुयोग' शब्द रख देते तो जरूर संकट हो जाता । देशनालब्धि मात्र रखा कि धर्म–उपदेश सम्यक्त्व की उत्पत्ति में हेतु है। अब धर्म–उपदेश किस अनुयोग से दिया जा रहा है? आगम में दस प्रकार के सम्यक्त्व की चर्चा है। धर्म–कथा सुनकर जो सम्यक्त्व होता है, उसे सम्यक्त्व ही कहा है।

भो ज्ञानी! जब निर्ग्रन्थ, जितेन्द्रिय मुनिराज तत्त्व–चिन्तन में तत्पर होते हैं, जिनेन्द्रदेव की भक्ति में रत होते हैं, तब उनके परिणाम भी शुभ होते हैं। उन शुभ–परिणामों के कारण मन का व्यापार भी शुभ होता है। यही व्यवहार–मनोगुप्ति है।

❖ ❖ ❖

त्थानिका : वचनगुप्ति के स्वरूप का कथन।

थीराजचोरभत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स।
परिहारो वयगुत्ती, अलियादिणियत्तिवयणं वा।।67।।

संस्कृत छाया : स्त्रीराजचौरभक्तकथादिवचनस्य पापहेतोः।
परिहारो वाग्गुप्तिरलीकादिनिवृत्तिवचनं वा।।67।।

अन्वयार्थ : (पापहेतोः) पाप के कारणभूत (स्त्रीराजचौरभक्त कथादिवचनस्य) स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा और भोजनकथा इत्यादिरूप वचनों का (परिहारः) त्याग करना (वा अलीकादिनिवृत्तिवचनं) अथवा असत्य आदि के अभावरूप वचन बोलना (वाग्गुप्तिः) वचनगुप्ति है।

भो मनीषियो! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी वचनगुप्ति के स्वरूप का कथन कर रहे हैं। विकथायें जबतक रहेंगी, तबतक वचनगुप्ति नहीं रहेगी। इसलिये इनको तो आप सहजता में छोड़ ही दें। और समझना कि कैसे–कैसे वे विकथायें होंगी। छठवें गुणस्थान तक चलती जरूर हैं, परन्तु उसके लिये आदेश नहीं है। क्योंकि ऐसा प्रमाद आ जाता है जीव को। आदेश यही है कि योगी को विकथाओं से बचना चाहिये और विकथायें सुनना भी नहीं चाहिये। भैया! ये स्थान विकथा का नहीं है। जब धर्म के प्रदेश पर कोई अशुद्ध शब्द नहीं बोलते थे, देखो–आप मुनि के पास कभी भी गलत नहीं बोलते, गलत नहीं करते। जब मुनिराज स्वयं धर्ममय हैं, अब उन्हें कैसे रहना है? गुप्तियाँ कैसे पलेंगी? ऐसा चिन्तवन नहीं आता तो गुप्तियाँ तुम्हारे पास आने वाली नहीं हैं।

भो ज्ञानी! जिसको लोग तुम्हारे सामने कहना पसंद नहीं करते तो भगवन्! उसे आप कैसे कह सकते हो? स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा और भोजनकथा उसे आप कैसे कह सकते हो? अब तुम जानके पाप के हेतु सामने रखो तो तुमसे वह व्यापारी श्रेष्ठ है, जो अपने व्यापार की क्षीणता को देख करके एक कदम भी नहीं रखता और ये ध्यान रख लेता है कि लाभ कितना है और नुकसान कितना है? हमेशा लाभ–अलाभ पर दृष्टि रखता है। ऐसे ही योगी भी को जागृत रहना चाहिये कि किन चर्चाओं से मुझे लाभ है। लौकिक नहीं, परमार्थभूत किन चर्चाओं से अलाभ है? आप चाहो कि चर्चाओं से हमारे उपासक बन जायेंगे, तो ये नहीं होगा। कोई दर्शन करने आया और आप सामायिक कर रहे थे, तब

उसका झुकाव आपके प्रति बढ़ेगा। श्रावक बोलना चाहता था, पर आप बोले नहीं, तब तुम्हारे प्रति उसकी श्रद्धा दुगनी बढ़ गई। बोले–इतना बड़ा आदमी आया, महाराज ने कुछ भी नहीं कहा।

यदि साधु भीड़ को भगाना चाहता है, तो ये मत कहो कि जाओ। आप तो बस, सामायिक में बैठ जाओ। आप जैसे बैठे, अब बोलने का साधन नहीं है, तो लोग अपने–आप चले जायेंगे। जैसे लोग कहने लगते हैं कि बनिया को लोगों को भगाना हो तो झाड़ू लगाने लगता है। जाने को कहेगा तो बुरा मानेंगे लोग। इसी तरह मुनिराज अपनी झाड़ू लगाने लगते हैं। कर्मों को झाड़ने में लग जाते हैं। बात को समझना कि जितना आप सहज रहोगे, लोगों से दूर रहोगे, उतने लोग आपसे जुड़ेंगे, क्योंकि यहाँ तुम्हारी पहचान विभूति से नहीं है, यहाँ तुम्हारी पहचान सहजता और निश्छलवृत्ति से है। ध्यान रखना, परिग्रह किसी भी कीमत पर आपको महान नहीं बना सकता।

भो ज्ञानी! जिनसे आत्मधर्म की रक्षा हो, उनका नाम गुप्तियाँ है। चार विकथाओं का परिहार कर दो। वचन भी बोलो तो असत्य का अभाव होना चाहिये। अलीक वचन भी न बोलें। लीकरहित बोलना अलीक है। जब भी गणधर की गद्दी पर बैठो तो ध्यान रखो कि कहीं हमसे गलत तो नहीं कहा जा रहा है। गलत से तात्पर्य आगम से हटकर बोलना है। आचार्यभगवन् चारों विकथाओं के विषय में कह रहे हैं। राज्यसम्बन्धी चर्चा करना, देश सम्बन्धी चर्चायें करना, ये सब राष्ट्रकथा है। चोरी आदि की चर्चा करना चोरकथा, भोजन के बारे में चर्चायें करना भोजनकथा, स्त्रियों की रागवती चर्चायें करना स्त्रीकथा है। इन चारों विकथाओं से योगी रहित होते हैं। यदि एक भी कथा के भाव आते हैं, तो प्रमत्त दशा को प्राप्त होते हैं, सप्तम गुणस्थान से गिर जाते हैं।

भो ज्ञानी! प्रथमानुयोग को विकथा मत कह देना। वे जीव अज्ञानी हैं जो प्रथमानुयोग को विकथा कह रहे हैं। प्रथमानुयोग आपसे यह कह रहा है कि एक रागी राग में बिंध करके किस प्रकार राग से निकला है। उसकी भूमिका की ओर निहारो। जो प्रथमानुयोग है, बोधि–समाधि का निधान है। प्रथमानुयोग में जो चर्चा है, वो आपको रागी–द्वेषी बनाने के लिये नहीं है। आप जम्बूस्वामी के चरित्र को पढ़ोगे, प्रथमानुयोग है। देखना, चार सुन्दर रूपवती अंगनायें बैठी हुई हैं, पर श्रावक तो योगी की दृष्टि से बैठा हुआ है और माँ खिड़की से झाँक रही है। 'ओहो स्त्रियों के चुंगुल में कौन नहीं फँसा? अब तो मेरी भावना पूरी हो जायेगी।' लेकिन धन्य हो, वहाँ तो एकत्व–विभक्त चैतन्य–चमत्कार की बातें हो

रही थी। वहाँ रूप, लावण्य उस वैरागी को नहीं रिझा सका। कह रहे थे कि बस, प्रातः सूर्य उदित होते ही हमारे अंतरंग में चारित्र का सूर्य प्रकट हो जायेगा। इसलिये आप अपने–आपमें रहना। लेकिन वे कन्यायें भी कहने लगी कि ये हमारा सौभाग्य है कि हमें ऐसे पति का सहयोग मिला, जो संयम की ओर बढ़ रहा है। हम भी संयम की ओर जायेंगी।

भो ज्ञानी! यदि आपकी दृष्टि निर्मल है, तो आप सर्वत्र अच्छाई प्राप्त करेंगे और आपकी निज की दृष्टि निर्मल नहीं है, तो अरिहन्त के बिम्व को देखकरके विकार को प्राप्त हो रहे हैं। जिनकी दृष्टि विकृत है, भवन में लगी पुतलियाँ असंयम की ओर ले जा रही हैं, जबकि वो जड़ हैं। जिनकी दृष्टि निर्मल है, वे जड़ प्रतिमायें ही चेतन का ध्यान करा रही हैं। भो चेतन! प्रथमानुयोग की कथाओं में जिनका वर्णन है, वे भी भूले–भटके भगवान् ही हैं। जीव चाहे निगोद में बैठा हो, शुद्ध द्रव्यदृष्टि से हम निगोदिया में सिद्धों को निहार लेते हैं। भो ज्ञानी! उसी द्रव्यदृष्टि से इन आत्माओं में भी तुम भगवान् को देख लो। इनमें रागद्वेष मत करो, अन्यथा आपकी द्रव्यदृष्टि शब्द का ढ़ोंग है, जाल है। द्रव्यदृष्टि कहती है कि मैंने अशुद्ध में भी शुद्ध को देख लिया है, परन्तु है अभी अशुद्ध ही।

भो ज्ञानी! हम सोचते हैं कि ये सुधर जायें और ये सोच रहे हैं कि महाराज सुधर जायें। अब दोनों की चिन्ता में दोनों बैठ गये। अपनी चिन्ता में तो एक भी नहीं है। यदि आप दोनों ये सोचने लग जाओ कि जिसकी जैसी भवितव्यता है, वही है, हम व्यर्थ के विकल्पों में क्यों जी रहे हैं? साधु सोचे–'जो है सो है' तो विकल्प तुम्हारा समाप्त हो जायेगा। पर ये नहीं सोच पा रहा है। कुन्दकुन्द स्वामी योगी के विषय में कथन कर रहे हैं–अहो! योगी की दशा! मैं प्रमत्त नहीं हूँ, मैं अप्रमत्त नहीं हूँ। मैं तो एक ज्ञायकस्वभावी हूँ। मैं वही हूँ , जो हूँ। इसलिये जिस जीव को गुणस्थान की चर्चा, मार्गणास्थान की चर्चा व्यवहारिक झलकती हो, अशान्तरूप झलकती हो, उसको स्त्री कथा, चोर कथा, राष्ट्र कथा, भोजन कथा कैसे अनुपम झलकेगी? जिसकी दृष्टि में तत्त्वकथा भी पर झलकती है, उसकी दृष्टि में अशुभ चर्चा कैसे निर्मल होगी? जिस योगी को पंचपरमेष्ठी परगत–तत्त्व झलकते हों, उस योगी को मिथ्यात्व आदि स्वतत्त्व कैसे झलकेगा? आगम जब पंचपरमेष्ठी तक को परतत्त्व कह रहा है। ध्यान रखना, अध्यात्म सुन रहे हो। स्वतत्त्व की चर्चा भी स्वतत्त्व नहीं है। वो तो पौद्गलिक शब्दवर्गणायें हैं। पंचपरमेष्ठी परतत्त्व हैं। विशुद्ध–आत्मा स्वतत्त्व है। विशुद्ध–आत्मा जो शब्द है, वो भी परतत्त्व है। जो शब्द आप बोल रहे हो, उससमय आप स्वतत्त्व में नहीं हो, परतत्त्व में ही हो।

भो ज्ञानी! आस्रव भाव और निरास्रव भाव की जो चर्चा कर रहे हो, उस समय आप क्या हो? निरास्रव हो, कि सास्रव हो? भैया! निरास्रव की चर्चा करने पर भी सास्रव दशा है। जब निरास्रव दशा होगी, उसमें सास्रव, निरास्रव की कोई चर्चा नहीं होगी और स्वरूपरमण होगा। ये निरास्रव दशा बारहवें–गुणस्थान में बनेगी। वो भी कथंचित्। ये तत्त्वसार का विषय है। वास्तव में निरास्रव दशा तो चौदहवें– गुणस्थान की ही है। परन्तु बारहवें–गुणस्थान में क्यों कह दिया? क्योंकि ईर्यापथ आस्रव है, साम्परायिक आस्रव नहीं है, इस अपेक्षा से निरास्रव कहा है–

जं पुणु सगयं तच्चं सवियप्पं हवइ तह य अवियप्पं।
सवियप्पं सासवयं णिरासवं विगयसंकप्पं।। तत्त्वसार 5।।

स्वगत–तत्त्व के दो भेद कर दिये– सविकल्प–स्वतत्त्व और निर्विकल्प–स्वतत्त्व। सविकल्प–स्वतत्त्व दशा दसवें–गुणस्थान तक है और जो निर्विकल्प दशा है, वो सप्तम से बनती है। भो ज्ञानियो! तनक सुनो, सिद्धान्तों का जिनागम कहता है कि दसवें–गुणस्थान तक धर्म्यध्यान होता है। ग्यारहवें–गुणस्थान से शुक्लध्यान का प्रारंभ होता है। किन्हीं आचार्यों का कथन है कि आठवें–गुणस्थान से शुक्लध्यान प्रारंभ होता है। अब देखना सविकल्प–स्वतत्त्व, कषायभाव सप्तम–गुणस्थान में चारित्रवान, आत्मानुभूति, शुद्ध उपयोग की विवक्षा से निर्विकल्प तो है, परन्तु कषाय–दशा का अभाव नहीं है। इसलिये दसवें गुणस्थान तक सविकल्प है।

भैया! ये तो गहनतम तत्त्व है। दसवें–गुणस्थान में जो कषाय सूक्ष्म–लोभ बैठा हुआ है, लोभ संज्ञा बैठी हुई है, वो तेरे लिये यथाख्यात–चारित्र की सुध भी नहीं लेने दे रही है। ओहो! कितना पुरुषार्थ किया जीव ने कि पहले से दसवें तक पहुँच गया, फिर भी आत्मा का जो कथन है, जो स्वाद है, बताये कैसे? एक व्यक्ति को मिश्री की डली पकड़ा दो । ठीक है, अब तो मैं खाऊँगा ही, क्योंकि अब मेरे हाथ में है। लेकिन चिन्ता मत करो, रुको थोड़ा और सुनो, हाथ में है, लेकिन उस मिश्री पर पन्नी चढ़ी हुई है, कागज लिपटा हुआ है। भो चेतन! मिश्री तेरे हाथ में थी, मुख में आ रही है। जीभ से चाँटने पर भी मुख में स्वाद नहीं है, क्योंकि बिल्कुल पतली पन्नी है, किसी को दिख नहीं रही है, फिर भी तेरे स्वाद के वेदन में अंतराय डाल रही है। ऐसे ही शुक्लध्यान के बीच में वो पतली लोभ की पन्नी ऐसी लगी हुई है कि जो आत्मा का यथार्थ–स्वरूप का अनुभव है, उसे होने नहीं दे रही है।

भो ज्ञानी! दसवें–गुणस्थान तक पहुँचा योगी, वहाँ कषायें परेशान कर रही हैं। भो पंचमकाल की मुमुक्षु आत्माओ! तुम तो कितने परतों में लिपटे हो और कैसे तुझे मिश्री का स्वाद आयेगा? कागज में लिपटी जरूर है, चींटी भी स्वाद का दूर से अनुभवन कर रही थी, कि यहाँ मिश्री है। ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कह रहा है कि तेरा पर का ज्ञान यथाख्यात नहीं होगा। इसलिये कह रहे हैं कि परमार्थ–प्रदीप को प्रकाशित करना है तो अंतरंग–बहिरंग जल्प का त्याग करो। अमृतचंद्र स्वामी ने लिखा है कि छह महीने का मौन रखो। भो ज्ञानी! एक दिन का मौन तो रखते नहीं हो और भेदविज्ञान करने बैठ जाते हो। छह महीने का मौन रखकर एकान्त में जो ये चिन्तन करे कि मैं पर से भिन्न हूँ, तब कभी तुम्हें भेदविज्ञान हो सकता है। भेदविज्ञान आत्मानुभव नहीं। भेदविज्ञान और आत्मानुभव में अंतर है। अपना और पर का अंतराल हो जाना, इसका नाम भेदविज्ञान है और निज की अनुभूति हो जाना, इसका नाम आत्मानुभव है। पहले होगा भेदविज्ञान, फिर होगा आत्मानुभव।

भो ज्ञानी! भेदविज्ञान मिथ्यात्व की मंदता में प्रारंभ होगा, तब सम्यक्त्व प्रकट होगा। भद्र–मिथ्यादृष्टि जीव जब स्व पर का ज्ञान करने बैठता है और जैसे ही स्वपर का ज्ञान हुआ कि सम्यग्दर्शन प्रकट हो गया। सम्यग्दृष्टि को ही भेदविज्ञान होता है। ये मत कहना कि मिथ्यादृष्टि को भेदविज्ञान होता है। आप बताओ, वैराग्य किसको होता है? गृहस्थ को, कि मुनि को? भो ज्ञानी! मुनिवेश तो वैराग्य का फल है। वैराग्य तो गृहस्थ को ही होगा। जब वह संयम को प्राप्त करेगा, तब वो मुनि बनेगा। फिर मुनि में भी वैराग्य में वैराग्य। श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। लेकिन जैसे ही श्रुतज्ञान हो जाता है, फिर श्रुत से श्रुत भी होता है। भो ज्ञानी! मिथ्यादृष्टि जीव को आत्मा में अनुभूति होती है, सम्यग्दृष्टि जीव को भी आत्मा में अनुभूति होती है और अव्रती को भी आत्मा में अनुभूति होती है।

भो ज्ञानी! ज्ञान–दर्शन क्या है? आप भिन्न हो, ज्ञानदर्शन भिन्न है। मैं घट को अपनी आत्मा से जानता हूँ। जब तुम घट को अपनी आत्मा से जानते हो, तो अपने को जानने के लिये कोई दूसरा ज्ञान लगाओगे क्या?

भो ज्ञानी! समाधितंत्र, इष्टोपदेश ये अध्यात्म के परमअमृत हैं। जब भी मानसिक तनाव हो, आप इन ग्रन्थों का पाठ करने बैठ जाओ। महाराज! मेरे बेटे ने मेरी बात नहीं मानी। पत्नि चिल्ला पड़ी, हमारे मित्र ने ऐसा बोल दिया। जिनवाणी कह रही है कि वो मित्र मूर्ख हो या न हो, लेकिन तुम तो मूर्खों के मुखिया हो। क्योंकि पर को तुम अपना मान

बैठे हो, जो कि सर्वथा अन्य है। वो सर्वथा भिन्न–स्वभाव है। तेरा उसका अत्यन्ताभाव है। तू उसमें अपना मान रहा है। इसलिये भैया! तनक ये तो बताओ, आपका चतुष्टय और बेटे का चतुष्टय एक है क्या? नहीं है। तो फिर आप क्यों कह रहे हो कि उसने ऐसा कह दिया? और जिसको कहा था, वो क्षण क्या था? और जिसने कहा था, वो कब कहा था? जब कह रहे थे, उस समय बेटा किस रूप में था?

भैया! शत्रु का चाँटा सहन हो जाता है, पर की गाली भी सहन हो जाती है, परन्तु घर की तनक–सी आवाज भी सहन नहीं होती। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में लिखा है कि जब योगियों ने घर के लोगों को सहन किया, तभी तो केवलज्ञान हुआ है। देखो, उपसर्ग के लिये कमठ कौन था? सगा था। यदि आप बाहर की सहनशक्ति चाहते हो, तो घर के जो मित्र हैं, जो आपके शत्रु हैं, उनको सहन करना शुरू कर दो। कथन की दृष्टि को समझना। भो चेतन! द्रव्य और द्रव्यदृष्टि भिन्न–भिन्न है। जिस दिन ये समझ में आ गया, उसदिन वस्तुस्वरूप समझ में आ जायेगा। द्रव्यदृष्टि यानि नय और द्रव्य यानि वस्तु। द्रव्यदृष्टि से, शुद्ध–द्रव्यार्थिकनय से, कर्मों से भी निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नय से ''सर्व संसारी जीव सिद्ध सदृश शुद्धात्मा'' ये द्रव्यदृष्टि कह रही है, परन्तु द्रव्य नहीं कह रहा है। कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से संपूर्ण संसारीजीव सिद्ध के समान हैं। द्रव्य क्या कहेगा? जिस समय जैसा है, वैसा है। यदि वास्तव में आप साधक हैं, तो आपका यही निर्मल सोच होना चाहिये। उत्पन्न गाली भी पौद्गलिक है, तालु पौद्गलिक है, शब्द पुद्गल की पर्याय है, मेरा उस सबसे परस्पर अत्यन्ताभाव है।

भो ज्ञानी! गाली शब्द से मेरा अत्यन्ताभाव है। मैं चिद्–स्वरूप हूँ, ये अचेतनरूप है। मैं भेदविज्ञानी हूँ, ये अज्ञानी है। मैं चेतन हूँ , ये जड़ है। और चेतन को जड़ कब लग सकता है? ये गाली पुद्गल रूप प्रकट हुआ, पुद्गलरूप ही रह गया, मेरे चेतन को छू भी नहीं सका। ये दृष्टि परम–वैराग्यमयी है। ऐसी दृष्टि जबतक श्रमण नहीं बनायेगा, तबतक समता–स्वभाव को प्राप्त नहीं कर सकेगा। 'भैया! उनने ऐसी कह दई थी, अभी तक लगी है,' ये आपकी दृष्टि है। इसमें नय लगाओगे आप पर्यायदृष्टि को मान करके। 'द्रव्य मेरा शत्रु है,' इस शब्द से क्या हुआ? कि आप विभाव में तो हो ही, ऐसा सोच रहे । भो ज्ञानी! इसलिये स्वभाव का चिन्तन करो, कहीं विभाव के परिणामों में लीन न हो जायें। वे अज्ञानी हैं, जो स्वभाव के चिन्तन को स्वभाव मान रहे हैं। स्वभाव का चिन्तन स्वभाव नहीं है। स्वभाव की प्राप्ति के लिये स्वभाव का चिंतन है, पर करता विभाव है। स्वभाव यदि स्वभाव का चिन्तन करे, तो अनुभवन कौन करेगा?

भो ज्ञानी! कषायें जो चल रही हैं, वे सत्ता में रखी हुई हैं। वहाँ कषायों का वेदन भी है। पर वो वेदन इतना कठोर नहीं है कि स्वभाव का अनुभवन न होने दे। आचार्यभगवन् ने ''आद्ये परोक्षम्'' कहकर बारहवें–गुणस्थान में परोक्ष आत्मानुभूति कही है। अनुभूति हम किसे कहें? सूत्रकर्ता तो कह रहे हैं कि आदि के दो ज्ञान परोक्ष हैं। इसलिये प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं, परोक्ष अनुभूति है। क्योंकि इन्द्रिय–मन की सहायता से हो रहे हैं। परोक्ष होने पर भी चारित्र–अपेक्षा से प्रत्यक्ष होती है। इसलिये दसवें गुणस्थान में अबुद्धिपूर्वक सकषायभाव होने पर भी वीतरागभाव है चारित्र–अपेक्षा से। यहाँ बड़ा सिद्धान्त ग्रहण करना, क्योंकि पढ़ना भिन्न होता है। पढ़ने में इतना जोड़–घटाव नहीं लगता। जब चिन्तन करने बैठो, तो देखो कि वो स्वाद कब आता है? गेहूँ रख दो, चावल रख दो, मिश्री रख दो, सब साम्रगियाँ रख दो, स्वाद नहीं आयेगा। जब बनानेवाला कितनी सामग्री कहाँ लगाता है, तब पकवान निर्मित होता 'तत्त्वसार'है, तब स्वाद आता है। ऐसे ही कई ग्रन्थों का स्वाध्याय करने के बाद जब आप चिंतन करने बैठो, तब जिनवाणी का स्वाद आयेगा।

भो ज्ञानी! 'तत्त्वसार' की 5वीं गाथा की संस्कृत टीका में कमलकीर्ति आचार्य ने स्पष्ट लिखा है कि निरास्रवभाव की भावना भाओ और जबतक नहीं भाओगे, तबतक उसकी प्राप्ति संभव नहीं है। भैया! गृहस्थ तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध कर सकता है। तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध चतुर्थगुणस्थान में भी होता है, परन्तु उसके नियम–कायदे भी हैं। तीर्थंकरप्रकृति का बंध तीर्थंकर के पादमूल में होता है, अन्यथा नहीं हो सकता है। तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध पंचमकाल में नहीं होता है, क्योंकि न तो तीर्थंकर है, न केवली हैं।

वचनगुप्ति के संबंध में पूज्यपाद स्वामी कह रहे हैं–

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः।

एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः।। समाधितंत्र 17।।

आत्मा की चंचलता का सबसे बड़ा हेतु वचन–परिणाम है। जब–जब आप अध्यात्म आगम की बात करोगे, चरणानुयोग में चर्चा करोगे, तो आगम यही कहेगा कि भैया! थोड़ा कम बोला करो, क्योंकि सबसे ज्यादा राग–द्वेष की वृद्धि वचनों से होती है। वचन का विराम नहीं होगा तो मन की चंचलता विराम नहीं ले सकती, ये ध्यान रखना। इसलिये आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि सज्जन की पहचान बहुत बोलने से नहीं होती। सज्जन की पहचान अल्प, मधुर बोलने से होती। आप चाहते हो कि मैं बहुत बोलकर अपना बड़ा परिचय दिये देता हूँ। अरे! आपका परिचय तो ज्ञान एकक्षण में दे देता है। चाहे कौआ हो

या कोयल, रंगों के वर्णन से कोई पहचान नहीं है। एक जरा–से शब्द से, आवाज से पता चल जाता है कि कौन कौआ है और कौन कोयल है। इसी प्रकार बहिर् वचनों को छोड़ करके मैंने मौन ले लिया, लेकिन नहीं, अंतर में भी बोलने का त्याग कर दो। अंतरंग, बहिरंग जल्प का परित्याग करो। जितना जनसंपर्क बढ़ेगा, निजसंपर्क नियम से हटेगा। पूज्यपाद स्वामी कह रहे हैं–हे योगियो! जनसंपर्क छोड़ दो।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव वचनगुप्ति की महिमा का वर्णन करते हुये कह रहे हैं–

त्यक्त्वा वाचं भवभयकरीं भव्यजीवः समस्तां ध्यात्वा शुद्धं सहजविलसच्चिच्चमत्कारमेकम्। पश्चान्मुक्तिं सहजमहिमानंदसौख्याकरीं तां प्राप्नोत्यच्चैः प्रहतदुरितध्वान्त–संघातरूपः ।। कलश 92।।

भो ज्ञानी! वचनगुप्ति में विकथाओं के त्याग करने और असत्यवचन के त्याग को गुप्ति कहा है। यहाँ व्यवहार–वचनगुप्ति के कथन का प्रसंग है, अतः प्रशस्त सत्यवचन के त्याग की बात नहीं है। यहाँ आचार्यमहाराज का उद्देश्य अशुभ–वचनों से निवृत्ति मात्र का है। जो भव्यजीव भव–भय को उत्पन्न करने वाली ऐसी समस्त वाणी को छोड़ देता है और सहज प्रकाशमान, चिद्चमत्कार रूपी आत्मा का ध्यान करता है, वह पापरूपी अंधकार के समूह का विनाश कर देता है तथा सहजमहिमा स्वरूप, आनंद की खान मुक्ति को अतिशयरूप से योगी प्राप्त कर लेता है। जितने भी वचन भव–परम्परा को बढ़ानेवाले हैं, अप्रशस्त हैं, उन सबको छोड़कर शुद्ध चैतन्य–आत्मा का ध्यान करने से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **कायगुप्ति के स्वरूप का कथन।**

बंधणछेदणमारण आकुंचण तह पसारणादीया।
कायकिरियाणियत्ती, निर्द्दिष्टा कायगुत्ति त्ति।।68।।

संस्कृत छाया : **बंधनछेदनमारणाकुञ्चनानि तथा प्रसारणादीनि।**
कायक्रियानिवृत्तिः निर्दिदष्ट्टा कायगुप्तिरिति।।68।।

अन्वयार्थ : (बंधन छेदन मारण कुंचनानि) बंधन, छेदन, मारण, संकोचन (तथा प्रसारणादीनि) उसीप्रकार फैलना आदि (काय क्रिया निवृत्तिः) कायक्रियाओं का न होना (कायगुप्तिरिति निर्द्दिष्टा) वह कायगुप्ति इस प्रकार कही गई है।

भो मनीषियो! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने कायगुप्ति का कथन करते हुये संकेत दिया है कि हे योगेन्द्र! किसी का बंधन करना, छेदन करना, भेदन करना, संकोचन करना, विस्तारण करना इत्यादि क्रियाओं में कायगुप्ति भंग होती है। इन सबका नहीं होना कायगुप्ति है।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि कोई भी मनुष्य बंधन में अपने अंतरंग–निमित्त कर्म के उदय से बंधता है और उस बंधन का बहिरंग–कारण किसी के काय का व्यापार है। छेदन में भी अंतरंग–कारण कर्म का उदय है, बहिरंग–कारण प्रमत्तजीव की काय–क्रिया है। कितना सहज कथन है। यदि किसी ने दूसरे का घात भी किया है और घात्य के यदि कर्म का विपाक नहीं है और घात्य के कर्म का विपाक नहीं है, तो घात्य–घातक भाव नहीं बनेगा। बड़ी विचित्रता है। घात्य और घातक, हिंस और हिंसक। जिसकी हिंसा हो रही है, वो हिंस है और जो हिंसा कर रहा है, वो हिंसक है। नामकर्म की 42 पिण्ड–प्रकृतियाँ और 93 अपिण्ड–प्रकृतियां हैं। उनमें परघात, अपघात, उपघात नामकर्म की प्रकृतियां हैं। यदि जीव के परघात नामकर्म का उदय नहीं है, तो किसी दूसरे के द्वारा घात नहीं हो सकता है। स्वयं के कर्म के उदय के कारण आदमी बिलखता है।

भो ज्ञानी! किसी जीव ने फाँसी लगा ली, वहाँ भी कर्म काम कर रहा है। कौन–सा? उपघात नामकर्म। उसके उदय के कारण से जीव स्वयं के द्वारा स्वयं का घात कर रहा

है। पिंजरे में फँसकर, जहर खाकर, अस्त्रों के द्वारा स्वयं का घात कर रहा है। यदि किसी दूसरे के द्वारा घात किया गया है, तो वहाँ पर परघात–नामकर्म का उदय चल रहा है। अंतरंग में तो कर्म की दृष्टि से स्वयं के कर्म उदय के कारण, परन्तु बहिरंग–निमित्त भी है। किसी दूसरे के शरीर के निमित्त से किसी दूसरे का घात हुआ, ये स्वयं के कर्म के उदय से हुआ है। 'समयसार' की भाषा में न आप किसी के घातक हो, न आप बचानेवाले हो। निश्चयदृष्टि से आयुकर्म पूर्ण होने से मरण होता है और आयुकर्म के सद्भाव से जीवित रहता है। इसलिये हे अज्ञानी! तू ये मत कहना कि मैं तुम्हें मार दूँगा। तू मुझे तो मार नहीं सकता है, आयुकर्म का छेद कर सकता है। आयुकर्म के क्षय को लोक में मरण कहा जाता है, लेकिन मेरा मरण नहीं है। आयुकर्म के निषेकों का विष, शस्त्र आदि के द्वारा खिर जाना, अकालमरण है। जो निषेक सौ साल तक चलनेवाले थे, किन्हीं निमित्तों से एक अंतर्मुहूर्त में ही निर्जीर्ण हो गये, अकालमरण हो गया। किसी व्यक्ति का मरण हुआ है, वो अकालमरण है या सामान्यमरण है, इसका निर्णय केवली ही कर सकते हैं। तुम्हारे ज्ञान का विषय नहीं है।

भो ज्ञानी! दो जीवों में झगड़ा हो गया। दोनों के शरीर में घाव हैं। एक जीव बंध कर रहा है और दूसरा जीव निर्जरा कर रहा है। दोनों पीड़ा से सिसक रहे हैं। एक कह रहा है कि मेरे कर्म का विपाक था, उदय में आ गया, वो कभी–न–कभी तो आना ही था, बहुत अच्छा हुआ जो निकल गया। दूसरा सोच रहा है कि इसने मुझे मारा कैसे? मैं देखता हूँ, ठीक तो होने दो। ज्ञानी! आप ठीक होंगे या नहीं होंगे, लेकिन कर्मों ने आपको अच्छी तरह ठीक कर लिया है। पूर्व में बंध किया था, तो आज घात हुआ और तुम संक्लेश परिणाम कर नवीन अशुभ–बंध कर रहे हो। भो ज्ञानी! एक ही घटना, फिर भी उस स्थान पर चारों अनुयोग लग रहे हैं। किसी ने किसी जीव पर प्रहार कर दिया। एक जीव प्रथमानुयोग के चिन्तन में चला गया। सुकुमाल महाराज, सुकौशल महाराज पर तो इतना कष्ट हुआ था, मुझे तो मात्र भुजा पर चोट लगी है। उनका तो सारा शरीर खा लिया था, उनसे अधिक वेदना मुझे कहाँ है? मुझे समता रखना चाहिये। मैं साधु हूँ और साधु का आचरण ही समता है।

हे श्रमण! जंगल में निवास करने से क्या लाभ है? शरीर को कष्ट देने से कोई फायदा नहीं है। मासो–मास उपवास करने में कोई लाभ नहीं है यदि साधना से भटक रहा है तो। दिन–रात अध्ययन कर रहा है, मूक बना बैठा हुआ है, तब यदि समता है, तो

सोने में सुहागा है और यदि समता नहीं है, तो सब व्यर्थ है। चरणानुयोग वाला विचार कर रहा है कि घात हुआ है, लेकिन समता मेरा धर्म है। करणानुयोग सामने आ गया, हे जीव! तू घातक पर दोषारोपण मत कर, ये तेरे पूर्व–कर्म का विपाक ही उदय में आया है। चारों अनुयोग संयम सिखाते हैं। किसी अनुयोग में लड़ाई–झगड़ा नहीं है। वे अज्ञानी हैं जो अनुयोगों के पीछे लड़ रहे हैं। किस अनुयोग में लिखा है कि परस्पर में लड़ो? भो ज्ञानी! द्रव्य ध्रुव है, अखंड है, अविनाशी है तो तेरा घात होता कब है? देह के संयोग को तू अपना घात मान रहा है। ये तो अज्ञान–दशा है। देह में विघात हुआ है। तेरे चिद्रूप में घात कहाँ हुआ? इसलिये तुम विकल्प मत करो, अपने अखंड ध्रुव चैतन्यशक्ति को देखो, वो तो पूर्ण अखंड है। एक भुजा में घात हुआ था, चारों अनुयोग समझाने आ गये। चारों का सार क्या था? समता रखो। अज्ञानी बंध कर लेता है, ज्ञानी निर्जरा कर लेता है। वह सोचता है कि कर्म का विपाक है, निर्जरा हो रही है। वहीं पर दूसरा सोच रहा है कि मेरा शत्रु है, तो उसे कर्म का बंध हो रहा है।

भो ज्ञानी! आप परिणामों की संभाल प्रतिक्षण/प्रतिपल कर सकते हो, निश्चित–स्थान की कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिये आप उसीस्थान पर उसीक्षण क्षमा कर दो। उसको कर सको या न कर सको, पर अपने–आपमें क्षमा धारण कर लो। ठीक है, आपका अहंकार चल रहा है, परन्तु एक क्षण को अपने आपको संभाल लो। जहाँ प्रमाद है, वहाँ नियम से हिंसा है। चाहे आपसे जीव मरे या न मरे, लेकिन जहाँ तुम्हारी प्रमाद–वृत्ति है, वहाँ नियम से हिंसा है। अमृतचंद्रस्वामी ने 'पुरुषार्थ–सिद्धि–उपाय' में लिखा है कि उसके आगे–आगे हिंसा दौड़ रही है जो प्रमादी है। मरण का अंतरंग हेतु आयुकर्म का क्षय है, परन्तु बहिरंग हेतु आपकी प्रमाद–क्रिया हो सकती है।

भो ज्ञानी! चार आदमी आ गये हैं, लेकिन आचार्यमहाराज सामने बैठे हैं, उनके भय से बात नहीं कर पा रहा हूँ। आप चर्चा करें या न करें, लेकिन वचनगुप्ति नष्ट हो चुकी है, क्योंकि आप गुरु–महाराज के भय से शांत बैठे थे। वीतरागवाणी में अनुशासन से तात्पर्य है कि गुरु के सामने न होने पर भी वैसी ही विनय और आज्ञा का पालन ही शिष्य की सबसे बड़ी विनय है। गुरु के प्रत्यक्ष होने पर भी पाप से भय नहीं है, तो गुरु से भय नहीं है। पाप से भय है, तो नियम से गुरु–आज्ञा का पालन होगा। गुरु कहीं बाहर हैं, यहाँ कौन आपको देख रहे है, लेकिन आप स्वयं को देख रहे हो कि नहीं? कर्म देख रहा है कि नहीं? तीर्थंकर, केवली के ज्ञान में झलक रहा है या नहीं? आप क्या हो, स्वयं जान रहे

हो। यदि छल कर रहे हो और यदि सौभाग्य से मनुष्य–आयु का बंध हो गया है, तो स्त्रियों की संख्या बढ़ाओगे आप। यदि तिर्यंच–आयु का बन्ध कर लिया हो, फिर तीव्र मायाचारी की, तो तिर्यंचनी बनोगे।

भो ज्ञानी! किसी पंचेद्रिय को पकड़कर बैठा लेना ही पीड़न नहीं है। एक चीटी जा रही थी, उसको अंगुली से उठाकर फेक दिया, मच्छर शरीर पर बैठा था, उसको हटा दिया, पीड़न हुआ कि नहीं? साधु करवट बदलने के पूर्व पिच्छि से मार्जन करेंगे। साधु के सोने की भी मर्यादा है। साधु सीधे नहीं सोते। करवट में भी धनुषाकार सोते हैं। सीधे या उल्टे (पीठ के बल) सोने पर ब्रह्मचर्य का पालन नहीं होता है। इसलिये साधुपुरुष अल्प–शयन करते हैं। वे तकिया नहीं लेते हैं, भुजा ही तकिया होती है। जिसको जितनी कम नींद आये, वो उतना पुण्यशाली है। आचार्य विमलसागर महाराज मात्र दो घंटे सोते थे।

भो ज्ञानी! जिनागम में निद्रा को नागिन कहा है। निद्रा में जीव को कोई होश नहीं रहता है। नींद में तीव्र–आस्रव होता है। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव/ कायगुप्ति के फल को बताते हुये कह रहे हैं–

मुक्त्वा कायविकारं यः शुद्धात्मानं मुहुर्मुहुः।

संभावयति तस्यैव सफलं जन्म संसृतौ।। कलश 93।।

जिस साधु ने काय के विकार को छोड़ दिया है और बार–बार शुद्धात्मा का ध्यान करता है, संसार में उसी का जन्म सफल है और जिसने अपनी काय की क्रियाओं को नहीं संभाला, वो मन और वचन को क्या संभालेगा? इसलिये भगवान् उमास्वामी ने 'तत्त्वार्थसूत्र' में लिखा है।

कायवाङ्मनः कर्मयोगः।। त0सू0 1/6।।

अज्ञानी कहते हैं कि मन को संभालो, पर उमास्वामी महाराज कह रहे हैं कि ऐसे मन नहीं संभलेगा। भैया! मन गया है, तो अतिचार हुआ है और कहीं शरीर से तू चला गया, तो अनाचार हो गया। इसलिये मन की बात बाद में कर लेना, पहले तन को संभाल लो। तन से आप बच गये, तो कोई आपको जेल नहीं ले जायेगा। मन के पाप का प्रायश्चित करके तुम जल्दी शुद्ध हो जाओगे। तन का भी प्रायश्चित कर लोगे, लेकिन बदनामी समाप्त होनेवाली नहीं है। ''काय–वाङ्मनकर्म–योगः'' इसको पूज्यपाद स्वामी ने 'सर्वार्थसिद्धि' में, अकलंकदेव ने 'राजवार्तिक' में स्पष्ट किया है।

इसलिये पहले शरीर को स्थिर करो। उस जीव का जन्म सफल है, जिसने अपनी काय को संभाल लिया है। मच्छर रक्त चूस रहा है, उसको हटा दिया, तो अंतराय कर्म का आस्रव होगा कि नहीं? हे योगी! यह दंशमशक परीषह है। उत्कृष्ठ यह है कि उसको बिल्कुल बाधा मत दो, सहन करो। यदि सहन नहीं हो रहा है, तो आप हाथ मत लगा देना, धीरे–से पिच्छि से मार्जन कर लो, आपकी समिति का पालन भी हो गया और मच्छर की बाधा भी चली गई।

भो ज्ञानी! जिनागम कहता है कि आप भगाने की बात करोगे तो अहिंसाव्रत में दोष लगेगा। वध का अर्थ मात्र मारना ही नहीं है, उसकी स्वतंत्रता को छीन लेना भी है। योगी पिच्छि से मार्जन जीवों को भगाने के लिये नहीं करता है। उसका उद्देश्य है कि कहीं जीव पर मेरा पैर न पड़ जाये। क्योंकि मेरे चर्मचक्षु इतने तीव्र नहीं हैं। जीव बहुतसूक्ष्म भी होते हैं, इसलिये हम पहले से ही मार्जन कर ले रहे हैं ऋजुभाव से, इसलिये वो हिंसा नहीं है।

आचार्यमहाराज कायगुप्ति का उपसंहार करते हुये कह रहे हैं कि पद्मासन या खड़गासन मुद्रा से शरीर को स्थिर करना, काय की गुप्तिरूप क्रिया है। इसके सिवाय काय की किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति काय का विकार है। उसको छोड़कर अपने शुद्ध–आत्मतत्त्व का ध्यान करने से ही मुक्तिरमा से मिलन होता है।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : निश्चयनय से मनोगुप्ति और वचनगुप्ति का स्वरूप।

जा रायादिणियत्ती, मणस्स जाणीहि त मणोगुत्ती।
अलियादिणियत्तिं वा, मोणं वा होइ वदिगुत्तो।।69।।

संस्कृत छाया : या रागादिनिवृत्तिर्म्मनसो जानीहि तां मनोगुप्तिम्।
अलीकादिनिवृत्तिर्वा मौनं वा भवति वाग्गुप्तिः।।69।।

अन्वयार्थ : (मनसः या रागादिनिवृत्तिः) मन से जो रागादि परिणामों का अभाव है (तां मनोगुप्ति जानीहि) तुम उसे मनोगुप्ति जानो (अलीकादिनिवृत्तिर्वा) और असत्य वचन आदि का अभाव होना (मौनं वा वाग्गुप्तिः भवति) अथवा मौन रहना वह वचनगुप्ति होती है।

भो ज्ञानी! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने व्यवहार–चारित्र अधिकार में निश्चय एवं व्यवहार गुप्ति का कथन करते हुये मनोगुप्ति का कथन किया। वास्तव में कोई महत्वशाली है तो मनोगुप्ति है, क्योंकि मन एकक्षण में सात सागरों की परिक्रमा लगा करके आ जाता है। मन की गति विशाल है। हे योगी! यदि मन वश में है, तो सर्वार्थसिद्धि तुम्हारे पास है। साधना होती रहेगी तो पुण्यास्रव होगा, स्वर्ग मिलता रहेगा। समझना, शरीर की साधना से साधु ग्रैवेयक तक जा सकता है।

भो ज्ञानी! जब मन से रागादि परिणामों का अभाव हो जाता है, तब मनोगुप्ति होती है। असत्य–वचन आदि का अभाव होना, वचनगुप्ति है। मौन रहने से भी वचनगुप्ति होती है। यह निश्चयनय से मनोगुप्ति, वचनगुप्ति का कथन है। सब तरह के मोह, राग, द्वेष आदि का अभाव हो जाता है और जीव अपने अखण्ड, अद्वैत, परमचैतन्य–स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, उस दशा को निश्चय– मनोगुप्ति कहा जाता है। संपूर्ण असत्य–भाषा को छोड़ना अथवा मौनव्रत रखना, वह वचनगुप्ति है। वचन पुद्गल हैं, मूर्तिक द्रव्य हैं, इनमें चेतना का अभाव है। अमूर्तिक–द्रव्य इंद्रियज्ञान के विषय नहीं हैं, इसलिये इन दोनों जगह वचन की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। यही निश्चय–वचनगुप्ति का स्वरूप है।

भो ज्ञानी! मन में पूर्णतया रागादि परिणामों का न होना ही निश्चय– मनोगुप्ति है, जो कि पूर्णरूप से ग्यारहवें–बारहवें गुणस्थान में होती है। उसके पूर्व श्रेणी में भी बुद्धिपूर्वक

रागादि का अभाव होने से हो जाती हैं, क्योंकि मनोगुप्ति आत्मा में एकाग्र ध्यान के कारण होती है। मौनव्रत को वचनगुप्ति कहते हैं। पुद्गल–द्रव्य अचेतन होने के कारण एवं चेतनद्रव्य अमूर्तिक होने के कारण इंद्रियज्ञान के अगोचर है, अतः वचनालाप किससे किया जाय? इसलिये वचन–प्रवृत्ति को रोकना निश्चय–वचनगुप्ति है।

भो ज्ञानी! शरीर से साधना करके कुलिंगी भी स्वर्ग में जा सकता है। आप निर्ग्रन्थ–मुद्रा धारण करके ग्रैवेयक की वंदना करके आये तो कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि कषायों की मंदता में मिथ्यादृष्टि भी इन्द्र बन जाता है । पर ध्यान रखना, सौधर्मइन्द्र नहीं बनेगा। भवनवासियों का इन्द्र बन जायेगा, व्यंतरों का इन्द्र बन जायेगा, लेकिन सौधर्मइन्द्र नहीं बनेगा, क्योंकि सौधर्मइन्द्र क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है। निर्दोष वीतरागी चर्या को पालन करनेवाला जीव ही सौधर्मइन्द्र बन सकता है, ये ध्यान रखना। सामान्य–जीव सौधर्मइन्द्र नहीं बन सकते। मिथ्यादृष्टि–जीव नौवें ग्रैवेयक तक जा सकते हैं। उसमें भी शर्त है कि जिनलिंगी ही जायेगा, अन्यलिंगी नहीं जायेगा। यहाँतक कि ऐलक, क्षुल्लक, आर्यिका–माता भी नहीं जा सकती हैं। इनकी सीमा मात्र सोलहवें स्वर्ग तक ही है। एक सम्यग्दृष्टि, निर्दोष संयमी एलक, क्षुल्लक, आर्यिका–माता भी उग्र–से–उग्र तप करे तो भी सोलहवें स्वर्ग तक ही जायेंगे। परन्तु निर्ग्रन्थ–मुनि का व्रत धारण करनेवाला मिथ्यादृष्टि–जीव ग्रैवेयक तक जा रहा है, ये जिनलिंग की महिमा है। पंचमकाल में सोलहवें स्वर्ग तक न श्रावक जा सकता है, न ग्रैवेयक तक मुनि जा सकता है। भव्य भी नहीं जा सकते हैं। भव्य की बात छोड़ो, सम्यग्दृष्टि भी नहीं जा सकते हैं। आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने 'समयसार' जी में लिखा है।

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।

मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ।।स0सार0 58।।

मार्ग किसी को चुराता नहीं है। मार्ग में खड़े लुटेरे ही चुराते हैं। जिन– मुद्राधारी निर्ग्रन्थ–मुनि अनंतबार दीक्षा धारण करें अथवा निगोद में चले जायें, कभी संभव नहीं है। जिनमुद्राधारी यदि समाधिमरण करता है, तो दो–तीन भव या सात– आठ भव। अगर समाधि न होवे, तो भी बत्तीस–भव से आगे नहीं जाता, तो फिर निगोद में किसे भेज रहे हो? जैसे मार्ग नहीं चुराता, मार्ग में खड़े लुटेरे चुराते हैं, पर व्यवहार से कहते हैं कि मार्ग चोर है। इसी प्रकार से मुनिराज न कभी निगोद जा सकते हैं, न कभी अनंतबार मुनि बन

सकते हैं। जो मुनि बनकर भी मुनि नहीं होते अर्थात् जिन्होंने मात्र मुनि भेष को धारण किया है, वे ही निगोद जा सकते हैं। भावलिंगी मुनि बत्तीस से ज्यादा भव धारण ही नहीं कर सकता है। 'छहढ़ाला' में जो लिखा है, वो सामान्य–कथन है। मुनिव्रत धारण करके जीव अनंतबार ग्रैवेयक हो आया। परन्तु अगली पंक्ति में स्पष्ट कर दिया कि ''पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो''।

भो ज्ञानी! व्रत, संयम, नियम, शील का पालन करके भी स्वर्ग में वही विराजे हैं, जो परमार्थ से बाह्य हैं। वे निर्वाण को प्राप्त नहीं कर सकते। वही व्यवहार–चारित्रवान है, जिसकी दृष्टि निश्चय की प्राप्ति में लगी हुई है। और यदि निश्चय पर लक्ष्य नहीं जा रहा है, तो जिनवाणी उसके व्यवहार को व्यवहार भी नहीं कहती है। नारायण, प्रतिनारायण वही जीव बनते हैं, जिन्होंने निर्ग्रन्थ चर्या का निर्दोष पालन किया उग्र रूप से, लेकिन सम्यक्त्व के सद्भाव में ऐसा पुण्य आस्रव किया और एकक्षण को विभूति देखकरके निदान कर लिया, मिथ्यात्व में चला गया। परन्तु जितने तिरेसठ शलाका–पुरुष हैं या 169 महापुरुष हैं, ये नियम से निकट भव में मोक्षगामी हैं।

भो ज्ञानी! भव्य का संसार कब से है? अनादि से। और मिथ्यात्व कब से है? अनादि से। चार–लब्धि होने पर भी जबतक करणलब्धि नहीं होगी, तबतक सम्यक्त्व की योग्यता नहीं होगी। 'राजवार्तिक' में आचार्य अकलंकदेव कह रहे हैं कि जिस जीव का अर्द्धपुद्गल–परावर्तनकाल अवशेष बचा है, वह सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है। जिसका अर्द्धपुद्गल–परावर्तन से अधिक काल है, वो सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकता। जिसका संसार बहुत ज्यादा था, परन्तु कषाय मंद थी और ऐसी भवितव्यता थी कि उसने मंद–भावों से मुनिव्रत का पालन किया, उसके प्रभाव से स्वर्ग की विभूतियों को उसने प्राप्त किया। अज्ञानता के होने पर भी भद्र परिणामों से, मंद–कषाय से वो व्यंतर आदि में चला गया। अब उसने एक दिन अवधिज्ञान लगाया कि हम यहाँ कैसे? ओहो! मैंने निर्ग्रन्थ चर्या का पालन किया, उसके प्रभाव से यह उत्तम स्थान स्वर्ग मिला है। वह नंदीश्वर–द्वीप आदि की वंदना करने चला जाता है। ये कौन है? सम्यग्दृष्टि जीव है।

भो ज्ञानी! साक्षात् तीर्थंकरों के समक्ष देवों द्वारा चौदह अतिशय होते हैं। जिस प्रतिमा को विधिपूर्वक प्रतिष्ठित किया गया हो, निर्दोष संयमी ने सूरिमंत्र दिया हो, निर्लोभी प्रतिष्ठाचार्य ने प्रतिष्ठा की हो, सदाचारी श्रावक ने अपने द्रव्य का उपयोग किया हो। ऐसी प्रतिमा की जहाँ बिम्बप्रतिष्ठा होती है, वहाँ देव भी आकर्षित हो जाते हैं और वे चमत्कार

दिखाते हैं। भगवान् कोई चमत्कार नहीं करते। इसीलिये ध्यान रखना, जहाँ भी तुम जाओ, जैसे भी तुम जाओ, वहाँ भगवान् का चमत्कार मत कहना। चमत्कार भगवान् की भक्ति से प्रेरित होकर देवों के द्वारा है। सिद्धालय से भगवान् तुम्हें चमत्कार दिखाने नहीं आते। जैनदर्शन कर्त्तृत्वभाव के अभाव की बात करता है और तुमने तीर्थंकर को ही कर्त्तृत्वपना थमा दिया।

भो ज्ञानी! जिनशासन ईश्वर को कर्ता नहीं मानता है, परन्तु हम नास्तिक नहीं हैं, आस्तिक हैं, क्योंकि हम आत्मा की सत्ता मानते हैं। षट्दर्शनों में तीन नास्तिक माने जाते हैं–जैन, बौद्ध, चार्वाक। क्यों माने जाते हैं? क्योंकि ईश्वरवादी नहीं हैं, हम ईश्वर को जगत का कर्ता स्वीकार नहीं करते। चार्वाक तो सबसे बड़ा शत्रु है। लेकिन चार्वाक की बड़ी महिमा है कि सभी लोग उसका नाम लेते हैं । उसका सिद्धांत है–

यावत् जीवम् सुखम् जीवेत, ऋणं कृत्वा घृतम् पिबेत।
भस्मीभूतस्य जीवस्य, पुनरागमन कुतः?।।

जबतक जियो सुख से जियो, ऋण लेकर घी पीओ। स्वर्ग किसने देखा है? नरक किसने देखा है? जब यह शरीर भस्म हो जायेगा, तो लौटकर कौन आयेगा? भो ज्ञानी! कितना विनय–मिथ्यात्व छाया हुआ है? कहीं तुम गये, तुम्हारा काम बन गया, इसका तात्पर्य है कि दूसरे ने तुम्हारा काम कर दिया और जैन–सिद्धान्त कह रहा है कि न मैं पर का कर्ता हूँ और न पर मेरा कर्ता है। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतंत्र है, वो अपनी योग्यता से परिणमन कर रहा है। उस परिणमन में सामग्री इधर–उधर करने के सहयोगी हो, परिणमन तो स्वतंत्र चल रहा है। यदि आप आटे में पानी डाल कर कर गीला कर रहे हो, तो उसमें आपका क्या गया? परिणमन किसका? आटे की योग्यता से आटे का और पानी की योग्यता से पानी का। द्रव्य योग्यता में पूर्ण स्वतंत्र है और उन योग्यताओं में आपका निमित्त बन जाता है, इसलिये आप व्यवहार से कर्ता हो। यदि आप नहीं मानोगे तो रोटी नहीं बन पायेगी, मिलेगी नहीं। आप कहोगे कि मिलना होगी तो मिल जायेगी, तो सिद्धान्त कहेगा कि भाग्यवादी सामने खड़ा हो गया।

भो ज्ञानी! ईश्वरवादी कहता है कि जो कुछ होना है, सो होगा। 'गीता' में भी यही कहा गया है कि जो कुछ भी होगा, ईश्वर की कृपा से, ईश्वर की इच्छा से। निमित्तवादी कहता है–जो कुछ होगा, निमित्त से ही होगा। वो भी ईश्वरवादी है। पुद्गलवादी कहता

है–जो कुछ हो रहा है, पुद्गल का परिणमन चल रहा है। वो भी मिथ्यादृष्टि है। उपादानवादी कह रहा है–जो कुछ होगा, उपादान से ही हो रहा है। वो भी मिथ्यादृष्टि है। कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि यदि तू कर्म को ही लेके चलता है तो ईश्वरवादी–सांख्य और कर्मवादी–जैन, तुम दोनों में कोई अंतर नहीं है। आपने इतना अंतर डाला कि उन्होंने ईश्वर की सत्ता मानी और आपने कर्म की सत्ता मानी। कोई नास्तिक सामने आ गया, उसने आपसे पूछा कि आप ईश्वर की सत्ता को मानते हो कि नहीं? तो आपने जैनदर्शन के तर्क देने शुरू कर दिये, बोले–मैं ईश्वर को नहीं मानता हूँ। तो ये परिणमन किससे चलता है? आपने धीरे से कह दिया–ये सब कर्मोदय से चलता है। वो नास्तिक था, उसने आपसे पूछ लिया कि ईश्वरवादी ने ईश्वर को नहीं देखा, तो आप बताओ कि आपने कर्मों को कहाँ देखा? ईश्वरवादी कहता है कि जिसपर ईश्वर की कृपा होती है, वह सोने के कटोरे में खीर खाता है। कहीं हम ऐसा मानकर उसीका तो पोषण नहीं कर रहे हैं? कर्मसिद्धान्त के साथ आपने सर्वथा होनहार को ही मान लिया, तो कर्मसिद्धान्त रहा क्या? यदि आप कर्मसिद्धान्त को मानते हो, तो संक्रमण, अपकर्षण, उत्कर्षण भी मानना पड़ेगा (आयुकर्म को छोड़कर)।

भो ज्ञानी! आप कह रहे हैं कि निमित्त कुछ करता नहीं है, तो इससे विरोधी धर्म आ गया। कर्म द्रव्य है और परिणाम चैतन्य। दो द्रव्यों में ही निमित्त नैमित्तक सम्बन्ध होता है। यदि आप ऐसा नहीं मानोगे, तो अद्वैतवादी–ब्रह्म सिद्ध हो गये। कर्म जड़ है, तू चेतन है। यदि तुम कर्म का निमित्त नहीं मानते हो, तो कर्म का बंध किसे और किसमें? सुख–दुःख कौन भोग रहा है? आत्मा तो परम क्षायिक–स्वभावी है, तो फिर क्षय, क्षयोपशम आदि कहाँ से आ गया? ''अनादि सम्बन्धे च'' ये जीव अनादिकाल से पर से बन्धा है। कर्म का सम्बन्ध कब से है? अनादि से। ये जीव अनादिकाल से कर्मों से सम्बन्ध होने के कारण संसार में भटक रहा है।

भो ज्ञानी! अध्यात्म सिद्धान्त से नहीं हटाता है, अध्यात्म आपको सत्ता का ज्ञान कराता है। सत्ता का ज्ञान करके सिद्धान्त को हटा दिया तो न अध्यात्म को पाओगे, न सत्ता को समझ पाओगे। वो कर्म को नहीं हटा रहा है, कर्म से भिन्न दिखा रहा है। लोगों ने कर्म को भिन्न दिखाने को हटा मान लिया। इसलिये आप कर्म से भिन्न मानते हो तो अद्वैत और कर्म से युक्त मानते हो, तो द्वैत।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव कलश के द्वारा निश्चय–मनोगुप्ति और निश्चय–वचनगुप्ति का फल बता रहे हैं–

शस्ताशस्तमनोवचस्समुदयं त्यक्त्वात्मनिष्ठापरः शुद्धाशुद्धनयातिरिक्तमनघं चिन्मात्रचिन्तामणिम्।
प्राप्यानंतचतुष्टयात्मकतया सार्धं स्थितां सर्वदा जीवन्मुक्तिमुपैति योगितिलकः पापाटवीपावकः
।।कलश 94।।

जैसे अग्नि वन को जला देती है, ऐसे पापरूपी वन को नष्ट करने के लिये योगी प्रशस्त और अप्रशस्त मन–वचन के समूह को छोड़कर आत्मस्वरूप में लीन हो जाता है। शुद्ध और अशुद्ध नयों से रहित, निर्दोष, चिन्मात्र चिन्तामणि को प्राप्त करके अनन्तचतुष्टय–दशा अर्थात् अरहन्त–दशा को प्राप्त कर लेता है। अरहन्त–दशा में अनन्तचतुष्टय सदैव रहते हैं। जीव मुक्त होने की दशा की प्रशस्त कर लेता है। जो महामुनि निश्चय–रत्नत्रय को धारण करते हैं, वे प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार के मन–वचन के व्यापारों को छोड़ देते हैं और नयातीत–अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। अर्थात् शुद्ध–आत्मतत्त्व में लीन होकर अरहंत हो जाते हैं। निश्चयगुप्ति में प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों तरह के मन–वचन व्यापार को छुड़ाया जाता है। उसके बिना निश्चय–गुप्ति नहीं होती है।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : निश्चय कायगुप्ति का स्वरूप।

कायकिरियाणियत्ती, काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसाइणियत्ती वा, सरीरगुत्तित्ति णिद्दिट्ठा।।70।।

संस्कृत छाया : कायक्रियानिवृत्तिः कायोत्सर्गः शरीरके गुप्तिः।
हिंसादिनिवृत्तिर्वा शरीरगुप्तिरिति निर्दिष्टा।।70।।

अन्वयार्थ : (कायक्रियानिवृत्तिः कायोत्सर्गः शरीरके गुप्तिः) काय की क्रियाओं के अभावरूप कायोत्सर्ग करना कायगुप्ति है (वा हिंसादिनिवृत्तिः शरीर गुप्तिः इति निर्दिष्टा) अथवा हिंसादि पापों का अभाव होना भी कायगुप्ति है, ऐसा कहा गया है।

भो ज्ञानी! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी कायगुप्ति की चर्चा कर रहे हैं। सभी जनों के कायों में बहुत–सी क्रियायें होती हैं। उन काय–सम्बन्धी क्रियाओं का अभाव होना कायोत्सर्ग है। पांच स्थावर और एक त्रस, इस प्रकार षट्काय जीवों की हिंसा न करना, कायगुप्ति है।

भो ज्ञानी! इंद्रियों को दोष मत देना। द्रव्य–इंद्रियाँ पाप का कर्ता नहीं हैं। यदि इंद्रियाँ पाप की कर्ता हो गई, तो मुर्दे में भी पाप होना चाहिये कि नहीं? क्योंकि मुर्दे में एक भी इंद्रिय भिन्न नहीं होती, पाँचों इंद्रियाँ हैं। आचार्य अकलंक देव 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' में लिखते हैं–विषयों का भोक्ता इंद्रियाँ नहीं हैं। विषयों के कर्ता इंद्रियाँ नहीं है, करण हैं। जो भोक्ता है, वही इंद्रियों का प्रणेयता है, अर्थात् इंद्रियों को प्रेरणा देनेवाला है। मन भी भोक्ता नहीं है। द्रव्यमन भोक्ता नहीं, द्रव्यइंद्रिय भोक्ता नहीं, यदि चैतन्य की प्रेरणा न हो। भोक्ता–भाव इंद्रियधर्म नहीं, भोक्ता–भाव आत्मधर्म है। 'द्रव्यसंग्रह' में जो नौ अधिकार दिये हैं, ये अधिकार इंद्रियों के नहीं हैं, जीव के हैं। जीव कर्ता भी है, भोक्ता भी है।

भो ज्ञानी! जीव किसके माध्यम से कर्ता है? किसके माध्यम से भोक्ता है? वो इंद्रियाँ हैं। इसलिये कभी ये मत कहना कि ये सब पुद्गल का पुद्गल में परिणमन चल रहा है, मैं तो अनशन–स्वभावी हूँ। तू अनशन–स्वभावी है, तो खा कौन रहा है? यदि पुद्गल में पुद्गल रखा जा रहा है, मैं तो अनशन–स्वभावी हूँ, तो ये स्वाद लेनेवाला कौन है? भोक्ता कौन है? ये आत्मा की विभाव दशा है, मिश्र दशा है। इंद्रियभोग शुद्ध–आत्मा नहीं भोगती है और शुद्ध–पुद्गलपरमाणु के माध्यम से भी नहीं भोगा जाता। मात्र

अशुद्ध–पुद्गलपरमाणु से ही अशुद्ध–आत्मा भोगती है। शुद्ध–निश्चयनय से आत्मा शुद्धभावों का भोक्ता है और परमशुद्ध निश्चयनय से आत्मा न कर्ता है, न भोक्ता है। इसलिये इंद्रियों को दोष देकर आत्मा के साथ छल मत करना।

भो ज्ञानी! जब आपके यहाँ किसी का वियोग हो जाये, जब आपके शरीर पर कोई महान विपत्ति आ जाये, तब कहना कि ये तो पुद्गल का परिणमन है। इंद्रियभोग भोगते जाओ और कहते जाओ कि पुद्गल का पुद्गल में परिणमन हो रहा है। ये तो पुद्गल का धर्म है, मेरा कुछ नहीं है। तो सांख्य–ईश्वरवादी और तेरे में कोई अन्तर नहीं होगा। ईश्वरवादी कहता है कि जो कुछ हो रहा है, ईश्वर करा रहा है। आप स्वच्छन्दी हो जाओगे। जो कुछ हो रहा है, सो पुद्गल का परिणमन है, मैं तो अकर्त्ता हूँ। परद्रव्य का निजरूप परिणमन नहीं हो सकता, इस दृष्टि से मैं अकर्ता हूँ। परन्तु परद्रव्य को भी निमित्तरूप से परिणमन में सहयोगी बनता है, इसलिये तू कर्ता भी है। कुंभकार घटाकार देने के कारण कर्ता है, पर घटरूप नहीं बना, इसलिये वो अकर्ता भी है। 'द्रव्यसंग्रह' में आत्मभूत और अनात्मभूत कर्ता कहे गये हैं। अनात्मभूत दृष्टि से कुंभकार घट का कर्ता है और आत्मभूत दृष्टि से मिट्टी घट का कर्ता है।

भो ज्ञानी! लोक में जितने क्लेश हैं, अशांति है सब मेरे कर्तृत्व भाव के कारण है। योगी कहता है–मैं स्वभाव से कषायादि भावों का कर्ता हूँ। परन्तु ऐसा चिन्तवन करे कि मैं स्वभाव से कषायादि भावों का कर्ता नहीं हूँ, क्योंकि मेरा अकर्त्तृत्व स्वभाव है। मैं पर का निमित्तभूत कर्ता भी नहीं हूँ। अज्ञानी कहता है कि ये कर्ता है। ज्ञानी कह रहा–अकर्त्ता है। मैं पेन को रखने का कर्ता नहीं हूँ, जबकि सामनेवाले देख रहे हैं कि महाराज ने पेन ग्रन्थ पर रख दिया। हे योगी! तू कैसे कहता है कि मैं कर्ता हूँ? यह पेन पौद्गलिक था और इसको रखनेवाला भी पुद्गल था। योग की अवस्था ने पेन को रखा है, मैं योग नहीं हूँ। शरीर ने पेन रखा है, मैं शरीर नहीं हूँ। यदि मैं शरीर होता, तो शरीर के जलने के साथ मैं समाप्त हो गया होता।

हे ज्ञानी! इस भवन का मैं कर्ता हूँ और किसी ने नाम अंकित नहीं किया, तो रोता है कि इतना सबकुछ मैंने किया, मेरा पटिया नहीं लगा। जिनवाणी कहेगी– बता तो, इसमें तेरा क्या लगा? ये ईंट–चूने से निर्मित है, पुद्गल है और तू चैतन्य है। इसमें तेरा क्या लगा? तू कर्ता कैसे है? इस भवन का कर्ता तू नहीं है। शिल्पकार कह रहा है–महाराज! मैंने इसे बनाया है। शिल्पकार! इसमें तेरा योग चला है, पर तेरा इसमें चैतन्यभाव कहाँ लगा है? यदि जड़ से चैतन्य का जन्म होता, या चैतन्य से जड़ का जन्म होता, तो संकर

नाम का दोष आता। फिर ये कर्ता कौन है? समयसार में आ जाओ। ज्ञानी! मैं तो उपयोग का कर्ता हूँ , योग का मत कहना। मैं तो उपयोग का कर्ता हूँ, ज्ञान–दर्शन मेरा धर्म है। उपयोग से प्रेरित तो योग ने किया है। बिना उपयोग के योग नहीं है, इसलिये कारण में कार्य दृष्टि से इस घट–पट का कर्ता जीव है, क्योंकि उपयोग से ही योग का परिणमन है। बिना उपयोग के योग का परिणमन नहीं हो सकता है। इसप्रकार व्यवहारदृष्टि से जीव इसका निमित्तकर्ता है। निश्चयदृष्टि से निमित्तकर्ता भी नहीं है।

भैया! निश्चयनय, व्यवहारनय से पदार्थ नहीं हैं, ये पदार्थ को समझने की शैली है। निश्चय से भी पदार्थ होता है और व्यवहार से भी। व्यवहार से ये पेन है और निश्चय से पुद्गल है। ये पेन सत्ता है। सत्ता नहीं, तो कोई पदार्थ नहीं है। इसलिये पहले आप सत्ता को स्वीकार करें। बताओ, पेन सत्य है कि पुद्गल सत्य है? जब हम उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य को देखते हैं, तो सत्ता पुद्गल है, इसलिये सत्य है, सत् ही है। परन्तु बिना पर्याय के सत्ता होती नहीं, इसलिये पेन भी सत् है। सत्ता का ज्ञान कूटस्थ नहीं करता है। पुद्गल को तो पुद्गल कहें, पर पुद्गल को नानारूप कहना पड़ेगा और तद्रूप मानना भी पड़ेगा। जब हम नाना–पर्यायों को गौण करके द्रव्य की सत्ता को ग्रहण करते हैं, तो हमें पर्यायें नहीं दिखती, मुझे मात्र पदार्थ दिखता है। जो भी पुद्गल दिखेगा, वो किसी–न–किसी पर्याय से युक्त होगा नियम से।

आचार्यभगवन् **'तत्त्वानुशासन'** ग्रन्थ में कह रहे हैं कि काय की क्रियाओं को और भव के कारणस्वरूप भावों को छोड़ करके, व्याकुलता रहित होकरके जो अपनी आत्मा में स्थित रहता है, वह कायोत्सर्ग कहलाता है।

अपरिस्पन्दरूपस्य परिस्पन्दात्मिका तनुः।
व्यवहाराद्भवेन्मेऽतस्त्यजामि विकृतिं तनोः।।कलश 95।।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारि देव निश्चय–कायगुप्ति को प्राप्त करने का उपदेश कलश में दे रहे हैं। आत्मा का स्वरूप अपरिस्पंदनरूप है और शरीर का स्वरूप स्पंदनरूप है। वह शरीर व्यवहारनय से मेरा है, अतः मैं शरीर के विकार का त्याग करता हूँ। आत्मा अविचलस्वरूपी है। यह परिस्पंदन–रूपी शरीर व्यवहारनय से मेरा है, निश्चयनय से मेरा नहीं है, इसलिये मैं इस शरीर की क्रियाओं को छोड़ रहा हूँ। शरीर की क्रियाओं को छोड़कर शरीर से निर्मम होकर आत्मा के स्वरूप में स्थिर हो जाना ही निश्चय–कायगुप्ति है।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **अरिहन्त भगवान् एवं सिद्ध भगवान् के स्वरूप का कथन।**

घणघाइकम्मरहिया, केवलणाणाइ परमगुणसहिया।
चोत्तिसअदिसयजुत्ता, अरिहंता एरिसा होंति।।71।।
णट्ठट्ठकम्मबंधा, अट्ठमहागुणसमण्णिया परमाँ।
लोयग्गठिदा णिच्चा, सिद्धा ते एरिसा होंति।।72।।

संस्कृत छाया : **घनघातिकर्मरहिताः केवलज्ञानादिपरमगुणसहिताः।**
चतुस्त्रिंशदतिशययुक्ता अर्हन्त ईदृशा भवन्ति।।71।।
नष्टाष्टकर्मबन्धा अष्टमहागुणसमन्विताः परमाः।
लोकाग्रस्थिता नित्याः सिद्धास्ते ईदृशा भवन्ति।।72।।

अन्वयार्थ : (घनघातिकर्मरहिताः) निविड़ ऐसे चार घातिया कर्मों से रहित (केवलज्ञानादि परम–गुणसहिताः) केवलज्ञान आदि परम गुणों से सहित (चतुस्त्रिंशदतिशययुक्ता ईदृशा अर्हंतः भवंति) और चौतीस अतिशय से युक्त ऐसे अर्हन्त भगवान् होते हैं।

(नष्टानष्टकर्मबन्धाः) आठ कर्मों के बन्ध को जिन्होंने नष्ट कर दिया है (अष्टमहागुणसमन्विताः) जो आठ महागुणों से समन्वित हैं (परमाः) परम हैं– सर्वश्रेष्ठ हैं (लोकाग्रस्थिताः) लोक के अग्रभाग में विराजमान हैं और (नित्याः) नित्य हैं (ईदृशास्ते सिद्धा भवन्ति) ऐसे वे सिद्धभगवान् होते है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी नियमसार जी में अरहन्तों के स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं। आत्मा के गुणों का घात करने वाले कर्म घातिकर्म कहलाते हैं। ये घाति कर्म कैसे हैं? जिसतरह अंधकार घना हो तो कुछ नहीं दिखता है, वैसे ही ये घातिया कर्म हैं, इनके रहने पर जीव को द्रव्य का सच्चा स्वरूप दिखता ही नहीं है। ये घातिया कर्म चार प्रकार के हैं–ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय और मोहनीय। ज्ञानावरण–कर्म के कारण हमारा ज्ञान आच्छादित हो जाता है, जिससे वस्तु का सही स्वरूप ज्ञान में नहीं आ पाता है। दर्शनावरण–कर्म सच्चा श्रद्धान नहीं होने देता है। अंतराय–कर्म अंतराल उत्पन्न करता है। मोहनीय–कर्म कर्मों का राजा कहा गया है। मोहनीय–कर्म के कारण जीव की स्थिति शराब

पिये हुये के समान हो जाती है। उसका विवेक कार्य नहीं करता है। मोह न तो सच्चा ज्ञान होने देता है, न श्रद्धान होने देता है। यहाँ तक कि चारित्र के पालन में भी बाधा उत्पन्न करता है।

अर्हन्त भगवान् इन चार घातिया कर्मों से रहित होते हैं। इन चार घातिया कर्मों से रहित होने पर अनन्त–चतुष्टय प्रकट हो जाते हैं–केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलवीर्य और केवलसुख। अर्हन्त भगवान् अठारह दोषों से रहित होते हैं, छियालीस गुणों से युक्त होते हैं। तीर्थंकर भगवान् चौतीस प्रकार के अतिशयों से युक्त होते हैं। दस अतिशय जन्म के, दस अतिशय केवलज्ञान के एवं चौदह अतिशय देवकृत होते हैं।

अतिशयरूप सुगन्ध तन, नहीं पसेव निहार, प्रियहितवचन अतुल्य बल, रुधिर श्वेत आकार।
लक्षण सहस रु आठ तन, समचतुष्क संठान, वज्रवृषभ नाराचजुत, ये जनमत दश जान।।
योजन शत इक में सुभिख, गगन–गमन मुख चार, नहिं अदया उपसर्ग नहीं, नाही कवलाहार।
सब विद्या ईश्वरपनो, नाहिं बढे नख केश, अनिमिष ग छाया रहित, दश केवल के वेश।।
देवरचित हैं चार दश, अर्द्धमागधी भाष, आपसमाहीं मित्रता, निर्मल दिश आकाश।
होत फूलफल ऋतु सबै, पृथ्वी काँच समान, चरणकमल तल कमल है, नमतै जय–जय बान।।
मंद सुगंध बयार पुनि, गंधोदक की वृष्टि, भूमि विषै कंटक नहि, हर्षमयी सब सृष्टि।
धर्मचक्र आगे रहे, पुनि वसु मंगलसार, अतिशय श्री अरहन्त के ये चौतीस प्रकार।।

टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव पांच कलशों के माध्यम से अरिहन्त के गुणों का वर्णन कर रहे हैं–

जयति विदितगात्रः स्मेरनीरेजनेत्रः, सुकृतनिलयगोत्रः पण्डिताम्भोजमित्रः।
मुनिजनवनचैत्रः कर्मवाहिन्यमित्रः, सकलहितचारित्रः श्रीसुसीमासुपुत्रः।।96।।
स्मरकरिमृगराजः पुण्यकंजाह्निराजः, सकलगुणसमाजः सर्वकल्पावनीजः।
स जयतिजिनराजःप्रास्तदुःकर्मबीजः, पदनुतसुरराजस्त्यक्त संसारभूजः।।97।।
जितरतिपतिचापः सर्वविद्याप्रदीपः, परिणतसुखरूपः पापकीनाशरूपः।
हतभवपरितापः श्रीपदानम्रभूपः, स जयति जितकोपः पह्वविद्वत्कलापः।।98।।
जयति विदितमोक्षः पद्मपत्रायताक्षः, प्रजितदुरितकक्षः प्रास्तकंदर्पपक्षः।
पदयुगनतक्षयः तत्त्वविज्ञानदक्षः, कृतबुधजनशिक्षः प्रोक्तनिर्व्वाणदीक्षः।।99।।
मदननगसुरेशः कान्तकायप्रदेशः, पदविनतयमीशः प्रास्तकीनाशपाशः।
दुरघवनहुताशः कीर्तिसंपूरिताशः, जयति जगदधीशः चारुपद्मप्रभेशः।।100।।

अरिहंत भगवान् की स्तुति करते हुये कह रहे हैं कि जिनका शरीर परम औदारिक है अर्थात् उसमें निगोदिया जीवों का वास नहीं है। खिले हुये कमल के समान अरिहन्त भगवान् के नेत्र हैं। जो नामकर्म की श्रेष्ठ प्रकृति तीर्थंकरप्रकृति है, उसका बन्ध है। उच्चगोत्र का निवासस्थल है। अरहन्त भगवान् पंडितरूपी कमलों को विकसित करने के लिये सूर्य के समान हैं। जो मुनिजनरूपी उद्यान को विकसित करने वसंतऋतु के समान हैं। जो कर्मरूपी सेना को समाप्त करने में सक्षम हैं। ऐसे श्री पद्मप्रभ भगवान् जयवंत हों। जो सुसीमा के नंदन हैं, ऐसे पद्मप्रभ भगवान् जयशील होवें।

जैसे मद से युक्त हाथी के मद का मर्दन सिंह कर देता है, वैसे ही अरिहन्त भगवान् कामदेव के मद को चूर्ण करने में सिंह के समान हैं। भगवान् की भक्ति से पुण्यरूपी कमल विकसित हो जाते हैं। भगवद्–भक्ति सूर्य का कार्य करती है। भगवान् सकलगुणों के समूह हैं, उनमें किसीप्रकार का दोष नहीं है। जिस तरह से कल्पवृक्ष से इच्छित वस्तुयें प्राप्त हो जाती हैं, उसीतरह अर्हद्–भक्ति से तमाम वस्तुयें सहज प्राप्त हो जाती हैं। उन्होंने दुष्ट कर्मरूपी बीज को नष्ट कर दिया है। जिसतरह दग्ध बीज पुनः उत्पन्न होने की सामर्थ्य से रहित हो जाता है, उसीप्रकार उन्होंने कर्म–बीज को दग्ध कर दिया है अर्थात् पुनर्जन्म के दुःखों से छुटकारा पा लिया है। जिनके चरणों में देवों के इन्द्र भी नमस्कार करते हैं। जिन्होंने संसाररूपी वृक्ष का त्याग कर दिया है, ऐसे पद्मप्रभ भगवान् जयवन्त हो।

जिन्होंने कामदेव के धनुष को जीत लिया है अर्थात् कामदेव पर संपूर्ण विजय प्राप्त कर ली है। जो संपूर्ण विद्याओं के प्रकाशक हैं। जो अक्षयसुख से सहित हैं। जो पाप का नाश करने में यमराज सदृश हैं। संसार के संताप को जिन्होंने नष्ट कर दिया है। जिनके श्रीचरणों में राजागण नमस्कार करते हैं। जिन्होंने काम, क्रोध को जीत लिया है। जिनके चरणों में विद्वत्गण नतमस्तक हैं, ऐसे पद्मप्रभ भगवान् जयशील रहें।

जिन्होंने मोक्ष को जान लिया है और प्राप्त कर लिया है। जिनके नेत्र कमलदल के समान सुन्दर हैं, विस्तृत हैं। जिन्होंने कठिनाई से जीते जाने वाले पापसमूह पर विजय प्राप्त कर ली है। जिन्होंने कामदेव को जीत लिया है। जिनके चरण–युगल में यक्षदेव नमन करते हैं। जो तत्त्वार्थ में दक्ष हैं। जिन्होंने विद्वत्जनों को शिक्षा दी है और निर्वाणदीक्षा के स्वरूप को कहा है अर्थात् मोक्षमार्ग का प्ररूपण किया है, ऐसे श्री पद्मप्रभ जिनदेव जयशील रहें।

जो कामदेवरूपी पर्वत के लिये सुरेन्द्र हैं। जैसे इंद्र वज्र से पर्वतों को फोड़ डालता है, वैसे ही भगवान् कामदेव के मद को चूर–चूर कर देते हैं। जिनके अंग–प्रत्यंग अत्यन्त

सुन्दर हैं। जिनके चरणों में संयमधारी मुनिवर विनत रहते हैं। जिन्होंने यमराज के जाल को समाप्त कर दिया है अर्थात् जो जन्म–मरण से रहित हो गये हैं। जो दुष्ट पापरूपी वन को भस्म करने के लिये अग्निस्वरूप हैं। जिन्होंने अपनी कीर्ति से संपूर्ण दिशाओं को व्याप्त कर दिया है। जो तीनों लोकों के अधीश्वर है, ऐसे पद्मप्रभ भगवान् जयवन्त रहें।

यहाँ पर टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव ने अरिहन्त भगवान् के गुणों का स्तवन के बाद बहुत ही मधुर शब्दों में पाँच श्लोकों के द्वारा पद्मप्रभ भगवान् की स्तुति की है। प्रत्येक श्लोक में यमक अलंकार का प्रयोग किया है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी सिद्धों के स्वरूप का कथन कर रहे हैं। जिन्होंने संपूर्ण कर्मों अर्थात् घाति–अघाति कर्मों का नाश कर दिया है। जो आठ गुणों से संयुक्त हैं, जो लोक के अग्रभाग पर विराजमान हैं, जो किसी भी काल में संसार में पुनः नहीं आयेंगे, वे सिद्धभगवान् हैं। विशेष रूप से पकड़ना कि पुनः संसार में कभी नहीं आयेंगे। श्रमणसंस्कृति अवतारवाद को स्वीकार नहीं करती । जब संसार में संकट आने लगे, धर्म की हानि होने लगे, तो परमेश्वर अवतार लेते हैं। तीर्थंकर का जन्म होता है। लेकिन जो सिद्धपरमेश्वर बन चुके हैं, वे पुनः संसार में नहीं आते । जैसे जला हुआ बीज अंकुरित नहीं होता है, इसीप्रकार से जो शुद्ध आत्मा है, वो फिर संसार में नाना–पर्यायों में नहीं दिखती। और जबतक संसार की पर्यायों में भटकन चल रही है, आत्मा तबतक सिद्धभगवान् नहीं हो सकती। जबतक संसार की अशुद्ध व्यंजनपर्याय झलक रही है, तबतक तेरी शुद्ध व्यंजनपर्याय नहीं है। शुद्ध व्यंजनपर्याय ही शुद्धद्रव्य की पर्याय होती है। इसलिये चरमशरीर से किंचित न्यून जीव की जो पर्याय है, वही स्वभावपर्याय है। वह पर्याय शुद्धद्रव्य में होगी, अशुद्ध द्रव्य में नहीं होगी। जब द्रव्य शुद्ध होगा, तो नियम से स्वभाव पर्याय ही होगी।

भो ज्ञानी! अविनाभाव सम्बन्ध है। जहाँ–जहाँ अशुद्धपर्याय होगी, वहाँ–वहाँ अशुद्धद्रव्य होगा। जहाँ–जहाँ शुद्धद्रव्य होगा, वहाँ–वहाँ शुद्धपर्याय होगी । एक साथ एक द्रव्य में दो पर्याय नहीं होगी। एक जीवद्रव्य की भुज्यमान और बध्यमान दो आयु तो हो सकती हैं। भुज्यमान यदि जिसे भोग रहा है और बध्यमान यानि जिसका बंध किया है। परन्तु उदय में एक ही आयेगा। इसीप्रकार सिद्धों के गुण शुद्ध हैं, सिद्धों की पर्याय शुद्ध है और वह आत्मा त्रैकालिक शुद्ध है। आपकी आत्मा त्रैकालिक (शक्ति–अपेक्षा) शुद्ध है। परन्तु सिद्धों की आत्मा (अभिव्यक्ति–युक्त) त्रैकालिक शुद्ध है।

भो ज्ञानी! आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि सिद्धात्मा लोक के अग्रभाग पर स्थित हैं, ये नित्य है, अब पुनः चलायमान नहीं होगी। ध्यान रखना, सिद्ध भगवान् नित्य–अनित्य हैं। वो संसार में नहीं आयेंगे, इसलिये नित्य हैं। सिद्धपर्याय का अभाव नहीं होगा, इसलिये नित्य हैं। परन्तु उनमें अगुरु–लघु परिणमन होता है, कूटस्थ नहीं हैं, इसलिये अनित्य हैं। अर्थात् सिद्धभगवान् नित्यानित्य हैं। द्रव्य का स्वभाव ही परिणामी है और परिणामी धर्म नष्ट हो गया तो द्रव्य कूटस्थ हो जायेगा। अचेतन में भी परिणमन होता है। चेतन का चेतनरूप परिणमन है, अचेतन का अचेतन रूप परिणमन है। यानि पदार्थ की जो व्यवस्था है, वह क्रिया– कारित भाव है। उस भाव का अभाव हो जायेगा और जहाँ क्रिया–कारित भाव का अभाव हुआ, तो पदार्थ का ही अभाव हो जायेगा। ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जिसमें क्रिया–कारित भाव न हो। भैया! पर्याय है, मुक्त–अवस्था है। क्यों मुक्त है? क्योंकि भटकाने वाला द्रव्य नष्ट हो चुका है। मुक्त–अवस्था मुक्त ही रहेगी, फिर भी बदल रही है और उनको जो सुखानुभूति हो रही है, वो प्रतिपल नवीन–नवीन हो रही है। अनंतसुख है, उसमें भी परिणमन चल रहा है। परन्तु वहाँ से कोई नवीन दूसरी–पर्याय नहीं होगी। उसी में परिणमन होगा।

भो ज्ञानी! आपको मनुष्यपर्याय एक निश्चित समय को मिली, तो पर्याय की दृष्टि से आप देखोगे तो शिशु से लेकर अभीतक आप मनुष्य ही हो, लेकिन परिणमन कितना हो चुका है? ऐसे ही सिद्धों में भी परिणमन चलता है, लेकिन आप–जैसे वह वृद्ध नहीं होते। आप–जैसे शिशु नहीं थे, आप जैसे युवा नहीं थे। जैसे हैं, वैसे ही हैं। हम इसको दो दृष्टियों में ले सकते हैं। निमित्त–दृष्टि से कथन करेंगे तो धर्म और अधर्म द्रव्य सिद्धों को भी प्रभावित कर रहे हैं। उपादान की दृष्टि से कथन करेंगे तो सिद्ध का परिणमन अपनी सत्ता में है और काल आदि द्रव्यों का परिणमन अपनी सत्ता में है। एकद्रव्य दूसरेद्रव्य का कुछ भी नहीं करता है। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन अपने उपादान की योग्यता से होता है और उपादान की योग्यता अपने नियतकाल में होती रहती है। अभी निश्चयदृष्टि से कथन कह रहे हैं। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन अपने निश्चितसमय पर होता है और निश्चितसमय पर अपने स्वभावरूप होता है, पररूप नहीं होता है। उसकी परिणति अपनी सत्ता में चल रही है। किसी दूसरे के गुण से मेरा परिणमन नहीं होता। किसी दूसरे के द्रव्य से मेरा परिणमन नहीं होता। निज द्रव्य का परिणमन निज की पर्याय में निजगुणों में होता है। जब परिणमन होता ही है, तो फिर कालद्रव्य ने क्या किया? धर्मद्रव्य ने क्या

किया? जिनशासन में निमित्त के दो भेद किये हैं–उदासीन निमित्त और प्रेरक निमित्त। ये द्रव्य उदासीन–निमित्त हैं। कालद्रव्य ने मुझे यह बता दिया कि आप 74 वर्ष के हो गये। ये आपके परिणमन में नहीं बताया। परिणमन तो चल रहा है। इसका ज्ञान कराने वाला कोई है तो कालद्रव्य है, यह व्यवहारदृष्टि है। एकद्रव्य दूसरे द्रव्य का जो निमित्त है, निमित्त–नैमित्तक सम्बन्ध है, वह व्यवहारदृष्टि से है, निश्चयदृष्टि से नहीं।

भो ज्ञानी! ध्यान से समझना। धर्मद्रव्य की ये परिभाषा नहीं है कि किसी को चलाता हो। जो न कभी चलता है, न किसी को चलाता है, चलते हुये को सहयोगी बनता है, उसका नाम धर्मद्रव्य है। यदि धर्मद्रव्य चलाता होता, तो संसार के छह द्रव्यों को चलाना चाहिये। इसलिये पकड़िये उपादान को। धर्मद्रव्य नहीं चलाता है, जीव व पुद्गल की क्रिया ही चलाती है। यदि क्रियावती शक्ति न हो, तो धर्मद्रव्य किसी को पकड़कर नहीं चलाता। परन्तु अब निमित्त कहेगा कि मेरे बिना ये कैसे चलते हैं? यदि क्रियावती–शक्ति ही चलाती है, तो सिद्धों की शक्ति कहाँ चली गई? यदि आप कहते हो कि धर्मद्रव्य नहीं चलाता, तो फिर जीव–पुद्गल को क्रियावती–शक्ति ही चलाती है, ये सत्य है। लेकिन प्रश्न ये है कि यदि क्रियावती शक्ति ही सर्व–शक्तिमान है, तो क्या सिद्धों की शक्ति में कमी आ गई? भो चेतन आत्मा! क्षेत्र से क्षेत्रान्तर जो कराये, उसका नाम क्रिया है। आप बताओ, सिद्धों की क्रियावती–शक्ति में कमी आ गई क्या? नहीं आई।

जिसको निमित्त से चिढ़ है, भैया! उदाहरण से समझो। नौगांव और पन्ना से लोग आये हैं। कैसे आये? यहाँ पर गाड़ी लेकर आई है या आप गाड़ी लेकर आये हो? अब बताओ, चालक ने गाड़ी को चलाया, कि गाड़ी में भरे गये पेट्रोल ने चलाया? इसीलिये, भो ज्ञानी आत्माओ! किसी विषय को कहने के पहले उस विषय के अंदर प्रवेश करके, हाँ और न को समझने की आवश्यकता है। ''धर्मास्तिकायाऽभावात्'' भो ज्ञानी! सिद्धों की क्रियावती–शक्ति में कोई कमी नहीं थी। जीव का ऊर्ध्वगमन का स्वभाव है, उसे तो ऊपर जाना ही चाहिये था। ये लोक–अलोक का विभाग करने वाले सिद्धभगवान् नहीं हैं। लोकालोक का विभाग करनेवाला आकाश नहीं है, काल नहीं है। लोकालोक का विभाग करने वाला धर्म–अधर्म द्रव्य है। कालद्रव्य तो आपकी अवस्था बतानेवाला है कि परिणमन इस–इस प्रकार से हुआ। लेकिन छह द्रव्यों का सद्भाव कहनेवाला कोई द्रव्य है, तो यह धर्म–अधर्म द्रव्य है क्योंकि जहाँतक धर्मद्रव्य होगा, वहाँतक छह द्रव्य जा सकते हैं, और अधर्म द्रव्य जहाँतक है, वहाँतक ठहर सकते हैं।

भो ज्ञानी! कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है कि लोक के अग्रभाग पर सिद्ध भगवान् विराजमान हैं। सिद्ध के स्वभाव पर जिनागम में विशेष चर्चा है। **''मोक्षमार्गस्य नेतारं''**। हे भगवन्! आप मोक्षमार्ग के नेता हो–ये सिद्धान्त बहुत गंभीर बात कह रहा है। जिन लोगों ने मोक्षमार्ग को स्वीकार किया, वहाँ कह दिया–आप मोक्षमार्ग के नेता हो। **''भेत्तारं कर्मभूभृतां''** जो जीव अपने–आपको त्रैकालिक शुद्ध मान रहा है, ऐसे सदाशिवमती को समझाने के लिये उमास्वामी महाराज कह रहे हैं–जबतक कर्म नष्ट नहीं होंगे, तबतक तुम सिद्ध नहीं होगे। इसलिये ध्यान रखना, चाहे अध्यात्म से पूछना, चाहे सिद्धान्त से पूछना, चाहे नय से पूछना, चाहे तर्क से पूछना, अभी आप सिद्ध नहीं हो। यदि आप सिद्ध होते, तो सभी जीव सिद्ध ही हैं, तो संसार का अभाव हो जायेगा। जब संसार का अभाव है, तो मोक्ष का भी अभाव है। जब कोई बंधा ही नहीं है, तो छोड़ा किसे जायेगा? इसलिये सिद्धान्त कह रहा है कि भगवन्! आपने कर्म के बन्ध को नष्ट किया है।

भो ज्ञानी! क्रियावर्ती–शक्ति जीव और पुद्गल दो द्रव्यों में ही है। लोकाकाश के बाहर जीव भी नहीं जा रहा है, पुद्गल भी नहीं जा रहा है। सिद्धों में क्रियावती–शक्ति थी, तो जाकर लोकाग्र/सिद्धशिला पर विराजमान हो गये। सिद्धों में क्रियावती–शक्ति का अभाव नहीं था, वहाँ धर्मास्तिकाय का अभाव नहीं था, इसलिये निमित्त उदासीन था। परन्तु फिर भी सिद्धों पर भी निमित्त प्रभावी था। गमनागमन का कारण इंद्रियाँ हैं, गमनागमन का कारण कर्म है। जबतक मिट्टी में पानी है, मिट्टी गीली है, तबतक नानारूप है। आर्द्रता समाप्त हो गई, तो नानारूपता समाप्त हो गई। भो चेतन! तेरे अन्दर जो कर्मों का नीर है, वो सूख जाये, तो तेरी एक अवस्था बन गई, अब नानारूपता समाप्त। जो गमनागमन करा रहा है आपके लिये, वो कर्म है और जहाँ कर्म का अभाव हो गया, वहाँ आत्मा स्थिर हो गई। अब सिद्धों का परिणमन, अब वहाँ क्रिया की आवश्यकता नहीं है। सत्ता में बैठ गये। सत्ता में तो संपूर्ण व्यवहारदृष्टियाँ सिद्धों में हैं। ध्यान रखना, इनका वियोग कभी नहीं होगा। पुद्गल परमाणु है, जो चौदह राजू जा रहा है। पहुँचने के बाद स्थिर है। वो चाहे कि नीचे जाऊँ, पर नहीं जा सकता। जीव का ऐसा धर्म है कि कर्म के अभाव होने के उपरान्त पुनः नहीं आता। एक सहज नियोग है। इसमें अपन कोई एक निमित्त हैं। अहो! उपादान तो उपादान है, निमित्ताधीन बनकर मत बैठ जाना। उपादानाधीन बनकर मत बैठ जाना। दोनों का सहयोग करके अपना काम निकाल लो, इनमें मत फँसो। निमित्ताधीन बन गये तो काम बिगड़ जायेगा, उपादानाधीन बनकर

बैठगये तो निश्चित ही काम बिगड़ेगा। क्योंकि उपादान निमित्त के अभाव में कुछ नहीं कर पाता है और निमित्त उपादान के अभाव में कुछ नहीं कर पाता है।

भो ज्ञानी! यदि आज ऐसा मिलेगा ही, तो वो निमित्त हो गया। जबकि जिनशासन निमित्त को मिथ्यात्व कहता है। सम्यक्–निमित्त को तो स्वीकारता है, आपका कहना ठीक है। निमित्त उपस्थित हो जायेंगे, परन्तु सभी निमित्त उपस्थित नहीं होंगे। आपकी उम्र इतनी बड़ी हो गई, इसमें कालद्रव्य निमित्त था कि नहीं? इस कालद्रव्य को लेने आप कब गये थे? कालद्रव्य को किसी पुरुष ने बनाया क्या? कालद्रव्य स्वतः है, उपस्थित है। जब आप चलते हो, तो धर्मद्रव्य को क्या आपने बुलाया? ये निमित्त सहज उपस्थित रहते हैं। आगमानुसार कुछ निमित्त सहज उपस्थित रहते हैं, कुछ को उपस्थित कराना पड़ता है। पुरुषार्थ करना पड़ता है। पुरुषार्थ के अनुसार उसको बदल सकते हो। यदि तुम यह न मानोगे, तो गड़बड़ी हो जायेगी। यदि नहीं बदल सकते हो, तो तुम्हारी अविपाक–निर्जरा कहाँ जायेगी? संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण आदि के सिद्धान्त व्यर्थ हो जायेंगे। घातांश की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

भो चेतन! 'समयसार' की भाषा में ऐसे ही बोलना कि सबका परिणमन स्वतंत्र है। पुद्गल का परिणमन स्वतंत्र है, जीव का परिणमन स्वतंत्र है, परन्तु फिर भी दोनों में परस्पर परिणमन चल रहा है। आप भोजन करके आये थे, बहुत गर्मी है आज, आपने पानी भी पिया था। जब तृषा सता रही थी, वह वेदनीय–कर्म के उदय से सता रही थी, अतः तृषा पुद्गल में सता रही थी। तृषा वेदनीय–कर्म के उदय से थी और जो पानी माँग रहा था, वो मोहनीय कर्म था। वो भी कर्म है। पानी जिसने दिलाया, गिलास में जो पानी आया था, वह लाभ–अंतराय कर्म के अभाव ने तुझे दिया है। यदि लाभ–अंतराय कर्म का उदय नहीं होता, तो पानी भरा गिलास जमीन पर होता। जो पानी पिया है, वो रसना–इंद्रिय शरीर नोकर्म कर्म एवं वीर्य–अंतराय कर्म के क्षयोपशम से तुम पी सके। जिसकी जिह्वा में छेद हो जाये, वह पानी नहीं पी सकता है। अहो! लाभ–अंतराय कर्म के अभाव ने हमें पानी पिला दिया।

भो ज्ञानी! जब तू पानी–पानी चिल्ला रहा था, पानी नहीं मिला, प्राण निकलने वाले हैं, उससमय ज्ञानी क्या सोचेगा? यहाँ समयसार लगाओ कि इस कर्म का क्षयोपशम यह था । परन्तु इन सबका उदय किसमें था? ये आगम की व्यवस्था नहीं है। यदि कर्म का उदय कर्म में होता, तो लोक में जितनी कार्माणवर्गणायें पड़ी हुई हैं, उनमें उदय आना चाहिये। ज्ञानी! समझो, मदिरा का परिणमन मदिरा में है, कि मदिरा पीने वालों में है? यदि

मदिरा में ही मद होती है, तो बोतलों को उचकना चाहिये था। बोतलों को वहाँ स्थिर नहीं रहना चाहिये था। मदिरा में मादक शक्ति है और मद उत्पन्न होने की शक्ति तेरी आत्मा में है। कर्मों का काम परिणमन कराना है और परिणत होना तेरा काम हैं। कर्म तो कर्म हैं, आत्मा तो आत्मा है। स्वतंत्र परिणमन दोनों का है। दोनों के स्वतंत्र परिणमन होने पर भी परस्पर में रमण हो रहा है।

भो ज्ञानी! अब देखो क्षुधा, तृषा ये वेदनीयकर्म के उदय से होते हैं। मोहनीय मँगा रहा है, वेदनीय पीड़ा देता है। देखना, मोहनीय नष्ट हो जाये, तो वेदनीय कुछ नहीं कर सकता। अरहन्तदेव के वेदनीयकर्म होता है, इसलिये ग्यारह परीषह भी होते हैं। लेकिन मोहनीय का अभाव होने से वेदनीय कुछ नहीं कर पा रहा है। इसलिये मोहनीय मँगाता है, वेदनीय वेदन कराता है और लाभांतराय प्राप्त करा देता है। भोगांतराय उपभोग करा देता है और इन सबका स्वामी/वेदक आत्मा है। इसलिये रसास्वादन जो हुआ है, वो तुझे ही हुआ है। जो ऐसा नहीं मानेगा, तो स्वच्छंद–प्रवृत्ति प्रारंभ हो जायेगी और कहेगा कि मैं तो कुछ नहीं कर रहा हूँ, ये सब पुद्गल का परिणमन चल रहा है। निगोद में चला जायेगा, फिर भी यही कहेगा कि पुद्गल का परिणमन चल रहा है। हाँ, चल तो रहा है, पर साथ में तुम भी चल रहे हो।

भो ज्ञानी! कर्म के परिणमन को रोकने की ताकत किसी में नहीं है। मोक्ष का तात्पर्य अज्ञानता में यह मत मान लेना कि कर्म का अभाव कर दिया या कर्म का नाश कर दिया। ध्यान रखना, सत् का कभी विनाश होता नहीं है। वह तो कर्म–वर्गणायें जिसमें लगी थी, वहाँ से हटा दिया है। उसे अभाव कह दिया है। उसे नाश नहीं कहा । सिद्धभगवान् अपनी क्षमता से कर्म का विनाश नहीं करते हैं। अपनी क्षमता से **''भेत्तारं कर्मभूभृताम्''** कर्म का भेदन कर दिया है, नाश नहीं किया, भिन्न कर दिया है। जैनदर्शन का एक शाश्वत सिद्धान्त है–सत् का कभी विनाश नहीं होता, असत् का कभी उत्पाद नहीं होता, परिणमन होता है। इसी का नाम तो पर्याय है।

भो ज्ञानी! आपके बेटे ने आपकी जेब से पैसे निकाल लिये, थाने में जाओगे तो हँसी किसकी होगी? व्यवहार से पूछ लो। आपके जीवन में कभी ऐसी विषमता आई होगी। अरे भाई! तू करणानुयोग का ज्ञाता होता, तो क्या कहता ? इस जीव की इस द्रव्य/संपत्ति पर ऐसा परिणमन हुआ है। मैंने कभी इसके द्रव्य को स्वीकार किया होगा, इसके योग में था, वो ले गया। चोर का भी जबतक लाभ अंतराय– कर्म का क्षयोपशम नहीं होगा, तो

उसे चोरी से द्रव्य नहीं मिलता है। उस चोर का पुण्य सामने बैठा है, तुम पकड़ नहीं पा रहे हो, क्योंकि उसके लाभ–अंतराय कर्म का क्षयोपशम काम कर रहा है। पंडित बनारसीदास पागल थे क्या? देखो, इसका क्षयोपशम ऐसा ही होगा, उठवा दी पोटरिया। बोले–ले जा। अब उसके भाग्य में नहीं था, सो माँ ने वापस करवा दिया।

भो मनीषियो! ध्यान रखना, अबुद्धिपूर्वक जो अनिष्ट–इष्ट होता है, वो भाग्य होता है और बुद्धिपूर्वक जो अनिष्ट–इष्ट होता है, वो पुरुषार्थ होता है। ये भूल जाओ कि हमने सबकुछ किया है। सबकुछ करने पर भी कुछ नहीं मिलता है और सहजता में सबकुछ मिलता है।

भैया! आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि तीनलोक के शिखर के आगे गति का हेतुभूत धर्मद्रव्य का अभाव है, इसलिये लोकाग्र–शिखर पर सिद्धभगवान् विराजमान हैं।

भो ज्ञानी! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने गाथा 72 में सिद्ध–भगवान् के स्वरूप का कथन किया। पद्मप्रभमलधारिदेव उन्हीं सिद्ध भगवान् की आराधना करते हुये कलश में पुनः कह रहे हैं–

व्यवहरणनयेन ज्ञानपुञ्जः स सिद्धः, त्रिभुवनशिखराग्रग्रावचूडामणिः स्यात्।
सहजपरमचिच्चिन्तामणौ नित्यशुद्धे, निवसति निजरूपे निश्चयेनैव देवः।। कलश 101।।

यहाँ टीकाकार कह रहे हैं कि वे सिद्ध जो व्यवहारनय से ज्ञान के पुंज हैं, वे ही सिद्ध हैं, ज्ञानमूर्ति हैं, ये भी व्यवहारनय है। निश्चयनय कहता है कि जो है, सो है। वे सिद्ध–भगवान् जो तीनलोक के शिखर के अग्रभाग पर चूड़ामणि रत्न के समान हैं, ऐसे नित्य, शुद्ध और निश्चयनय से निजस्वरूप में जो निवास कर रहे हैं, वे ही निश्चय से सिद्धभगवान् देव हैं। व्यवहारनय से ज्ञानपुंज हैं और निश्चयनय से नित्य शुद्ध–आत्मा में जो निमग्न हैं, वे ही सिद्ध–भगवान् हैं। सिद्ध–भगवान् कहाँ विराजमान हैं? व्यवहारनय से सिद्धशिला पर विराजमान हैं और निश्चयनय से स्वप्रतिष्ठित हैं, पर–प्रतिष्ठित नहीं हैं।

भो ज्ञानी! संसारीजीव संसार में निवास कर रहा है। व्यवहारनय से संसारीजीव संसृति कर रहा है। मध्यलोक में जो बैठे हैं, वह व्यवहारनय से और निजप्रदेश में प्रतिष्ठित हैं निश्चयनय से। जैसा सिद्ध–परमेश्वर कर्मरज से रहित सिद्धशिला पर विराजा है, ऐसा परमब्रह्म–स्वरूप सिद्ध–परमेश्वर मेरे में विराजा है। जैसा कर्मातीत सिद्ध–परमेश्वर सिद्धालय में विराजमान है, वैसा ही सिद्ध– परमेश्वर शक्तिरूप मेरे देह में

विराजे हैं। शक्तिरूप, लेकिन अभी सिद्ध नहीं हैं। निश्चय से प्रत्येक द्रव्य स्व–चतुष्टय में प्रतिष्ठित है, व्यवहार से आकाश में। सिद्धक्षेत्र कहाँ है? एक सिद्धक्षेत्र वह है, जहाँ से जीव मोक्ष को प्राप्त हुआ है, जिसकी आप पूजा करते हो। और एक सिद्धक्षेत्र वह है, जहाँ सभी सिद्ध विराजे हैं। पर वास्तव में सिद्धि कहाँ से हुई है? भो ज्ञानी आत्माओ! सिद्धि तो निज चैतन्य–अवस्था से हुई है। इस अपेक्षा से न वो सिद्धक्षेत्र, न ये सिद्धक्षेत्र। सिद्धक्षेत्र तो वही है, जहाँ सिद्ध हुये हैं। वह देह भी सिद्धक्षेत्र है, क्योंकि कर्म यहाँ से नष्ट हुये हैं। अशरीरी कहाँ से बना? उस भूमि पर स्थित था, इसलिये सिद्धक्षेत्र कहला रहा है, पर वास्तव में अशरीरी तो शरीर से ही बना है, इसलिये शरीर को सिद्धक्षेत्र कहा गया है। व्यवहारनय से जिस भूमि से केवली निर्वाण को प्राप्त हुये हैं, उसे निषीधिका या नसिया जी कहते हैं। निषीधिका समाधि–स्थली होती है। उसकी वंदना करना चाहिये। क्यों? इस भावना के साथ, प्रभु! मेरी भी निर्मल समाधि हो। यदि संघ में किसी प्रधान–आचार्य की सल्लेखना हो जाती है, तो सिद्धान्त कहता है कि उस संघ के जितने मुनिराज हैं, उन्हें उस वर्ष के अन्दर–अन्दर एकबार निषीधिका की वंदना करने जाना चाहिये।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि संपूर्ण दोष जिनके निकल चुके हैं, वे सिद्ध–परमेष्ठी हैं। भो ज्ञानी! आप कर्म की सेवा में धर्म मान रहे हो। देखो, गहरी बात समझना। बोले–महाराज जी! मैंने इतने रोगियों को ठीक किया है, इतने लोगों को औषधि–दान दिया है। जब जैनदर्शन के अध्यात्म के चिन्तवन में जाओगे, तो अध्यात्म कहेगा कि तूने कर्म की सेवा की है और कर्म की सेवा करके तू धर्म मान रहा है, ये नोकर्म था। तूने उपचार तो नोकर्म का किया है और नोकर्म के उपचार को आत्मा का धर्म मान रहा है। जबकि कर्म, नोकर्म, भावकर्म से रहित जो बचता है, वो आत्मा का धर्म है। आत्मव्यवस्था में लोकव्यवस्था को कोई स्थान नहीं है। और जब आत्मव्यवस्था में लोकव्यवस्था रखोगे, तो न आत्मव्यवस्था को समझ पाओगे न लोकव्यवस्था को और दोनों से परे हो जाओगे। अब ध्यान रखना, कोई तड़पता हो, बोले–भैया! अब तो हमने कर्मों की सेवा करने का त्याग कर दिया है। वो दया–धर्म कहाँ गया? हमारे आचार्यों की शैली देखो, कह रहे हैं **''धर्मस्य मूलं दया''** धर्म का मूल दया है। सबसे बड़ा दया–धर्म क्या है? शरीर की सेवा करना, कि आत्मा की सेवा करना?

भो ज्ञानी! जब आचार्यमहाराज ने जैन आयुर्वेदग्रन्थ **'कल्याण–कारकम्'** लिखा, तो लोगों ने प्रश्न किया कि आत्मा के रोग की बात करने वाले शरीर के रोग के निवारण की

बात कर रहे हैं। आप कहते हो कि मैं शरीर की सेवा के लिये लिख रहा हूँ। ये तो मैं भी जानता हूँ कि कर्म के उपशमन के द्वारा ही रोगों का शमन होगा। परन्तु मैं इस ग्रन्थ को शरीर के पोषण के लिये नहीं लिख रहा हूँ। शरीर के माध्यम से साधना होती है, रत्नत्रय की आराधना होती है। यदि गाड़ी टूटी है, तो आप अच्छी तरह नहीं पहुँच पाओगे और निर्दोष वाहन है, तो अच्छी तरह पहुँच जाते हो। इसीप्रकार से देह–वाहन पर आत्मा आरुढ़ है और रत्नत्रय के रत्नों को लिये है। ये कहीं रास्ते में क्षतिग्रस्त हो गई, तो यह मोक्ष–भवन तक पहुंच नहीं पायेगी। शरीर स्वस्थ्य रहेगा, तो साधना स्वस्थ रहेगी, इसलिये ग्रन्थ लिख रहा हूँ। मेरी दृष्टि शरीर पर नहीं है, क्योंकि शरीर से तो लोग भोग भी भोगेंगे, पांच पाप करेंगे।

पद्मप्रभमलधारिदेव सिद्धों के गुणों का वर्णन करते हुये कलश में कह रहे हैंः–

नीत्वास्तान् सर्वदोषान् त्रिभुवनशिखरे ये स्थिता देहमुक्ताः
तान् सर्वान् सिद्धिसिद्ध्यै निरूपमविशदज्ञानदृक्शक्तियुक्तान्।
सिद्धान् नष्टाष्टकर्म–प्रकृतिसमुदयान् नित्यशुद्धाननन्तान्
अव्याबाधान्नमामि त्रिभुवनतिलकान् सिद्धसीमन्तिनीशान्।।कलश 102।।

जिन्होंने संपूर्ण दोषों को नष्ट कर दिया है, तीनलोक के शिखर पर जो विराजमान हैं और देह से मुक्त हैं, ऐसे सिद्ध–भगवान् सिद्धि को प्रदान करने वाले हैं। कैसे हैं? निरूपम/अनुपम हैं, विशद् व निर्मल ज्ञान–दर्शन से युक्त हैं। जिन्होंने संपूर्ण कर्मो की समस्त प्रकृतियों को नष्ट कर दिया है। वे सिद्ध–भगवान् यहाँ नहीं विराजते हैं, वे तो सिद्धशिला पर विराजते हैं। निश्चय से वो सिद्ध–भगवान् स्वप्रतिष्ठित हैं, व्यवहार से लोक के अग्रभाग पर विराजते हैं। इसलिये संसारीजीव निश्चय से भी सिद्ध नहीं है, व्यवहार से भी सिद्ध नहीं है।

भो ज्ञानी! संसारीजीव शुद्ध–द्रव्यार्थिकदृष्टि से सिद्ध है। जो नित्य, शुद्ध, त्रिभुवन–तिलक, सम्पूर्ण लोक के स्वामी हैं, ऐसे सिद्धों को नमस्कार किया है। खड़ग–सिद्ध, पादुका–सिद्ध, तलवार–सिद्ध आदि इनको आगम में नमस्कार नहीं किया। आजकल चमत्कार का जमाना चल रहा है। भगवान् को छोड़ सकते हैं, लेकिन हम उन्हें नहीं छोड़ सकते हैं। क्यों? वो साक्षात् चमत्कार दिखा रहे हैं। भो ज्ञानी! ऐसे चमत्कारी

होते, तो गली–गली क्यों घूमते? हाथ पर आम दिखा देते हैं, लड्डू बुला देते हैं, पर आश्चर्य है कि फिर भी भूखे रहते हैं। लड्डू बुलाकर आपको खिला भी देंगे, परन्तु स्वयं के खाने के लिये तुम्हीं से माँगेंगे। इसलिये इन्द्रजालों में मत फँसना, चमत्कारों में मत फँसना। चमत्कार प्रकट करना है तो चेतन का चमत्कार प्रकट करो, जहाँ भूख भी नहीं लगती है, प्यास भी नहीं लगती है। सबसे बड़ा चमत्कार तो वो है, जो अठारह दोषों से रहित होते हैं। इससे बड़ा चमत्कार क्या होगा?

आचार्यभगवन् पुनः–पुनः भक्तिपूर्वक कलश में कह रहे हैंः–

स्वस्वरूपस्थितान् शुद्धान् प्राप्ताष्टगुणसंपदः।
नाष्टाष्टकर्मसंदोहान् सिद्धान् वंदे पुनः पुनः।। कलश 103।।

जो अपने स्वरूप में स्थित हैं, जिन्होंने आठ–गुणों की संपदा को प्राप्त कर लिया है, शुद्ध हैं, ऐसे अष्ट–कर्मों के समूह को नष्ट करने वाले सिद्धों की मैं पुनः पुनः वंदना करता हूँ।

भो ज्ञानी! वास्तव में हम लोग सिद्ध नहीं हैं। यदि हम सिद्ध होते, तो आठ–गुणों में से एक तो झलकता, परन्तु एक भी नहीं है। द्रव्यानुयोग कहता है कि तुम सिद्ध–स्वरूपी हो। उस स्वरूप का ज्ञान करा रहा है, परन्तु अभी तुम सिद्ध नहीं हो। माँ जिनवाणी कहती है–बेटा! अभी तुम पुद्गल में पड़े हो, उठ जाओ, चलो। पर आज के सिद्ध–भगवान् ऐसे हैं, कि मान लेते हैं, पर चलना नहीं चाहते। भो ज्ञानी! संभलकर चलना। चारों अनुयोग कह रहे हैं–देखो बेटा! अच्छे से चलना, नहीं तो गिर जाते हैं। प्रथमानुयोग कह रहा है कि देखो, रावण नरक चला गया। अब आया करणानुयोग कि संभलकर चलो, अन्यथा गिर जाओगे। चरणानुयोग कह रहा है– संभलकर चलो, नहीं तो फिसल जाओगे। द्रव्यानुयोग कह रहा है कि उठ जाओ, कुछ नहीं हुआ है। ये मात्र आपको शक्ति संचार करने की भाषा थी और वही भाषा द्रव्यानुयोग की है कि आप कहीं अपने–आपको संसारी मान करके संसार–स्वरूपी न बन जाओ। कहीं ये मान मत बैठो कि हम तो मनुष्य ही हैं, कौन भगवान् बन सकते हैं? जैसे अन्य सिद्धान्त वाले मानते हैं कि भगवान् तो भगवान् ही होते हैं, भक्त तो भक्त ही होते हैं। जैनदर्शन ऐसा नहीं है। वो भक्त को भी भगवान् बना देता है। नौकर कब तक बने रहोगे? स्वामी की सेवा की जाती है स्वामी बनने के लिये। इसलिये पंचपरमेष्ठी के चरणों में हम परमेष्ठी बनने के लिये आते हैं, परमेष्ठी की भक्ति करने मात्र के लिये नहीं आते हैं। यह कहने वाला मात्र जैनदर्शन है, अन्य कोई नहीं।

अन्य मानते हैं कि ईश्वर की सत्ता एक है, हम सभी उसीके अंश हैं, उसी की सेवा में लगे हुये हैं। परन्तु जैनदर्शन कहता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है, उसकी सत्ता स्वतंत्र है, सबका परिणमन स्वतंत्र है, अतः ईश्वर की सत्ता मेरी सत्ता नहीं है।

भो ज्ञानी! सत्सत्ता को वर्तमान में सत् रूप देखोगे तो शक्ति से भगवान् हो । ''सत् द्रव्यलक्ष्णम्।'' जब हम शक्ति को सत्ता की दृष्टि से देखते हैं, तो सत्ता भी हमारी भगवान् है। सिद्ध की सत्ता का ज्ञान आपको अरहन्त ने कराया। आप सिद्धपरमेष्ठी का ध्यान करोगे तो उससे शुभ–उपयोग बनेगा। वे सिद्धालय में हैं, पर तेरे उपयोग के निमित्त बने। उपयोग तेरा है, उपादान तेरे हैं, पर ''णमो सिद्धाणं'' कहोगे तो शुभोपयोग होगा, शुभास्रव होगा। सम्यग्दृष्टि जीव ने 'णमो सिद्धाणं' कहा, उसका इससे परम्परा से मोक्ष होता है। उस सिद्धरूपी शुद्ध द्रव्य का आस्रव पहले पराश्रयरूप लिया, ध्यान किया। सिद्धों का ध्यान करते–करते निज–सिद्धत्व का ज्ञान हुआ। हमारे अंदर की अपनी सिद्धत्व शक्ति का भान हुआ। यदि पूर्व में कोई सिद्ध न हुआ होता, तो 'सिद्ध' नाम की सत्ता का ज्ञान तुमको कैसे होता? और उनके माध्यम से आपने कर्मों की निर्जरा की। कर्मनिर्जरा के कारण तो तेरे परिणाम ही थे। उन परिणामों के शुभ परिणमन में हेतु सिद्ध बने। इस अपेक्षा से कारण में कार्य का उपचार करके जिनागम में लिखा कि सिद्धभगवान् भी मोक्ष देते हैं। पर मोक्ष दिलानेवाला कोई नहीं है, मेरी निज–सत्ता ही है और जो सिद्ध हो चुके हैं, उन्होंने भी पहले ऐसा ही आलम्बन लिया था और निरालम्ब भी ऐसे ही हुये थे। अंत में तो स्वयं की सत्ता में ही परिणमन हुआ है।

भो ज्ञानी! अब बताओ कि पहला जीव कौन–सा? उसका नाम तो बताओ। पहले भगवान् कौन–से थे? पूर्व में कोई सिद्ध नहीं हुआ होगा तो उसका उद्भव कैसे होगा? इसलिये ''अनादि सिद्धे'' सिद्धत्व अनादि से है। नहीं तो अव्यवस्था फिर से शुरू हो जायेगी। यदि आपने सिद्ध को साधु बना डाला, तो संसार भी साधु हो जायेगा। जब भी जीव मोक्ष की बात करेगा, उस जीव को कर्मातीत आत्मा का ध्यान तो निश्चित आयेगा। मुझे दिखता नहीं है आँखों से, पर मेरी दृष्टि में सिद्ध हैं। ध्यान से सुनना, यदि दृष्टि में सिद्ध नहीं बनाओगे, तो सिद्ध की कल्पना तुम्हारी समाप्त हो जायेगी। ईंट, रेत, सीमेन्ट सड़क पर पड़े हैं, आपको कितना सुन्दर भवन दिख रहा है। यदि आपको ये विश्वास न हो, तो भवन का आकार आ ही नहीं सकता है। ऐसे ही इसमें सिद्ध आकार भी है। सिद्ध–आकार को कैसे प्रकट करेंगे आप? आपके पास अरिहन्त, आचार्य, उपाध्याय,

साधु ये व्यवस्थायें हैं। इन व्यवस्थाओं का आश्रय क्रम से लेंगे। उन सिद्धों का आश्रय लेकर जो सिद्धालय में विराजे हैं, स्वयं सिद्धों के आश्रय में चले जाओगे, पर सिद्ध का आश्रय समाप्त हो जायेगा। 'तत्त्वसार' की भाषा में परगततत्त्व समाप्त हो गया। स्वतत्त्व का प्रारंभ हो गया। अच्छा, आप ये बताओ, बालक का जन्म आज हुआ, एक दिन का हो चुका, जन्म की खुशियाँ तो मना रहे हो, उसके विनाश का दुःख भी तो मनाओ। उसे तुम भूल जाते हो, जबकि हो रहा है। इसका नाम जिनसिद्धान्त में आवीचि– मरण है। प्रतिक्षण ही हो रहा है। आपने जन्म तो मना लिया, पर मरण के आँसू नहीं टपकाये। लेकिन जो ज्ञानी होता है, वह जन्म के समय ही मरण के आँसू देख लेता है और वैरागी हो जाता है। जो जन्म के समय मरण नहीं देख पाता है, वो रागी बनके राख हो जाता है। जिसको जीवन में मरण नहीं दिख रहा है, वो तो आराम से जी रहा है, पर आराम से मर नहीं पा रहा है। जिनवाणी आराम के मरण को समाधिमरण कहती है।

भो ज्ञानी! एक त्यागी आये, बोले–महाराज! आप नंगे हो, इसलिये आप द्रव्यलिंगी हैं और हमारे मुनि के भाव हैं, इसलिये हम भावलिंगी हैं। भैया! जैन–दर्शन में भाव की विशेष पूजा होती है तो पहले तुम्हारी पूजा होनी चाहिये? लेकिन ऐसा नहीं है। द्रव्यमोक्ष, भावमोक्ष। अरहन्त–अवस्था में भावमोक्ष होता है, सिद्ध–अवस्था में द्रव्यमोक्ष होता है। वह द्रव्यमोक्ष ही निश्चय–मोक्ष है, क्योंकि यहाँ सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो चुके हैं।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : ब्रह्मचर्य व्रत एवं अपरिग्रह व्रत का कथन।

उत्थानिका : आचार्य के स्वरूप का कथन।

पंचाचारसमग्गा, पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा।
धीरागुणगंभीरा, आयरिया एरिसा होंति।।73।।

संस्कृतछाया : पञ्चाचारसमग्राः पञ्चेन्द्रियदंतिदर्प्पनिर्दलनाः।
धीरा गुणगंभीरा आचार्य्या ईदृशा भवन्ति।।73।।

अन्वयार्थ : (पञ्चाचार समग्राः) पंचाचारों से परिपूर्ण (पञ्चेन्द्रियदंतिदर्पनिर्दलनाः) पाँच इंद्रियरूपी हाथी के मद को दलन करने वाले (धीराः) धीर (गुणगंभीराः) और गुणों से गंभीर (ईदृशाः) ऐसे (आचार्य्याः) आचार्यपरमेष्ठी (भवंति) होते हैं।

भो ज्ञानी! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी तृतीय परमेष्ठी (आचार्यपरमेष्ठी) के स्वरूप का कथन कर रहे हैं। आचार्य पंचाचार से समग्र है अर्थात् जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन पाँच आचारों से परिपूर्ण हैं। आचार्य नेमीचंद्र स्वामी ने आचार्यपरमेष्ठी का बहुत सुन्दर कथन किया है।

दंसणणाणपहाणे, वीरियचारित्तवरतवायारे।
अप्पं परं चं जुंजइ, सो आयरिओ मुणी झेओ।।वृ.द्र.सं. 52।।

जो स्वयं को जोड़े हुये हैं और दूसरों को जोड़े हुये हैं। जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन पंचाचारों से स्वयं युक्त हैं और अन्य साधकों को लीन किये हैं, वे आचार्य–परमेष्ठी हैं। जो पंचेन्द्रिय रूपी हाथी के दर्प को दलन करने में कुशल हैं, जो धीर हैं। ये ध्यान रखना कि धीरता के बिना लक्ष्मी, शूरवीरता के बिना जय, ज्ञान के बिना मोक्ष, दान के बिना यश नहीं मिलता है। जब संसार की लक्ष्मी धीरता के अभाव में प्राप्त नहीं होती है, तो मुक्तिलक्ष्मी बिना धीरता के कैसे प्राप्त हो सकती है? तुझे आत्मज्ञान है नहीं, भेदविज्ञान है नहीं, तो मोक्ष कैसे मिल सकता है? मनीषियो! आपने दान की घोषणा कर दी, तो सबकी आँखें आप पर लग गईं, क्योंकि यश की प्राप्ति दान से होती है।

भो ज्ञानी! आचार्य के विशेष आठ–गुणों में एक उत्पीड़क नाम का गुण होता है। इतना पीड़ित कर दिया शिष्य को कि वो रोने लगा। अंतरंग में जितनी तुम्हारे अंदर आलोचना रखी थी, इसप्रकार घुमा–फिराकर चर्चा की कि आपने पूरी आलोचना उगल दी, वमन करा दिया। उद्देश्य क्या था? वमन नहीं होगा तो अस्वथ हो जाओगे। समाधिस्थ क्षपक है और जो मल शरीर में जमा हुआ है, तो विरेचन की आवश्यकता है। विरेचन यदि नहीं होगा तो पीड़ा होगी। मल के शुष्क होने पर असहनीय पीड़ा होती है। जब पुद्गल मल के रहने पर इतनी पीड़ा होती है, तो कषाय और वासनाओं का मल तेरे अन्दर रहेगा तो संसार में कितनी पीड़ा होगी? आचार्य करुणावत्सल होते हैं, क्योंकि ऐन–केन–प्रकारेण उसकी पूरी गल्तियाँ बाहर निकलवा लेते हैं आलोचना के द्वारा।

भो ज्ञानी! ध्यान रखना, वर्षों की साधना आलोचना के अभाव में समाधि को भंग करा देती है। एक सौ वर्ष के दीक्षित मुनि का यदि आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान नहीं चल रहा है, तो उनकी साधना को जिनवाणी साधना स्वीकार नहीं करती। जब परस्पर में मुनिराज मिलते हैं, तो समाचारी–विधि में जाति, कुल नहीं पूछा जाता। समाचारी–विधि कहती है कि तुम्हारे प्रतिक्रमण छूटे हैं तो हम नमोस्तु नहीं करेगे। तुम्हारे प्रतिक्रमण पूरे हुये कि नहीं? कितने केशलुंचन हो चुके हैं? ऐसा नहीं कि अस्वथ हो गये और केशलुंचन नहीं किया तो भो ज्ञानी! मुनि के मूलगुण समाप्त हो गये। तो तुमने कितने प्रतिक्रमण किये? प्रायश्चित तो पूरे लिये अपने गुरु से? इन सब बातों को पूछते हैं। कितने चातुर्मास हो चुके हैं, ये भी पूछते हैं। यद्यपि मालूम है, फिर भी पूछते हैं कि आपके गुरु का नाम क्या है? किन–किन ग्रन्थों का स्वाध्याय चल रहा है? इन सब बातों से पता चल जाता है कि जीव अपने में स्थिर है। कोई प्रतिक्रमण नहीं छूटा, कोई केशलुंचन नहीं छूटे, यानि पूरी आलोचना किये हैं बालकवत्। क्योंकि एक सच्चा साधु बनने के लिये सच्चे गुरु के प्रति आस्था होना अनिवार्य है, अन्यथा तुम सच्चे साधु बनकर नहीं रह पाओगे, ये ध्यान रखना।

भो ज्ञानी! संघ के बाहर रहने की अपेक्षा जो आचार्यसंघ के साथ रहते हैं, उनको विशेष लाभ होता है। बाहर रहने वाले से कोई दोष हो जाये तो लिखकर भेजना पड़ता है, तब प्रायश्चित आयेगा। इसी बीच यदि समाधि हो जायेगी, तो एक दोष रह जायेगा। जो गुरुचरणों में रह रहे हैं, कोई दोष हुआ, तो तुरन्त पहुँच गये। इसीलिये जो आचार्यपद है, बहुत गारिमामयी पद है। प्रधान आचार्य अपनी सल्लेखना के पूर्व चतुर्विध–संघ की गोष्ठी

करके योग्य–शिष्य को देखकर आचार्यपद देते हैं, योग्यता देखी जाती है, उम्र नहीं देखी जाती है। अयोग्य व्यक्ति को आचार्यपद मिल जाने पर उससे धर्म की बहुत अवहेलना होती है। इसलिये वे धीर आचार्यपरमेष्ठी योग्य शिष्य को योग्य मुहूर्त में अपने पद का विसर्जन कर आचार्यपद पर प्रतिष्ठित करते हैं संघ की व्यवस्था के लिये। यदि आपको लगे कि आपके अन्दर योग्यता नहीं है, तो अपन को स्वीकार नहीं करना चाहिये। क्योंकि आचार्यपद तृतीय परमेष्ठी का है। इस पंचमकाल में जिनषासन की बागडोर इनके हाथ में है और स्वयं का हित भी इनके हाथ में है।

भो ज्ञानी! धीर शब्द कह रहा है कि छोटी–छोटी बातों पर अधीर न हो जायें। सुनाने की अपेक्षा जिसमें सुनने की सामर्थ्य होती है, वह महान होता है। दुनियाँ सुना जाये, सुनते जाओ। सुनने के लिये स्वतंत्र हो। पर निर्णय देने के लिये स्वतंत्र नहीं हो। प्रश्नकर्ता स्वतंत्र होता है, लेकिन उत्तरकर्ता कभी स्वतंत्र नहीं होता। उसको आगम के आधार पर उत्तर देना पड़ेगा। इसलिये आगम में अनुवीचि–भाषण कहा है। यानि वही बोलना, जो आगमसम्मत हो, हित–मित–प्रिय हो। ध्यान रखना, आपको कहीं बहुत दुःख हो तो अकेले कमरे में बन्द होकर रो लेना अच्छी तरह से, पर बाहर बच्चों के सामने आँसू मत टपकाना। यदि आप रोने लगे उनके सामने, तो उनके ऊपर भी दुःख आयेगा। फिर समझाने कौन जायेगा? धीर शब्द कह रहा है कि कहीं दुःख होता है तो कमरे में अकेले रो लेना। लेकिन आप अधीर हो गये, तो जिनशासन को नहीं संभाल पाओगे। ये विश्वास का पद है। राजा महाराजा के चुनाव का पद नहीं है, ये संयम का पद है। इसलिये 'धीरगुणगंभीरा' धीर–गुणों से भरे हुये हैं और गंभीर हैं, वे आचार्य–परमेष्ठी हैं।

भो ज्ञानी! जैनदर्शन कहता है–हे मुनिराज! आप आशीष तो देते जाओ, परन्तु किसी काम के निर्देशक मत बन जाना। निर्देशक बन जाओगे, तो निर्देशकों का लोगों के साथ जो राग–द्वेष हो जाता है, वो तुम्हारे सिर पर भी आयेगा। तुम्हारे प्रति श्रद्धा टूटेगी और ये निर्ग्रन्थ–वेश के प्रति अश्रद्धान हुआ आपके माध्यम से। इसीलिये ऐसा काम करो जिससे किसी भी प्रकार के जीव का अश्रद्धान न हो। आचार्य का निर्देशन ये होना चाहिये कि हे मुनिराज! ऐसे सामायिक करो, प्रतिक्रमण करो। ऐसा नहीं कि ऐसा गड्ढा खोदो, ऐसे नींव भरो। ऐसा निर्देशन दिगम्बर साधु नहीं करेगा जिसमें षट्काय–जीव की लेशमात्र भी हिंसा हो। वहाँ दिगम्बर–मुनि का मौन होगा। वे आपको भक्ति का उपदेश दे सकते हैं, आराधना का उपदेश दे सकते हैं, पर आपको आदेश नहीं करेंगे। व्याकरण के अनुसार आदेश शत्रुवत् और उपदेश मित्रवत् होता है।

भो ज्ञानी! आचार्य–पद के त्याग के विषय में लिखा है कि यदि नहीं संभलता है, तो छोड़ दो। ये मत सोचना कि जब हम बूढ़े हो जायेंगे, समाधि लेंगे, तब छोड़ेंगे। उसके पहले ही छोड़ दो। आचार्य उत्तम–स्वरूप के धारक होते हैं, क्योंकि परमपूज्य के चरणों में ही हमारा सिर झुकता है। आचार्य अत्यन्त पूज्य पद है। मोक्षमार्ग पर लगानेवाले साक्षात् आचार्य–परमेष्ठी हैं। जैनागम में एक शासन तीर्थंकर–शासन होता है, दूसरा आचार्य–शासन होता है। तीर्थंकर–शासन के बाद गणधर–शासन। गणधर–परमेष्ठी ही आचार्य–परमेष्ठी हैं। गणधर–परमेष्ठी के बाद आचार्य–परमेष्ठी का नाम आता है, क्योंकि आचार्य–परमेष्ठी के अभाव में नमोऽस्तु–शासन नहीं चल सकता है। कुन्दकुन्द स्वामी ऐसे आचार्य हुये हैं जिन्होंने जिनशासन को नमोऽस्तु–शासन कहा है। विश्व में कहीं दण्डवत, कहीं प्रणाम, कहीं नमस्ते कहा जाता है। परन्तु नमोऽस्तु कह करके नमस्कार की परम्परा मात्र जिनशासन में ही है। इस शासन की उज्जवलता वे ही करा सकते हैं जिनको हम नमोऽस्तु कर रहे हैं। जिनमें गुण नहीं होते हैं, तो आपकी दृष्टि गिर जाती है।

भो मनीषियो! जिनमें आचरण प्रधान है, वे ही आचार्यपरमेष्ठी हैं। जिस दिन आपके अन्दर सहजता आ जाये, समझ लेना कि मैं आचार्य बनने लायक हो गया हूँ। भो ज्ञानी! आठ स्पर्श में से किसी भी स्पर्श में तुम्हारी दृष्टि तीव्र जा रही है, तो समझ लो कि एक इंद्रिय का विषय बन रहा है। जैनसिद्धान्त में सात गारव या रस–गारव, ऋद्धि–गारव, शब्द–गारव इन तीन–गारव की चर्चा है। इन गारव का यतियों के लिये निषेध है। भो ज्ञानी! मदारी, जादूगर, नाटककार भी भीड़ इकट्ठी कर लेता है, लेकिन संयम भीड़ का स्थान नहीं है। संयम के स्वाद के कारण भीड़ आ रही है, तो उनकी भक्ति है। लेकिन तुम ये मत सोचना कि ये ऋद्धि गारव है। मेरा नाम ही नाम है, बड़ा आनंद है। यह सात गारव हैं। भो ज्ञानी! पूर्व का पुण्ययोग था, सो है, लेकिन अभिमान के लिये नहीं है। अरे! हम तो जिस गाँव में जात, एकाध चेला–चेली तो मिल जात, वे रस आदि की अच्छे से व्यवस्था कर देत और अच्छी मिठाई, लड्डू खिलात हैं। अपनी सब व्यवस्था टंच रहती है। भो ज्ञानी! तूने अरिहन्त के वेश को इस रसना–इंद्रिय के पीछे और जड़–भोग के पीछे न्योछावर कर दिया। ठीक है, तुम पीलो–खालो, पर इनमें फँस मत जाना, गृद्धता में मत जीयो। ये आपका रस–गारव है। योगी सोचता है–भगवन्! क्षुधावेदनीय भी समाप्त हो जाये, तो एक घंटा बचे। आत्मसाधना के लिये एक घण्टा और मिलता। तभी तो बीच–बीच में उपवास कर लेते हैं, लगता है कि वैराग्य–दृष्टि है।

भो ज्ञानी! रसना को जीतना सरल है, स्पर्शन को जीतना सरल है। घ्राण–इंद्रिय की अपेक्षा से कह रहे हैं कि जब बगीचे से निकल रहे थे, पुष्पों की महक दौड़ रही थी। सब साथ में चल जा रहे थे। आपने लम्बी श्वास ली, लम्बी ठंडी श्वास में आनंद था। किसी को पता नहीं कि आपने क्या कर लिया? एक–इंद्रिय का विषय होगा कि नहीं? भो ज्ञानी! बिना भोगे चक्षु–इंद्रिय सबकुछ भोगा देती है और अंदर की बात आँखें बता देती है। पशु भी तुम्हारी आँखों को जानता है। यदि तुमने आँखों से किसी को भयभीत भी किया और उसके परिणाम कलुषित हुये, तो आप हिंसा के भागीदार हो जाओगे। भो ज्ञानी! बाहर संगीत बज रहा था, तन था मंदिर में और कान चले गये संगीत में और कहीं आयु–बन्ध आ गया, तो ध्यान रखना, साँप या हिरण बनना पड़ सकता है, क्योंकि दोनों को संगीत प्रिय है। इसलिये माँ जिनवाणी कह रही है कि ये पांच–इंद्रिय के विषय मदांध हाथी के समान हैं, जो कुछ नहीं देखता है, हेय–उपादेय को भूल जाता है।

भो ज्ञानी! आचार्यपरमेष्ठी पंचेंद्रिय–रूपी जो मदांध हस्ती है, उसको वश करने में कुशल होते हैं ज्ञान–अंकुश के द्वारा। यदि आर्किस्ट्रा सुनने में आनंद आ रहा है, तो अशुभ उपयोग और यदि भगवान् की भक्ति लोग अच्छी तरह कर रहे हैं तो शुभ उपयोग। जो भजन फिल्मी–लय में बनाये जाते हैं, व्यक्ति का मन वही फिल्म में चला जाता है। इसलिये पुराने भजनों का, छंदों का उपयोग करना चाहिये। भो ज्ञानी! दुनियाँ से अपरिचित रहोगे, तो स्वयं से परिचित हो पाओगे। सारी दुनियाँ से परिचय बढ़ाओगे तो अपना परिचय कभी नहीं कर पाओगे। दुनियाँ की ओर से अज्ञानी हो जाओ और जिनवाणी का मार्ग पकड़ो।

आप लोग ज्ञानी हो और आत्मतत्त्व के प्रति अज्ञानी हो। संसार के प्रति आप लोग डिग्रियाँ प्राप्त कर चुके हो। अध्यात्म–योग तो आत्मरंजन का योग है, मनोरंजन के लिये कोई स्थान नहीं है। जहाँ मनोरंजन है, वहाँ आत्मरंजन कहाँ है? जिसने आत्मा का आनंद ले लिया, उसके लिये काहे का मनोरंजन?

भो ज्ञानी! 'धीर' शब्द का उपयोग सब जगह लगाना। आचार्यपरमेष्ठी धीर गुणों में गंभीर होते हैं। कितने ही उपसर्ग आयें, यह नहीं कहते कि इसने ऐसा क्यों किया? आप लोगों ने कुछ क्यों नहीं किया? ये तो पूर्व–कर्मकृत है, परन्तु जिसकी दृष्टि मात्र वर्तमान की पर्याय पर जा रही है, उसको मित्र भी दिखते हैं, शत्रु भी दिखते हैं। माँ जिनवाणी कहती है कि तू वर्तमान की पर्याय को देखेगा तो उनको शत्रु कहेगा। ये

क्यों नहीं देखता कि भूत में मैंने इनके साथ क्या किया? तो मालूम चल जायेगा कि शत्रु ये है मेरा, कि मैं हूँ इसका। इसलिये साधक को प्रतिपल वर्तमान की पर्याय को देखने की अपेक्षा भूत व भविष्य पर भी दृष्टि रखना चाहिये। ठीक है, आज किसी ने तुम्हारे ऊपर उपसर्ग कर दिया, सो आप शत्रुता लेकर बैठ गये। करोगे क्या? भविष्य का और विनाश कर लोगे। जिस साधना से मोक्ष की सिद्धि होने वाली थी, जहाँ तुझे समयसार और जिनवाणी का चिन्तवन करना चाहिये था, वहाँ तू उपसर्ग करने वाले का चिन्तन कर रहा है। तेरे परिणाम धर्म्यध्यान में हैं कि रौद्रध्यान में हैं? वर्तमान में तेरा रौद्रध्यान चल रहा है, तो भविष्य भी गया, भूत तुम्हारा क्या था सो पता चल गया।

भो ज्ञानी! 'उपसर्गजय' का तात्पर्य ये नहीं है कि जिसने तेरे ऊपर उपसर्ग किया, तू उसके ऊपर उपसर्ग करने लग जाये और अपने–आपको कहेंगे उपसर्गजयी। उपसर्गजयी का तात्पर्य ये है कि जिसने तेरे ऊपर उपसर्ग किया है, उसके प्रति जरा भी कलुषित–भाव नहीं लाना उपसर्गजय है। उपसर्गजयी धीर, गंभीर आदि लक्षणों से जो लक्षित है, जो पंचाचार में लवलीन होते हैं, वे ही आचार्यपरमेष्ठी हैं। जो भेदाभेद अर्थात् व्यवहार और निश्चय पंचाचार से युक्त हैं, ऐसे आचार्यपरमेष्ठी को मेरा नमस्कार है। जो मात्र व्यवहार में ही लीन है, निश्चय की ओर दृष्टि नहीं है, तो जिनवाणी आपको आचार्य नहीं मानेगी। तेरा मात्र शिष्यों को संभालना ही कर्तव्य है, कि आत्मा को संभालना भी कर्तव्य है? ये चेला–चेली कोई मोक्षमार्ग नहीं है। इन पर करुणा करके आपने इनको दीक्षा दी, परन्तु आपने दीक्षा क्यों ली, इसपर भी दृष्टि होना चाहिये। इसलिये जब किसी पद पर आसीन हों, तो उसका अच्छे से ज्ञान करना चाहिये। पंचाचार स्वयं पालन करना चाहिये एवं शिष्यों से करवाना चाहिये।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **उपाध्याय के स्वरूप का कथन।**

रयणत्तयसंजुत्ता, जिणकहियपयत्थदेसया सूरा।
णिक्कंखभावसहिया, उवज्झाया एरिसा होंति।।74।।

संस्कृतछाया : **रत्नत्रयसंयुक्ताः जिनकथितपदार्थदेशकाः शूराः।**
निःकांक्षभावसहिताः उपाध्याय ईदृशा भवन्ति।।74।।

अन्वयार्थ : (रत्नत्रयसंयुक्ताः) रत्नत्रय से संयुक्त (जिनकथितपदार्थदेशकाः) जिनेन्द्रभगवान् के द्वारा कहे गये पदार्थों के उपदेश करने वाले (शूराः) शूर, (निःकांक्षभावसहिताः) निःकांक्षितभाव से सहित (ईदृशा उपाध्याया भवंति) ऐसे उपाध्याय होते हैं।

भो ज्ञानी! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने आचार्यपरमेष्ठी के स्वरूप का कथन करते हुये बताया था कि जो पंचाचार में लीन हैं और जिन्होंने आकिंचन स्वभाव को प्राप्त किया है, सम्पूर्ण परिग्रह की सेना से परे हैं, ऐसे वे आचार्य परिमेष्ठी स्वयं भवातीत पुरुषार्थ में लवलीन हैं। उन आचार्यपरमेष्ठी को हम सभी नमस्कार करते हैं। टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव अपने गुरु चंद्रकीर्ति महाराज का स्तवन करते हुये कह रहे हैं–

सकलकरणग्रामालंबाद्विमुक्तमनाकुलं, स्वहितनिरतं शुद्धं निर्वाणकारणकारणम्।
शमदमयमवासं मैत्रीदयादममंदिरं, निरुपममिदं वंद्यं श्री चन्द्रकीर्तिमुनेर्मनः।। कलश 104।।

जो सम्पूर्ण इंद्रियों के व्यापार से विमुक्त तथा उसके आलम्बन से रहित हैं, आकुलता से रहित हैं, हमेशा अपने हित में लवलीन रहते हैं, जो निर्वाण का कारण रत्नत्रय–धर्म है उसमें लवलीन हैं, जिन्होंने कषायों का शमन किया है, इंद्रियों का दमन किया है, मैत्री और दया के जो मंदिर हैं, उनके निर्मल–मन की मैं वंदना करता हूँ। अहो! यहाँ मुनिराज की वंदना नहीं कर रहे हैं। ऐसे निर्मल गुणों से युक्त जिनका मन है, ऐसे निर्मल–मन वाले मुनि को मेरा नमस्कार है। इसलिये कोई निर्मल वस्तु है, तो मुनि का मन है। कहा भी है **''मुनि मन सम उज्जवल नीर''।** किसी जल में जंतु, कीचड़ आदि हो सकते हैं, परन्तु हे योगी! आपके मन में किसीप्रकार का रागात्मक, द्वेषात्मक दोष लेशमात्र भी नहीं है।

भो ज्ञानी! जैनदर्शन में जिनको **'पाठक'** कहा जाता है, **'अध्यापक'** कहा जाता है, वे उपाध्यायपरमेष्ठी होते हैं। आगम में उपाध्यायपरमेष्ठी को पाठकाचार्य भी कहा जाता है।

प्रत्येक यतिसंघ में पाँच प्रकार के मुनिपदों की व्यवस्था होती है। उन्हीं पदों में एक पद है उपाध्यायपरमेष्ठी का। आचार्य, उपाध्याय, गणधर, प्रवर्तक, स्थविर ये सब पद जिस संघ में हैं, उस संघ में यदि कोई जीव मोक्षमार्ग पर बढ़ता है, तो आगम कहता है कि यही सबसे प्रशस्त संघ है। गण, गच्छ की दृष्टि से जहाँ सामान्यरूप से दो साधक हों, तीन हों, ठीक हैं। पाँच का जो समूह है, उसे उत्कृष्ट संघ कहा है 'मूलाचार' में। आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, गणधर आदि ये पद की व्यवस्था है, क्योंकि आचार्यपरमेष्ठी ने दीक्षा तो दी है, परन्तु उनके पास अनेक काम हैं। स्वतंत्र अध्यापक नहीं होगा तो उतना अच्छा अध्ययन नहीं हो सकता। इसलिये आगम में ये व्यवस्था है कि आचार्यसंघ में उपाध्यायपरमेष्ठी हों। ऐलाचार्य भिन्न पद है, जो आचार्य से छोटे होते हैं परन्तु आचार्य हैं।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 74 में उपाध्यायपरमेष्ठी का स्वरूप बता रहे हैं। परन्तु ध्यान रखना कि आचार्य, उपाध्याय दोनों ऐसे पद हैं जहाँ यतिसमूह है, यतिसंघ है, तो आचार्य है और यदि यतिसंघ नहीं है, तो किसके आचार्य? ये कोई ऐसा पद नहीं है जो सम्मान का पद हो। ये व्यवस्था का पद है। अकेले एक उपाध्याय घूम रहे हों तो उसे आगम उपाध्याय नहीं कहेगा। आचार्य के संघ में जो साधुओं को अध्यापन कार्य करा रहे हैं, वे उपाध्याय हैं। उपाध्याय परमेष्ठी के 25 मूलगुण होते हैं। जो मुनियों के 28 मूलगुण हैं वे आचार्य, उपाध्याय के तो रहेंगे ही। 11 अंग 14 पूर्व का ज्ञान जिनको हो, वो उपाध्यायपरमेष्ठी आगमानुसार कहे जाते हैं। इस दृष्टि से वर्तमान में उपाध्याय नहीं हैं। पर दूसरी दृष्टि से उपाध्यायपरमेष्ठी के लिये आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव ने लिखा है–

जो रयणत्तयजुत्तो, णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो।
सो उवज्झाओ अप्पा, जदिवरवसहो णमो तस्स।।वृ..द्र.सं. 53।।

जो रत्नत्रय से युक्त हैं, नित्य ही धर्म का उपदेश देने में निरत हैं और यतियों में श्रेष्ठ हैं, ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठी को मेरा नमस्कार हो। सामान्य यतियों की अपेक्षा विशेष ज्ञान हो। यदि विशेष ज्ञान नहीं होगा, तो फिर अध्यापन क्या करायेंगे? धर्म का उपदेश देने का अधिकार, शास्त्रार्थ करने का अधिकार उपाध्यायपरमेष्ठी को है, क्योंकि वे चारों अनुयोगों के ज्ञाता होते हैं। संघ में व्यवस्था होती है, आचार्य जिसको निर्देशित करते हैं वही उस कार्य को करता है। जब तीर्थंकर की देशना नहीं खिरती है, उस समय कोई शास्त्रार्थ करने आता है तो वादी–प्रतिवादी मुनिराज चर्चा करते हैं, परन्तु सभी मुनि नहीं करेंगे। 'पद्मपुराण' में श्रुतसागर मुनिराज का कथन आता है, उनसे श्रावक ने प्रश्न किया। तत्त्वज्ञाता होने पर भी उन्होंने

कहा–नहीं, यहाँ पर हमारे गुरु–महाराज विराजे हैं, चलो, हम आपको उनके पास ले चलते हैं। हम भी समझेंगे और आप भी समझना। यह गुरुभक्ति का परिचायक है।

भो ज्ञानी! समवसरण में तीर्थंकर की देशना तो चार ही समय खिरती है। शेषकाल में भी तत्त्वचर्चा होती है। गणधरपरमेष्ठी समाधान भी करते हैं। वादी– प्रतिवादी मुनिराज शास्त्रार्थ भी करते हैं। दस विशेष वादी–प्रतिवादी होते हैं, जो विशेष ऋद्धिधारी होते हैं, विशेष ज्ञानी होते हैं। कोई श्रावक पढ़ाने लगा, कोई विद्वान् पढ़ाने लगा, तो उपाध्याय हो गया क्या? नहीं। जो उपाध्याय होते हैं, वे रत्नत्रय से युक्त होते हैं। कोई स्वतंत्र देशना नहीं देगे, स्वतंत्र चिन्तवन नहीं देंगे। जैसा जिनदेव ने कहा है–ऐसे पदार्थों की देशना करते हैं। श्रोताओं में उद्वेलितपना भी न आये, आक्रोश भी न बढे, सिद्धान्त भी न टूटे और क्षोभ भी न हो। बहुत सारी बातों का ध्यान वक्ता रखें, ठीक से संभालें।

भो ज्ञानी! जिस समय एक यति की समाधि होती है उस समय चार मुनिराजों को प्रवचन के लिये नियुक्त किया जाता है। वे सामाजिक दृष्टि, राजनैतिकदृष्टि सब पर दृष्टि रखेंगे, पर प्रवचन राजनीति के नहीं करेंगे। दृष्टि ये रखेंगे कि समाधि चल रही है, राजा की क्या दृष्टि है उसके ऊपर? कहीं किसी ने भड़का दिया, बोले–जैनसाधु व्यर्थ में प्राण छोड़ रहे हैं, आत्महत्या कर रहे हैं। ऐसे समय में कैसे संभालोगे उनको और फिर उस प्रवचनसभा में प्रवचन क्यों? अलग से सभा रखी गई है। इसलिये कि क्षपक की वंदना के लिये बहुत सारे लोग आते हैं और भीड़ रहती है, कहीं क्षपक की दृष्टि भीड़ में चली गई तो, भो ज्ञानी! समाधि भंग हो जायेगी। आने वालों को दर्शन से प्रयोजन है, उन्हें किसी के परिणामों से प्रयोजन नहीं है। आपने इतनी भीड़ लगा ली, कमरा था गर्म और गर्मी बढ़ने से उनकी बैचेनी बढ़ने लगी। वहाँ जो प्रवचन होंगे, वो चार मुनिराज देशना करेंगे। वे संवेग–निर्वेग भावना मात्र के प्रवचन करेंगे। ज्ञान–वैराग्य के होंगे, समाधि विषयक होंगे। समाधान करने के लिये चार मुनिराज अलग से बैठाये जायेंगे।

भो ज्ञानी! सल्लेखना के लिये आपको निर्यापकाचार्य की परम आवश्यकता है। एक सामान्य गृहस्थ भी अंतिम समय में मुनिसंघ का आश्रय लेता है। योगी को तो अपने–आपमें सबसे पहले आश्रय ले लेना चाहिये। श्रावक के जब समाधि के भाव होते हैं, तो गृह का त्याग करके चतुर्विध–संघ के सान्निध्य में अपने निर्मल परिणामों से समाधि की साधना करता है। आगम में मृगचारी, पार्श्वस्थ आदि साधुओं की चर्चा है। मृग स्वतंत्र होकर चलता है, स्वछंद होकर दौड़ता है, इसीप्रकार से यति यदि संघ को छोड़कर

स्वछंद विचरण कर रहा है, तो उसे मृगचारी कहा गया है। पार्श्वस्थ उसे कहा है, जो मूल–आचरण का ही विरोध कर बैठे, एषणा आदि समितियों का निर्मल पालन न कर रहा हो। ऐसे साधक के लिये कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि उनके पास मत बैठना। आपके समान गुणवाला हो, उसके साथ रहें अथवा जो आपसे अधिक–गुणवाले हों, तो आप ऐसी संगति करें। हीन–गुणवालों की संगति न करें, क्योंकि संयम में शिथिलाचार बढ़ेगा और नियम से परिणामों में अशुद्धि होगी तो अशुभ आस्रव होगा।

भो ज्ञानी! ये ध्यान रखना जीवन में कि ज्ञानियों के पास बैठने से ज्ञान तो बढ़ेगा, लेकिन संयम नहीं बढ़ता। आप अनुभव करना कि संयमियों के पास बैठोगे तो ज्ञान तो बढ़ता ही है, संयम के प्रति बढ़ने के भाव बनते हैं। अतः संयम और चारित्र के प्रति जागृति के भाव लाना है तो साधकों के पास पहुँचना पड़ेगा, अन्यथा ज्ञान तो बढ़ता जायेगा, पर संयम से खोखला होता जायेगा। प्राचीनकाल में अध्ययन के लिये गुरुकुल की व्यवस्था थी। उसमें ज्ञान पहले नहीं दिया जाता था, पहले दीक्षा दी जाती थी। जब बालक आठ वर्ष का हो जाता था, उसका दीक्षा–संस्कार होता था। **'ओम नमः सिद्धेभ्यः'** पाठ पढ़ा करके सिद्धों का पूजन कराया जाता था, यज्ञोपवीत संस्कार करवाकर अध्यापक अध्ययन कराता था। अब वो 25 वर्ष तक ब्रह्मचारी–दीक्षा चलेगी। इसके बाद वह गृहस्थ–आश्रम में आना चाहे तो आ सकता है या आगे मोक्ष में जाना चाहे तो जा सकता है। लेकिन 25 वर्ष तक वो विद्यार्थी ब्रह्मचारी आश्रम में रहेगा तो ज्ञान और विद्या दोनों बढ़ेगी।

भो ज्ञानी! आचार्य जिनसेन स्वामी ने अपने बारे में लिखा है कि शरीर से सुन्दर नहीं थे, परन्तु सरस्वती शरीर को नहीं देखती। उन्होंने स्वयं लिखा कि मैं इतना सुन्दर नहीं हूँ। लेकिन सरस्वती महा सिद्ध थी उनको। उनका **'महापुराण'** के समान चौबीस पुराण लिखने का विचार था, लेकिन क्या कर सकते थे? कोई काल को टाल नहीं सकता है। उन्होंने आचार्य वीरसेन स्वामी के अधूरे ग्रन्थ को पूरा किया था, इतने महान ज्ञाता थे। आचार्य वीरसेन स्वामी की धवला–टीका को पूर्ण किया था आचार्य जिनसेन स्वामी ने । परन्तु जिनसेन स्वामी का जो उद्देश्य चौबीस पुराण लिखने का था, वो पूरा नहीं हो सका। मात्र प्रथम तीर्थंकर का 'आदि–पुराण' लिख पाये। द्वितीय तीर्थंकर से अंतिम तीर्थंकर तक उनके शिष्य गुणभद्रस्वामी ने **'उत्तर–पुराण'** के रूप में लिखा। अहो! कुन्दकुन्द स्वामी का प्रबल पुण्य का योग था, ज्ञान विशेष, चारित्र विशेष और आयु विशेष थी। भगवान् महावीर स्वामी को मात्र 72 वर्ष की आयु मिली। कुन्दकुन्द स्वामी की आयु 91 वर्ष से कुछ माह कम थी।

भो ज्ञानियो! उपाध्यायपरमेष्ठी हितकारी उपदेश देने में शूर हैं, निकांक्षित–भाव से सहित होते हैं। ऐसा नहीं कि हम इन सबको अध्ययन करा रहे हैं तो इनसे मुझे कुछ प्राप्त होगा। उपाध्यायपरमेष्ठी को संघ में रहना होगा, ये व्यवस्था आगम की है, लोकव्यवस्था को मत देखना। भैया! हम–जैसे सामान्य के अध्यापक अलग होते हैं। 'उपाध्याय' मुनियों के अध्यापक होते हैं। उपाध्यायपरमेष्ठी को शिक्षकाचार्य भी कहते हैं। उपाध्यायपरमेष्ठी हमारे विद्यागुरु भी कहलाते हैं। आचार्य विमलसागर जी के संघ में भरतसागर जी उपाध्याय थे। वे सब साधुओं को पढ़ाते थे, सबसे प्रश्नोत्तर करते थे और आचार्य महाराज भी साथ बैठकर स्वाध्याय करते थे। पहले आचार्यश्री 2–3 पृष्ठ पढ़ते थे, सब सुनते थे, इसके पश्चात भरतसागर जी की क्लास चलती थी। उस क्लास में 70–80 साल के महाराज भी रहते थे। वे मुनिराज याद करके सुनाते थे। बड़ा आनंद आता था। उपाध्याय भरतसागर जी की क्लास में परमागम (भवन) से भी विद्वान् आते थे, विशेषरूप से जब सोनागिर में क्लास चलती थी। मैंने पहली बार 'नियमसार' उनसे सुना था।

भो ज्ञानी! आचार्यपरमेष्ठी ने आपको संयम दिया है, उपाध्यायपरमेष्ठी तुम्हें संयमित्त जीवन जीने की कला दे रहे हैं। पहले संघ में प्रवर्तक का पद होता था। वे ध्यान रखते थे कि कौन कहाँ बैठा है, क्या कर रहा है, कौन अस्वस्थ है, किसको औषधि दी जा रही है, किसकी अवस्था कैसी है। यदि ये वैयावृत्ति की भावना नहीं होगी, तो लोग संयम और संयमी के प्रति अश्रद्धावान् हो जायेंगे। भैया! स्वाध्याय गौण है, वैयावृत्ति प्रधान है। क्योंकि स्वाध्याय में तो तुम्हारी थ्योरी चल रही है और वैयावृत्ति में प्रेक्टीकल चल रहा है। इसलिये सोलहकारण–भावना में वैयावृत्ति–भावना है। वैयावृत्ति में नंदीश्वर नाम के मुनिराज प्रसिद्ध हुये हैं। एक देव ने उनकी परीक्षा करने के लिये रुग्ण मुनि का वेष बना लिया और घूमने लगे। नंदीश्वर मुनि महाराज ने कहा–महाराज! आपको क्या परेशानी है? मुझे पीड़ा हो रही है, कैसे ठीक हो सकती है? बोले–पंचालदेश की मूंग, कलिंगदेश के गेहूँ, कर्नाटक के चावल, ऐसे उन्होंने बहुत सारे देशों के नाम ले लिये। इतने देशों से धान्य लाकर उसकी औषधि बनेगी, तब मेरा रोग ठीक होगा। वे परीक्षा ले रहे थे, कि देखो कैसे मँगाते हैं, कैसे सेवा करते हैं। 'भगवती–आराधना' में लिखा है कि साधक योग्य–श्रावक के माध्यम से संयमी की सेवा कराते हैं। क्योंकि वे गेहूँ आदि खरीदने तो जायेंगे नहीं, सामग्री तो बनायेंगे नहीं, क्योंकि षट्काय के जीवों की हिंसा का त्याग है।

भो ज्ञानी! ये ध्यान रखना, वैयावृत्ति दो प्रकार की होती है–एक साबद्ध और दूसरी निर्बद्ध। जिसमें किसीप्रकार के जीव की हिंसा न हो, साधु स्वयं कर देंगे। मानो किसी को बहुत ठंड लग रही हो, गर्मतेल की आवश्यकता हो, तो साधु नहीं गर्म करेंगे, वो श्रावक ही करेगा। साबद्ध वैयावृत्ति मुनिराज नहीं करेंगे। वे मात्र निर्बद्ध–वैयावृत्ति ही करेंगे। वैयावृत्ति करने वाला श्रावक उपगूहन, वात्सल्य, स्थितिकरण और निर्विचिकित्सा इन चार अंगों से मंडित हो। उसे ही वैयावृत्ति में प्रवेश कराना। ये चार अंग जिसके पास नहीं हैं, उससे वैयावृत्ति मत कराना। मान लो वमन हो गया, दुर्गन्ध आ रही है, खिसक गये तुम, उधर वो गिर पड़े। अतः निर्विचिकित्सा परम–आवश्यक है। जिससमय आचार्य शांतिसागर के शिष्य आचार्य वीरसागर जी की समाधि जयपुर में हो रही थी, आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज वैयावृत्ति करने मात्र को आये थे, उनकी समाधि में सहयोगी बने थे। एक दिन उनको कफ आया, तो आचार्य महाराज ने अंजुली सामने कर दी। बोले–महाराज! इसमें डाल दो। उन्होंने कहा–नहीं, नहीं। ये बोले–विचार मत कीजिये, ये मेरा धर्म है। और अंजुली में ले लिया। मार्जन करके बाहर छोड़ दिया। कुछ दिन बाद मल अड़ गया, सूख गया पेट में। धन्य हो महावीरकीर्ति महाराज अपने हाथ की अंगुलि से निकाल रहे थे। उनकी निस्पृह–भक्ति को देखकर उन्होंने कहा कि आचार्य पद आपको ही देंगे, क्योंकि इतना बड़ा विद्वान्–साधु संघ में नहीं हैं। उन्होंने कहा–महाराज! ये सौभाग्य आप शिवसागर महाराज को सौंप दो, वे संघ के प्रधान मुनि हैं। नहीं कोई और होता तो कहता कि ठीक है। इतनी निस्पृहता थी हमारे पुराने आचार्यों में।

भो ज्ञानी! आचार्य विद्यासागर जी महाराज पहले देशभूषण महाराज के पास आये थे। उन्होंने कहा–कि तुम ज्ञानसागर महाराज के पास जाओ, क्योंकि तुम्हें ज्ञान की पिपासा है और वे विद्वान् हैं। महावीरकीर्ति दीक्षा लेने गये थे शांतिसागर (दक्षिण) के पास। उन्होंने कहा–भैया! हमारी सामर्थ्य नहीं है, तुम आदिसागर के पास जाओ। कितनी सहजता थी। आचार्य विद्यानंद जी आचार्य महावीरकीर्ति जी के शिष्य हैं। पहले मुनियों को ये नहीं था कि मेरा चेला, तेरा चेला। क्षुल्लक दीक्षा उनने दी है और देशभूषण महाराज से मुनिदीक्षा ली है। तो बड़े सहज–परिणाम थे। जहाँ सहज–परिणाम होते हैं, समाधि बहुत निर्मल होती है।

भो ज्ञानी! चेला कितना भी बड़ा हो जाये, पर गुरु तो गुरु होता है। कहीं भी चले जाओ, कैसे भी चले जाओ, पर गुरु तो रहेंगे आपके। श्रेष्ठ यही है कि जिसको आपने चुना है तो आप यहीं रहो। ऐसा नहीं हो सका तो उपकार दोनों का मानो।

भो ज्ञानी! उपाध्याय–परमेष्ठी वे निखिल–परिग्रह का परित्याग है लक्षण जिनका। ऐसा नहीं कि जितने ज्ञानी हो जायें उतने शिथिलाचारी बन जायें। परिग्रह बढ़ जाये, ये ज्ञान नहीं कहता है। ज्ञान के वश से आपने लोगों को प्रभावित भी कर लिया, तो ऐसा तो ज्ञान के बल से, वचनों के बल से विद्वान् भी कर लेगा। पर महाराज लोग जहाँ पहुँचते हैं, वहाँ भीड़ स्वाभाविक आ जाती है। ये उनके चारित्र के प्रभाव से आ जाती है। हमलोग ज्ञान–ही–ज्ञान की बातें करते हैं, उसको इतना प्रधान कर देते हैं कि हम चारित्र को सामने आने ही नहीं देते हैं। उससे हमारा प्रभाव तो बन जायेगा। ठीक है, लोक में प्रभावित बना लोगे, लेकिन तुम्हारा प्रभाव नहीं बन पायेगा। क्यों? पंडित जी हमारे साथ बंगले में बैठकर समोसे खा रहे थे। इससे ये मत समझना कि सभी विद्वान् ऐसे ही होते हैं। कुछ विद्वान् त्यागी भी होते हैं। अतः सार्वजनिक–रूप से विद्वानों को ऐसे कार्यों से बचना चाहिये। विद्वानों को समाज ने बुलाया है, शुद्ध भोजन की व्यवस्था की है, उसमें सहयोग करना चाहिये। घर में चाहे जैसे रहो, पर बाहर सार्वजनिक–रूप में यथोचित आचरण होना चाहिये।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : साधु के स्वरूप का कथन।

वावारविप्पमुक्का, चउव्विहाराहणासयारत्ता।
णिग्गंथा णिम्मोहा, साहू दे एरिसा होंति।।75।।

संस्कृतछाया : व्यापारविप्रमुक्ताः चतुर्विधाराधनासदारक्ताः।
निर्ग्रन्था निर्मोहाः साधवः एतादृशा भवन्ति।।75।।

अन्वयार्थ : (व्यापारविप्रमुक्ताः) व्यापार– बाह्यव्यापार से रहित हैं, (चतुर्विधाराधनासदारक्ताः) चार प्रकार की आराधनाओं में हमेशा लगे हुये हैं (निर्ग्रंथाःनिर्मोहाः) निर्ग्रंथ और निर्मोह हैं (एतादृशाः साधवः भवंति) ऐसे साधुगण होते हैं।

मनीषियो! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने पूर्व गाथा में उपाध्यायपरमेष्ठी के स्वरूप का कथन किया। जो रत्नत्रय से युक्त हैं, यतियों में श्रेष्ठ हैं, वे उपाध्यायपरमेष्ठी हैं। भगवान् जिनेन्द्र की देशना को कहने में, पदार्थों को समझाने में ये शूर हैं। उसी को टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव पुष्ट करते हुये कलश में कह रहे हैं–

रत्नत्रयमयान् शुद्धान् भव्यांभोजदिवाकरान्।
उपदेष्टृनुपाध्यायान् नित्यं वंदे पुनः पुनः।।कलश 105।।

जो रत्नत्रयमय हैं, शुद्ध हैं, भव्यजन–रूपी कमलों के लिये सूर्य के समान हैं, उपदेश देने वाले हैं, ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी की मैं नित्य बार–बार वंदना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी अंतिम पाँचवे साधुपरमेष्ठी का वर्णन गाथासंख्या 75 में कह रहे हैं, उनके स्वरूप को कह रहे हैं। जो बाहरी व्यापारों से रहित हैं, प्रपंचों से परे हैं। ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र चार प्रकार की आराधनाओं में सदैव लगे रहते हैं। जो योगी कषायों से परे हैं, विपदाओं से परे हैं और अपने जीवन के क्षणों को इन चार आराधनाओं में लगाकर चल रहे हैं। कभी श्रुत में, तो कभी दर्शन में, तो कभी चारित्र में, तो कभी तप में यानि परिणाम कषायरूप न हो पायें। कषाय की मंदता है, भद्रता है, अभाव नहीं होता है। संज्वलन की प्रबलता में छठा–गुणस्थान बनता है और संज्वलन की मंदता में सातवाँ–गुणस्थान बनता है। जिन निमित्तों से कषाय की मंदता हो, परिणामों में विशुद्धि बढ़े, ऐसे निमित्तों से

युक्त हैं और जिन–निमित्तों से परिणामों में कलुषता बढ़ती है, उन निमित्तों से परे रहते हैं। संज्वलन की मंदता भी जीव की घातक तो है, पर पूर्ण घातक नहीं है।

भो ज्ञानी! सप्तम–गुणस्थान में जो वीतरागता है, वो संज्वलन की मंदता में जीवन्त है, जिसकी चमक में धीमा–धीमा चारित्र भी चमकता है, जो धीमी–धीमी जला रही है, उस कषाय का नाम है संज्वलन कषाय। यह दसवें गुणस्थान तक चलती है और वीतरागता भी चल रही है। क्योंकि कषाय अपनी सीमा में है और वीतरागता चारित्र की परिणति है। जितने में चारित्र की अनुभूति कर लो, उतने में वीतरागता चल रही है। कषाय की क्रिया को स्थान नहीं देना, कषाय का काम नहीं होने देना, उसका नाम 'साधु' है। सत्ता में रहने पर भी उसका सत्कार नहीं करना, ये साधुपुरुष का पुरुषार्थ है। चार प्रकार की आराधना से जो युक्त हैं। आप कहें तो मैं चारित्र की आराधना कर लेता हूँ, खेती आदि नहीं करूँगा, तो साधु हो गया? नहीं, निर्ग्रन्थ होना चाहिये। पता नहीं कितने संतपुरुष हो चुके हैं, पर साधु नहीं हुये। सत् पुरुष कह दो आप। जिसकी जहाँ पर श्रद्धा है, उसको कह लेता है, परन्तु जिनवाणी तो अपनी कसौटी पर कसती है। सत्–पुरुष और संत–पुरुष निर्ग्रन्थ भी हो गया। 'नियमसार' उसे ही सत्–पुरुष कहता है, उसे ही संत–पुरुष कहता है, जिसके पास निर्ग्रन्थपना है। फिर निर्ग्रन्थ किसे कहेंगे? जो निर्मोही है, सहज है, द्रव्य, क्षेत्र, काल संपूर्ण वस्तुओं के रागभाव से परे है। प्रदेश–विशेष पर राग नहीं है, व्यक्ति–विशेष पर राग नहीं है। यदि राग है, तो निर्ग्रन्थपने में सग्रन्थता है। जिनशासन में साधुपुरुष ऐसे होते हैं जो अंतरंग–बहिरंग व्यापार से परे हों। चार प्रकार की आराधना में तल्लीन हों, निर्ग्रन्थ–मुद्राधारी हो, निर्मोही हो, ऐसे विशेषण जिसमें हैं आगम उसे 'साधु' कहता है।

भो ज्ञानी! वीतराग संज्ञा सप्तम–गुणस्थान से प्रारंभ होती है, परन्तु साधु संज्ञा छठवेंगुणस्थान से प्रारंभ हो जाती हैं। यदि हम वीतरागता की मुख्यता से कहें तो छठवें–गुणस्थान में मुनि नहीं रहते। पंचमकाल के लोग हैं, छल तो ग्रहण कर ही लेते हैं, इसलिये आचार्य महाराज ने अंतरंग–बहिरंग व्यापार छुड़वा दिया। अंतरंग–बहिरंग व्यापार जिसका छूटा है, वो वीतरागता की ओर नियम से बढ़ा है। सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागी नहीं है, क्योंकि उसके पास चारित्रमोह पूरा खड़ा है। क्षायिक–सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व के क्षय की अपेक्षा से वीतराग संज्ञा दी है। पर चारित्र की अपेक्षा से उसे भी वीतरागी नहीं कहा जा सकता है। वीतराग संज्ञा तो सिद्धान्त ग्यारहवें–गुणस्थान से प्रारंभ करता है, क्योंकि दसवें–गुणस्थान में कषाय बीती नहीं है। संज्वलन लोभ खड़ा

हुआ है। सप्तम–गुणस्थान में शुद्धोपयोग की दशा प्रारंभ हो गई, इसीलिये वीतरागी कहा है। ज्ञान की अपेक्षा से वीतरागी कहोगे तो तेरहवे–गुणस्थान में ही वीतरागी संज्ञा होगी।

भो चेतन! निजस्वभाव शब्द से चार आराधना प्रकट नहीं होंगी। चार आराधनाओं से निजस्वभाव प्रकट होगा। असंयमी जीव यदि 'समयसार' का अध्ययन करता है तो उसे समयसार में तो स्वभाव दिखता है, जबकि स्वभाव अंदर का विषय है। परन्तु वो असंयम में अंदर का विषय खोजता है, जबकि स्वभाव की प्राप्ति असंयमभाव से नहीं होती है, संयमभाव से होती है। भो ज्ञानी! परमेश्वर के सामने आप खड़े हो, वहाँ वीतराग–मुद्रा को देखकर वीतरागता के प्रति अनुराग बढ़ रहा है कि नहीं? और सरागता का अभाव वहाँ पर है, इसलिये उसके प्रति उदासता है। इतना छोड़ने पर आपको कुछ समय की शांति मिली। ऐसे ही बहिर्–पदार्थों के अभाव में जो शांति का वेदन है, वह स्वभाव–दशा की प्राप्ति का लक्ष्य है। इसलिये वास्तव में 'मूर्च्छा तो परिग्रह' है, परन्तु द्रव्य का नाम परिग्रह नहीं है। उमास्वामी महाराज ने स्वयं लिखा है ''मूर्च्छा परिग्रहः''। जहाँ–जहाँ मूर्च्छा होगी, वहाँ–वहाँ परिग्रह होगा। मूर्च्छा नहीं होगी तो परिग्रह नहीं होगा। 'परद्रव्य को छोड़ने की क्या आवश्यकता है? मूर्च्छा छोड़ो।' यह इसी सूत्र के विपरीत अर्थ का परिणमन है। जो वस्त्रधारी अपने–आपको सद्गुरु की घोषणा करते हैं, वो इसी सूत्र की देन है। जबकि सूत्रकर्ता का ऐसा अभिप्राय नहीं था।

भो ज्ञानी! जहाँ–जहाँ परिग्रह होगा, वहाँ नियम से मूर्च्छा होगी। परन्तु जहाँ पर द्रव्य नहीं है, वहाँ मूर्च्छा हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। परन्तु यदि आपने परद्रव्य को स्वीकार किया है, तब पर द्रव्य–सम्बन्धी मूर्च्छा आपको नियम से होगी। मूर्च्छा होगी किसके प्रति? जब द्रव्य होगा, तब मूर्च्छा होगी। जब परद्रव्य नहीं है, तो मूर्च्छा किसकी? इसलिये परद्रव्य छोड़ना चाहिये। परद्रव्य के अभाव में मूर्च्छा नहीं हो सकती है, क्योंकि मूर्च्छा का महत्व ही ममत्व है और ममत्व होगा पर पदार्थ में । भवन आपके पास हो या न हो, परन्तु भवन के प्रति मूर्च्छा हो सकती है, क्योंकि भवन तुम्हारी मूर्च्छा का विषय बना हुआ है, भवन परद्रव्य है। इसलिये जिनागम कहता है कि परद्रव्य से पूर्ण परहेज रखो। अतः ये संस्कार भी मत डालो। संस्कार डालने में बड़ी सरलता होती है, लेकिन छोड़ने में बड़ी कठिनाई होती है। अभी आपको सामान्य–बातें छोटी लगती हैं। जब आप मुनिराज बन जायेंगे और आचार्य महाराज कहेंगे, बेटा! खिड़की में झाँक कर मत देखना। फिर आप कहोगे कि खिड़की में झाँकना पाप है क्या? तुमने आदत डाल ली थी घूमघाम कर

आके खिड़की में झाँकने की। अब आपको नियम दे दिया कि खिड़की में मत झाँकना, वो कितना कठिन हो गया? आपको नियम दे दिया कि रास्ते में चर्चा मत करना, आप सहज में रोज करते थे। वो तो छोटी–सी बात है, आप रखो मौन। अरे! ये भी कोई संयम है? संयम कोई शब्द का नाम नहीं है। संयम प्रतिक्षण की प्रवृत्ति है। आपने आदत डाल ली है भोजन करके थोड़ा विश्राम करने की। अब तुम बन गये मुनिराज। आचार्य महाराज ने विश्राम से रोक दिया, अब आपको बड़ी परेशानी है। दो मिनट बैठ भी नहीं सकते, लेट भी नहीं सकते। अब आपको महसूस हो रहा है कि ये भी असंयम था। भो ज्ञानी! ऐसे कई प्रसंग तुम्हारे जीवन में जुड़े हुये हैं जिसे आप असंयम नहीं समझते हो।

भो ज्ञानी! हम कितने प्रकार के असंयम में जी रहे थे। आप सो नहीं पाते थे पाटे पर, जमीन पर। सो चटाई डाल ली, दुहरा कर लिया, तिहरा कर लिया। आचार्य महाराज ने देख लिया। बोले–हटाओ ये सब, एक दरी बिछाओ। आप कहोगे, ये भी असंयम है क्या? हाँ, स्पर्शन इंद्रिय का विषय बन रहा था। कहने का तात्पर्य इतना है कि जितना यह कह रहे हैं कि मूर्च्छा परिग्रह है, तो मूर्च्छा परिग्रह को लोगों ने शब्दों में पढ़ लिया और मुँह से कहना शुरू कर दिया। ये मूर्च्छा नहीं है, वह तो पुद्गल पर पुद्गल पड़ा है। शरीर पर वस्त्र है, वो भी पुद्गल है, वस्त्र भी पुद्गल है। इसलिये मूर्च्छा नहीं है। अहो! जिसदिन तुझे भेदविज्ञान हो जायेगा और मूर्च्छा तेरी हट जायेगी, उसदिन ये परिग्रह तेरे शरीर पर रहेगा ही नहीं।

भो ज्ञानी! वेद, उपनिषद् आदि में भी इनका कथन किया है कि शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है। जितने दर्शन हैं, आत्मा के अस्तित्व को मानते हैं। इस बात को सब मानते हैं कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है। ऐसा मानने से भेदविज्ञान नहीं होता है। उस मान्यता में श्रद्धान और परिणति है, तो भेदविज्ञान है। अहो! भेदविज्ञान वहाँ था जहाँ सियालनी शरीर को भख रही थी, पर वे अपने–आपमें लवलीन थे। एक श्रावक श्मशान में ध्यान कर रहा था और पिता ने आज्ञा कर दी कि इसका सिर अलग कर दो, क्योंकि चोर ने हार वहाँ डाल दिया था। उससमय चिंतवन करो कि तलवार के वार किये जा रहे हैं, फूल की माला बन रही है और प्रातः पिता स्वयं पहुँच गये–बेटा! भूल हो गई। बोले–पिताश्री! आपसे तो भूल आज हुई है, पर मेरे से भूल अनादि से हो रही थी जिसे मैं समझ नहीं रहा था। मैं आपको पिता मान रहा था, पर अभी तो मैंने एक घंटे को कपड़े उतारे थे, अब उतरे तो उतरे। इसका नाम भेद विज्ञान था।

भैया! यथार्थ ये है कि भेदविज्ञान घर से शुरू होगा। पर से मैं स्वतंत्र हूँ, वो ही तो भेदविज्ञान है। इतना ही तो मानना है आपको कि मैं स्वतंत्र हूँ, स्वछन्द नहीं हूँ। ध्यान

रखना, स्वछन्दता में सामाजिकता, धार्मिकता नष्ट हो जायेगी। आपमें आत्मीयता तो होना चाहिये, पर आत्मरूपता नहीं होना चाहिये। आत्मीयता यानि प्रेम, वात्सल्य और आत्मरूपता यानि बोले–हमारी आत्मा और तुम्हारी आत्मा एक है, शरीर अलग–अलग हैं। अरे! कैसी अज्ञानता की बातें कर रहे हो कि दो आत्मा को तुमने एक बना दिया? ऐसा गाढ़–राग कि सिद्धान्त को ही समाप्त कर रहे हो। भैया! परमाणु–परमाणु स्वतंत्र है। तुम प्रेम और वात्सल्य की बातें करो, पर सिद्धान्त को नष्ट करके मत करो। ईश्वरवादी और आपमें क्या अंतर होगा? आपने दो आत्मा को एक मान लिया और उन्होंने विश्व की आत्मा को एक मान लिया। विश्व में जितनी आत्मायें हैं, वे ईश्वर का अंश हैं और आप बोले–हमारी और आपकी दोनों की आत्मा एक है। ईश्वरवादी के लिये तुम प्रमाण मिल गये। अरे ज्ञानी! हम दोनों के शरीर भिन्न–भिन्न हैं और आत्मा भी भिन्न–भिन्न है।

भो ज्ञानी! तुम 'भरतेश घर में वैरागी' की बात तो करते हो, परन्तु आलू छोड़ना नहीं चाहते हो। आप भरतेश का दृष्टान्त तो देना, पर घर में भरतेश की जो वृत्ति थी, उसका भी दृष्टान्त और देना। दृष्टि निर्मल थी, चारित्र निर्मल था और गृहस्थ–आचरण भी निर्मल था। भरतेश क्षायिक–सम्यग्दृष्टि जीव था। जिसके अंतरंग में सम्यक्त्व प्रगट था, बाहर में भी था, अंतरंग में छटपटी चल रही थी और जैनेश्वरी–दीक्षा लेने के परिणाम थे। दृष्टान्त दृष्टि के लिये दिया जा रहा है, परन्तु आप आसक्ति में जी रहे हो और भरतेश का दृष्टान्त देकर आनंद लूट रहे हो।

भो ज्ञानी! धन्य हो उन भरत के लिये, जिन्होंने चौदह वर्ष शासन तो किया, पर शासन को स्वीकार ही नहीं किया। भरत ने अपनी माँ को डाँटा, कि आपने ऐसा क्यों किया? आप होते तो क्या कहते ? माँ! आपने बहुत अच्छा किया, हमें कौन राज्य मिलना था। परन्तु देखो भरत को, उन्होंने कहा–माँ! आपने अच्छा नहीं किया, राज्य के पीछे मेरे अग्रज को जंगल में भेज दिया। मैं तो यह राज्य नहीं करूँगा। देखो सहजता, वीतरागता कि जैसे ही राम अबधपुरी पधारे, तो भरत ने दीक्षा ले ली। ये था भेदविज्ञान। सब विभूतियाँ सामने पड़ी हुई हैं। आज लोग तड़पते हैं कि छोटी–सी नौकरी मिल जाये और एक वो व्यक्ति राज्य छोड़कर जा रहा है जिसके यहाँ लाखों–जीव नौकरी कर रहे हैं। सोचो, ऐसा व्यक्ति भी सबकुछ छोड़कर चला गया। यह बात ध्यान रखना कि वस्तु/व्यक्ति की कोई कीमत नहीं जब निर्ममत्व भाव आता है और जबतक ममत्व–भाव है, तबतक वैराग्य की कोई कीमत नहीं होती। ये उनके चारित्र–मोहनीय का दोष था, सम्यक्त्व का दोष नहीं था कि छह–मास लक्ष्मण के शव को लेकर श्री राम भटकते रहे।

भो ज्ञानी! आप तो सहजता में जिओ। देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धान करो, यही व्यवहार–सम्यक्त्व है। पर यदि तीन मूढ़ता, छह अनायतन, शंकादि आठ दोष और आठ मद हैं, तो आप सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। जब तेरे पास व्यवहार–सम्यक्त्व नहीं है, तो निश्चय सम्यक्त्व कहाँ से आ जायेगा? इसीलिये ऐसा कहो कि निर्णय के बिना व्यवहार नहीं, व्यवहार के बिना निश्चय नहीं। जबकि निर्णय को ही लोगों ने निश्चय मान लिया है।

भो ज्ञानियो! पद्मप्रभमलधारिदेव से पूछ लेना कि संतपुरुष कौन है? सज्जन तो बहुत सारे जीव हो सकते हैं, पर संत सारे जीव नहीं हो सकते हैं। पर ध्यान रखना, संत बनने के पहले सज्जन बनना बहुत अनिवार्य है। जो संत हैं वे ज्ञान, दर्शन, चारित्र से सहित हैं, संपूर्ण बाह्य–व्यापार से रहित हैं, चार प्रकार की आराधना में सदा लीन हैं, अंतरंग–बहिरंग परग्रिह से रहित हैं। आचार्य महाराज कह रहे हैं–जो चारों ओर से घेर ले, वह परिग्रह है। सबसे बड़ा ग्रह तो परिग्रह है। यदि सुखी होना चाहते हो, तो परिग्रह को छोड़ दो। फिर कोई ग्रह नहीं लगेगा। परिग्रह–रूपी ग्रह से रहित निर्ग्रन्थ हैं।

भो चेतन! दृष्टि देखो, बोले–हम नहीं होंगे तो कुछ काम नहीं हो सकता। अरे! आप नहीं थे, तो सबकुछ हो रहा था कि नहीं? इसलिये चिन्ता छोड़ दो कर्त्तत्व–भाव की, क्योंकि जो कुछ हो रहा है, यदि तुम्हारा नियोग है तो तुम्हारे नियोग से हो रहा है और दूसरे का नियोग होगा तो उससे होगा। लेकिन आप यह क्यों मान कर बैठे हो कि मैं ही सबकुछ कर रहा हूँ? ये सब भूल जाओ। सहज रहो। मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्र ऐसी भावना से जो रहित है वह निर्मोही है। ऐसा साधु का स्वभाव है।

भो ज्ञानी! भेदविज्ञान के साथ–साथ अभेदविज्ञान को मत भूल जाना, व्यवहार–ज्ञान को मत भूल जाना और व्यवहारिकता को भी मत भूल जाना। कभी–कभी क्या होता है कि आपके धर्मात्मापन के कारण बहुत सारे लोग धर्म से नहीं जुड़ पाते हैं। कुछ धर्मात्मा यानि शुष्क, बोले–हम तो विरक्त हैं। भैया! धर्म शुष्कता नहीं दिखाता, उदासता दिखाता है। परन्तु उदासता किसी व्यक्ति के प्रति नहीं दिखाता है, उदासता भोगों के प्रति दिखाता है। अज्ञानियों ने क्या किया? बोले–हमें वैराग्य हो गया, अब हम तुमसे नहीं बोलेंगे। इसका नाम वैराग्य नहीं है। वैराग्य वो होता है, जो टिकता है। चार दिन बाद आप बोलने लगे, तो आपका वैराग्य कहाँ गया? द्वेष राग में बदल गया। वैराग्य जो होता है, वह सहज होता है, पर उदासता का ध्यान रखना।

❖ ❖ ❖

उत्थानिका : **व्यवहार चारित्र अधिकार का उपसंहार।**

एरिसयभावणाए, ववहारणयस्स होदि चारित्तं।

णिच्छयणयस्स चरणं, एत्तो उड्ढं पवक्खामि।।76।।

संस्कृतछाया : **ईदृग्भावनायां व्यवहारनयस्य भवति चारित्रम्।**

निश्चयनयस्य चरणं एतदूर्ध्वं प्रवक्ष्यामि।।76।।

अन्वयार्थ : (ईदृग्भावनायां) ऐसी पूर्वोक्त भावना होने पर (व्यवहार–नयस्य) व्यवहारनय का (चारित्रम् भवति) चारित्र होता है (एतदूर्ध्वं) इसके आगे (निश्चयनयस्य) निश्चयनय के (चारित्रं) चारित्र को (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा।

भो मनीषियो! आचार्य कुन्दकुन्द देव द्वारा रचित 'नियमसार' में टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव वीतरागी–मुनियों को कलश के द्वारा नमस्कार कर रहे हैं–

भविनां भवसुखविमुखं त्यक्तं सर्वाभिषङ्गसंबंधात्।

मंक्षु विभंक्ष्व निजात्मनि वंद्यं नस्तन्मनः साधोः।।कलश 106।।

जो योगी संसार के सुखों से विमुख हैं, जिन्होंने संसार के सुख का परित्याग कर दिया है, जिन्होंने संसार के संपूर्ण सम्बन्धों का भी त्याग कर दिया है, ऐसे साधु का मन वंदनीय है। यहाँ आचार्यश्री साधु के मन को नमस्कार कर रहे हैं। तन के साधु तो लाखों जीव होंगे, पर वास्तव में वही साधु है, जिनका मन विषयों से रिक्त है। जिस साधु के मन ने विषय–कषाय का त्याग कर दिया है और निज–आत्मा में लवलीन है, ऐसे साधु के मन को मेरा नमस्कार हो।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा 76 को उपसंहार के रूप में कह रहे हैं कि इसप्रकार व्यवहार–चारित्र का वर्णन किया, अब आगे के अधिकार में निश्चय–चारित्र का वर्णन करेंगे। पंडित दौलतराम जी ने भी 'छहढ़ाला' में कथन किया कि व्यवहार–चारित्र का हमने कथन कर दिया, अब निश्चय–चारित्र का कथन आगे करेंगे।

यों है सकलसंजमचरित, सुनिये स्वरूपाचरन अब।

जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै पर की प्रवृत्ति सब।। छहढाला 7/6।।

आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी ने भी 'वृहद् दव्यसंग्रह' में एक–एक गाथा में दोनों चारित्र का कथन किया–

असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं, ववहारणया दु जिणभणियं।।वृ.द्र.सं. 45।।
बहिरब्भंतरकिरिया, रोहो भव कारणप्पणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं, तं परमं सम्मचारित्तं।।वृ.द्र.सं. 46।।

गुप्तियों का पालन है व्यवहारचारित्र और अंतरंग–बहिरंग क्रिया का निरोध जहाँ हो चुका है, उसका नाम है निश्चयचारित्र। पहले होगा व्यवहारचारित्र, इसके उपरान्त होगा निश्चयचारित्र। आप कहने लगते हो कि हमने निश्चित किया, तो ये व्यवहार हुआ। ये वास्तव में निश्चियचारित्र नहीं था। ये तो आपकी भावना थी, ये निर्णय था। जिसे निश्चयचारित्र कहा जाता है, व्यवहारचारित्र कहा जाता है, उन दोनों की परिभाषा समझना। नहीं तो कहने लगो–महाराज! पहले निश्चय ही तो होगा, फिर व्यवहार होगा। लेकिन नहीं। अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति, इसका नाम है व्यवहारचारित्र, जो व्रत–समिति–गुप्तिरूप है। ये परिभाषा है व्यवहारचारित्र की। अंतरंग–बहिरंग क्रियाओं का जहाँ निरोध हो चुका है, निर्विकल्प दशा है, उसका नाम है निश्चयचारित्र।

भो ज्ञानी! अंतरंग–बहिरंग क्रियाओं का निरोध सप्तम–गुणस्थान में होगा। छठवें–गुणस्थान में व्रत–समिति–गुप्तिरूप परिणमन चल रहा है, अशुभ की निर्वृत्ति हो रही है, शुभ में प्रवृत्ति हो रही है, इसलिये निश्चयचारित्र नहीं है, वह व्यवहारचारित्र है। फिर करणानुयोग कहेगा कि यह निश्चय से चारित्र है। बात को समझना, निश्चय से चारित्र तो है, पर निश्चयचारित्र नहीं है। क्योंकि व्रत, समिति, गुप्तिरूप चारित्र तो है, पर अभेदचारित्र नहीं है, भेदचारित्र है। क्योंकि प्रथम–अवस्था में छठवाँ–गुणस्थान नहीं बनता है। जैसे चौथे–गुणस्थान से गिरा हुआ जीव, जो मिथ्यात्व की भूमि में नहीं पहुँचा, मध्य में चल रहा है, उसका सासादन गुणस्थान है। इसी प्रकार से सप्तम–गुणस्थान से जो च्युत हुआ है, वो छठवें–गुणस्थान में आता है। मुनिदीक्षा लेते समय छठवाँ–गुणस्थान, फिर सप्तम–गुणस्थान, ऐसा नहीं है। पहले बनेगा अप्रमत्त। अप्रमत्त का काल अंतर्मुहूर्त है। इसलिये वहाँ से नीचे आयेगा। कपड़े उतारते–उतारते सप्तम–गुणस्थान बनेगा।

भो ज्ञानी! समझना विषय को, जिनदीक्षा ले रहा था जीव और वैराग्य छठवें–गुणस्थान में नहीं था। वैराग्य सप्तम में नहीं था। वैराग्य चतुर्थ या पंचम गुणस्थान में था। वैराग्य की भूमिका से ओतप्रोत चारित्रमय परिणाम हुये। ये चारित्र की भावना थी, भावसंयम नहीं था। जब संयम धारण करने के परिणाम हो रहे थे, उस समय भाव थे संयम के, भावसंयमी नहीं था। भावसंयम की भावना थी, भावसंयम नहीं था। इसके बाद आपने दीक्षा हेतु प्रार्थना की, अभी गुणस्थान चौथा/पाँचवाँ ही है। इसके बाद आपने केशलुंचन किये हैं, वस्त्रादि उतारे हैं, अभी संयम के संस्कार कहाँ दिये, सोलह संस्कार तो हुये ही नहीं हैं। सबकुछ उतारने के बाद जब आचार्यपरमेष्ठी संस्कार करते हैं कि अब तुम मुनि हो गये हो, उनको भान हुआ कि मैं निर्ग्रन्थ–अवस्था को प्राप्त हो चुका हूँ , उससमय सप्तम–गुणस्थान में स्पर्श कर गये। फिर वो ध्यान करेगा और वहाँ से च्युत होकरके छठवें–गुणस्थान में प्रवेश करेगा। सप्तम–छठवां–सप्तम चलता रहेगा। लेकिन ये जो कथन किया जाता है कि कपड़े उतारते–उतारते निर्ग्रन्थ हो गया, भैया! ऐसा कोई मोक्षमार्ग नहीं है। दीक्षा के बाद स्थिरता नहीं बढ़ रही है। अब बताओ, दीक्षा हो रही थी, इधर–उधर देख रहे थे, उसमें सप्तम–गुणस्थान नहीं बनता है। बिल्कुल एकदम स्वभावदृष्टि जा रही है, वो सप्तम–गुणस्थान है। छठवें–सप्तम में जायेगा। नहीं जा रहे तो, उनको नियम से नीचे आना पड़ेगा। 48 मिनट में जीव को अपने स्वभाव में जाना चाहिये। छठवें–गुणस्थान में ऐसा कोई स्थूल समय नहीं है कि मुनिराज कब सप्तम में चले जायें, कब छठवें में आ जाये। परन्तु अंतरंगदृष्टि से उनके द्रव्य– क्रिया करने पर भी गुणस्थान बदल जायेगा।

भो ज्ञानी! जिनका निजात्म–तत्त्व स्थिर है, ऐसा जीव गमन करते हुये भी गमन नहीं कर रहा, देखते हुये भी नहीं देख रहा, बोलते हुये भी नहीं बोल रहा, क्योंकि अंतरंग में तत्त्वदृष्टि निहित है। और तत्त्वदृष्टि निहित नहीं है, तो आँख बन्द करके भी बाहर बैठे हैं, बैठे हुए भी चल रहे हैं। टीकाकार कह रहे हैं कि पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तियाँ, पंचपरमेष्ठी के ध्यान से युक्त, अति–प्रशस्त शुभ भावना में रत होना, ये व्यवहारनय का परमचारित्र है। इस प्रकार से जानना चाहिये।

भो ज्ञानी! पंचम–भावना यानि परम–पारिणामिकभाव की प्राप्ति का है लक्ष्य इनका, ऐसी पंचमगति की प्राप्ति को प्रयत्नषील ऐसा निर्ग्रन्थ–योगी शुद्ध आत्मतत्त्व में लवलीन है, उसके निश्चयचारित्र होता है। इसलिये ज्ञानी आत्माओ! ध्यान रखना, गृहस्थ अवस्था

में न निश्चयचारित्र है, न व्यवहारचारित्र है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात, ये पाँच चारित्र हैं। इन पाँच चारित्रों में देशचारित्र को स्वीकार नहीं किया गया, इस अपेक्षा से मोक्षमार्ग छठवें–गुणस्थान से ही प्रारंभ होता है। परन्तु सामान्य–अपेक्षा से जब मार्गणा से कथन करते हैं तो सात–प्रकार के संयम की बात होती है। वहाँ असंयम को भी संयम कहा है और देशसंयम को भी संयम कहा है। इसी दृष्टि से पंडित टोडरमल जी ने लिखा–'सम्यग्दृष्टि जीव मोक्षमार्गी अभी है नहीं, होगा।' ऐसा क्यों कहा? चतुर्थ–गुणस्थान में उपचार से मोक्षमार्गी कहा, पंचमगुणस्थान में उपचार से मोक्षमार्गी कहा। वास्तव में छठवें–गुणस्थान से मोक्षमार्गी स्वीकार किया है, क्योंकि **''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः''** तीनों की एकता जहाँ से है, वहाँ से मोक्षमार्ग है। अब कहोगे, 'मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी'? ठीक है, वो सम्यक्त्व की अपेक्षा कथन है। परन्तु रत्नत्रय की प्रधानता से कथन करोगे तो छठवाँ–गुणस्थान ही सामने आयेगा।

भो ज्ञानी! आगम में क्रमिक कथन है कि किस गुण की अपेक्षा इसमें चारित्र है। जब भी रत्नत्रय होगा, सम्यग्दर्शन में होगा। परन्तु सम्यग्दर्शन हो, वहाँ रत्नत्रय हो, ये नियम नहीं है और चारित्र हो भी, न भी हो। परन्तु जहाँ सम्यक् चारित्र है, वहाँ नियम से दर्शन–ज्ञान होगा। 'मार्गप्रकाश' ग्रन्थ में आचार्य महाराज कथन कर रहे हैं–

कुसूलगर्भस्थितबीजसोदरं, भवेद्विना येन सुदृष्टिबोधनम्।
तदेव देवासुरमानवस्तुतं नमामि जैनं चरणं पुनः पुनः।। मार्ग प्रकाश।।

जैसे कोठी (कुसुल) के अन्दर रखा हुआ बीज, बीज तो है, पर फल नहीं देगा, क्योंकि जमीन में नहीं है। ऐसे ही तुम्हारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान जबतक सम्यक्चारित्र–रूपी भूमि में नहीं बोया जा रहा है, तबतक कोठी में रखे बीज के समान है। सुर–असुर और मनुष्यों के द्वारा स्तुति को प्राप्त उस चारित्र को मैं नमस्कार करता हूँ। भो ज्ञानी! आचार्यों ने कहीं नहीं लिखा कि दर्शन को नमस्कार हो, ज्ञान को नमस्कार हो। क्योंकि दर्शन से देवत्व मिलता है, ज्ञान से यष मिलता है, चारित्र से पूजा होती है और तीनों से मोक्षमार्ग मिलता है। वही ज्ञान ज्ञान है, वही चारित्र 'चारित्र' है, जिसमें सम्यक्त्व का बीज है और वही बीज 'बीज' है जो जमीन में बोया हुआ है। अन्यथा तो कुठिया में रखा है। कितना ही ज्ञान हो जाये, ग्यारह अंगों का श्रद्धान हो जाये, लेकिन जबतक चारित्र नहीं बनेगा, तबतक आपका दर्शन और ज्ञान कोठी में रखे बीज के समान है। भो ज्ञानी! वो बीज कब तक रखोगे? कहीं क्षयोपशम हुआ तो तुम्हारा बीज छैयासठ

सागर में सड़ जायेगा। छैयासठ सागर की अवधि है क्षयोपशम सम्यक्त्व की और उपशम हुआ तो अंतर्मुहूर्त में ही चला जायेगा। तेरा ज्ञान–दर्शन क्षायिकपने को प्राप्त हो जायेगा, तो कैवल्य को प्राप्त हो जायेगा, फल मिल जायेगा। अब आपको बीज की कोई आवश्यकता नहीं है।

भो ज्ञानी! आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने बड़ा स्पष्ट कथन किया है। इस मनुष्यपर्याय का कोई सार है तो ज्ञान है। क्योंकि ज्ञान होगा तो श्रद्धान हो सकता है। ज्ञान होगा तो चारित्र हो सकता है। ज्ञान होगा तो सम्यग्ज्ञान हो सकता है। ज्ञान नहीं है, तो दर्शन भी नहीं है और चारित्र भी नहीं है। यहाँ ज्ञान की बात कर रहे हैं। पहले ज्ञान होता है, उस ज्ञान से तत्त्वों को जाना जाता है, फिर श्रद्धान होता है, तो सम्यग्दर्शन हो गया और जैसे ही सम्यग्दर्शन हुआ कि वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो गया और चारित्र होगा तो नियम से निर्वाण होगा।

णाणं णरस्स सारो, सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं।
सम्मताओ चरणं, चरणाओ होइ णिव्वाणं।। दंसणपाहुड 31।।

यदि चारित्र नहीं है तो निर्वाण की प्राप्ति नहीं होगी।

भो ज्ञानी! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी 'अष्टपाहुड़' में लिखते हैं–

ण वि सिज्झइ वत्थधरो, जिणसासणे जइ वि होइ तित्थ्यरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो, सेसा उम्मग्गया सव्वे।। सुत्तपाहुड 23।।

भगवान् जिनेन्द्र के शासन में तीर्थंकर भी क्यों न हो, जबतक वस्त्र धारण किये रहेंगे, तबतक सिद्धि नहीं मिलेगी। रागदृष्टि मन में होती है, कपड़े पहने हैं तो पहने रहो। ऐसे मुक्ति चाहिये है आपको, तो कभी नहीं मिलेगी। यहाँ सम्यग्ज्ञान की प्रधानता से कथन किया जा रहा है, उसका उद्देश्य समझना। लोगों को चारित्र के प्रति क्यों उदासता झलक रही है? जबकि आगम कह रहा है कि तीनों में उतनी प्रधानता है, जितनी एक में है। एक के अभाव में दूसरा हो भी नहीं रहा है। इसलिये ज्ञान से आप डिग्री तो प्राप्त कर सकते हो, पर ज्ञान से कल्याण प्राप्त नहीं कर सकते। कल्याण तो चारित्र से सहित ज्ञान से होगा। अभीतक चारित्र को कहने वाले मात्र क्रिया को ही चारित्र कहते रहे । एक जीव विषयसेवन कर रहा था, तो विषयसेवन का कर्ता बना हुआ था। आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी 'प्रवचनसार' में लिख रहे है–

णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को।

इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा।। प्र.सा. 91।।

मैं पर का कर्ता नहीं हूँ , न पर मेरा कर्ता है। मैं परद्रव्य के परिणाम का भी कर्ता नहीं हूँ। भो ज्ञानी! जुड़ने के साथ छोड़ने को भी छोड़ना पड़ेगा, तब तुम छोड़ने का अस्वादन कर सकते हो। यदि छोड़ने को नहीं छोड़ा, तो तुम छोड़ने के स्वाद में लगे रहोगे, लेकिन छोड़ने का स्वाद नहीं आयेगा। आप प्रवचन भवन में बैठे हुये हैं, प्रवचन तभी सुन सकेंगे, जब आप विकल्प छोड़ देंगे, क्योंकि जबतक आपके मन में रहेगा कि मैं घर से आया हूँ, तो भो ज्ञानी! एक शब्द भी सुनाई नहीं पड़ेगा। 'मैं आया हूँ,' यही समझ में आयेगा। ऐसे ही जिसने जिस वस्तु का त्याग किया है, अब उस वस्तु के त्याग का त्याग का भी अभाव कर दो। तुमने घर का त्याग क्यों किया? प्रवचन सुनने के लिये। अब प्रवचन सुनना चालू कर दो। इसीप्रकार से मुमुक्षु योगी गृहस्थी आदि को त्याग करने के बाद जिसे छोड़कर आया है उसको भी छोड़ दे। अब मुझे उसकी याद नहीं करना है। अब मुझे यह याद करना है कि मैं यहाँ आया क्यों था? जबतक ये याद नहीं लाओगे, तबतक पुरानी याद जायेगी नहीं। नवीन याद नहीं करोगे, तो पुरानी यादें नष्ट नहीं होगी।

भो ज्ञानी! आगम में पाँच प्रकार के स्वाध्याय कहे गये हैं। चाहे अस्सी साल के मुनिराज हों, संघ में कहा जाता है कि याद करो। आगम में उल्लेख आया है कि 100 वर्ष के मुनिराज गाथाओं को रट रहे थे। कोई विद्वान् आया, पूछा–महाराज! अब तो सल्लेखना करो। भैया! सल्लेखना है क्या? हम तो सल्लेखना ही कर रहे हैं। याद नहीं कर रहे हम, हम केवली बनने का अभ्यास कर रहे हैं। क्योंकि केवली से कोई केवली नहीं बनता, श्रुत से ही केवली बनता है और परिणामों की निर्मलता का ही नाम तो सल्लेखना है। हम तो अपने परिणामों को कहीं नहीं जाने दे रहे हैं। आगम में 'आम्नाय' नाम का स्वाध्याय है, उसका अर्थ ही है–याद करना। घोष–करके याद करते जाओ और 'अनुप्रेक्षा' कह रही है कि तुम चिन्तवन करते जाओ।

भो मनीषियो! ज्ञानियों की धारणा बन गई है कि चारित्रवाले ज्ञानियों को कुछ नहीं मानते, लेकिन ये धारणायें गलत हैं। अचारित्रवान् दिन में एकाधबार पढ़ेगा, परन्तु चारित्रवान् के अट्ठाईस कृतिकर्मों में चार–बार स्वाध्याय करने को कहा है। दोपहर में, शाम की सामायिक के बाद, प्रातः सामायिक के पहले तथा प्रातः भक्ति के बाद स्वाध्याय होता है। दैनिक क्रिया के बाद स्वाध्याय होता है। आप कैसे कहते हो कि ज्ञान के प्रति

ललक नहीं है? यदि सम्यग्दृष्टि होगा, सम्यक्चारित्रवान होगा तो उसको श्रुत के प्रति कभी भी अनादर–भाव है, तो सम्यक्त्व नहीं है।

भो ज्ञानी! ज्ञान अहंकार नहीं है, पर ज्ञान का अहंकार हो सकता है। अहंकार तो कषाय है। आगम कहता है कि ये कषाय तेरे राग का, मोह का दोष है। ज्ञान तो वास्तव में ज्ञान का कारण ही बनता है। ये भी ध्यान रखना कि ज्ञान आत्मा का धर्म है, परन्तु कषाय आत्मा का वास्तविक धर्म नहीं है। धर्म तो आत्मा ही कर रहा है, क्योंकि आत्मा में ही हो रहा है। इसलिये चारित्रवान् ज्ञानियों का आदर करे और ज्ञानवान् चारित्रवान् का आदर करे, तभी तो दोनों का सम्यक्त्व है। चारित्रवान् तुम्हारे ज्ञान का अनादर कर रहा है तो सम्यक्त्व की गड़बड़ी है। ज्ञानवान् चारित्रवान् का अनादर कर रहा है तो उसमें भी सम्यक्त्व की गड़बड़ी है। ज्ञानवान् का आदर चारित्रवान् करेगा। आदर करने का अर्थ चरण छूना नहीं है। जिनवाणी में अनेक प्रकार की विनय लिखी है। यति को भी श्रावक की विनय करने लिखा है। यति कभी भी श्रावक के चरण नहीं छुयेगा, न अभिवादन करेगा, परन्तु जिसने नमस्कार किया है, उसको आशीर्वाद देगा, यही तो विनय है।

भो ज्ञानी! 'कार्तिकेय–अनुप्रेक्षा' में लिखा है–जब वृक्ष में फल आते हैं तो वृक्ष झुक जाते हैं, आम का वृक्ष छोटा होता है, उसमें फल आते हैं तो वह झुक जाता है। जैसे फल के आने पर वृक्ष झुक जाता है, ऐसे ही ज्ञान के आने पर ज्ञानी झुक जाता है। जैसे विष उतारने के लिये अमृत का पान कराया जाता है और अमृत ही विष चढ़ाने लग जाये, तो अमृत भी अमृत नहीं रहेगा। ज्ञान तो वही है, जिसमें विनय झलकती हो, सदाचार हो, रूखापन नहीं हो। ज्ञान की विनय देखना है तो 'परमात्म–प्रकाश' में देखो। कैसे प्रभाकरभट्ट आचार्य योगीन्दु स्वामी से प्रश्न करता है, भगवन्! मैं जानना चाहता हूँ कि ये तत्त्वज्ञान कैसा है? प्रश्न का समाधान नहीं भी करना चाहते होंगे तो भी शिष्य की शैली से अपने–आपमें प्रभावित हो जाते हैं। ऐसे ही आपकी श्रद्धा–भक्ति विद्वान् को वाचाल कर देती है। ये तो छोटी–सी बात है, तीर्थंकर को भी असमय में बुलवा देती है। भरतेश की इतनी भक्ति थी, प्रबल पुण्यात्मा था, जिसके प्रभाव से तीर्थंकर की असमय में भी देशना खिरी। जबकि सामान्य–केवली के भी गणधर होते हैं, ऐसा उल्लेख 'सुदर्शन–चरित्र' में आया है।

भो ज्ञानी! चारित्रवान् को भी ज्ञानियों का अनादर नहीं करना चाहिये। ऐसा नहीं कि कहीं का पंडित आ गया, जिसने ये बोल दिया, कहीं का शब्द बोला है। लेकिन आप

हमें तो सूखे पंडित कह रहे हो, इस शब्द को बोलकर तुम्हारी भाषा–समिति तो समाप्त हो गई। हम तो जैसे हैं, वैसे ही हैं। पर आप तो अपने चारित्र में दोष मत लगाओ। यदि ज्ञानी कहीं यह कहे कि ये सब ढ़ोंग है तो, भैया! तुम्हारा ज्ञान कहाँ गया? यदि संयम को ढ़ोंग कहेगा तो पाखंड को संयम कहेगा क्या? शर्बत पीने को मोक्षमार्ग कहेगा क्या? अतः दोनों को आगमानुकूल कथन करना चाहिये, तो फिर ज्ञान भी बढ़ेगा और चारित्र भी बढ़ेगा, श्रद्धान भी बढ़ेगा। भैया! खींचातानी में कभी भी सुख नहीं है। चाहे कहीं से भी खींचो, दर्शन–दर्शन कहोगे तो काम नहीं बनेगा। ज्ञान–ज्ञान कहोगे तो काम नहीं बनेगा और चारित्र–चारित्र कहोगे तो काम नहीं बनेगा, क्रिया से हीन ज्ञान नष्ट हो जाता है और ज्ञानविहीन क्रिया भी नष्ट हो जाती है। जैसे अंधा दौड़ते–दौड़ते झुलसता है और लंगड़ा देखते–देखते झुलसता है। ऐसे ही ज्ञानी जान–जान कर झुलस रहा है और कोरा–चारित्रवान् देखते–देखते झुलसता है। अंधे के कंधे पर लंगड़ा चढ़ जाये, तो दोनों की रक्षा हो जाये।

टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव व्यवहारचारित्र की सफलता को सूचित करते हुये उपसंहार के रूप में कलश कह रहे हैं–

शीलमपवर्गयोषिदनङ्गसुखस्यापि मूलमाचार्याः।
प्राहुर्व्यवहारात्मकवृत्तमपि तस्य परम्पराहेतुः।।कलश 107।।

शील यानि निश्चयचारित्र, मुक्तिवधू के अतीन्द्रिय–सुख का मूलकारण है और व्यवहारचारित्र उसका परम्परा से कारण है। कहने का तात्पर्य है कि व्यवहारचारित्र निश्चयचारित्र के लिये कारण है। निश्चयचारित्र साक्षात्मोक्ष का कारण है। इसलिये व्यवहारचारित्र परम्परा से मोक्ष का कारण है।

इसप्रकार भव्य–कविजनरूपी कमलों के लिये सूर्य, पंचेन्द्रियों के विस्तार से रहित, शरीरमात्र परिग्रह के धारी श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा विरचित नियमसार जी की 'तात्पर्यवृत्ति' नामक व्याख्या–टीका में व्यवहारचारित्र नामक चौथा अधिकार पूर्ण हुआ। आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने नियमसार जी में प्रथम के चार अधिकारों में व्यवहार का कथन किया। आगे के अधिकारों में निश्चय का कथन करेंगे।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।
नमोऽस्तु शासन जयवन्त हो।

❖ ❖ ❖

अखिल भारतीय श्रमण संस्कृति सेवा समिति ट्रस्टीगण एवं सदस्य

शिरोमणि संरक्षक

श्री सुन्दरलालजी जैन (बीड़ीवाले), इंदौर, श्री महावीरजी पाटनी, भिलाई
श्री आजादकुमारजी जैन (बीड़ीवाले), इंदौर

परम संरक्षक

श्री नेमीचंदजी बड़कुल, इंदौर
श्री राजेशजी जैन (लॉरिल), इंदौर
श्री कमलकुमारजी अग्रवाल, इंदौर
श्री संतोषकुमारजी जैन (पटनावाले), सागर
श्री माँगीलालजी रमेशकुमारजी पहाडिया, हैदराबाद
श्री टी.के.वेद, इंदौर
श्री विजयकुमारजी रामनारायणजी, नागपुर

संरक्षक

श्री सचिनकुमारजी जैन (उद्योगरत्न), इंदौर
श्री अनिलकुमारजी जैन (जैनको, समाजसेवी), इंदौर
श्री चक्रेशकुमारजी जैन (बड़कुल), इंदौर
श्री शैलेन्द्रकुमारजी सोनी, इंदौर
डॉ. श्री जैनेन्द्रकुमार जैन, छत्रपति नगर, इंदौर
श्री मानिकचंदजी नायक, (परिवार) छत्रपति नगर, इंदौर
श्री पी.सी. जैन सा., बैंकवाले, इंदौर
श्री प्रमोदकुमारजी जैन (बारदाना),सागर
श्री संतोषकुमारजी सोनू जैन (सिहोरा), सागर
श्री जैन राजेशजी कानूगो, इंदौर
श्री पं. कमलकुमारजी कमलाकर, भोपाल
श्रीमती कुसुमजी प्रकाशचंदजी, सुखलिया, इंदौर
श्री कमलेशकुमारजी पहाडिया, इंदौर
इंजी. श्री पंकजकुमारजी जैन, भोपाल
श्रीमती राजलताजी धरणेन्द्रजी जैन, भोपाल
श्री राकेशकुमारजी पाटनी, नागपुर
श्री निर्मलकुमारजी जैन, गोंदिया

ग्रंथ प्रकाशन विशेष सहयोगी

श्री वीरेन्द्रकुमारजी चंदादेवी रावत, इंदौर
श्रीमती राजलताजी धरणेन्द्रजी जैन, भोपाल
श्री नरेन्द्रकुमारजी जैन (बीडीवाले), इंदौर
श्री अशोकजी कन्हैयालालजी खासगीवाला, इंदौर
श्री देवेन्द्रकुमारजी जैन (हीरू), इंदौर
श्री स्वतंत्रकुमारजी बाबूलालजी जैन, बालसमुद
श्री विजयकुमारजी जैन, कतरपुर
श्री कैलाशचंदजी जैन (नेताजी), इंदौर
श्री पुष्पाजी निर्मलजी काला, रायपुर
श्री रतनचंदजी अशोककुमारजी, दुर्ग

अखिल भारतीय श्रमण संस्कृति सेवा समिति सदस्य

इंदौर...
श्री सुनीलकुमारजी गोधा
प्रो. श्री शांतिलालजी बड़जात्या
श्री महेशकुमारजी जैन (फूफा)
श्री जयकुमारजी जैन (रिंकू)
श्री विपुलजी बांझल (बंटी)
श्री संतोष गरूजी (परवार ग्रुप)
श्री कोमलचंदजी जैन (दद्दा)
श्री राकेशकुमारजी रसिया
श्री अरूणकुमारजी (मऊरानीपुर)
श्री विजयकुमारजी जैन (हवलदार)
श्री एन.के. जैन (रोडवेज)
श्री प्रकाशकुमारजी तरूणकुमारजी (आरौन वाले)
श्री जयकुमारजी निलेशकुमारजी जैन
श्री नवीनकुमारजी सुनीलकुमारजी जैन
श्री राकेशकुमार राजकुमारजी जैन
श्री संतोषकुमारजी जैन
श्री महावीरप्रसादजी चाँदमलजी गोधा
श्री संजयजी मोदी (अनंतपुरा)

उज्जैन...
श्री जीवनलालजी जैन
श्री विजेन्द्रकुमारजी मनसुखलालजी जैन
श्री सुनीलकुमारजी हीरालालजी सोगानी
श्री मोतीलालजी जैन छाबड़ा
श्री कमलकुमारजी सुरेशचंदजी जैन
श्री देवेन्द्रकुमारजी मनसुखलालजी जैन (तलाटी)
श्री रुपेन्द्रकुमारजी विजेन्द्रकुमारजी जैन

ललितपुर...
श्री रामप्रकाशजी जैन,
श्री शीलचंदजी नन्हेलालजी जैन
श्री शिखरचंदजी जैन सर्राफ
श्री अखिलेशजी राजमलजी जैन
श्री सिंघई धन्यकुमारजी जैन
श्री सुंदरलालजी मथुराप्रसादजी जैन
श्री नरेन्द्रकुमारजी राजीवकुमारजी जैन
श्री जयकुमारजी मोतीलालजी जैन
श्री कमलकुमारजी खेमचंदजी जैन

सागर...
श्री सुरेशकुमार हुकुमचंदजी जैन
श्रीमती पुष्पादेवी संतोषकुमारजी जैन
डॉ. सुनीलकुमार राजेशकुमारजी जैन
श्री नेमीचंदजी जैन (सुरखी वाले)
श्री भरतकुमारजी ताराचंदजी पाटोदी
श्री ऋषभकुमारजी लखमीचंदजी गोयल
श्री वेदप्रकाशजी ताराचंदजी भाईजी
श्री कन्छेदीलालजी जैन (दाऊ)
श्री कोमलचंदजी ऋषभकुमार जैन (लालू साड़ी)
श्री ज्ञानचंदजी सुरेन्द्रकुमार जैन
श्री वैभवजी बाबुलालजी जैन
श्री ऋषभकुमारजी स्वरुपचंदजी सिंघई
श्री राजेन्द्रकुमारजी गुलाबचंदजी जैन
श्री सिंघई ऋषभकुमारजी मंडावरा वाले
श्री सेठ इंदरचंदजी दीपककुमारजी जैन (सन्मति)
श्री मुकेशकुमारजी भागचंदजी जैन
श्री राजेशकुमारजी जैन (जैन रोड़ लाईनस)
श्रीमती सुगंधीजी जैन (निहारिका)
श्री नितिनकुमारजी कोमलचंदजी सर्राफ
श्री सुनीलकुमारजी के.सी. जैन
श्री हेमचंदजी जिनेन्द्रकुमारजी निलेशकुमारजी जैन

छतरपुर...
चौधरी श्री ज्ञानचंदजी जैन (दादा)
श्री ओलियाजी कोमलचंदजी, छतरपुर
श्री राजेन्द्रकुमारजी जैन सेठ
श्री राजकुमारजी जैन
श्री आनंदकुमारजी जैन (लोहेवाले)
श्रीमती श्रीबहनजी
श्री चक्रेशकुमारजी जैन (बडकुल)
श्री मुकेशजी जैन (ग्रेनाईट इंडिया)
आचार्य श्री तारणतरण लोकन्यास
डॉ. सुरेशचंदजी बजाज
श्री श्रीपालजी बडकुल
श्री प्रमोदजी बिजावर

अन्य शहर :
श्री संजयकुमारजी निर्मलकुमारजी जैन
(नवापारा राजिम), रायपुर
श्री पन्नालालजी धन्नालालजी जैन, कलकत्ता
श्रीमती अलका अशोककुमारजी जैन, दिल्ली
श्रीमती उर्मिलाजी शीलकुमारजी जैन, हिसार (हरि.)